पालि भाषा और साहित्य

लेखक

डॉ० इन्द्र चंद्र शास्त्री

भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

इंस्टीट्यूट ऑफ़ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

दिल्ली विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों के सहयोग से इस निदेशालय के तत्त्वावधान में अनेक कार्यक्रम चल रहे हैं, जैसे 'पाठ्य पुस्तक-निर्माण एवं प्रकाशन', 'मोनोग्राफ़ लेखन,' 'आदर्श व्याख्यान-माला,' 'अध्यापक पुनश्चर्या पाठ्यक्रम' आदि। हमारा प्रयत्न है कि हिंदी में प्रत्येक विषय पर ऐसी मानक पुस्तकें तैयार करें जो अंग्रेज़ी में उपलब्ध पुस्तकों की तुलना में किसी भी दृष्टि से कम न हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम अनुभवी शिक्षकों का सहयोग लेकर पाठ्य-सामग्री तैयार कर रहे हैं।

पालि भाषा और साहित्य पुस्तक में, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, पालि के भाषा एवं साहित्य दोनों पक्षों पर प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की गई है। इसका भाषा-संबंधी भाग जर्मन भाषाशास्त्री विल्हेल्म लुडविग गाइगर की प्रसिद्ध कृति का अंग्रेज़ी से अनुवाद है और साहित्य-संबंधी भाग स्वतंत्र रूप से लिखा गया है। पालि-भाषा में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए तो यह सामग्री उपयोगी है ही, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की पूर्वपीठिका की जानकारी के लिए भी यह बहुत उपयोगी है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम० ए० (हिंदी) में 'हिंदी साहित्य के इतिहास' के अंतर्गत 'हिंदी साहित्य की पूर्वपीठिका' को भी शामिल किया गया है। किंतु इस विषय पर हिंदी में लिखी हुई प्रामाणिक सामग्री का नितांत अभाव है। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से इस अभाव की एक सीमा तक पूर्ति हो सकेगी।

मैं इस ग्रंथ के लेखक स्व० डॉ० इन्द्र चंद्र शास्त्री के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ। मैं डॉ० सत्यदेव चौधरी का भी आभारी हूँ जिन्होंने बड़ी निष्ठा और लगन से पूरी सामग्री को व्यवस्थित कर प्रकाशन के योग्य बनाया। अंत में मैं उनके पुत्र श्री स्नेह सुमन को भी साधुवाद देता हूँ जिन्होंने अपने पूज्य पिताजी की कृति को प्रकाशित करने का संकल्प किया।

जगदीश चन्द्र मूना
निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

(2) 'पल्लि' अर्थात् गांव (पल्लि> पालि अर्थात् गांवों की भाषा) से, अथवा

(3) 'पाटलिपुत्र' (ग्रीक : 'पालिबोथ्र' 'Palibothra') में स्थित 'पाटलि' (पाटलि> पाडलि> पालि) से, अथवा

(4) 'पर्याय' (पर्याय> परियाय> पलियाय> पालियाय> पालि) से, अथवा

(5) पा + णिच् प्रत्यय 'लि' के योग से (पा रक्षणे, अत्थान् पाति रक्खति इति)। यह अंतिम निर्वचन कहीं अधिक सटीक एवं सार्थक प्रतीत होता है—'जिसमें बुद्धवचन सुरक्षित रहे वह भाषा पालि कहलाई।'

पालि का उद्‌गम-स्थान भारत का कौन-सा भू-भाग था, यह कोई स्वतंत्र भाषा थी, या मागधी से अथवा मागधी की किसी विभाषा से, अथवा किसी अन्य भारतीय भाषा/विभाषा से विकसित हुई थी, इसमें अन्य विभाषाओं के व्याकरणिक रूप सम्मिलित हो गए थे अथवा नहीं, इन सभी प्रसंगों पर गाइगर महोदय ने जर्मन भाषा में लिखित अपने ग्रंथ 'Pali Literatur und Sprache' (पालि साहित्य और भाषा') की भूमिका में अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख एवं उन पर विचार-विमर्श करते हुए पर्याप्त प्रकाश डाला है। आगामी पृष्ठों में उस भूमिका का भी हिंदी-अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।

पालि-साहित्य दो भागों में विभक्त किया जाता है : (1) पालि या पिटक साहित्य (बुद्ध के निर्वाणकाल से पहली शती ई० पू० तक), तथा (2) अनुपालि या अनुपिटक साहित्य (पहली शती ई० पू० से वर्तमान काल तक)।

1. **पिटक** तीन माने गए हैं : सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। ये तीनों 'त्रिपिटक' कहलाते हैं। इन पिटकों का अंतिम संकलन तीसरी शती ई० पू० में किया गया था। तब से उनका रूप पूर्णतः निश्चित हो गया, पर इन संकलनों में कितना अंश बुद्ध-प्रोक्त है यह कहना कठिन है। इनमें से **सुत्तपिटक** पांच निकायों या शास्त्रों में विभाजित है : दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय। इन सब निकायों का विषय बुद्ध-वचनों का प्रकाशन है। खुद्दक-निकाय के 15 ग्रंथ हैं जिनमें धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, बुद्धवंस आदि जैसे प्रसिद्ध ग्रंथ सम्मिलित हैं। **विनय-पिटक** का प्रमुख विषय है—बौद्धसंघ की व्यवस्था एवं भिक्षुओं-भिक्षुणियों के नित्य नैमित्तिक कृत्य आदि। विनय-पिटक तीन भागों में विभक्त है—सुत्तविभंग, खन्धक और परिवार। **अभिधम्मपिटक** में सात ग्रंथ हैं—धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। इन ग्रंथों में बौद्ध सिद्धांतों का अपेक्षाकृत विस्तृत एवं विशिष्ट प्रतिपादन किया गया है।

2. अनुपालि या अनुपिटक साहित्य तीन युगों में विभक्त किया गया है :

(क) **पूर्व-बुद्धघोष-युग** (100 ई० से 400 ई० तक) : इस युग की चार रचनाएँ अति महत्त्वपूर्ण हैं—नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह और दीपवंस। नेतिपकरण 'सद्धम्म' को समझने के लिए नेतृत्व (मार्गदर्शन) करता है। पेटकोपदेस की विषयवस्तु भी वही है जो नेत्तिपकरण की है, पर इसकी शैली सर्वत्र सरल और स्पष्ट है। इन दोनों ग्रंथों के कर्ता कोई महाकच्चान माने जाते हैं। मिलिन्दपञ्ह ग्रंथ साहित्य और दर्शन दोनों दृष्टियों से स्थविरवाद बौद्ध धर्म का गौरव-ग्रंथ माना जाता है। संभवत: यह ग्रंथ किसी संस्कृत-ग्रंथ का परिवर्द्धित अनुवाद है। इसके सात अध्यायों में से पहले तीन ही मौलिक माने जाते हैं। ग्रंथ का प्रमुख आधार एक संवाद है जो मिलिन्द (मेनाण्डर या मेनाण्ड्रो नामक ग्रीस शासक) और भदन्त नागसेन के बीच लगभग 150 ई० पू० हुआ था, जिसमें बौद्ध धर्म के अनेक सिद्धांतों को सरल रूप में स्पष्ट किया गया है। दीपवंस में लंका का इतिहास महासेन के शासनकाल (325-352 ई०) तक वर्णित है।

(ख) **बुद्धघोष युग** (400 ई० से 1100 तक) : यह युग टीका-साहित्य का युग है। इस युग में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल ने अपने से पूर्ववर्ती रचित अट्ठकथा ('तिपिटक' के अर्थ की कथा अर्थात् व्याख्या) के आधार पर क्रमश: 5,17 और 7 (कुल 29) अट्ठकथाएँ (टीकाएँ) लिखीं। उक्त तीनों में से बुद्धघोष का नाम अति महत्त्वपूर्ण है, अत: यह युग उनके नाम से विख्यात है। बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालीन हैं, और धम्मपाल किंचित् परवर्ती हैं। बुद्धघोषयुग में अन्य भी अनेक अट्ठकथाकार हुए हैं।

(ग) **बुद्धघोष-परवर्ती युग** (1100 ई० से वर्तमान समय तक) : उक्त टीका-रचना की परपरा वर्तमान समय तक चली आई है। इस युग में सारिपुत्त, विदेह थेर, बुद्धिप्पिय, धम्मकित्ति, मेधंकर, महाकस्सप, सारदस्सी, विदुरपोल पियतिस्स आदि अनेक ग्रंथकार एवं टीकाकार हुए।

पालि-साहित्य के अंतर्गत अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-समूह चार प्रकार के हैं :

(क) वंस-साहित्य, (ख) काव्य (ग) अभिलेख-साहित्य और (घ) व्याकरणादि-साहित्य।

(क) **वंस-साहित्य** में इतिहास का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके अंतर्गत दीपवंस, महावंस, चूलवंस, बुद्धघोसुप्पति, महाबोधवंस, संदेसकथा, संगीतिवंस आदि अनेक ग्रंथों के नाम उल्लेख्य हैं।

(ख) **काव्यग्रंथ** दो प्रकार के हैं, जिन्हें 'वर्णनात्मक काव्य' और 'काव्य-आख्यान' कहा जाता है। (1) वर्णनात्मक काव्यग्रंथों के नाम हैं : अनागतवंस, तेलकटाह-गाथा, जिनालंकार, जिनचरित, पज्जमधु, सद्धम्मोपायन, पंचगतिदीपन

और लोकप्पदीपसार। (2) काव्याख्यानों में प्रधान ग्रंथ हैं : रसवाहिनी, बुद्धालंकार, सहस्सवत्थुप्पकरण और राजाधिराजविलासिनी। उक्त लगभग सभी रचनाओं की विषयवस्तु तिपिटक से ली गई हैं। ग्रंथकारों का मुख्य लक्ष्य रहा है तिपिटक की ही सामग्री को कुछ परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन के साथ छंदोबद्ध कर देना—इस प्रकार का उद्देश्य उत्कृष्ट काव्य की रचना में निःसंदेह बाधक सिद्ध होता है। उल्लेख्य है कि पालि भाषा में रचित सभी काव्य-ग्रंथ संस्कृत के काव्य-ग्रंथों की अपेक्षा लगभग सभी दृष्टियों से पर्याप्त कम स्तर के हैं।

(ग) अभिलेख-साहित्य—पालि-साहित्य में बुद्ध-वचनों के बाद सर्वाधिक गौरवपूर्ण साहित्य है अभिलेख-साहित्य, जिसे केवल भारत की ही नहीं विश्व की संस्कृति और साहित्य के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अति सहज एवं सरल शैली में लिखित यह साहित्य जीवन के गंभीरतम पक्षों पर प्रकाश डालता है। तीसरी शती ई० पू० से लेकर पंद्रहवीं शती ई० तक उत्कीर्ण यह अभिलेख-साहित्य निम्नोक्त रूप में उपलब्ध है : अशोक के अभिलेख, साँची और भरहुत के अभिलेख, सारनाथ से कनिष्ककालीन अभिलेख, मौंगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख, मज्जा (बरमा) का पाँचवी-छठी शती का स्वर्णपत्र-लेख, बोबोगी पगोड़ा (मज्जा : बरमा) के खंडित पाषाण-लेख, पगान का अभिलेख और कल्याणी अभिलेख।

(घ) व्याकरणादि-विषयक साहित्य—पालि के वैयाकरणों में कच्चान (कच्चान-व्याकरण), मोग्गल्लान (मोग्गल्लान-व्याकरण), अग्गवंस (सद्दनीति) का नाम प्रसिद्ध है, और इन्हीं के नामों पर पालि-व्याकरण के तीन संप्रदाय माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक वैयाकरणों ने व्याकरण-ग्रंथ लिखे। छंदःशास्त्रीय अनेक ग्रंथों में 'वुत्तोदय' का नाम, तथा काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'सुबोधालंकार' का नाम उल्लेख्य है। इन दोनों ग्रंथों के कर्ता संघरक्खित माने जाते हैं।

[2]

दिवंगत डॉ० इन्द्र चंद्र शास्त्री (1912-86) द्वारा प्रस्तुत यह ग्रंथ दो भागों में विभाजित है : पालि-व्याकरण और पालि-साहित्य। इन दोनों भागों से पूर्व उनकी विस्तृत भूमिका (पृष्ठ 1 से 54) में भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए वैदिक भाषा, संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद ग्रंथ का वास्तविक आरंभ होता है।

प्रख्यात जर्मन-भाषाशास्त्री विल्हेल्म लुडविग गाइगर (Wilhelm Ludvig Geiger) (1856-1943) ने 'Pali Literatur und Sprache' ('पालि-साहित्य और भाषा') नामक अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सन् १६१६ में जर्मन भाषा में लिखा था जो कि मूलतः 'एनसाइक्लोपीडिया आफ इंडो-आर्यन रिसर्च' में प्रकाशित हुआ। बटकृष्ण

घोष ने इस ग्रंथ का अनुवाद अँग्रेजी भाषा में सन् 1937 में पूर्ण किया और स्वयं प्रो० गाइगर द्वारा प्रस्तुत पर्याप्त नई सामग्री भी उन्होंने इसमें जोड़ दी। अँग्रेज़ी-ग्रंथ का पहला संस्करण दिसंबर 1942 में प्रकाशित हुआ और तीसरा पुनःमुद्रित संस्करण 1978 में। इसी अँग्रेज़ी-अनुवाद का हिंदी-अनुवाद डॉ० शास्त्री ने प्रस्तुत किया, जो कि इस ग्रंथ में प्रथम भाग के रूप में पाठकों के सम्मुख है।

प्रो० गाइगर ग्रीक, लेटिन, जर्मन, संस्कृत, पालि, अवेस्ता आदि के अतिरिक्त बलूच, अफ़ग़ान, सिंहली आदि अनेक भाषाओं के सुविज्ञ थे। बौद्ध मत के प्रति उनकी श्रद्धा एवं इससे संबद्ध साहित्य के प्रति उनकी अत्यंत रुचि थी। उन्होंने श्रीलंका का तीन बार भ्रमण किया था, जिससे उन्हें वहाँ की भाषा एवं संस्कृति का पर्याप्त परिचय मिला। वे जर्मनी में विभिन्न संस्थाओं में भारोपीय भाषाओं के प्रोफ़ेसर के रूप में कार्य करते रहे। भारत, लंका और ईरान की भाषा, साहित्य और संस्कृति से संबद्ध उन्होंने अनेक ग्रंथों एवं शब्दकोशों का प्रणयन किया था जो कि आज हमारे सम्मुख एक अमूल्य निधि के रूप में विद्यमान हैं। उनकी धर्मपत्नी मैगडेलीन गाइगर (Magdalene Geiger) भी पालि भाषा की सुविज्ञ थीं।[1] इन दोनों के प्रयास से जर्मन भाषा में 'पालिधम्म : मुख्यतः आगम-साहित्य में' नामक ग्रंथ सन् 1920 में प्रकाश में आया, तथा लंका की सरकार की प्रार्थना पर इन दोनों ने लंका में रहकर 'Dictionary of the Sinhalese Language' (First part) के निर्माण में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

'पालिव्याकरण' दो खंडों में विभक्त है—वर्णविज्ञान और रूप-निर्माण। इनमें क्रमशः सत्रह और चार उपखंड हैं। उक्त दोनों खंड 214 उपनियमों (§) में निबद्ध किए गए हैं।[2] इस व्याकरण-ग्रंथ की सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें व्याकरण-नियमों के उदाहरण-स्वरूप जो उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं वे सभी-के-सभी पालि-ग्रंथों से उद्धृत हैं, साथ ही सर्वत्र मूल ग्रंथों के स्थल-संकेत भी दिए गए हैं जो कि इस भाषा के अनुसंधाताओं के लिए अत्यंत सहायक सिद्ध होंगे। यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि गाइगर महोदय ने पहले पालि-ग्रंथों से एक-समान स्थलों को पृथक्-पृथक् रूप में एकत्रित किया, और फिर, उनकी व्याकरणगत विशिष्टताओं को लक्ष्य में रखकर विभिन्न नियम-उपनियम निर्मित किए, और अंत में इन्हीं नियमों-उपनियमों को पहले प्रस्तुत करते हुए इनके उदाहरण-स्वरूप वही स्थल उद्धृत किए जिनके आधार पर ये नियम-उपनियम बनाए गए थे। इस प्रक्रिया से निष्कर्ष

---

1. इन दोनों के विशेष परिचय के लिए देखिए : 'जर्मन इंडोलोजिस्ट्स' (मैक्समूलर भवन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित), पृ० 134-137।
2. विस्तृत जानकारी के लिए विषय-सूची देखिए। इस सूची में लघु कोष्टकों में उपनियमों का क्रमांक दिखाया गया है।

एवं सिद्धांत भले ही लगभग वही हों जो प्राचीन पालि-व्याकरणों में निहित हैं, पर आधुनिक वैयाकरणों की दृष्टि में किसी भी भाषा के—विशेषत: प्राचीन भाषा के—वास्तविक एवं यथार्थ स्वरूप को पहचानने और उसके संबंध में नियम स्थिर करने के लिए एकमात्र यही वैज्ञानिक पद्धति है कि लक्ष्य-ग्रंथों से एकत्रित सामग्री के आधार पर ही नियम निर्धारित किए जाएँ।

'पालिसाहित्य का इतिहास' लिखने में डॉ० शास्त्री द्वारा यद्यपि गाइगर के उक्त ग्रंथ के 'पालि साहित्य का इतिहास' भाग से, बी० सी० लॉ द्वारा अँग्रेजी भाषा में लिखित 'पालि साहित्य का इतिहास' से (विशेषत: इसके प्रथम खंड से) तथा भरतसिंह उपाध्याय द्वारा लिखित 'पालि साहित्य का इतिहास' से कुछ सहायता ली गई प्रतीत होती है, पर उन्होंने इसमें यथास्थान इतनी अधिक सामग्री जोड़ी है कि यह ग्रंथ-भाग नितांत नूतन एवं मौलिक बन गया है। विषय का सरल-सुबोध निर्वहण इस ग्रंथ की निजी विशेषता है। समग्रत:, यह ग्रंथ-भाग संक्षिप्त अवश्य है पर इसमें यथावश्यक सामग्री का समावेश हो गया है। इस भाग के प्रारंभिक पृष्ठों में प्रस्तावना के पश्चात् पालि के दो प्रकार के साहित्य पर प्रकाश डाला गया है—(क) आगम-साहित्य और (ख) आगमेतर साहित्य।

(क) **आगम साहित्य** के अंतर्गत क्रमश: विनयपिटक, सुत्तपिटक, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय (निकायों की परस्पर तुलना), खुद्दकनिकाय (खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात), विमानवत्थु तथा पेतवत्थु, थेरगाथा और थेरीगाथा, जातक, निद्देश, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस, चरियापिटक, कत्थावत्थु नामक ग्रंथों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

(ख) **आगमेतर साहित्य** के अंतर्गत मिलिन्दप्रश्न और नेत्तिपकरण के अतिरिक्त विभिन्न टीका-ग्रंथों पर पर्याप्त जानकारी दी गयी है। इसके पश्चात् महावंस, अनागतवंस (बुद्धवंस का परिशिष्ट), सिक्खाएं, पंचगतिदीपन आदि 11 पद्यग्रंथों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है।

उल्लेख्य है कि पालि-साहित्य छठी शती ई० पू० से छठी शती ई० तक (अर्थात् पूरे 1200 वर्ष तक) के भारतीय समाज, धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के अनेकानेक रूपों को अपने-आप में समाविष्ट किए हुए है। इसके अतिरिक्त इसमें बौद्ध जैसे महान्, गुरु-गंभीर एवं जगद्-विख्यात धर्म (अपितु विश्वधर्म) के सिद्धांत पूर्णत: सुरक्षित हैं। सत्य तो यह है कि पालि-साहित्य केवल बौद्ध धर्म के 'थेरवाद' (स्थविरवाद अथवा हीनयान सम्प्रदाय) का धार्मिक साहित्य ही नहीं है, अपितु वह विश्व-मानव का साहित्य है जिसमें प्रकारांतर से मानव-मनोभूमि की हर्ष-उल्लास, वेदना-पीड़ा की अनेकानेक गाथाएँ चित्रित हैं। इन्हीं विशिष्टताओं के बल पर पालि-साहित्य को विश्व भर के लगभग सभी देश किसी-न-किसी रूप में अपनाए हुए हैं, और यही कारण है कि विश्व भर के धर्माचार्य, दार्शनिक, इतिहास-विशेषज्ञ, साहित्य-

मर्मज्ञ एवं भाषाशास्त्री पालि-साहित्य एवं बौद्ध धर्म पर अनुसंधान कार्य करने में आज भी परम गौरव का अनुभव करते हैं।

डॉ० इन्द्र चंद्र शास्त्री के सुपुत्र श्री स्नेह सुमन से इस ग्रंथ के दोनों भागों की पांडुलिपियाँ हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, को पिछले वर्ष प्राप्त हुई। उनके कथनानुसार लगभग सन् 1958 में ही डॉ० शास्त्री ने ये पांडुलिपियाँ तैयार कर ली थीं किंतु एक वर्ष पश्चात् ही सन् 1959 में उनकी नेत्र-ज्योति जाती रही, फिर भी वे लगभग दो दशाब्दियों तक साहित्य-सृजन में निरंतर सलंग्न रहे। इस पांडुलिपि के अतिरिक्त उनके संपूर्ण पुस्तकालय तथा अन्य अनेक पांडुलिपियों को व्यवस्थित रखने तथा प्रकाशित करवाने का सारा कार्य श्री स्नेह सुमन तभी से करते आ रहे हैं जो कि मुख्यत: आर्य, बौद्ध एवं जैन धर्म के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न रूपों से संबद्ध हैं। अनेक कारणवश इस ग्रंथ के प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हो सकी थी। पिछले वर्ष यह कार्य उक्त निदेशालय ने आरंभ किया। इसके व्याकरण-भाग की पांडुलिपि की तुलना प्रो० गाइगर के उक्त ग्रंथ के साथ अत्यंत सावधानी के साथ की गई, और प्रूफ़-संशोधन में भी पर्याप्त परिश्रम किया गया, फिर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। यह अनुवाद डॉ० शास्त्री के पालि-भाषा के विशिष्ट ज्ञान का तो परिचायक है ही, उनके पूर्ण अध्यवसाय, लगन और निष्ठा का भी द्योतक है। गाइगर जैसे विशिष्ट भाषाशास्त्री के ग्रंथ का हिंदी-रूपांतर मूल जर्मन ग्रंथ के प्रकाशन के लगभग सत्तर वर्ष पश्चात् सर्वप्रथम प्रकाशित होकर हिंदी-जगत् के सम्मुख आ रहा है—इस अभाव की पूर्ति का श्रेय मात्र डॉ० शास्त्री को है।

पिछले वर्ष जब इस पुस्तक का प्रकाशन आरंभ किया गया था तो डॉ० शास्त्री कुछ अरसे से अत्यंत रुग्णावस्था में थे, और अब तो उनमें सुनने-समझने की शक्ति भी बहुत ही कम रह गई थी। अत: पांडुलिपि के संबंध में उनसे विचार-विमर्श करना संभव नहीं हो सका। पुस्तक के प्रकाशन-काल में ही 3 नवम्बर, 1986 को उनका देहावसान हो गया। मरणोपरांत वे राष्ट्रपति द्वारा 'सर्टिफ़िकेट ऑफ़ ऑनर' से सम्मानित किए गए। अब जब कि डॉ० शास्त्री का पांडित्यपूर्ण अध्यवसाय साकार रूप ग्रहण कर हमारे सम्मुख है तो उनका अभाव हम सब के लिए अतीव कष्टकर है।

27 अगस्त, 1987

सत्यदेव चौधरी

भूमिका

(वि० गाइगर द्वारा लिखित मूल पुस्तक की भूमिका का हिंदी-रूपांतर)

1. 'पालि से अभिप्रेत वह भाषा है जिसमें तिपिटक तथा इससे संबद्ध साहित्य की रचना की गई है जो कि श्रीलंका और 'हिण्टर भारत' के पवित्र ग्रंथ हैं। यों, 'पालि' शब्द 'पाठ' अथवा 'पवित्र पाठ' का सूचक है।[1] यदि हम पालि शब्द का किसी भाषा के लिए प्रयोग करते हैं तो यह 'पालि-भाषा' का संक्षिप्त रूप है। पालि-भाषा का पर्यायवाची शब्द है 'तन्तिभासा'।

'पालि' एक प्राचीन प्राकृत है जो कि एक मध्यभारतीय बोली है। इसके वही विशेष लक्षण हैं जो कि किसी मध्यभारतीय भाषा को प्राचीन भारतीय भाषा से पृथक् करते हैं।[2] फिर भी, पालि को संस्कृत का विकसित रूप नहीं माना जा सका, क्योंकि इसमें ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं जो इंगित करती है कि यह वैदिक भाषा के कहीं अधिक निकट है। यही कारण है कि पालि में पूर्वकालिक क्रिया-वाची 'त्वा' प्रत्यय के अतिरिक्त वैदिक प्रत्यय 'त्वान' भी मिलता है, तथा वैदिक भाषा के तृतीया विभक्ति बहुवचन के रूपों 'तेभिः, येभिः' के सदृश पालि में 'तेहि, येहि' रूप मिलते हैं (जबकि संस्कृत में 'तैः, यैः' रूप हैं)। यह ध्यातव्य है कि जब आगे उल्लिखित पालि-रूपों की संस्कृत-रूपों से तुलना की जाती है तो पालि-रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत-रूपों से नहीं की जा सकती। पालि-रूप तो उन संस्कृत-रूपों के साथ-ही-साथ प्रयुक्त होते रहे हैं जो कि बाद में विकसित हुए।

2. पालि एक ही प्रकार के अवयवों से घटित भाषा नहीं है। इसमें अनेकानेक दोहरे रूप हैं, अतः यह एक मिश्रित विभाषा है। इसमें विभाषागत विशेषताएं बहुत

---

1. Cf. the expression eti pi pali e.g., Th2Co. 61/8, where pali= patho. Further, pali "sacred text" as distinct from atthakatha Dpvs. 20.20, Mhvs. 33. 100; Sdhs. JPTS. 1890, p. 53[5].
2. R O. Franke, Strassburg 1902, Pali und Sanskrit, p. 90 ff.

बड़ी संख्या में पाई जाती हैं। फिर भी, पालि भाषा के इतिहास में—एक के बाद एक आने वाले युगों के साथ—इस भाषा के विकास के अवस्थान स्पष्टतः जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। इसमें चार विभिन्न अवस्थाएँ निरूपित की जा सकती हैं :

(क) **गाथाओं (छन्दोबद्ध कथनों) की भाषा**—इसमें अनेक प्रकार की विविधताएँ हैं। एक ओर, इसमें ऐसे बहुत से प्राचीन शब्द-रूप हैं जो कि प्राचीन भारतीय शब्द-रूपों से केवल ध्वनि-भेद के आधार पर ही अलग-से पहचाने जाते हैं, और दूसरी ओर, इस में अधिसंख्यक ऐसे नए शब्द-रूप भी हैं जो कि पूर्णतः पालि की ही विशेषता हैं। और, ये नए शब्द-रूप कभी-कभार एक ही गाथा में प्राचीन रूपों के साथ-ही-साथ मिल जाते हैं। कुछ स्थितियों में छंद की आवश्यकता-वश भी ऐसे रूप प्रयुक्त किए गए होंगे। जब किसी पुरानी भाषा के पद्य किसी परवर्ती भाषा में अनूदित किए गए हैं तो विशेषतः इस स्थिति में प्राचीन शब्द-रूपों का प्रयोग उदारता से किया गया है ताकि वे मूलभाषा के भाव को अधिकाधिक निकट रूप में प्रकट कर सकें।

(ख) **आगमों के गद्य की भाषा**—यह भाषा गाथाओं की भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक समानावय-घटित एवं एकरूपात्मक है। इसमें पुराने शब्द-रूप अधिकाधिक संख्या में कम होते-होते लगभग समाप्तप्राय हो गए हैं। नए शब्द-रूपों का प्रयोग अब आकस्मिक अथवा यादृच्छिक नहीं रह गया है जैसा कि भाषा में पुराने युग में था, बल्कि इनका प्रयोग कठोर नियमों के अधीन किया जाता है।

(ग) **आगमोत्तर साहित्य की गद्यभाषा, जैसी कि मिलिन्द के ग्रंथ की तथा महत्त्वपूर्ण टीका-साहित्य आदि की है**—यह गद्य-भाषा आगम-साहित्य के गद्य पर आधारित है और कृत्रिम एवं पांडित्य-प्रदर्शक प्रयोगों को द्योतित करती है। इसलिए पहले युग और दूसरे युग की भाषा के बीच जितना अधिक अंतर है उतना अंतर दूसरे युग और तीसरे युग की भाषा के बीच नहीं है। तीसरे युग की भाषा में तो पुराने शब्द-रूपों का प्रयोग बहुत ही कम किया गया है।

(घ) **परवर्ती कृत्रिम काव्य की भाषा जिसका अब समानावयव-घटित रूप नहीं रहा**—इस साहित्य के लेखकों ने पूर्ववर्ती और परवर्ती, दोनों प्रकार के साहित्य से अपना भाषा-ज्ञान अर्जित किया और शब्द-रूप भी निःसंकोच रूप से ग्रहण किए, और पुरातनता एवं संस्कृत-निष्ठता के प्रति उनका रुझान अधिक था, अथवा किन्हीं भिन्न प्रकार की स्थितियों में कम था।

3. अब कुल मिलाकर इस धारणा पर प्रायः सहमति हो गई है कि पालि-भाषा विभिन्न विभाषाओं के मेल से बनी है। एच० केर्न (H. Karn) ने इसे प्रबल शब्दों में घोषित किया है।[1] मिनयेफ़ (Minayeff) भी केर्न से सहमत हैं।[2] परंतु

---

1. Over de Jaartelling der zuidelijke Buddhisten en de Gedenkstukken van Acoks den Buddhist, Amsterdam 1873, P 13.
2. Pali Grammar, p. XLII.

इनसे पूर्व ई० कुह्‌न (E. Kuhn)[1] ने यह ठीक ही संकेतित किया था कि यह कह देने से कि 'पालि एक कृत्रिम भाषा है' समस्या का हल नहीं हो जाता—इस कथन से तो समाधान को टाल दिया गया है। 'यहाँ तक कि कोई भी कृत्रिम और साहित्यिक भाषा, जो कि प्रसंगानुसार सभी संभव विभाषाओं से सामग्री ग्रहण करती है, किसी एक विशिष्ट विभाषा पर अनिवार्यतः आधारित रहती है।' अब पालि के संबंध में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह भाषा भारत के किस भू-भाग की भाषा थी जो कि पालि का आधार थी।

4. श्री लंका में प्रचलित परंपरा के अनुसार पालि-भाषा को मागधी, मागधानिरुत्ति, मागधिक भाषा कहा जाता है, अर्थात् उस क्षेत्र (मगध) की भाषा जहां बुद्धधर्म का उद्‌भव हुआ था। यह मान्यता बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस तर्क से बौद्ध-परंपरा को यह दावा करने में बल मिलता है कि पालि-तिपिटक की रचना उस भाषा में हुई जिसका प्रयोग स्वयं बुद्ध करते थे,[2] और इसलिए अन्य संग्रहों की तुलना में केवल यही संग्रह (अर्थात् तिपिटक) मौलिक सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण मागधी 'मूलभाषा'[3] भी कही जाती है—अर्थात् वह आधारभूत भाषा जिसमें बुद्ध के वचन निश्चित किए गए थे, जबकि अन्य रूपांतर गौण (अमौलिक एवं परवर्ती) पाठ-भेद समझे जाते हैं।

5. फिर भी, 'पालि मागधी भाषा की एक विभाषा है अथवा इस पर आधारित है'—इस संबंध में प्रबल तर्क उपस्थित किए गए हैं। संक्षेप में कहें तो मागधी के प्रमुख व्यावर्तक तत्त्व पालि में नहीं पाए जाते, जिन्हें हम वैयाकरणों और शिलालेखों तथा नाटकों के माध्यम से जानते हैं। मागधी के वे तत्त्व हैं: (1) हर र् का ल् में तथा हर स् का श् में परिवर्तित हो जाना, और (2) पुंल्लिग तथा नपुंसकलिंग में अकारांत शब्दों का प्रथमा एकवचन में एकारांत हो जाना, और हलन्त प्रातिपदिकों की भी उनके (अकारांत शब्दों के) समान रूप-रचना होना। किंतु पालि में 'र्' रहता है (र् का ल् में परिवर्तन बहुधा हो जाता है, पर नियमतः नहीं), और 'श्' वर्ण तो इसमें है ही नहीं', केवल 'स्' ही है, और उक्त सभी प्रातिपदिकों के प्रथमा एकवचनान्त रूप ओकारान्त या अनुस्वारांत हैं। यही कारण है कि बर्नूफ़ (Burnouf) और लास्सन (Lassen)[4] ने इस मान्यता का विरोध किया है कि पालि मगध की एक विभाषा है।

---

1. Beitrage zur Pali-Grammatik, Berlin 1875, p. 9.
6. तुलनार्थ—बुद्धघोष : "एत्थ सका निरुत्ति नाम सम्मासंबुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधिको वोहारो।" (चुल्लवग्ग-टीका 5.331 देखिए समन्त-पासादिका : ed : Saya u Pye, 4.416/10.
3. Sdhs., JPTS. 1890. pp. 55/23, 56/21, 57/19.
4. Essai sur le Pali, Paris 1826.

6. वेस्टरगार्ड (Westergard)[1], और इसके पश्चात् ई० कुह्न (E. Kuhn)[2] ने पालि को उज्जयिनी की विभाषा माना है, क्योंकि एक तो यह गिरनार (गुजरात) के अशोक-शिलालेखों की भाषा के निकटतम है, और दूसरे, उज्जयिनी की विभाषा महिन्द की मातृभाषा स्वीकार की जाती है जिसने श्रीलंका में बौद्ध धर्म का उपदेश दिया था।

आर० ओ० फ्रांके (R. O. Franke) भी नितांत विभिन्न आधारों पर इसी परिणाम पर ही पहुंचे थे।[3] उन्होंने उन सभी प्रसिद्ध भारतीय विभाषाओं पर विचार नहीं किया जो कि अपनी-अपनी भाषायी विशिष्टताओं के कारण पालि का मूल स्रोत नहीं मानी जा सकतीं, और इस परिणाम पर पहुंचे कि पालि का उद्गम-स्थान 'एक ऐसा क्षेत्र है जो बहुत अधिक तंग नहीं होगा, तथा एक ऐसे इलाके में स्थित होगा जोकि विन्ध्य पर्वतमाला के मध्यभाग से लेकर पश्चिमी भाग तक फैला हुआ था।' इस प्रकार यह मान्यता संभव प्रतीत नहीं होती कि पालि जिस क्षेत्र में विस्तृत हुई उज्जयिनी उसका केंद्र थी। स्टेन कोनो (Sten Konow)[4] भी इसी पक्ष में थे कि पालि का उद्गम-स्थान विन्ध्य क्षेत्र है। उनकी सम्मति में पालि और पैशाची में परस्पर निकट का संबंध है, और इस क्षेत्र में काम करने वाले अपने पूर्ववर्ती विद्वानों, विशेषत: ग्रियर्सन,[5] से असहमत होते हुए वे पैशाची का उद्गम-स्थान उत्तर-पश्चिमी भारत के स्थान पर उज्जयिनी-क्षेत्र मानते हैं।

7. ओल्डनबर्ग[6] का विचार है कि पालि कलिंग प्रदेश की भाषा थी। वे महिन्द और उसके मिशन (प्रचारक-मण्डल) के संबंध में प्रचलित जनश्रुति को अनैतिहासिक मानते हैं। उनकी सम्मति में बुद्ध धर्म की, और इसके साथ तिपिटक की लंका में जानकारी का आरंभ लगभग तभी हुआ था जब इस द्वीप और पड़ोसी महाद्वीप के बीच दीर्घकाल तक परस्पर संबंध स्थापित हो चुके थे। वे पालि भाषा की विशेषताओं की तुलना सर्वाधिक खण्डगिरि के शिलालेख की विशेषताओं से करते हैं जो कि

1. Uber den altesten Zeitraum der indischen Geschichte, p. 87
2. Beitr., p. 6 ff. Cf. Muir, Original Sanskrit Texts, II/2, p. 356.
3. Pali und Sanskrit, p. 131 ff. By pali I, of course, always understand what has been called "literary Pali" by Franke.
4. The home of Paisaci, ZDMG. 64. 95 ff., particularly 103 f., 114 f., 118.
5. The Paisaci Languages of North-Western India, Asiatic Society Monographs, Vol. VIII, 1906, Pischel, Gramm. der Prakrit-Sprachen, § 27.
6. The Vinava Pitaka I, London 1879, p. L ff.

इनके मत में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर पालि के समकक्ष है। ई० मुल्लर (E. Muller)[1] की भी यही धारणा है कि कलिंग प्रदेश पालि का उद्गम-स्थान है। उनके इस निष्कर्ष का आधार यह है कि लंका में इसके प्राचीनतम निवासी केवल सामने वाले भू-भाग से आ बसने चाहिएँ न कि बंगाल या इसके इर्द-गिर्द के भू-भाग से।

8. इस प्रकार, उस विभाषा के मूलस्थान के संबंध में जिस पर पालि आधारित है कोई बहुमत स्थिर नहीं हो पाया है।[2] इसलिए विन्डिश (Windisch)[3] ने उस प्राचीन परंपरा को स्वीकार किया है जिसके अनुसार पालि को मागधी का एक रूप मानना चाहिए जिसमें स्वयं बुद्ध ने उपदेश दिये थे---और मैं भी इसी मान्यता के पक्ष में हूं। हाँ, बुद्ध की यह भाषा निश्चित रूप से कोई विशुद्ध जनभाषा नहीं थी, अपितु यह भाषा उच्चतर एवं सुसंस्कृत वर्गों की भाषा थी जो कि बुद्ध से पूर्व ही भारत में पारस्परिक भाषायी आदान-प्रदान की आवश्यकता-वश अस्तित्व में आ चुकी थी।[4] इस प्रकार की लोकभाषा में स्वभावत: सभी विभाषाओं के तत्त्व विद्यमान थे, पर विभाषा-विषयक लगभग सभी बाधक विशेषताओं से यह नितांत शून्य थी। यह निश्चय ही पूर्णतया समानतत्त्व-घटित नहीं थी। मगध-भूखंड का निवासी व्यक्ति इसे एक-तरह से बोलता होगा और कोसल तथा अवन्ति जनपद का निवासी और तरह से, जैसा कि जर्मनी में वुर्टेमबर्ग (Wurttemberg), सेक्सनी (Saxony) अथवा हम्बर्ग (Hamburg) के शिष्ट वर्ग के निवासियों की उच्च जर्मन भाषा अलग-अलग प्रकार की विशेषताएँ लिए हुए है। उधर यद्यपि बुद्ध स्वयं मगध-निवासी नहीं थे, फिर भी, प्रमुखत: मगध और उसके निकटवर्ती भू-भागों में ही वह कार्यरत रहे थे, अतएव

---

1. Simplified Grammar of the Pali Language, London 1884, p. III.
2. I refer particularly to H. Luders, Bruchstucke buddhistischer Dramen, Berlin 1911, p. 40 ff.; A Berriedale Keith, Pali, the Language of the Southern Buddhists, Ind. Hist. Qu. I, 1925, p. 501 ff. ; P.V. Bapat, The Relation between Pali and Ardhamagadhi, Ibid. IV, 1928, p. 23 ff.
3. Uber den sprachlichen Charakter des Pali, in the Actes du XIVe Congres International des Orientalistes, Algere 1905, prem. partie, Paris 1906, p. 252 ff. Windisch's opinion is similar to that of Winternitz. A History of Indian Literature, vol. II, p. 13.
4. For a graphic description, see Rhys Davids, Buddhist India, p. 140 ff.

मागधी विभाषा की विशेषताओं की छाप उनकी भाषा में अवश्य पड़ी होगी। इसलिए यह भाषा भी मागधी कही जाती होगी यद्यपि इसमें मागधी की ठेठ वैभाषिक विशेषताएँ नहीं भी होगीं। जैसा कि विन्डिश (Windisch) ने ठीक ही संकेतित किया है कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनकी भाषा से एक नई प्रकार की कृत्रिम भाषा अवश्य उद्भूत हो गई होगी। बुद्ध के उपदेशों को वास्तविक रूप में बनाए रखने के प्रयास किए गए थे, और (बुद्ध के) इस भाषा-रूप को भी उन कथनांशों पर आरोपित कर दिया गया जो कि विभिन्न भू-भागों की धार्मिक संस्थाओं से गृहीत किए गए थे—और इस प्रकार वे कथनांश भी धीरे-धीरे बौद्ध आगम में सम्मिलित कर लिए गए। 'मागधी आगमों की भाषा है'—इस संबंध में विन्डिश ने 'आर्ष' अर्थात् जैन सुत्तों की भाषा का उल्लेख किया है। यह अर्धमागधी कहाती है। पर यह तथ्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है कि अर्धमागधी मागधी से उन्हीं तत्त्वों के आधार पर भिन्न है जिनके आधार पर पालि मागधी से भिन्न है।[1] उदाहरणार्थ, अर्धमागधी में भी (1) र् वर्ण ल् में परिवर्तित नहीं होता, तथा (2) अनेकानेक पद्यों में संज्ञा-रूप एकारांत के स्थान पर ओकारान्त उपलब्ध हैं। इधर दूसरी ओर, जैसा कि स्वयं मैंने विश्वासपूर्वक देखा है, आर्ष और पालि इन दोनों भाषाओं में शब्द-भण्डार तथा रूप-रचना-संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण सादृश्य हैं। इसलिए पालि को अर्द्धमागधी का एक प्रकार माना जा सकता है। मैं इस धारणा का अनुमोदन नहीं कर पा रहा, जो कि इन दिनों अधिक प्रचलित है कि पालि-आगम किसी अन्य विभाषा से (ल्यूडर्स के अनुसार प्राचीन अर्धमागधी से) अनूदित है। इसकी भाषा की विशेषताओं के लिए निम्नोक्त कल्पित कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं : (क) भारत के विभिन्न भू-भागों की भाषाओं के बहुविध तत्त्वों का क्रमश: विकास तथा समावेश, (ख) कई शताब्दियों से चली आ रही एक सुदीर्घ मौखिक परंपरा, और (ग) यह तथ्य कि (बुद्ध-वचनों का मूल) पाठ एक भिन्न प्रदेश में लिखा गया।

9. मैं परंपरागत इस धारणा को एकदम अस्वीकृत न करने को अधिक उचित समझता हूँ, बल्कि इसे इस रूप में समझने का प्रयास करता हूँ कि पालि निश्चित रूप से विशुद्ध मागधी नहीं थी, अपितु मागधी पर आधारित लोकप्रिय भाषा का एक रूप थी, और जिसे कि स्वयं बुद्ध ने प्रयुक्त किया था। इससे यह प्रतीत हो सकता है कि पालि-आगम 'बुद्ध-वचनम्' को अपने मौलिक रूप में प्रस्तुत करने की दिशा में एक प्रयास[2] का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस स्थापना का खंडन हो सकता है यदि यह सिद्ध किया जा सकता कि पालि-आगम किसी अन्य विभाषा से अनूदित हैं। सिलवेन

---

1. Pischel, Gramm. d. Pkr. Spr., p. 15.
2. यह मैं सोच-समझकर कह रहा हूँ, क्योंकि पालि-आगम एक शताब्दि से अधिक लंबे समय में फैले विकास का परिणाम है, इसलिए इसमें बहुत-कुछ अप्रामाणिक होना स्वाभाविक है। इसमें से बहुत कुछ वह भी नष्ट हो गया होगा जो कि प्रामाणिक है और दूसरे आगमों में सुरक्षित है।

लेवि (Sylvain Levi)[1] ने इसे सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने 'एकोदि', 'संघादिसेस' आदि अनेक पारिभाषिक शब्द प्रस्तुत किए हैं जिनमें अघोष (Surd) वर्णों के स्थान पर घोष (Sonant) वर्णों का प्रयोग किया गया है। इन रूपों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि आगमों की द्योतक भाषा से भी पहले एक ऐसी भाषा विद्यमान थी जिसमें स्वरमध्यग अघोष (Intervocalic surds) निरपवाद रूप से कोमल वर्णों के रूप थे। पर मुझे लेवि की युक्तियाँ जँच नहीं रहीं। एक तो इस कारण कि लेवि द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्तियाँ निर्णीत नहीं हैं, और दूसरे इस कारण कि अघोष (surds) वर्णों का कोमल हो जाना केवल पारिभाषिक शब्दों में नहीं होता अपितु अन्य भी अनेकानेक शब्दों में होता है।[2] इसके अतिरिक्त, मेरी सम्मति में, इस ध्वनि-संबंधी तत्त्व से कोई विशेष निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि ये रूप विभाषा-गत उन विविध विशेषताओं में से मात्र एक विशेषता का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि पालि में पाई जाती हैं। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, हमें ऐसे प्रयोग भी समानरूपेण अधिकता के साथ मिलते हैं जिनमें उपर्युक्त ध्वनि-संबंधी तत्त्व के विपरीत घोष (sonant) वर्ण (कोमल न होकर) कठोर हो गए हैं, तथा अन्य भी अनेक विशेषताएँ मिलती हैं, और इन सब पर यदि समग्रत: विचार करें तो इससे यह सिद्ध होगा कि पालि विविध रूपों वाली भाषा है।

10. यदि पालि को बुद्ध द्वारा प्रयुक्त मागधी का रूप माना जाए तो पालि-आगमों को 'बुद्धवचनम्' का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप मान सकते हैं, यद्यपि महात्मा बुद्ध के उपदेश प्रारंभ से ही भारत के विभिन्न भू-खंडों की अपनी-अपनी देशीय विभाषाओं में प्रचारित किए जाते होंगे। यह निष्कर्ष, जो कि चुल्लवग्ग 5.33.1 = विनय-पिटक 2.139 से निकाला गया है, मेरी सम्मति में ग़लत है। यह वर्णित किया गया है कि दो भिक्षुओं ने महात्मा बुद्ध से यह शिकायत की कि संघ के सदस्य अलग-अलग स्थानों के हैं और वे बुद्ध के उपदेशों को अपनी-अपनी भाषा (सकाय निरुत्तिया) में ढाल देते हैं। अत: उन्होंने यह सुझाव दिया कि बुद्ध के वचन संस्कृत-पद्यों में अनूदित किए जाएँ। किंतु बुद्ध ने उनकी इस प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए कहा "**अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुम्।**" रह्यस् डेविड्स (Rhys Davids) तथा ओल्डनबर्ग (Oldenberg)[3] ने इस कथन का अनुवाद इस

1. Journal Asiatique, ser, 10, t. XX, p. 495 ff.
2. Cf. below, § 38 f.
3. Vinaya Texts III—Sacred Books of The East, XX. p. 151.

प्रकार किया है : 'मैं अनुमति देता हूँ[1] तुम्हें हे बंधुओ ! बुद्धों के वचनों को हरेक अपनी-अपनी भाषा में समझे।' किंतु यह अर्थ बुद्धघोष के अर्थ से मेल नहीं खाता। उनके अनुसार उक्त कथन का अनुवाद इस प्रकार है : 'मैं आदेश देता हूँ कि बुद्ध के वचन उसी की (बुद्ध की) भाषा (अर्थात् मागधी) में सीखे जाएँ जिसे कि स्वयं बुद्ध द्वारा प्रयुक्त किया गया है।'[2] उक्त कथन का बार-बार परीक्षण करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि हमें बुद्धघोष द्वारा प्रस्तुत अर्थ को ही स्वीकार करना पड़ेगा। न तो दोनों भिक्षु और न ही स्वयं बुद्ध इस तथ्य पर सोच भी सकते थे कि अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग विभाषाओं में उपदेश दिए जाएँ। यहाँ केवल एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'बुद्धवचन' संस्कृत-भाषा में अनूदित किए जाएँ अथवा नहीं। किंतु भगवान् बुद्ध ने इस बात की स्पष्ट रूप से मनाही की है—पहले निषेधात्मक रूप में, और फिर—उक्त आदेश-सूचक वाक्य द्वारा जो कि 'अनुजानामि' ('मैं आदेश देता हूँ) से आरंभ होता है—विध्यात्मक रूप में। इस आदेश का वास्तविक अभिप्राय यह है कि भाषा के जिस रूप में बुद्ध ने स्वयं उपदेश दिया था बुद्ध के वचनों का उससे इतर कोई रूप नहीं हो सकता, और यह अभिप्राय भारतीय मानसिकता से पूर्णतः मेल खाता है। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही लोग ऐसा उपाय अपनाना चाहते थे कि जिसके द्वारा बुद्ध के उपदेश—स्वरूप और विषयवस्तु दोनों दृष्टियों से—जहाँ तक हो सके ठीक उसी रूप में ही प्रचारित होते चले जाएँ। और, बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् तो उनके शिष्यों की यह अभिलाषा कितनी उत्कट रही होगी। हाँ, बुद्धवचनों का बाह्य रूप मागधी था, यद्यपि परंपरा इसे पालि कहती है।[3]

(अनुवादक : सत्यदेव चौधरी)

---

1. In the text there is no 'vo !' But I think this word was indispensable for the interpretation given by the English translators in order to get some thing with which to connect 'sakaya niruttiya'. According to the actual text 'saka' may be connected only with 'buddhavacanam'. For the meaning "ordains, decides" for anujanati cf. Vin., I. 45[25], 83[31], 85[10],[24], 94[13], etc..
2. Cf. above, p. 3, f.-n. 1
3. See Fr. Weller, Zeitshr. fur Buddhismus, 1922, pp, 211-13, and my reply, Ibid., pp. 213-14.

लेवि (Sylvain Levi)[1] ने इसे सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने 'एकोदि', 'संघादिसेस' आदि अनेक पारिभाषिक शब्द प्रस्तुत किए हैं जिनमें अघोष (Surd) वर्णों के स्थान पर घोष (Sonant) वर्णों का प्रयोग किया गया है। इन रूपों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि आगमों की द्योतक भाषा से भी पहले एक ऐसी भाषा विद्यमान थी जिसमें स्वरमध्यग अघोष (Intervocalic surds) निरपवाद रूप से कोमल वर्णों के रूप थे। पर मुझे लेवि की युक्तियाँ जँच नहीं रहीं। एक तो इस कारण कि लेवि द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्तियाँ निर्णीत नहीं हैं, और दूसरे इस कारण कि अघोष (surds) वर्णों का कोमल हो जाना केवल पारिभाषिक शब्दों में नहीं होता अपितु अन्य भी अनेकानेक शब्दों में होता है।[2] इसके अतिरिक्त, मेरी सम्मति में, इस ध्वनि-संबंधी तत्त्व से कोई विशेष निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि ये रूप विभाषागत उन विविध विशेषताओं में से मात्र एक विशेपता का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि पालि में पाई जाती हैं। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, हमें ऐसे प्रयोग भी समानरूपेण अधिकता के साथ मिलते हैं जिनमें उपर्युक्त ध्वनि-संबंधी तत्त्व के विपरीत घोष (sonant) वर्ण (कोमल न होकर) कठोर हो गए हैं, तथा अन्य भी अनेक विशेषताएँ मिलती हैं, और इन सब पर यदि समग्रत: विचार करें तो इससे यह सिद्ध होगा कि पालि विविध रूपों वाली भाषा है।

10. यदि पालि को बुद्ध द्वारा प्रयुक्त मागधी का रूप माना जाए तो पालि-आगमों को 'बुद्धवचनम्' का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप मान सकते हैं, यद्यपि महात्मा बुद्ध के उपदेश प्रारंभ से ही भारत के विभिन्न भू-खंडों की अपनी-अपनी देशीय विभाषाओं में प्रचारित किए जाते होंगे। यह निष्कर्ष, जो कि चुल्लवग्ग 5.33.1=विनयपिटक 2.139 से निकाला गया है, मेरी सम्मति में ग़लत है। यह वर्णित किया गया है कि दो भिक्षुओं ने महात्मा बुद्ध से यह शिकायत की कि संघ के सदस्य अलग-अलग स्थानों के हैं और वे बुद्ध के उपदेशों को अपनी-अपनी भाषा (सकाय निरुत्तिया) में ढाल देते हैं। अत: उन्होंने यह सुझाव दिया कि बुद्ध के वचन संस्कृत-पद्यों में अनूदित किए जाएं। किंतु बुद्ध ने उनकी इस प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए कहा **"अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुम्।"** रह्यस् डेविड्स (Rhys Davids) तथा ओल्डनबर्ग (Oldenberg)[3] ने इस कथन का अनुवाद इस

---

1. Journal Asiatique, ser, 10, t. XX, p. 495 ff.
2. Cf. below, § 38 f.
3. Vinaya Texts III—Sacred Books of The East, XX. p. 151.

प्रकार किया है : 'मैं अनुमति देता हूँ[1] तुम्हें हे बंधुओ ! बुद्धों के वचनों को हरेक अपनी-अपनी भाषा में समझे ।' किंतु यह अर्थ बुद्धघोष के अर्थ से मेल नहीं खाता। उनके अनुसार उक्त कथन का अनुवाद इस प्रकार है : 'मैं आदेश देता हूँ कि बुद्ध के वचन उसी की (बुद्ध की) भाषा (अर्थात् मागधी) में सीखे जाएँ जिसे कि स्वयं बुद्ध द्वारा प्रयुक्त किया गया है ।'[2] उक्त कथन का बार-बार परीक्षण करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि हमें बुद्धघोष द्वारा प्रस्तुत अर्थ को ही स्वीकार करना पड़ेगा। न तो दोनों भिक्षु और न ही स्वयं बुद्ध इस तथ्य पर सोच भी सकते थे कि अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग विभाषाओं में उपदेश दिए जाएँ। यहाँ केवल एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'बुद्धवचन' संस्कृत-भाषा में अनूदित किए जाएँ अथवा नहीं। किंतु भगवान् बुद्ध ने इस बात की स्पष्ट रूप से मनाही की है—पहले निषेधात्मक रूप में, और फिर—उक्त आदेश-सूचक वाक्य द्वारा जो कि 'अनुजानामि' ('मैं आदेश देता हूँ) से आरंभ होता है—विध्यात्मक रूप में। इस आदेश का वास्तविक अभिप्राय यह है कि भाषा के जिस रूप में बुद्ध ने स्वयं उपदेश दिया था बुद्ध के वचनों का उससे इतर कोई रूप नहीं हो सकता, और यह अभिप्राय भारतीय मानसिकता से पूर्णत: मेल खाता है। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही लोग ऐसा उपाय अपनाना चाहते थे कि जिसके द्वारा बुद्ध के उपदेश—स्वरूप और विषयवस्तु दोनों दृष्टियों से—जहाँ तक हो सके ठीक उसी रूप में ही प्रचारित होते चले जाएँ। और, बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् तो उनके शिष्यों की यह अभिलाषा कितनी उत्कट रही होगी। हाँ, बुद्धवचनों का बाह्य रूप मागधी था, यद्यपि परंपरा इसे पालि कहती है ।[3]

(अनुवादक : सत्यदेव चौधरी)

---

1. In the text there is no 'vo !' But I think this word was indispensable for the interpretation given by the English translators in order to get some thing with which to connect 'sakaya niruttiya'. According to the actual text 'saka' may be connected only with 'buddhavacanam'. For the meaning "ordains, decides" for anujanati cf. Vin., I. 45^{25}, 83^{31}, $85^{19, 24}$, 94^{13}, etc..
2. Cf. above, p. 3, f.-n. 1
3. See Fr. Weller, Zeitshr. fur Buddhismus, 1922, pp, 211-13, and my reply, Ibid., pp. 213-14.

विषय-सूची

4. तिङन्त प्रकरण 176

□

'पालि-व्याकरण' के अंतर्गत
(क) पालि-ग्रंथ-नाम-संकेतसूची

अंगुत्तर निकाय	अंगु०	धम्मसंगणि-टीका (अत्थसालिनी)	धम्मसं० टी०
अट्ठकथा	अट्ठ०	धातुकथा	धातु०
अत्थशालिनी	अत्थ०	नेत्तिप्पकरण	नेत्ति०
अभिधम्मपिटक	अभिधम्म०	पटिसंभिदामग्ग	पटि०
इतिवुत्तक	इति०	परमत्थदीपनी (थेरीगाथा-टीका)	परमत्थ०
उदान	उदान	पुग्गलपञ्ञत्ति	पुग्गल०
कच्चायन/कच्चान	कच्चा०	पेतवत्थु	पेत०
कथावत्थुप्पकरण	कथा०	पेतवत्थु-टीका (परमत्थदीपनी)	पे० टी०
खुद्दकपाठ	खु० पा०	बुद्धवंस	बुद्ध०
गंधवंस	गंध०	मज्झिमनिकाय	मज्झिम०
चरियापिटक	च०पि०/चर्या०	महाबोधिवंस	म० बो० वं०
चुल्लवग्ग	चुल्ल०	महावंस	महा०
जातक	जा०	महावग्ग	महावग्ग
जातक-टीका (जातकत्थवण्णना)	जा० टी०	मिलिन्दपञ्ह	मिलिन्द०
थेरगाथा	थेर०	रसवाहिनी	रस०
थेरीगाथा	थेरी०	विनयपिटक	विनय०
थेरीगाथा टीका (परमत्थदीपनी)	थेरी० टी०	विनयवंस	विनयवंस
दीघनिकाय	दीघ०	विभंग	विभंग
दीघनिकाय-टीका (सुमंगलविलासिनी)	दीघ० टी०	विमानवत्थु	विमान०
दीपवंस	दीप०	विमानवत्थु-टीका (परमत्थदीपनी)	विमान टी०
धम्मपद	धम्म०	विसुद्धिमग्ग	वि० म०
धम्मपद-टीका (धम्मपदट्ठकथा)	धम्म० टी०	संयुत्तनिकाय	संयुत्त०
धम्मसंगणि	धम्म सं०	सद्धम्मसंगह	सद्धम०

समन्तपासादिका	समन्त०	सुत्तनिपात	सुत्त०
सारसंग्रह	सार०	सुत्तपिटक	सुत्त० पि०
सासनवंस	सासन०	सुत्तविभंग	सुत्त० वि०

(ख) अन्य संकेत

अन्य पुरुष	अ० पु०/अ०	प्राकृत	प्रा०
अपभ्रंश	अप०	प्राचीनतम रूप	*
अर्धमागधी	अ० मा०	बहुवचन	बहु०व०बहु०
आज्ञार्थक	आज्ञा०	भविष्यत्काल	भविष्यत्०
उत्तम पुरुष	उ० पु०/उ०	भूतकाल	भूत०
उपनियम	§	मध्यम पुरुष	म० पु०/म०
एकवचन	एक व०/एक०	महाराष्ट्री	महा०
जैन महाराष्ट्री	जैन महा०	मागधी	मा०
देखिए	दे०	वर्तमानकाल	वर्तमान०
धातु	√	वैदिक भाषा	वैदिक
पालि	पा०	शौरसेनी	शौर०
पैशाची	पै०	संस्कृत	सं०
पृष्ठ	पृ०		

□

भूमिका : भारतीय आर्यभाषाओं का सर्वेक्षण

आर्यों का भारत में प्रवेश

भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास आर्यों के भारत में आगमन से प्रारंभ होता है, किंतु अभी तक यह निर्णय नहीं हुआ है कि इस महान् जाति ने भारत में सर्वप्रथम कब प्रवेश किया। विद्वानों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद है। वेदों की रचना के आधार पर इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया, किंतु उस विशाल साहित्य के रचनाकाल का निर्णय करना अपने-आप में एक बड़ी समस्या है। एक ओर भूगर्भविज्ञान के आधार पर उनका रचनाकाल ईसा से पच्चीस हज़ार वर्ष पहले बताया जाता है, दूसरी ओर मैक्समूलर-सरीखे विद्वान् ईसवी-पूर्व 1200 बताते हैं। गणित के आधार पर ईसवी-पूर्व सोलह हज़ार वर्ष प्रस्तुत किया जाता है। विंटरनित्ज़ ने उन सब मान्यताओं की चर्चा करके मध्यम मार्ग अपनाया है। तदनुसार वेदों की रचना लगभग ईसवी-पूर्व 2500 में हुई। आर्यों का भारत में प्रवेश भी उसी समय माना जा सकता है।

भारत-ईरानी भाषाओं एवं सभ्यताओं की उत्पत्ति

भारोपीय भाषा[1] बोलने वाले आर्य भारत में आने से पहले पूर्वी ईरान में बसे।

---

1. 'भारोपीय भाषा' अथवा 'इंडो यूरोपियन भाषा' से तात्पर्य है वह मूल भाषा जो यूरोप के किसी अज्ञात भू-भाग से लेकर उत्तरी भारत तक की प्रायः सभी भाषाओं की जननी है। विश्व की लगभग सभी भाषाओं को भाषावैज्ञानिकों ने चार भाषा-खंडों में विभक्त किया है—(1) अफ्रीका भाषा-खंड, (2) यूरेशिया भाषा-खंड, (3) प्रशांतमहासागरीय भाषा-खंड, और (4) अमरीका भाषा-खंड। इन भाषा-खंडों में से पहले तीन खंडों में क्रमशः 5, 9, 5=कुल 19 भाषा-परिवार माने गए हैं। अमरीका भाषा-खंड की भाषाओं का अभी तक सम्यक् अध्ययन न होने के कारण इन्हें परिवारों में विभक्त नहीं किया जा सका। यूरेशिया भाषा-खंड के 9 परिवारों में से एक परिवार की मूल भाषा को 'भारोपीय भाषा' नाम दिया गया है तथा इससे विकसित भाषाओं के तुलनात्मक आधार पर इस भाषा की वर्णमाला और शब्द-संपदा की भी कल्पना की गई है।

किंतु उनकी भाषा उससे पहले ही भारत-ईरानी या आर्यभाषा[1] का स्वतंत्र रूप ले चुकी थी। भारत में आर्य जिन बोलियों को लाए, उपर्युक्त भारत-ईरानी भाषा उनका पूर्वरूप है। प्रतीत होता है कि पूर्वी-ईरान में आर्यों ने वहाँ के मूल निवासियों की भाषा एवं संस्कृति को अपने में मिला लिया। धीरे-धीरे वे फैलते गए और पूर्वी ईरान या अफ़गानिस्तान की सीमाओं को पार करके पंजाब में आ पहुँचे। इस प्रकार आर्यों का प्रभाव पूर्व की ओर बढ़ता गया। मुस्लिम-काल तक पूर्वी अफ़गानिस्तान या गान्धार भारत का अंग रहा है। आर्यों का यह प्रसार कोई राष्ट्रीय अभियान नहीं था। घूमने वाली जाति नए-नए आवासों को खोजती हुई यहाँ तक पहुँच गई। कम-से-कम वैदिक जनता के मन में विजय की आकांक्षा या अन्य कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं थी।

पूर्वी ईरान में परस्पर भाषा एवं रीति-रिवाज-संबंधी साधारण विभिन्नताओं के कारण आर्यों के अनेक कबीले बन गए—(1) उनमें से परस्पर समानता रखनेवाले कुछ कबीले, नए प्रदेशों को खोजते हुए भारत की ओर बढ़े। स्थानीय सभ्यता एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को उन्होंने ही अपने में समन्वित करते हुए हिंदू-सभ्यता को जन्म दिया। (2) उन्हीं के दूसरे वर्ग ने 'मजाई' धर्म तथा संस्कृति को विकसित किया। बेबीलोन तथा असीरिया के सुमेर-सेमेटिक एवं एलमाइट लोगों से मिलकर उन्होंने शक्तिशाली पारसी-सभ्यता का शिलान्यास किया। (3) अन्य कबीले, जिन्होंने किसी स्वतंत्र सभ्यता का निर्माण नहीं किया, वे बलोच, अफ़गान एवं ईरानियों के रूप में अब भी विद्यमान हैं। (4) एक अन्य वर्ग ने हिंदुकुश के पूर्व-दक्षिण में सूनी एवं दुर्गम पर्वत-मालाओं की ओर प्रस्थान किया। कहा जाता है कि भारत और ईरान के आर्यों में परस्पर संबंध-विच्छेद होने से पहले ही ये लोग अन्य आर्यों से अलग हो चुके थे। इस वर्ग की भाषाएँ दरद या पिशाच-भाषाएँ मानी जाती हैं। ये ईरानी और भारतीय भाषाओं की मध्यवर्ती हैं। दरदी बोलने वाले कश्मीर में बस गए। यह भी प्रतीत होता है कि उनमें से कुछ भारत के मैदानों में आ बसे। वहाँ वे अपने भारतीय आर्य भाइयों में समा गए। उनकी दरदी भाषा का निजी वैशिष्ट्य शनैः-शनैः लुप्त हो गया। किंतु जो आर्य-बोलियाँ उनके

1. भारत-ईरानी अथवा आर्यन—जैसा कि ऊपर लिख आए हैं—भारोपीय परिवार का एक भाषा-वर्ग है जिसके अंतर्गत ये तीन भाषा-शाखाएँ आती हैं—ईरानी, दरद और भारतीय भाषाएँ। (1) ईरानी भाषाशाखा से तात्पर्य है अवेस्ता, प्राचीन फ़ारसी और आधुनिक फ़ारसी। (2) दरद भाषा कश्मीर के पार्श्ववर्ती भूभाग की भाषा मानी जाती है। (3) भारतीय शाखा के अंतर्गत वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाएँ सम्मिलित हैं। उपर्युक्त यूरेशिया भाषा-खंड के 9 परिवारों में से एक परिवार 'भारोपीय परिवार' है, जिसमें आठ भाषा वर्ग हैं—आर्यन (अथवा भारत-ईरानी), आर्मेनियन, बाल्टो-स्लैवोनिक, अल्बेनियन (इलीरियन), केल्टिक, ट्यूटमेनक, इटेलियन, ग्रीक तथा अन्य भाषाएँ। इन आठ भाषा-वर्गों के अतिरिक्त हिट्टाइट और तोखारी भी भारोपीय परिवार की भाषाएँ हैं। भाषावैज्ञानिकों ने इन सभी भाषा वर्गों की प्राचीन विभिन्न भाषाओं—वैदिक, अवेस्ता, जर्मन, लेटिन, ग्रीक आदि—के तुलनात्मक आधार पर एक ऐसी काल्पनिक मूल भाषा (भारोपीय भाषा) का निर्माण किया है जिससे ये सभी भाषाएँ विकसित हुई होंगी।

संपर्क में आईं और यद्यपि उनकी दरदी भाषा को निगल गईं किंतु वे आर्यबोलियाँ दरदी भाषा तथा इसे बोलने वालों के प्रभाव से मुक्त न रह सकीं।

भारतीय आर्यभाषाओं का विकास

जातियों का मिश्रण और हिंदू-सभ्यता का जन्म

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास प्रारंभ करते समय साधारणतया हमारे सामने वेद और तत्कालीन आर्य आते हैं। किंतु यह एकांगी दृष्टिकोण है। भारत की प्राचीन सभ्यता का निर्माण कई जातियों ने मिलकर किया है। उनकी सभ्यता एवं संस्कृति में तो परस्पर भेद था ही, वे भाषाएँ भी ऐसी बोलते थे जिनका परस्पर किसी प्रकार का पारिवारिक संबंध नहीं था। उन जातियों में मुख्य हैं—आर्य और द्रविड़। इन दोनों के समन्वय से जिस नवीन सभ्यता का जन्म हुआ, उसका नाम है—हिंदू सभ्यता।

द्रविड़ जातियाँ

द्रविड़ों का मुख्य स्थान दक्षिण, विशेषतया कावेरी का तट, रहा है। उनमें अनेक अवांतर जातियाँ थीं जो सभ्यता के विभिन्न स्तरों पर आसीन थीं। एक ओर कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम आदि बोलने वाले लोगों के सभ्य एवं सुसंस्कृत पूर्वज थे, दूसरी ओर ब्राहुई, गोण्ड, खोंड, ओरायन आदि असभ्य अथवा अर्धसभ्य जातियाँ थीं। दूसरा वर्ग द्रविड़ों से भी पहले का मानव-वंश प्रतीत होता है। जिस प्रकार कोल लोगों ने द्रविड़ भाषा को अपना लिया पर फिर भी वे स्पष्ट रूप से द्रविड़ों से भिन्न दिखाई देते हैं, उसी प्रकार ब्राहुई, गोंड आदि भी रहे होंगे। यह एक निश्चित तथ्य है कि किसी समय द्रविड़—उत्तर-भारत में भी सर्वत्र—बलोचिस्तान से लेकर बंगाल तक फैले हुए थे।

कोल जाति

आर्यभाषा बोलने वाले उत्तरी एवं उत्तर-पूर्वी लोगों में एक और जाति मिली जो कि कोल कहलाती है। द्रविड़ों के समान कोलों का भी उत्तर-भारत पर पर्याप्त प्रभाव है। कोल भाषा बोलने वाले अब गंगा, ताप्ती और गोदावरी (पश्चिमी बंगाल, छोटा नागपुर, उत्तर-पूर्वी मद्रास तथा मध्यप्रदेश) तक सीमित हैं, किंतु भाषाविज्ञान के आधार पर कहा जा सकता हैं कि किसी समय वे हिमालय तक गंगा के विशाल प्रांगणों में फैले हुए थे। उत्तर और मध्यभारत में बसे हुए आर्यों की भाषा में कोल भाषा का पर्याप्त सम्मिश्रण है। कोलों की अपनी उल्लेखनीय सभ्यता नहीं थी। भारतीय संस्कृति के निर्माण में भी उनकी देन महत्त्वपूर्ण नहीं है। जब वे आर्यभाषा बोलने लगे तो हिंदुओं (वैदिक अथवा बौद्धों) में समा गए।

अन्य जातियाँ

इनके अतिरिक्त तिब्बत-चीनी वंश की कुछ शाखाएँ भी भारत में आईं और द्रविड़ों अथवा आर्यों में समा गईं। सांस्कृतिक दृष्टि से उनकी भी कोई देन नहीं है।

आर्यों की दो शाखाएँ

हार्नले[1] का मत है कि आर्य लोग भारत में दो बार आए। जो लोग पहली पारी में आए, वे गंगा और यमुना के बीच मध्यदेश में बस गए। जो दूसरी पारी में आए, उन्होंने पहले बसे हुए आर्यों को खदेड़ दिया और उनके स्थान पर स्वयं बस गए। प्रथम पारी वाले आश्रय-भ्रष्ट होकर मध्यदेश के चारों ओर पश्चिम, उत्तर-पूर्व और दक्षिण में फैल गए। इस प्रकार नवागंतुक आर्य तो आभ्यंतर बन गए और उनके चारों ओर की सीमाओं पर बसे हुए प्राक्तन आर्य बाह्य। वैदिक और ब्राह्मण-परंपरा का विकास आभ्यंतर आर्यों में हुआ। आर्यभाषा-भाषियों के इस प्रकार दो पारियों में परस्पर-विरोधी बनकर आगमन का समर्थन ग्रियर्सन[2] ने भी किया है। उन्होंने इस मान्यता को और आगे बढ़ाया है। उनके मतानुसार बाह्य-आर्य दरदी बोलनेवालों से संबद्ध थे। संभवतया उन्हीं की एक शाखा थे। वे पंजाब, सिंध, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र, पूर्वी हिंदी प्रदेश, बिहार तथा उत्तर में हिमालय की तराई में बस गए। इस प्रकार आभ्यंतर आर्यों की भाषा का वर्तमान रूप पश्चिमी हिंदी है। भारत की दूसरी आर्य-भाषाएँ बाह्य आर्यों से संबंध रखती हैं।

ग्रियर्सन ने इस विभाजन के लिए जन-भाषाओं का आधार प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि एक ओर पश्चिमी हिंदी एवं मध्यदेशीय आर्यभाषा को तथा दूसरी ओर इतर आर्य-भाषाओं को रखा जाए तो उनका परस्पर अंतर स्पष्ट प्रतीत होता है। इतर आर्य-भाषाओं में लहँदी या लहँदा, सिंधी, गुजराती, मराठी, बंगाली, बिहारी और सभी पहाड़ी बोलियाँ सम्मिलित हैं। इन दोनों भाषा-वर्गों में परस्पर-भेद आर्यों की प्राचीन शाखाओं से आया है। इन्हीं को आभ्यंतर शाखा और बाह्य शाखा कहा गया है। बाह्य शाखा से संबद्ध भाषाओं में परस्पर एकता का आधार केवल यह नहीं है कि वे आभ्यंतर शाखा से भिन्न हैं, उनकी अपनी आंतरिक एकता भी है। दरदिस्तान की भाषाएँ बाह्य शाखा की उन विशेषताओं को लिए हुए हैं। परिणामस्वरूप नवीन आर्यभाषा की मुख्य दो शाखाएँ हो जाती हैं :

1. आभ्यंतर शाखा : मध्यदेशीय अथवा शौरसेनी से संबद्ध शाखा। मध्यदेश

---

1. डॉ० ए० रुडल्फ़ हार्नले (1841-1918 ई०) के ग्रंथ का नाम है—*Grammar of Eastern Hindi, Compared with other Gaudian Languages.*
2. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन का प्रमुख ग्रंथ—*Linguistic survey of India* (1894-1927).

की प्राचीन बोलियों पर आश्रित होने के कारण संस्कृत का भी इसी शाखा से संबंध है। पश्चिमी हिंदी इस शाखा की वर्तमान प्रतिनिधि है।

2. बाह्य शाखा : अवैदिक अथवा संस्कृतेतर शाखा। हार्नले ने इसे मागधी शाखा नाम दिया है। इस शाखा में अन्य सभी भारतीय आर्यभाषाएँ आ जाती हैं। भारत से बाहर की सिंहली और जिप्सी भाषाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं। इस विभाजन के अनुसार बाह्य शाखा का दरदिस्तानी भाषाओं के साथ घनिष्ठ संबंध है।

ग्रियर्सन ने जिस तथ्य का समर्थन भाषा के आधार पर किया है, रमाप्रसाद चंद ने उसकी पुष्टि मानवविज्ञान एवं नृविज्ञान के आधार पर की है। किंतु अवांतर बातों में चंद का ग्रियर्सन से मतभेद है। चंद का कथन है कि उपर्युक्त दो वर्ग किसी एक वंश की शाखाएँ नहीं हैं। वे दो स्वतंत्र मानव-वंशों को प्रकट करती हैं। बाह्य वर्ग चौड़े सिरवाले वंश से संबद्ध है और आभ्यंतर वर्ग लंबे सिर-वाले वर्ग से। इस प्रकार वंशभेद और भाषाभेद एक ही तथ्य का समर्थन करते हैं। लंबे सिरवाले आभ्यंतर आर्य पंजाब, राजस्थान तथा उपरितन गंगा की घाटियों में बसे हुए ब्राह्मणों के पूर्वज थे। उनमें वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति का विकास हुआ। वर्णव्यवस्था भी यहीं पनपी। चौड़े सिरवाले बाह्य आर्य प्रारंभ में वैदिक धर्म से अपरिचित थे। उन्हीं के धार्मिक विश्वास कालांतर में वैष्णव और शाक्त धर्मों के रूप में विकसित हुए। समय बीतने पर वे आभ्यंतर आर्यों के धार्मिक विश्वासों से इतने प्रभावित हो गए कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हीं में समा गए। किंतु इस प्रकार प्रभावित होने से शताब्दियों पहले वे पश्चिमी पंजाब, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र बिहार, उड़ीसा और बंगाल में बस चुके थे। यहाँ से उन्होंने मध्यप्रदेश के वनों को पार करके दक्षिण में प्रवेश किया। गुजराती, मराठी, बंगाली, बिहारी तथा उड़िया लोगों में चौड़ा सिर स्पष्ट लक्षित होता है। ये लोग लंबे सिरवाले आर्यों, जो कि मध्य-देश से आए थे, चौड़े सिरवाले द्रविड़ों एवं कोलों का सम्मिश्रण हैं।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी[1] का मत है कि उपर्युक्त विभाजन महत्त्वपूर्ण होने पर भी अंतिम नहीं है। ग्रियर्सन ने जिन बोलियों को आधार बनाया है वे अर्वाचीन हैं। उनमें जो समानता बताई गई है, उसका आधार उत्तरकालीन स्वतंत्र विकास भी हो सकता है। यह आधार वंशक्रमागत भेद को असंदिग्ध रूप से नहीं प्रकट करता। श्री रमाप्रसाद चंद ने शरीर-रचना के आधार पर जो विभाजन किया है उसमें संदेह नहीं किया जा सकता। उन्होंने मगध तथा पूर्वी मध्यदेश (बाह्य आर्य) का जो प्रभाव आभ्यंतर आर्यों तथा पश्चिमी गंगा दोआब के निवासियों पर बताया है वह उल्लेख-नीय है। संभवतया गुजराती, बंगाली और अधिकतर बिहारी एक ऐसी जाति के प्रति-निधि हैं जो द्रविड़, कोल एवं दीर्घशिरा आर्यों तथा चौड़े सिरवाली जाति के सम्मि-

---

1. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के प्रमुख ग्रंथ—(1) *Origin and Development of Bengali Language* (1926), (2) भारतीय आर्यभाषा और हिंदी (1954)।

श्रण से बनी है। यह चौड़े सिरवाली जाति मध्य एशिया से प्रागैतिहासिक काल में आई। यह नहीं कहा जा सकता कि यह चौड़े सिरवाली जाति आर्यो या भारतीय आर्यो की शाखा थी। चंद और ग्रियर्सन के निष्कर्ष में ऐकमत्य होने पर भी दोनों के विवरण में परस्पर विसंगति है। लहँदा बोलने वाले पश्चिमी पंजाबी ग्रियर्सन के मतानुसार बाह्य शाखा में आते हैं। किंतु उनके कम-से-कम कुछ प्रदेशों में बसे हुए पूर्वज मध्यदेश के आभ्यंतर आर्य थे। उनका और कन्नौज के ब्राह्मणों का एक ही वंश है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। ये लोग भी मागधों के समान ब्राह्मण-परंपरा से बहिष्कृत थे। इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि मस्तक-रचना के आधार पर जो निष्कर्ष निकलते हैं वे अंतिम नहीं माने जा सकते। चंद ने चौड़े सिर के आधार पर जिन गुजराती, मराठे, कोड़गु, तेलुगु, उड़िया, बंगाली तथा बिहारी लोगों को मध्य एशिया से आया हुआ बताया है, संभवतया वे आर्यभाषा नहीं बोलते थे। यह निश्चित है कि तेलुगु, कन्नड और कोड़गु लोग कभी आर्यभाषा-भाषी नहीं रहे। उनका गुजराती एवं बंगालियों का समान वंश है। इसके अतिरिक्त ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि चौड़े सिरवाले बाह्य आर्य पश्चिम भारत या गुजरात से बंगाल में आए। इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि आर्यो के विस्तार का उल्लेख करते हुए सभी परंपराएँ मध्यदेश को मूल स्थान बताती हैं। इसलिए मानवविज्ञान[1] या नृविज्ञान[2] के आधार पर अथवा भाषा के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि आभ्यंतर आर्यों को घेरनेवाली तथाकथित बाह्य शाखा आर्यों की है।

हार्नले और ग्रियर्सन ने दो शाखाएँ मानी हैं। उसके स्थान पर, जैसाकि वेबर[3] ने माना है, दो से अधिक वर्ग मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। उनमें से कुछ आपस में अपेक्षाकृत अधिक मिलते-जुलते हैं। इसका कारण वंश की एकता अथवा समान परिस्थितियों में समान विकास या परस्पर प्रभाव हो सकता है। इस विभाजन को नीचे लिखे अनुसार प्रकट किया जा सकता है :
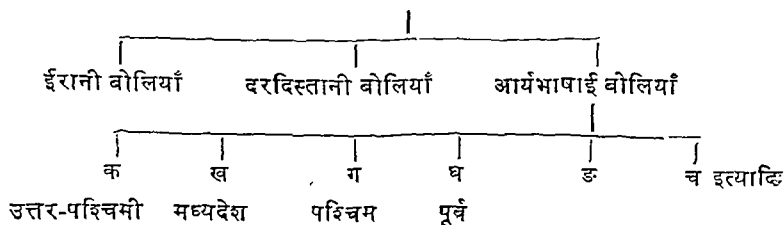
1, 2. Ethnology तथा Anthropology.
3. प्रो० ए० वेबर का प्रमुख ग्रंथ : हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिट्रेचर (1900)।

अत्यधिक संभावना है कि ईरान और भारत एवं दरदिस्तान और भारत के बीच कोई बोली रही होगी।

प्राचीन आर्यभाषा अथवा वैदिक भाषा

हमारे पास उपर्युक्त प्राचीन बोलियों का प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र भाषा ऋग्वेदीय भाषा है। यह साहित्यिक भाषा है। मूलरूप से यह किसी एक बोली पर आश्रित रही होगी, किंतु धीरे-धीरे इसमें दूसरी बोलियों के तत्त्व भी आते गए, विशेष रूप से अपने अंतिम काल में जब ऋग्वेद भारतीय आर्यों की सर्वमान्य संपत्ति बन गया। इस प्रकार का मिश्रण स्वाभाविक था। जिस बोली पर वैदिक भाषा आधारित थी वह संभवतया पश्चिम की भाषा थी। उस समय आर्य पंजाब से आगे नहीं बढ़े थे। इस बोली की कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. इसमें केवल 'र' का उच्चारण था, 'ल' का उच्चारण नहीं था।
2. स्वर-मध्यवर्ती महाप्राण स्पर्श अर्थात् घ, भ, ढ, ध, भ ऊष्म अर्थात् 'ह' बोले जाते थे।
3. मध्यवर्ती 'ड' और 'ढ' का अस्पर्श अथवा 'ल' और 'ल्ह' हो गया था।

'ल' के स्थान में 'र' का प्रयोग ईरानी भाषा में पाया जाता है, जोकि वैदिक भाषा के पड़ोस में विद्यमान थी। संस्कृत भी इसी प्रकार एक मिश्रित भाषा है। इसका आधार भी प्राचीन आर्यभाषा की विविध बोलियाँ हैं जोकि ई० पू० 500 तक गांधार या पेशावर से लेकर मध्यदेश तक प्रचलित थीं। प्राचीन ध्वनियों को लिया जाए तो वैदिक भाषा पश्चिमी पंजाबी से अधिक मिलती है। संस्कृत तथा प्राकृत में बहुत से ऐसे रूप विद्यमान हैं जिनसे पता चलता है कि वैदिक काल में ऋग्वेद की आधारभूत बोली के अतिरिक्त दूसरी अनेक बोलियाँ प्रचलित थीं। उदाहरणस्वरूप मध्य भारत की बोलियों में 'र' और 'ल' दोनों ध्वनियाँ थीं। पूर्वी बोली में केवल 'ल' था। उदाहरणार्थ, वैदिक 'श्रीर' (समृद्ध), (अवेस्ता 'श्रीर') के संस्कृत में 'श्रीर' और 'श्रील' दोनों प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेद के अर्वाचीन भाग में भी दोनों प्रयोग मिलते हैं। संस्कृत तथा बहुत-सी प्राकृतों में घोष एवं अघोष महाप्राण ऊष्म नहीं होते। उन्हीं बोलियों के प्रभाव के कारण ऋग्वेद की मूलभाषा को फैलने का अवसर नहीं मिला। परिणामस्वरूप संस्कृत के समान ऋग्वेद में भी अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ पुरातन महाप्राण स्पर्श विद्यमान हैं या पुनः प्रतिष्ठित हो गए। वेद एवं कई अन्य बोलियों में 'ड' का 'ल' हो गया, किंतु कुछ बोलियों में वह ज्यों-का-त्यों बना रहा। संस्कृत में भी 'ड' अपरिवर्तित है। प्राचीन आर्यभाषा में बोलियों की विविधता अनेक दूसरे आधारों से भी सिद्ध होती है। संस्कृत में 'गुरु' शब्द मिलता है। पालि तथा प्राकृतों में 'गरु' रूप भी मिलता है। संस्कृत में वही 'गरीयान्', 'गरिष्ठ' आदि तद्धित प्रयोगों में उपलब्ध है। वैदिक तथा संस्कृत में 'पुरुष' शब्द मिलता है। इसका आर्यभाषाई रूप 'पूर्ष' प्रतीत

होता है जोकि पुं+वृष से बना है। पालि में इसके 'पोस', 'पुरिस' एवं 'पोरिस' रूप मिलते हैं। मागधी में 'पोलिश' मिलता है। बहुत से सुबन्त एवं तिङन्त पद, धातु तथा प्रातिपदिक वेद तथा संस्कृत में नहीं मिलते किंतु मध्यदेशीय आर्यभाषा में मिलते हैं। ये सभी इसी तथ्य को प्रकट करते हैं कि वैदिककाल में वे रूप उन बोलियों में प्रचलित थे जिन्हें वेद अथवा संस्कृत के रूप में साहित्यिक भाषा बनने का अवसर नहीं मिला। वैदिक और संस्कृत में 'स्यात्' (सम्भावना लिङ्) रूप मिलता है। इसीसे मिलता-जुलता लैटिन रूप सिएत (siet)—सित् (sit) है। किंतु पालि का 'अस्स' रूप 'अस्मात्' का परिवर्तन है। इसमें मूल धातु का 'अ' न केवल विद्यमान है प्रत्युत प्रबल हो गया है। वेद और संस्कृत में 'ददाति', 'दत्त' आदि रूपों में 'दा' धातु का द्वित्व मिलता है। किंतु प्राकृत और आधुनिक भाषाओं में दाति, दित, देता आदि एक 'द' वाले रूप मिलते हैं।

प्राचीन आर्यभाषा

वैदिक, संस्कृत और प्राकृत में परस्पर, एवं एक ही वैदिक भाषा में भी इस प्रकार की विविधताएँ यह प्रकट करती हैं कि प्राचीन आर्यभाषा में ऋग्वेद की मूल भाषा के अतिरिक्त अनेक बोलियाँ थीं। किंतु इस प्रकार की विविधता का क्षेत्र बड़ा नहीं है। इसलिए वैदिक और संस्कृत को समस्त प्राचीन आर्यभाषा का प्रतिनिधि माना गया है। अवेस्ता और होमर की ग्रीक के साथ वैदिक भाषा का जो आश्चर्यजनक साम्य है वह भी इसे प्राचीन आर्यभाषा होने का अधिकार देता है। इसी प्रकार मध्य आर्य-भाषा और नवीन आर्यभाषा के साथ तुलना करने पर यही मूल भाषा सिद्ध होती है। यद्यपि पूरी तरह यह नहीं कहा जा सकता कि मध्य आर्यभाषा और नव्य आर्य-भाषा का विकास ऋग्वेद की भाषा या संस्कृत से ही हुआ है, फिर भी इनका मूल रूप ढूंढ़ने के लिए ऋग्वेद की भाषा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उत्तरकालीन स्वतंत्र विकास को छोड़ दिया जाए तो उनकी ध्वनियाँ एवं पद ऋग्वेद से मिलते हैं।

इसलिए आर्यभाषा के उत्तरकालीन एवं वैविध्यपूर्ण विकास को जानने के लिए ऋग्वेद की भाषा ही मूल स्रोत है। भाषाविज्ञान के अनुसार यह भारोपीय परिवार की 'शतम्' शाखा के अंतर्गत है, अर्थात् इस शाखा में क, ख, ग, घ आदि कण्ठ्य व्यंजन (जिन्हें तालव्य भी कहा जाता है), तालव्य, विवृत और ऊष्म, अर्थात् श, ज आदि के रूप में बदल जाते हैं। यूरोप की भारोपीय भाषाओं में यह तालूकरण बाल्टोस्लाविक और अल्बानियन भाषाओं में ही होता है। ग्रीक, इटालियन, सेल्टिक तथा जर्मन आदि अन्य यूरोपीय प्राचीन भाषाओं में यह परिवर्तन नहीं होता। किंतु पिछले एक या डेढ़ हजार वर्षों से इन भाषाओं के भी नवीन रूपों में यह परिवर्तन पाया जाता है। सौ के लिए प्राचीन भारोपीय शब्द 'कंत' है। संस्कृत में यह 'शतं' हो गया। अवेस्ता में 'सतम्'; लिथ्वानियन में 'शितस्' और प्राचीन स्लाव में 'सूतो'। किंतु ग्रीक आदि में 'क' विद्य-मान है।

ऋग्वेद का ध्वनि समूह

वैदिक भाषा में अनेक भारोपीय व्यंजन हैं, विशेष रूप से महाप्राण व्यंजन जितने इसमें हैं, उतने किसी अन्य भारोपीय परिवार की भाषा में नहीं हैं। किंतु स्वरों की दृष्टि से वैदिक भाषा अपूर्ण है। भारोपीय अ, ऍ ऑ, तथा आ, ए, ओ भारत-ईरानी काल में केवल अ और आ रह गए। भारत में आने पर आर्य कोल और द्रविड़ भाषाओं के संपर्क में आए। इनकी ध्वनियों ने आर्यभाषा को प्रभावित किया। आर्यभाषा की ध्वनि-व्यवस्था के इतिहास में यह प्रभाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्राचीन एवं सरल स्वर-व्यवस्था, जो वैदिक भाषा की विशेषता है, वह उत्तरकाल में भी चलती रही और द्रविड़ भाषाओं में भी इसी प्रकार की सरल स्वर-व्यवस्था है। आर्यभाषा के महाप्राणों से कन्नड़, तेलुगु, संथाल आदि सभी भाषाएँ, जो इसके संपर्क में आईं, प्रभावित हुईं। वेद की साहित्यिक भाषा में तालव्य (spirant) का प्रयोग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को छोड़ कर नहीं है। तालव्य (spirant) 'च' श में बदल गया है और 'ज' ज में। किन्तु वैदिक भाषा के पड़ोस में होने पर भी अवेस्ता में इनका बाहुल्य से प्रयोग है। यह उल्लेखनीय है कि संभवतया द्रविड़ और कोल के प्रभाव के कारण वैदिक में इनका प्रयोग कम हो गया। इसी प्रकार ट, ड, ल, ण आदि मूर्धन्य ध्वनियाँ भी द्रविड़ से प्राचीन आर्यभाषा में आ गईं।

वैदिक शब्दरूप

वैदिक भाषा की रूप-व्यवस्था अत्यंत समृद्ध है। इसमें पुरातन भारोपीय का प्रभाव स्पष्ट है। वैदिक भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति और सौंदर्य का बहुत बड़ा आधार उसकी प्रत्यय-पद्धति है। किंतु प्रत्यय जोड़ते समय धातुओं में और प्रातिपदिकों में जो परिवर्तन होते हैं उनके कारण यह अत्यंत कठिन हो गई है। यह परिवर्तन भारोपीय भाषा में भी विद्यमान था। प्राचीन आर्यभाषा (वैदिक) की तुलना में प्राचीन द्रविड़ अत्यंत सरल प्रतीत होती है। प्राचीन द्रविड़ के धातुरूप, नामधातु, दो काल, (सामान्य भूत और सामान्य भविष्यत्), ण्यन्त, सन्नन्त आदि का अभाव आदि विशेषताएँ किसी आर्यभाषा में नहीं पाई जातीं। फिर भी, द्रविड़ भाषा सभी साधारण भावों को प्रकट करने में समर्थ है। कोल भाषा के भी शब्दरूप, धातुरूप तथा इसके प्रत्यय और उपसर्ग अत्यंत सरल हैं। किंतु रूपों की बहुलता एवं विविधता के कारण यह दुरूह प्रतीत होती है। जब आर्यभाषा बोलनेवालों का द्रविड़ और कोल बोलनेवालों के साथ संपर्क हुआ एवं द्रविड़ तथा कोलों ने आर्यभाषा बोलना प्रारंभ किया, उसी से नव्य आर्यभाषा का जन्म हुआ। इस प्रकार वैदिक व्याकरण नवीन बोलियों में आकर सरल बन गया। यह सरलीकरण द्रविड़ पद्धति पर हुआ है।

वैदिक धर्म का जन्म और प्रसार

आर्यों का भारत में प्रवेश उत्तर-पश्चिम की ओर से हुआ। पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान से फैलते हुए उन्होंने भारत में प्रवेश किया। क्रमशः वे पूर्व की ओर बढ़े और उत्तरी पंजाब में फैलते हुए गंगा तक पहुँच गए। ऋग्वेद में जिस धार्मिक स्थिति का वर्णन है या उसमें जो साहित्यिक अभिव्यक्ति है उससे प्रतीत होता है कि उस समय आर्य काबुल और स्वात से लेकर गंगा तक फैले हुए थे। संभवतया उस समय आर्य-सभ्यता के दो केंद्र थे : (1) गांधार अर्थात् पेशावर एवं रावलपिंडी और (2) ब्रह्मावर्त, सरस्वती नदी के तट पर (पटियाला, अंबाला और करनाल)। वैदिक भाषा का 'प' के स्थान में 'व' का प्रयोग भी इसी तथ्य को प्रकट करता है। इसी प्रकार अनेक भाषाओं (प्राचीन तथा नवीन) में स्पर्श के रूप उच्चारित होने वाले व्यंजनाक्षरों द्वारा शिथिल या विवृत ध्वनियों को प्रकट किया गया है। उदाहरण के रूप में गाथीय, प्राचीन आयरिश, आधुनिक ग्रीक तथा स्पेनिश में यह झुकाव पाया जाता है।

भारतीय रूप इस पूर्वी केंद्र से प्राप्त हुआ। यहाँ पर आर्यों के एक वर्ग ने अग्नि, इन्द्र तथा ऋग्वेदीय अन्य देवताओं की पूजा चलाई। संभवतया यहीं पर वैदिक धर्म ने कालक्रम से यज्ञ का रूप धारण किया। यहीं पर सर्वप्रथम सार्वभौम राजा की कल्पना और स्थापना हुई। ऋग्वेद के सूक्तों का अधिकतर भाग पंजाब में रचा गया। किंतु यह भी संभव है कि उसका कुछ भाग आर्यों के साथ बाहर से आया हो। ऋग्वेद और अवेस्ता में छंद एवं विरामों का साम्य इस तथ्य का समर्थन करता है। जिन आर्यों ने वैदिक धर्म की स्थापना की तथा वैदिक साहित्य एवं कर्मकांड को व्यवस्थित किया, प्रतीत होता है कि उन्होंने मध्यदेश (गंगा के उत्तरी दोआब) को अपना घर बनाया। यहीं पर चार वर्णों का विभाजन हुआ और ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति की नींव पड़ी (1000-600 ई०पू०)। मध्यदेशवासी आर्य भारत के अत्यत समृद्ध प्रदेश पर अधिकार, उच्च संस्कृति और दृढ़ संगठन के कारण क्रमशः उत्तर-भारत में सर्वत्र फैल गए। यहाँ के बुद्धिजीवी ब्राह्मण और उच्चवर्गीय क्षत्रियों ने आस-पास के क्षेत्रों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। धीरे-धीरे मध्यदेश की सभ्यता पूर्व में वाराणसी और मिथिला तक तथा दक्षिण एवं पश्चिम में फैल गई।

यह कहना ठीक नहीं है कि सभी आर्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक थे। ऋग्वेद में इस बात के प्रमाण हैं कि वैदिक आर्यों के युद्ध अनार्यों के साथ ही नहीं किंतु उन आर्यों के साथ भी हुए जिन की मान्यताएँ एवं जीवन-पद्धति उनसे भिन्न थी। पूर्व में गंगा के तट पर अवैदिक आर्य पहले से बसे हुए थे। कालांतर में वैदिक आर्यों ने अपने प्रधान केंद्र मध्यदेश से आकर उन पर प्रभुत्व जमाया। इसी प्रकार पूर्वी पंजाब के वैदिक आर्यों से विचार-भेद रखने वाले आर्य पश्चिमी तथा दक्षिण-पश्चिमी पंजाब में बसे हुए थे। पूर्वी आर्य मध्यदेशीय आर्यों से धर्म, रीति-रिवाज तथा अन्य बहुत-सी बातों में भिन्न थे।

द्रविड़ और कोल आदि आर्येतर जातियाँ वैदिक एवं अवैदिक दोनों प्रकार के

आर्यों से लड़ीं और अंत में उनसे संधि करती गई। बहुत से आर्येतर दीर्घकाल तक आर्य सभ्यता एवं भाषा से अप्रभावित रहे। उत्तरी भारत तथा पंजाब, एवं उत्तरी गंगा घाटी में मध्यकाल तक द्रविड़ एवं कोल भाषा बोलनेवालों का अस्तित्व इसी तथ्य को प्रकट करता है। अफ़गानिस्तान में ब्राहुई बोलनेवालों का अस्तित्व इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है। साहित्य एवं उत्तर-भारतीय स्थानों के नाम भी इसके समर्थक हैं। उदाहरण के लिए गोंड जाति ने, जोकि मध्यभारत की द्रविड़-भाषी जाति थी, युक्त प्रांत में गोंडा जिले को अपना नाम दिया। किंतु आर्यों के यहाँ बस जाने पर वे लोग बहुसंख्यक होने पर भी आर्यों में समा गए। वे या तो श्रमिक के रूप में आर्यों की भूमि जोतने लगे, अथवा स्वतंत्र रूप से कृषि, शिल्प आदि धंधे करने लगे। आर्य लोग (विश) उन्हें शूद्र के रूप में घृणा की दृष्टि से देखते थे। द्रविड़ लोग सभ्यता में आर्यों से हीन न थे। वे चतुर कृषक एवं पटु कलाकार थे। मनुष्य एवं जगत् के विषय में उनके अपने दार्शनिक विचार भी थे। उनका आर्यों पर प्रभाव पड़ा। पंजाब में इन दो जातियों का परस्पर संपर्क संघर्ष के रूप में हुआ। गंगा घाटी में वह अपेक्षाकृत निकट एवं मित्रतापूर्ण हो गया और अंत में एक सुलह के रूप में बदल गया। इसमें आर्यों की विजय हुई, क्योंकि उत्तरी भारत में उनकी भाषा ने द्रविड़ को अभिभूत कर लिया और कालक्रम से दक्षिण में भी वह सांस्कृतिक विचारों की अभिव्यक्ति का सर्वजनीन साधन बन गई। भाषा-विजय के कारण आर्य जिस सभ्यता के संपर्क में आए उस पर अपना रंग चढ़ाते गए। उत्तर-भारत में यह समन्वय एक हज़ार वर्ष में पूर्ण हुआ।

प्राचीन वैदिक काल को लिया जाए तो भारतीय आर्यों की विचारधारा, सामाजिक संस्थाएँ, बौद्धिक दृष्टिकोण, संक्षेप में समस्त संस्कृति उत्तर-भारतीय हिंदुओं की अपेक्षा हेलेन, यूनानी इतालवी, कैल्ट, जर्मन तथा स्लाव लोगों से अधिक मिलती है। उन लोगों में हिंदू-विचारधारा के पनपने से बहुत पहले द्रविड़ धर्म एवं द्रविड़ भाषाएँ आर्यों के धर्म एवं भाषा पर प्रभाव जमा चुकी थीं। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद में पुनर्जन्म के सिद्धांत का कोई संकेत नहीं मिलता, किंतु भारतीय धर्म में इसका जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है उतना और किसी सिद्धांत का नहीं है। संभवतया यह अनार्यों से लिया गया है। किंतु इसने आर्यों में अत्यंत प्राचीन समय में स्थान प्राप्त कर लिया था। जगत् के संबंध में भी कुछ विचार द्रविड़ हैं। द्रविड़ देवता भी आर्यों के देवताओं में सम्मिलित हो गए हैं। उनके गुण एवं स्वभाव तथा नाम भी आर्य बना दिए गए हैं। इस प्रकार के संगम से एक संयुक्त संस्कृति का प्रारंभ हुआ। कालांतर में उसी का नाम हिंदू-संस्कृति पड़ा।

इस प्रकार सांस्कृतिक क्षेत्र से द्रविड़ प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। बोलचाल की भाषा में भी यह अवश्य रहा होगा। किंतु साहित्यिक भाषा में वह नहीं दिखाई देता। ऋग्वेद की भाषा द्रविड़ प्रभाव से मुक्त है। वह शुद्ध आर्यभाषा है। पद-रचना, वाक्य-विन्यास, आंतरिक तत्त्व, संघटन आदि बातों में भारोपीय है। संघटन की दृष्टि

से अप्रभावित रहने पर भी ऋग्वेद की ध्वनियाँ द्रविड़ प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकीं। इसी प्रकार बहुत से द्रविड़ शब्द भी वैदिक भाषा में आ गए हैं।

जो वस्तुएँ आर्यों को विदित नहीं थीं उनके नाम द्रविड़ भाषा से लिए गए। इतना ही नहीं, विविध भावों को प्रकट करने के लिए भी नए शब्दों को लिया गया। उदाहरण के रूप में नीचे कुछ शब्द दिए जाते हैं जो संभवतया द्रविड़ हैं :

अणु=लघुतम भाग	कुणारु=मुर्झाया हुआ, हथियार वाला
अरणि=घिसकर आग जलाने की लकड़ी	कुण्ड=छेद
	नाना=विविध प्रकार के
कटुक=तेज़	नील=नीला
कपि=बंदर	नीहार=बादल, बर्फ़
कर्मार=कारीगर	पुष्कर=कमल
कला=छोटा भाग	पुष्प=फूल
कितव=धूर्त	वल्गु=सुंदर
कुटी या कुटज=झोपड़ी	पूजन, फल, बिल, बीज, मयूर, रात्रि, रूप, सायम् आदि।

ब्राह्मण-ग्रंथों में आर्येतर शब्द और भी बढ़ गए हैं :

अटवी=जंगल	फण=झाग
अलर्क=एक प्रकार का पुष्प	वलक्ष=सफ़ेद
आडम्बर=ढोल	मर्कट=बंदर
कुलाल=कुम्हार	व्रीहि=धान
खड्ग—(Rhinoceros) गेंडा	शव=मृत शरीर

कम्बल, तण्डुल, तिल, वल्ली आदि।

आर्यभाषा जैसे-जैसे समृद्ध होती गई, भावों को प्रकट करनेवाले शब्द बाहर से आने बंद हो गए। फिर भी परिभाषिक शब्दों का आगमन चलता रहा। संस्कृत एवं अन्य प्राचीन भाषाओं में परिनिष्ठित एवं परिनिष्पन्न भावों को प्रकट करने के लिए सुविधानुसार द्रविड़ परिभाषाएँ अपनाई जाती रहीं।

प्राचीन आर्यभाषा की जिन बोलियों को पश्चिमी जातियाँ बोलती थीं एवं जिनका ईरान के साथ प्रादेशिक संबंध भी बना रहा, वे ईरानी भाषा से अधिक समानता रखती हैं। किंतु आर्य जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़े, अन्य भाषाओं का सम्मिश्रण होता गया। आर्येतर जातियों ने बड़ी संख्या में आर्यभाषा को अपनाया। अपनानेवाली जनता ने उसे अपने अनुकूल बनाने के लिए बहुत-से परिवर्तन किए। इस प्रकार आर्यभाषा शनैः-शनैः बदलने लगी। प्रतीत होता है कि ई० पू० 1000 तक 'आर्यभाषा' ने उत्तरी भारत में बिहार तक अपना प्रभाव जमा लिया था। इसी भूमि को आर्यावर्त या 'आर्यभूमि' कहा गया। ब्राह्मण-साहित्य से प्रतीत होता है कि उस समय भी कुछ

आर्य घुमक्कड़ थे। पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी दोआब के आर्य सजातीय आर्यों के पीछे-पीछे पूर्व की ओर बढ़े। उन्होंने कुरु, पांचाल, वाशस्, उशीनर, मत्स्य, शाल्व, शूरसेन, कोसल, काशी तथा विदेह आदि शक्तिशाली राज्यों की स्थापना की। इनमें अंतिम तीन पूर्व में हैं और शेष गंगा के उत्तरी तट पर एवं मध्यदेश में हैं। बुद्ध से पूर्वकालीन (1000-600 ई० पू०) ब्राह्मणों में उनका निर्देश है। भारत की प्राचीन परंपराएँ, इतिहास एवं वीरगाथाएँ, कविता एवं दर्शन, धर्म तथा समाज-व्यवस्थाएँ इन्हीं राज्यों में विकसित हुई। इन राज्यों की जनता (1) वैदिक आर्य, (2) अवैदिक आर्य, (3) आर्य तथा आर्येतरों की मिश्रित, और (4) शुद्ध आर्येतर—सभी प्रकार की थी। किंतु भाषा एव संस्कृति' की दृष्टि से प्रायः वे सभी आर्य बन गए थे।

ब्राह्मण-साहित्य की भाषा

जबकि ऋग्वेद की समकालीन अन्य आर्यभाषाएँ कालक्रम से बदलती गईं, ऋग्वेद की भाषा स्थिर बनी रही। परिणामस्वरूप शनैः-शनैः वह अप्रयुक्त होती गई। फिर भी राष्ट्रीय साहित्य का मूल आधार होने के कारण उसका अध्ययन-अध्यापन चलता रहा, किंतु प्रतिदिन की प्रचलित भाषा न रह सकी। क्रमशः एक नई साहित्यिक भाषा, जोकि वैदिक का ही सरल रूप थी, अस्तित्व में आ गई। वैदिक भाषा बोलनेवालों के वंशजों ने तथा वैदिक धर्म के अन्य अनुयायियों ने उस नई भाषा को अपना लिया। ब्राह्मण-साहित्य की संस्कृत उन आर्यों तथा आर्यीभूत लोगों की भाषा है जो वैदिक धर्म को मानते थे और पंजाब से लेकर बिहार तक फैले हुए थे। गांधार, केकय, मद्र तथा मध्यदेश के कुरु एवं पांचालों के समान पंजाब के आर्य भी वैदिक धर्म के अनुयायी थे। ई० पू० 1000 तक आर्यभाषा बिहार तक फैल गई। पूर्व में बसी हुई बहुत-सी आर्येतर जातियाँ भी उसे बोलने लगीं। किंतु उनके उच्चारण में स्वाभाविक भेद था। सुदूर-पश्चिम और सुदूर-पूर्व में प्राकृत प्रभाव के कारण परस्पर-भेद उत्तरोत्तर बढ़ता गया। पर फिर भी दोनों की भाषाएँ एक-दूसरे की समझ में आती थीं। सुदूर-पश्चिम एवं कुरु-पांचाल से संबद्ध होने पर भी ब्राह्मणों की भाषा सभी के लिए परस्पर-व्यवहार का माध्यम बनी हुई थी। आर्यों में परस्पर-विरोधी दो वर्ग थे, कुछ वैदिक धर्म को मानते थे और कुछ नहीं मानते थे, फिर भी यह निश्चित है कि बुद्ध से पहले चार सौ वर्ष तक उत्तरी भारत एक ही संस्कृति को मानता था। 'शतपथ ब्राह्मण' (700 ई०पू०) में पंजाब द्वारा उत्तरी बिहार पर राज्य-स्थापन का वर्णन है। 'माधव विदेघ' की कथा (श०ब्रा० 1-4-1) इसी को प्रकट करती है। एक ब्राह्मण के अनुसार पश्चिमी पंजाब या उत्तर के लोग मध्यदेश वालों की अपेक्षा अधिक शुद्ध आर्यभाषा बोलते थे। अशोक के उत्तरी-पश्चिमी शिलालेखों से इस बात का समर्थन होता है। उनकी भाषा, जहाँ तक ध्वनियों का संबंध है, संस्कृत के अधिक निकट है, जबकि उसी सम्राट् के पूर्वी शिलालेख संस्कृत से बहुत भिन्न हैं। मध्यदेशीय विद्वानों ने उत्तर-पश्चिमी तथा व्रात्यों की भाषा के विषय में जो मंतव्य प्रकट किए हैं, उनके

अध्ययन से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जाती है।

"इसलिए उत्तर में विद्वत्तापूर्ण भाषा बोली जाती है। लोग वाणी सीखने के लिए उत्तर को जाते हैं अथवा जो वहाँ से आता है उसकी उपासना करते हैं।"[1]

इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्य-बोलियाँ पूर्व में उत्तरोत्तर मिश्रित होती गई थीं, जबकि पश्चिम में अपेक्षाकृत शुद्ध बनी रहीं। पूर्व का यह प्रभाव यजुर्वेद, अथर्ववेद और ब्राह्मणों में ही नहीं, ऋग्वेद में भी दृष्टिगोचर होता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:

वैदिक 'विकट'=विकृत
वैदिक म्लेच्छ=म्लैक्ष
वैदिक दण्ड=दन्द्र (Greek देण्ड्रन)
वैदिक कुरु=कृणु
वैदिक पठ=पुथ

वैदिक काट, वैदिक कत = गर्त
वैदिक आढच=आर्द्धय, √ऋध् से
वैदिक नापित=√स्ना (पालि) नहापित

इस प्रकार 'र' के समीप होने पर मूर्धीकरण, संयुक्त व्यंजनों का विलय तथा 'ल' का प्रयोग पूर्वी बोलियों का प्रभाव है। 'स' के स्थान में 'श' का परिवर्तन भी इसी प्रभाव को प्रकट करता है।

प्राकृत का जन्म

पूर्वी भारत में वैदिक परंपरा का प्रसार बुद्ध से कुछ शताब्दियाँ पूर्व हुआ। तब तक वह वाराणसी और उत्तर-बिहार से आगे नहीं पहुँच पाई थी। पश्चिमी आर्यों को दक्षिण बिहार का पता तक न था। किंतु बुद्ध के समय मगध के आर्यों का शक्तिशाली राज्य बन गया। ऋग्वेद में केवल एक बार (3-53-14) कीकट (मगध) का निर्देश आता है।[2] यास्क ने उसे अनार्यों का देश बताया है (6-32)।[3] उत्तरकालीन संस्कृत में कीकट और मगध को एक बताया गया है। अथर्ववेद में अङ्ग और मगध को सुदूरवर्ती देश बताते हुए कहा है कि वहाँ विचित्र प्रकार के लोग बसते हैं। आर्यों ने मलेरिया को, जो उन्हें कष्ट दे रहा था, वहाँ भेज दिया (5-22-14)।[4] शतपथ ब्राह्मण में पूर्व के निवासियों को असुर्य (राक्षसी) प्रकृति का बताया है (13-8-1-5)।[5] ब्राह्मण प्राच्यों को अपना शत्रु मानते थे। मागध भी उन्हीं में गिने

1. तस्मात् उदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यत, उदाञ्चा उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति:
उत्तर दिशा में वाणी अधिक विद्वता के साथ बोली जाती है। वाणी को सीखने के लिए लोग उत्तर में जाते हैं। अथवा जो वहाँ से आता है उसकी सेवा करते हैं। (शाङ्ख्यायन अथवा कौशीतकि ब्राह्मण 7-6)।
2. किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो...(ऋग् 3.53)
3. कीकटा नामदेशोऽनार्यनिवासः। (निरुक्त 6.32)
4. गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः। प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि॥ (अथर्व 5.22.14)
5. या आसुर्यः प्राच्याः। शत० 13.8.1.5

जाते थे। इसका अर्थ है कि ब्राह्मणकाल में मगध ब्राह्मण या वैदिक परिधि से बाहर था। यास्क के समय में भी वही स्थिति थी। किंतु बुद्ध के समय मगध आर्यों का शक्तिशाली राज्य बन गया। इसका अर्थ है, बुद्ध से पहले आर्य मगध में पहुँच चुके थे और वहाँ आर्यभाषा का भी प्रसार हो चुका था। यास्क (8वीं शती ई०पू०) और बुद्ध (छठी शती ई० पू०) में लगभग दो शताब्दियों का अंतर है। यह सारा परिवर्तन इसी अंतराल में हुआ। संभव है, ये आर्य पश्चिमी आर्यों से भिन्न रहे हों और वैदिक सभ्यता का प्रचार पश्चिमी आर्यों तक सीमित रहा हो। भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और रहन-सहन में भी ये आर्य पश्चिमी आर्यों से, कम-से-कम ब्राह्मण काल तक, भिन्न रहे होंगे। निश्चयपूर्वक यह कह सकना तो कठिन है कि इन दोनों का मानव-वंश (race) परस्पर भिन्न था, किंतु भाषा और संस्कृति में निःसंदेह भेद था। संभवतया पूर्वी आर्य मिश्रित जाति के रहे हों। हो सकता है यह आर्यों का वह समूह हो जो आर्येतर-संस्कृति के प्रभाव में आ गया था। फिर भी, उसने अपनी भाषा नहीं छोड़ी। इन्हीं को वैदिक परंपरा में वर्णसंकर भी बताया गया है।

वैदिक परंपरा के आर्य इन अवैदिक आर्यों को 'व्रात्य' कहते थे। इसका अर्थ है—व्रतधारी घुमक्कड़ संन्यासियों को मानने वाले। वे लोग यज्ञ-यागादि वैदिक अनुष्ठानों को नहीं करते थे, इसलिए ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत माने जाते थे। 'व्रात्य' का दूसरा अर्थ है - वह व्यक्ति जिसका पिता क्षत्रिय हो और माता शूद्र। संभवतया आर्यों का जो दल पहले-पहल वहाँ पहुँचा और वहाँ की स्त्रियों से विवाह करके वहीं बस गया, उसके लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ हो। व्रात्यों को वैदिक वर्ण-व्यवस्था में ले लिया जाता था किंतु उन्हें शुद्धि के लिए यज्ञ करना पड़ता था। 'व्रात्य स्तोम' में इसी यज्ञ का निरूपण है। व्रात्यों का मुख्य निवास मगध था। उनके धर्मगुरु सूत होते थे। संभवतया सूक्तों के ज्ञाता होने के कारण उनका यह नाम पड़ा था—अर्थात् वे वैदिक संहिता-ग्रंथों को नहीं मानते थे किंतु उन्हें फुटकर सूक्त कंठस्थ थे। उत्तरकालीन संस्कृत में भाट, चारण आदि स्तुति-पाठक भी सूत कहे गए, और मगध के साथ संबंध होने के कारण 'मागध' शब्द सूत का पर्याय हो गया।

पूर्वी प्रदेशों में बौद्ध और जैन आदि अवैदिक परंपराओं का जन्म हुआ। वे भी अपने महापुरुषों और सिद्धांतों को सम्मान देने के लिए 'आर्य' शब्द का प्रयोग करने लगे। बौद्ध धर्म में चार सत्यों को 'आर्यसत्य' कहा गया है। वैदिक ब्राह्मणों के आने से पहले वहाँ कई धार्मिक परंपराएं प्रचलित थीं। मध्यदेश एवं उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों से आई हुई वैदिक परंपरा वहाँ की जनता को नहीं रुची। अथर्ववेद (काण्ड 15) के व्रात्य स्तोम में जिस प्रकार व्रात्य साधुओं को देवत्व का रूप दिया गया है और जिस प्रकार उनकी विचित्र वेशभूषा एवं अनुयायियों का वर्णन है उसे पढ़कर एक उलझन सी पैदा होती है। इससे पता चलता है कि व्रात्यों में शैव-परंपरा का प्रचार था। यह परंपरा वैदिक-शैव-परंपरा से सर्वथा भिन्न थी। 'व्रात्य स्तोम' में व्रात्यों की जो अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है उससे यह पता चलता है कि या तो उसमें स्वयं व्रात्यों का

अध्ययन से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जाती है।

"इसलिए उत्तर में विद्वत्तापूर्ण भाषा बोली जाती है। लोग वाणी सीखने के लिए उत्तर को जाते हैं अथवा जो वहाँ से आता है उसकी उपासना करते हैं।"[1]

इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्य-बोलियाँ पूर्व में उत्तरोत्तर मिश्रित होती गई थीं, जबकि पश्चिम में अपेक्षाकृत शुद्ध बनी रहीं। पूर्व का यह प्रभाव यजुर्वेद, अथर्ववेद और ब्राह्मणों में ही नहीं, ऋग्वेद में भी दृष्टिगोचर होता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :

वैदिक 'विकट'=विकृत	वैदिक काट } = गर्त
वैदिक म्लेच्छ=म्लैक्ष	वैदिक कत } = गर्त
वैदिक दण्ड = दन्द्र (Greek देण्ड्रन)	वैदिक आढच=आर्द्धय, √ऋध् से
वैदिक कुरु=कृणु	वैदिक नापित=√स्ना (पालि) नहापित
वैदिक पठ=पुथ	

इस प्रकार 'र' के समीप होने पर मूर्धीकरण, संयुक्त व्यंजनों का विलय तथा 'ल' का प्रयोग पूर्वी बोलियों का प्रभाव है। 'स' के स्थान में 'श' का परिवर्तन भी इसी प्रभाव को प्रकट करता है।

प्राकृत का जन्म

पूर्वी भारत में वैदिक परंपरा का प्रसार बुद्ध से कुछ शताब्दियाँ पूर्व हुआ। तब तक वह वाराणसी और उत्तर-बिहार से आगे नहीं पहुँच पाई थी। पश्चिमी आर्यों को दक्षिण बिहार का पता तक न था। किंतु बुद्ध के समय मगध के आर्यों का शक्तिशाली राज्य बन गया। ऋग्वेद में केवल एक बार (3-53-14) कीकट (मगध) का निर्देश आता है।[2] यास्क ने उसे अनार्यों का देश बताया है (6-32)।[3] उत्तरकालीन संस्कृत में कीकट और मगध को एक बताया गया है। अथर्ववेद में अङ्ग और मगध को सुदूरवर्ती देश बताते हुए कहा है कि वहाँ विचित्र प्रकार के लोग बसते हैं। आर्यों ने मलेरिया को, जो उन्हें कष्ट दे रहा था, वहाँ भेज दिया (5-22-14)।[4] शतपथ ब्राह्मण में पूर्व के निवासियों को असुर्य (राक्षसी) प्रकृति का बताया है (13-8-1-5)।[5] ब्राह्मण प्राच्यों को अपना शत्रु मानते थे। मागध भी उन्हीं में गिने

1. तस्मात् उदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुधत, उदाञ्चा उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति :
उत्तर दिशा में वाणी अधिक विद्वता के साथ बोली जाती है। वाणी को सीखने के लिए लोग उत्तर में जाते हैं। अथवा जो वहाँ से आता है उसकी सेवा करते हैं। (शाङ्ख्यायन अथवा कौशीतकि ब्राह्मण 7-6)।
2. किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो···(ऋग् 3.53)
3. कीकटा नामदेशोऽनार्यनिवासः। (निरुक्त 6.32)
4. गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योङ्गेभ्यो मगधेभ्यः। प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ (अथर्व 5.22.14)
5. या आसुर्यः प्राच्याः। शत० 13.8.1.5

जाते थे। इसका अर्थ है कि ब्राह्मणकाल में मगध ब्राह्मण या वैदिक परिधि से बाहर था। यास्क के समय में भी वही स्थिति थी। किंतु बुद्ध के समय मगध आर्यों का शक्तिशाली राज्य बन गया। इसका अर्थ है, बुद्ध से पहले आर्य मगध में पहुँच चुके थे और वहाँ आर्यभाषा का भी प्रसार हो चुका था। यास्क (8वीं शती ई०पू०) और बुद्ध (छठी शती ई० पू०) में लगभग दो शताब्दियों का अंतर है। यह सारा परिवर्तन इसी अंतराल में हुआ। संभव है, ये आर्य पश्चिमी आर्यों से भिन्न रहे हों और वैदिक सभ्यता का प्रचार पश्चिमी आर्यों तक सीमित रहा हो। भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और रहन-सहन में भी ये आर्य पश्चिमी आर्यों से, कम-से-कम ब्राह्मण काल तक, भिन्न रहे होंगे। निश्चयपूर्वक यह कह सकना तो कठिन है कि इन दोनों का मानव-वंश (race) परस्पर भिन्न था, किंतु भाषा और संस्कृति में निःसंदेह भेद था। संभवतया पूर्वी आर्य मिश्रित जाति के रहे हों। हो सकता है यह आर्यों का वह समूह हो जो आर्येतर-संस्कृति के प्रभाव में आ गया था। फिर भी, उसने अपनी भाषा नहीं छोड़ी। इन्हीं को वैदिक परंपरा में वर्णसंकर भी बताया गया है।

वैदिक परंपरा के आर्य इन अवैदिक आर्यों को 'व्रात्य' कहते थे। इसका अर्थ है—व्रतधारी घुमक्कड़ संन्यासियों को मानने वाले। वे लोग यज्ञ-यागादि वैदिक अनुष्ठानों को नहीं करते थे, इसलिए ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत माने जाते थे। व्रात्य' का दूसरा अर्थ है - वह व्यक्ति जिसका पिता क्षत्रिय हो और माता शूद्र। संभवतया आर्यों का जो दल पहले-पहल वहाँ पहुँचा और वहाँ की स्त्रियों से विवाह करके वहीं बस गया, उसके लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ हो। व्रात्यों को वैदिक वर्ण-व्यवस्था में ले लिया जाता था किंतु उन्हें शुद्धि के लिए यज्ञ करना पड़ता था। 'व्रात्य स्तोम' में इसी यज्ञ का निरूपण है। व्रात्यों का मुख्य निवास मगध था। उनके धर्मगुरु सूत होते थे। संभवतया सूक्तों के ज्ञाता होने के कारण उनका यह नाम पड़ा था—अर्थात् वे वैदिक संहिता-ग्रंथों को नहीं मानते थे किंतु उन्हें फुटकर सूक्त कंठस्थ थे। उत्तरकालीन संस्कृत में भाट, चारण आदि स्तुति-पाठक भी सूत कहे गए, और मगध के साथ संबंध होने के कारण 'मागध' शब्द सूत का पर्याय हो गया।

पूर्वी प्रदेशों में बौद्ध और जैन आदि अवैदिक परंपराओं का जन्म हुआ। वे भी अपने महापुरुषों और सिद्धांतों को सम्मान देने के लिए 'आर्य' शब्द का प्रयोग करने लगे। बौद्ध धर्म में चार सत्यों को 'आर्यसत्य' कहा गया है। वैदिक ब्राह्मणों के आने से पहले वहाँ कई धार्मिक परंपराएँ प्रचलित थीं। मध्यदेश एवं उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों से आई हुई वैदिक परंपरा वहाँ की जनता को नहीं रुची। अथर्ववेद (काण्ड 15) के व्रात्य स्तोम में जिस प्रकार व्रात्य साधुओं को देवत्व का रूप दिया गया है और जिस प्रकार उनकी विचित्र वेशभूषा एवं अनुयायियों का वर्णन है उसे पढ़कर एक उलझन सी पैदा होती है। इससे पता चलता है कि व्रात्यों में शैव-परंपरा का प्रचार था। यह परंपरा वैदिक-शैव-परंपरा से सर्वथा भिन्न थी। 'व्रात्य स्तोम' में व्रात्यों की जो अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है उससे यह पता चलता है कि या तो उसमें स्वयं व्रात्यों का

हाथ रहा है, या वैदिक आर्य व्रात्यों की साधना से प्रभावित हो गए थे। अथर्ववेद के सूक्त स्वयं 'साधना' से भरे हुए है। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी साधना तथा साधक का अलौकिक वर्णन करने वाले अनेक उद्धरण प्राप्त होते है। साधारणतया व्रात्यों के प्रति ब्राह्मणों का रुख अनुकूल नहीं था। फिर भी उन्होंने स्वीकार किया है कि व्रात्य भाषा की दृष्टि से आर्य हैं। 'ताण्ड्य महाब्राह्मण' एव 'पञ्चविंश ब्राह्मण' में व्रात्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है—'**अदुरुक्तवाक्य दुरुक्तमाहुः— अदीक्षिता दीक्षितां वाचं वदन्ति।**' अर्थात् 'जिस वाक्य को बोलने में कठिनाई नहीं है उसे वे बोलने में कठिन बताते हैं। वे स्वयं दीक्षित नहीं हैं फिर भी दीक्षितों की वाणी बोलते हैं।' वेबर का मत है कि प्रथम वाक्य मे प्राकृत-भाषाओं की ओर संकेत है। उसी में संयुक्त व्यंजनों का विलय तथा अन्य परिवर्तन उच्चारण की सरलता के लिए होते हैं। यह मत निःसंदेह युक्तिसंगत है। इस वाक्य में हमें सर्वप्रथम प्राकृत के उच्चारण का संकेत मिलता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में प्राच्यों को वेदविरोधी असुर बताया गया है। वे युद्ध में 'हेलयो' 'हेलयो' चिल्लाने लगे और हार गए। पतंजलि ने इस शब्द को 'हेलयः' के रूप में दिया है और उसे असुरों का उच्चारण बताया है। शुद्ध उच्चारण 'हे अरयः' होना चाहिए। 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण प्राच्यों की विशेषता है। मागधी उसी का एक रूप है। अशोककालीन भाषाओं पर विचार किया जाए तो प्रतीत होता है कि प्राकृत या मागधी का पूर्व में विकास बहुत पहले हो चुका था। सहगौरा का ताम्रलेख ब्राह्मीलिपि का प्राचीनतम लेख है। उसका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी है। यह स्थान उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में है और पूर्वी प्रदेश में गिना जाता है। यहाँ की भाषा में भंडगलिनि (भांडागार), भल (भार), मथुला (मथुरा) आदि रूप मिलते है, जिनमें र के स्थान पर ल का उच्चारण है। 'ताण्ड्य ब्राह्मण' के उल्लेख का भी यही आशय प्रतीत होता है। संयोग के सरलीकरण की वृत्ति का मध्यदेशीय एवं उत्तर-पश्चिमी आर्यों को ई० पू० आठवीं शताब्दी में पता लग गया था। इससे यह प्रतीत होता है कि आर्यभाषा ने प्राकृत का रूप सर्वप्रथम प्राच्यों में ग्रहण किया। उनमें कोशल और मगध, विशेषतया व्रात्य-आर्यों के प्रदेश उल्लेखनीय हैं। क्रमशः प्राकृत का उच्चारण पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ता गया। किंतु शिलालेखों के अध्ययन से प्रतीत है कि पश्चिमी आर्यों ने पूर्व के इस प्रभाव को रोकने का बहुत प्रयत्न किया। अशोक के समय तक मध्यदेश एवं उत्तर-पश्चिमी प्रांतों की बोलियाँ भी प्राकृत के प्रभाव में आगई और उनमें परिवर्तन आ गया। किंतु कुशाण काल तक श, ष, स और र संयोग का अस्तित्व बना रहा।

बुद्ध (छठी शती ई० पू०) से पहले आर्यभाषा अपने द्वितीय रूप में पहुँच चुकी थी। कोसल और मगध की भाषा प्राचीन रूप को छोड़ चुकी थी। उसमें इतना परिवर्तन आ चुका था कि एक स्वतंत्र भाषा का स्थान ले सके। संहिता और ब्राह्मणों की भाषा को 'छन्दस्' कहा जाता था। बुद्ध के समय तक उसमें पर्याप्त परिवर्तन आ गया। ध्वनि और रूपों में परिवर्तन के अतिरिक्त प्राचीन शब्दों के स्थान पर नए

शब्द आ गए और बहुत से शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो गया। आर्यभाषा के द्वितीय अर्थात् मध्ययुग में यह परिवर्तन और भी स्पष्ट प्रतीत होने लगा। सामान्य रूप से प्रयुक्त होने वाले शब्दों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :

प्राचीन शब्द	मध्यकालीन शब्द
अश्व (घोड़ा)	घोटक
अश्म (पत्थर)	प्रस्तर
श्वन् (कुत्ता)	कुक्कुर
वृष (साँड)	षण्ड, गोण
अवि (भेड़)	मेष, एजक
अनड्वान् (बैल)	बलीवर्द
उक्षन् (बैल)	बलीवर्द
रोहित (लाल)	रक्त
अरुण (लाल)	रक्त
वाह (गाड़ी)	शकट, गण्डिका
रथ (रथ)	शकट, गण्डिका
रै (धन)	धन
ऋभु (धन)	धन
सहस् (बल)	बल
तविषी (बल)	बल
उदन् (पानी)	पानीय, जल
अद् (खाना)	खाद्, जिम्
गृभ् (पकड़ना, लेना)	प्राप्
गृध् (लोभ करना)	लुभ्
हन् (मारना)	मारय
यज् (पूजा करना, यज्ञ करना)	पूजय
विज्, वेज् (काँपना)	कम्प
पृण (भरना)	पूरय
उत्+पत (उड़ना)	उड्डीय
सू (पैदा करना)	जनय
दम (घर)	वाटिका
वेश (घर)	वाटिका
पुष्कर (कमल)	कमल

इनके साथ प्राचीन गृह, वृक्ष, गच्छ, पिण्ड, पद्म भी प्रचलित रहे जिनसे आधुनिक आर्यभाषाओं के शब्द निकले हैं।

संस्कृत का जन्म

जब समस्त आर्यावर्त प्राकृत की ओर झुकने लगा, वैदिक ऋषियों के क्षेत्र ब्रह्मावर्त और मध्यदेश में भी उसका प्रभाव बढ़ने लगा, उस समय वैदिक परंपराओं की रक्षा एवं अध्ययन-अध्यापन के लिए ऐसी भाषा का जन्म हुआ जो वेदों तथा ब्राह्मणों की भाषा से यथासंभव मिलती-जुलती थी। यह स्वाभाविक था कि मध्य-आर्यावर्त में भी जब जनसाधारण प्राकृत को अपनाने लगा तो अपने को शुद्ध आर्यों का रक्त मानने वाला ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य उच्च शिक्षित वर्ग अपनी भाषा को शुद्ध रखने का प्रयत्न करता रहा। फलस्वरूप साधारण बोलचाल में सफलता न मिलने पर भी धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठानों में वे अपनी भाषा को सुरक्षित रख सके। उन लोगों पर प्राकृत का प्रभाव सबके अंत में पड़ा। सामाजिक दृष्टि से भी वे अपने को मिश्रित एवं आर्येतर जातियों से पृथक् रखने के लिए प्रयत्नशील रहे। उन जातियों में वैदिक विश्, व्रात्य, द्रविड, किरात आदि प्रधान थे।

जहाँ तक ध्वनियों का संबध है, उत्तर-पश्चिम की भाषा वैदिक भाषा के निकटतम थी। भौगोलिक दृष्टि से भी उत्तर-पश्चिमी प्रदेश, आर्यभाषा बोलने वालों का मुख्य केंद्र रहा है। ब्राह्मण-काल में मध्यदेश के ब्राह्मणों के लिए, वहाँ का उच्चारण शास्त्रीय था। गांधार आदि उत्तर-पश्चिम के स्थान विद्या के लिए प्रख्यात थे। उन दिनों तक्षशिला विद्या का विशाल केंद्र था। ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों परंपराएँ इस तथ्य को स्वीकार करती हैं। मध्यदेश तथा पूर्वी प्रदेशों के विद्यार्थी अध्ययन के लिए वहाँ जाया करते थे। ब्राह्मण-काल के अंत में वैदिक परंपरा के अनुयायी क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों में एक नई बोली का जन्म होने लगा। यह बोली एक प्रकार से ब्राह्मण का ही नया रूप थी। मध्यदेश के उच्चवर्गीय क्षत्रियों तथा पुरोहितों की भाषा का यह मृदु परिष्कार था। इसी को 'संस्कृत' कहा गया।

जहाँ तक ध्वनि एवं शब्द-परिवर्तनों के नियमों का प्रश्न है, इस भाषा ने वेद तथा ब्राह्मणों की भाषा का अनुसरण किया। केवल उसमें परिष्कार एवं परिपक्वता लाने के कारण इसे संस्कृत कहा गया। वैदिक भाषा पर आश्रित होने के कारण उत्तर-पूर्वी भाषा के साथ इसका घनिष्ठ साम्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यदेश में उच्च वर्ग की वही भाषा थी जो ई० पू० 700-600 में गांधारों की थी। संस्कृत भाषा का जन्म भी इसी काल में हुआ। गांधार से लेकर वाराणसी और पाटलिपुत्र तथा वैदिक परंपरा के अनुयायी इसे पढ़ते थे और प्रयोग में लाते थे। पतंजलि (ई० पू० 200) ने इसे शिष्टों की, विशेष रूप से आर्यावर्त के ब्राह्मणों की, भाषा कहा है। ब्राह्मणों के अध्ययन-क्रम में वैदिक भाषा के अनंतर इसे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। वे परिश्रम एवं गंभीरता के साथ इसका अध्ययन करने लगे। स्वाभाविक रूप से प्रयोगों की शुद्धि के विषय में मतभेद होने लगे। ई० पू० 500 में पाणिनि ने इस पर अष्टाध्यायी लिखी। उपलब्ध संस्कृत-व्याकरणों में यह प्राचीनतम एवं प्रौढ़तम है। पाणिनि उत्तर-पश्चिम-गांधार निवासी थे। उन्होंने अपने व्याकरण में वैदिक भाषा का 'छंद' शब्द से, और

वैदिकेतर भाषा का 'लौकिक' या 'भाषा' शब्द से निर्देश किया है। यह 'लौकिक' या 'भाषा' उत्तर की तत्कालीन बोली से मिलती-जुलती थी। क्रमशः संस्कृत को भी अति-मानवी रूप मिल गया और इसे 'देवभाषा' कहा जाने लगा।

पाणिनि से पहले वैयाकरणों की कई परंपराएँ थीं। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में उन आचार्यों के मत प्रदर्शित किए हैं। व्यक्तिगत नामों के अतिरिक्त दो परंपराएँ महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं—उदीच्य और प्राच्य। उस समय भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रचलित भाषा को 'उदीच्य' कहा गया और पूर्वी प्रदेशों में प्रचलित भाषा को 'प्राच्य'। यह विभाजन सरस्वती नदी के आधार पर किया गया था। सरस्वती के पश्चिम का प्रदेश उदीच्य कहलाता था और पूर्व का प्राच्य। काशिकाकार (ई० पू० 700) ने विदेह, अंग, बंग, मगध, यहाँ तक कि मध्यदेश के पांचालों को भी प्राच्यों में गिना है। हाराणचन्द्र चक्रवर्ती ने सरस्वती की सतलुज के साथ एकता बतलाई है। सुनीतिकुमार चटर्जी ने सरयू को सरस्वती माना है। पाणिनि ने इस भाषा को सदा के लिए स्थिर कर दिया। किंतु उनके अपने समय में यह एक जीवित भाषा थी। उच्च वर्ग इसका प्रयोग करता था। इसमें प्रादेशिक विभिन्नताएँ भी थीं। ऐसे स्थानीय शब्दों एवं मुहावरों का भी प्रयोग होता था जिन्हें साधारण नियम में लाना कठिन था। मध्यकाल के प्रारंभ तक भारतीत जनता इसे समझती थी। पूर्व में भी, जहाँ प्राकृतों का विकास हो चुका था, सर्वसाधारण इसे कम-से-कम समझता अवश्य था। प्राचीन रूपकों में उच्चवर्गीय क्षत्रिय एवं ब्राह्मण संस्कृत बोलते हैं, निम्न वर्ग एवं स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। इससे एक ऐसी स्थिति का पता लगता है, जो मध्यकाल के प्रारंभ तक विद्यमान थी।

जो वैदिक आर्य पंजाब, मध्यदेश एवं संभवतया पूर्वी भारत में बसे थे, स्थानीय प्रभाव के कारण विविध बोलियाँ बोलते थे। उनमें जो ऐतिहासिक इतिवृत्त, कहानियाँ अथवा गीत प्रचलित थे उन सब का संग्रह एवं संपादन किया गया। इस संग्रह की भाषा परिष्कृत थी, वही संस्कृत के नाम से प्रचलित हुई। यही संग्रह रामायण, महाभारत और पुराणों का आधार बना। यद्यपि रामायण एक परिनिष्ठित महाकाव्य है, महाभारत और पुराणों के समान वह संग्रह नहीं है, फिर भी भाषा की दृष्टि से उस कोटि में आता है। इन संग्रहों में शब्दों के वे प्राचीन रूप मिलते हैं जो पाणिनि-सम्मत नहीं हैं। संस्कृत के उत्तरकालीन वैयाकरणों ने उन रूपों को आर्ष-प्रयोग के रूप में स्वीकृत कर लिया। प्राचीन आर्यभाषा का यह संस्कृतीकरण गुप्तकाल तक चलता रहा। कर्मकांड एवं धर्मशास्त्र से संबंध रखने वाला साहित्य भी संस्कृत में लिखा जाने लगा। इस प्रकार प्राचीन काल के समाप्त होते-होते संस्कृत की नींव पड़ गई। साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत का प्रसार भारत में सर्वत्र हो गया। पेशावर से लेकर बंगाल एवं मद्रास तक संस्कृत में साहित्य रचा जाने लगा, किंतु इसके साथ-साथ प्रत्येक प्रदेश की स्थानीय बोली भी चलती रही और वह उत्तरोत्तर बदलती गई। परिणामस्वरूप संस्कृत प्रादेशिक भाषाओं से उत्तरोत्तर दूर होती गई और स्वाभाविक व्यव-

हार की भाषा न रहकर कृत्रिम भाषा बन गई। इसके आधार पर प्राचीन आर्यभाषा की ध्वनि-व्यवस्था एवं रूपों को जाना जा सकता है। संस्कृत-व्याकरण इतना परिनिष्ठित हो गया कि भाषा का विकास रुक गया। संस्कृत को यह रूप जन्म के पश्चात् शीघ्र ही मिल गया जो अभी तक अखंडित है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकीआत्मा भी अपरिवर्तित रही है। संस्कृत-साहित्य उन विद्वानों की देन है जो अपने दैनिक-व्यवहार में विविध प्रादेशिक बोलियाँ बोलते थे। उत्तर-पश्चिम, मध्यदेश, पूर्वी भारत और दक्षिण सभी प्रदेशों के विद्वान् संस्कृत में लिखते थे। इस रूप में यह कम-से-कम पिछले ढाई हज़ार वर्षों से साहित्य की भाषा है। उन लोगों की संस्कृत में तत्कालीन एवं तत्तद्देशीय प्रभाव आना स्वाभाविक था। ई० पू० 500 से लेकर आज तक इसकी शब्दावली, वाक्य-विन्यास, मुहावरों आदि में परिवर्तन हो रहा है। कुछ साहित्यकारों ने इसे दुरूह एवं कठिन बना दिया। लंबे-लंबे समास एवं शब्दाडंबर इसकी शोभा माने जाने लगे।

इसी प्रकार संस्कृत स्थानीय भाषाओं के प्रभाव से भी मुक्त न रह सकी। प्राकृत के धातु एवं रूप संस्कृत में उत्तरोत्तर बढ़ने लगे। द्रविड, कोल, ग्रीक, फ़ारसी आदि अन्य भाषाओं के शब्द भी स्थानीय बोलियों द्वारा संस्कृत में प्रविष्ट होने लगे। इसकी वाक्य-रचना भी प्राकृत के समान होने लगी। भूतकाल के लिए तिङन्त के स्थान में कृदन्त का प्रयोग बढ़ गया। इसकी शब्दावली, वाक्यविन्यास एवं शैली से अच्छी तरह जाना जा सकता है कि यह महान् भाषा कैसे विकसित हुई। आजकल भी साधारण लेखकों की संस्कृत-रचनाओं में इन लेखकों की अपनी बोलियों के शब्द एवं मुहावरे सम्मिलित होते रहते हैं।

मध्यकाल में आर्यभाषा पूर्णतया प्राकृत के समान हो गई। प्राचीन आर्यभाषा का प्रभाव केवल ध्वनि एवं प्रत्ययों तक सीमित रह गया। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत ब्राह्मण-परंपरा तथा पंजाब एवं मध्यदेश के उच्च वर्गीय क्षत्रियों तक सीमित थी। ब्राह्मण-प्रभाव की वृद्धि के साथ-साथ उसे भी पूर्व में प्रतिष्ठा मिलने लगी। किंतु बौद्ध और जैन-धर्मों ने अपने प्रचार के लिए जिस भाषा का उपयोग किया वह पूर्वी बोलियों पर आश्रित थी। पश्चिमी एवं उत्तरी प्रदेशों में भी उन्होंने अपने धर्म-प्रचार के लिए उस-उस स्थान की बोलियों को ही मुख्य आधार बनाया। उन्होंने राजन्य तथा ब्राह्मणों की चिंता न करके साधारण जनता में अपना प्रचार किया और इसके लिए इन्हीं की भाषा को अपनाया। परिणाम-स्वरूप संस्कृत का अप्रतिहत प्रसार एक बार रुक गया। पालि और अर्धमागधी के रूप में दो साहित्यिक भाषाएँ संस्कृत के समकक्ष खड़ी हो गई। किंतु वे संस्कृत के सामने अधिक दिन नहीं ठहर सकीं। बोलियों के आधार पर निर्मित भाषाएँ बोलियों के बदल जाने पर अपना संपर्क जनता के साथ नहीं रख सकीं। दूसरी ओर संस्कृत उच्चवर्ग की भाषा बनी रही। राजनीतिक परिवर्तनों के कारण भी ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हुआ। परिणाम-स्वरूप संस्कृत द्विगुणित वेग के साथ फिर उच्च आसन पर आरूढ़ हो गई। जैन और बौद्ध साहित्यिकों ने भी अपने

साहित्यिक स्तर को ऊँचा करने के लिए संस्कृत को अपना लिया। ई० पू० 200 से लेकर 300 ईसवी तक बौद्ध साहित्यिकों ने पालि के साथ-साथ संस्कृत को भी अपनाया। वे प्राकृत से सुपरिचित थे और उसीका संस्कृत में रूपांतर करने लगे। उस विचित्र भाषा को 'गाथा' शब्द से कहा गया है। कृत्रिम मिश्रण से बनी हुई इस भाषा को 'मिश्रित संस्कृत' या 'बौद्ध संस्कृत' भी कहते हैं। इसमें प्राकृत शब्द संस्कृत में रूपांतरित किए गए हैं। 'ललितविस्तर' 'दिव्यावदान' और 'महावस्तु' की यही भाषा है। राजदरबारों तथा घटनाओं के लेखबद्ध करने में भी यही भाषा अपनाई गई। तत्कालीन शिलालेखों से इसकी पुष्टि होती है।

किंतु क्रमशः मौलिक संस्कृत का पूर्णाधिपत्य हो गया। रुद्रदामन (ई० पू० 200) का गिरनार वाला शिलालेख संस्कृत-शिलालेखों में प्राचीनतम है। उस समय भारत के कुछ प्रदेश स्थानीय बोलियों को छोड़कर कम-से-कम विधि-विधानों के लिए संस्कृत को अपना चुके थे। परिणाम-स्वरूप संस्कृत को अभूतपूर्व प्रतिष्ठा मिली। यह समस्त भारतीय जनता की राजकीय एवं सांस्कृतिक भाषा बन गई। इसे पवित्र एवं सम्मानित भाषा माना जाने लगा। यद्यपि इसमें अप्रत्यक्ष रूप से लौकिक एवं विदेशी शब्दों का प्रवेश होता रहा, फिर भी मूल रूप ज्यों-का-त्यों बना रहा। सार्वजनीन प्रतिष्ठा के कारण वह हिम-शिखर के समान उच्चतम पद पर आरूढ़ हो गई और लौकिक भाषाओं के स्रोत उससे निरंतर जीवन प्राप्त करने लगे। उन्हें संस्कृत से शब्द भी प्राप्त हुए और विचार भी। प्राचीन आर्यभाषा के शब्द मध्यदेशीय आर्यभाषा में स्वाभाविक रूप में बदल गए। वे ही भाषा का मौलिक आधार बने। किंतु जब संस्कृत को निर्विरोध प्राचीन आर्यभाषा का प्रतिनिधि मान लिया गया तो इसके शब्द मध्य आर्यभाषा में लिए जाने लगे। मध्य आर्यभाषा के द्वितीय तथा तृतीय काल में यह आदान विशेष रूप से हुआ। इस प्रकार लोक-भाषाओं में जो नए तत्त्व आए वे तत्तद्-भाषा के स्वाभाविक अंग बन गए। धीरे-धीरे उनमें ध्वनि-परिवर्तन भी होते रहे। आर्यभाषा के उत्तरकालीन इतिहास में यह आदान कई बार हुआ। संस्कृत से सैकड़ों की संख्या में शब्दों के आदान के कारण लोक-भाषाओं के स्वाभाविक विकास की गति बदल गई। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है जो कि मध्यकालीन एवं नवीन आर्यभाषाओं में दृष्टिगोचर होता है।

अर्धमागधी एवं अन्य बोलियाँ

कुरु, पांचाल एवं मध्यदेश या पश्चिम के अन्य निवासियों की दृष्टि में नीचे-लिखे प्रदेश प्राच्य माने जाते थे। कोसल (अवध), काशी (वाराणसी और उस के समीपवर्ती प्रदेश) और विदेह (उत्तरी बिहार)। उत्तरकाल में मगध और अंग (दक्षिणी बिहार) को भी सम्मिलित कर लिया गया। प्राच्यों के लिए आधुनिक प्रचलित शब्द 'पुरबिया' है। पंजाबी एवं हिंदी बोलने वाले पश्चिम तथा मध्य देश के निवासी पूर्वी हिंदी तथा बिहारी बोलने वाले पूर्वी प्रदेश के निवासियों को इसी शब्द

से पुकारते हैं। प्राच्य भाषाओं के दो रूप हैं—पूर्वी और पश्चिमी। प्राच्य भाषा के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :

ध्वनि-संबंधी

1. र के स्थान पर ल बोला जाता है।
2. र से संयुक्त त और द को मूर्धन्य कर दिया जाता है।
3. वैदिक 'व्य', 'त्य' आदि का स्वर-भक्ति के नियमानुसार 'तिय', 'निय' हो हो जाता है, किंतु 'ल्य' का 'ट्य' हो जाता है।
4. श, ष, स के स्थान में केवल दन्त्य 'स' रह जाता है।

रूप-संबंधी

5. अकारांत शब्दों के प्रथमा एकवचन में 'ए' होता है। पश्चिमी भाषाओं में 'ओ' होता है।
6. अकारांत पुल्लिग शब्दों से द्वितीया बहुवचन में 'आनि' प्रत्यय आता है।
7. सप्तमी एकवचन में 'अस्सि' या 'आस्सिं' प्रत्यय आता है।

पूर्वी प्राच्य भाषा में, जो कि पश्चिमी रूप को लेकर चली, स्थानीय प्रभाव के कारण और भी अनेक परिवर्तन हो गए। वहाँ केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता है। प्राकृत के वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत विभाजन के अनुसार पश्चिमी प्राच्या को अर्ध-मागधी कहा गया है और पूर्वी प्राच्या को मागधी। मध्य-आर्यभाषा के प्रारंभकाल में इन भाषाओं के जो रूप थे, उन्हें क्रमशः प्राचीन अर्द्धमागधी कहा जा सकता है। बुद्ध की भाषा प्राचीन अर्द्धमागधी थी और कोशल में बोली जाती थी। पूर्वी आर्यों की वर्तमान भाषा इसी पर आधारित है। महावीर और बुद्ध ने इसी में उपदेश दिया। कालांतर में यह मगध की राजभाषा बन गई। मध्यदेश और पूर्व में अशोक के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनकी भी यही भाषा है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में प्राच्यों के विशाल साम्राज्य का प्रमाण ग्रीक लेखों में भी मिलता है। यह आश्चर्य नहीं है कि कुछ काल के लिए उनकी भाषा को भी उच्च पद मिल गया हो और मध्यदेश तथा दूसरे पश्चिमी प्रदेशों की भाषाएँ तिरस्कृत हो गई हों। मौर्यों के शासन में विशेषतया अशोक के समय, यह प्राच्या समस्त भारत में राजकीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। गिरनार, शाहबाज़गढ़ी और मानसेरा के शिलालेखों को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। अशोक तक के ब्राह्मी शिलालेख, जोकि पिप्रावा, सहगौरा और पूर्वी प्रदेशों में मिले हैं, तथा बौद्धनाटकों के अंश, जो कि मध्य-एशिया में मिले हैं और प्राचीन कुशाण-काल से संबंध रखते हैं, इस भाषा के प्राचीनतम लेख हैं।

बुद्ध और महावीर के मौलिक उपदेश इसी प्राच्या में हुए। अशोक के पश्चात् बुद्ध के उपदेश पश्चिमी भाषा में अनूदित हुए। यह भाषा मध्यदेश की शौरसेनी का

प्राचीन रूप था। साधारणतया एक बोली का दूसरी बोली में रूपांतर करते समय मौलिक बोली के बहुत से रूप अपना लिए जाते हैं। इसी प्रकार प्राच्या के भी अनेक रूप उस पश्चिमी रूपांतर में अक्षुण्ण रह गए और वे नवीन भाषा का आधार बन गए। बुद्ध के उपदेशों का जिस पश्चिमी भाषा में अनुवाद हुआ उसे 'पालि' कहा गया, जिसका अर्थ है—मूल पाठ। व्याकरण से पता लगता है कि इसका मूल आधार मध्यदेश की भाषा थी। पालि कुछ बौद्धों के लिए दैवी भाषा बन गई, क्योंकि बुद्ध ने मगध में जन्म लिया, वहीं उपदेश दिया। उसके रूपांतरित उपदेशों की भाषा भी 'मागधी' कही गई। सर्वप्रथम लंकाद्वीप के बौद्धों ने इसे यह नाम दिया। इस नाम से पालि का मगध के साथ संबंध प्रकट होता है। परिणाम-स्वरूप पालि के मूलस्थान के विषय में पर्याप्त भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं।

पालि की ध्वनियाँ तथा रूप जितने मध्यकाल की शौरसेनी के साथ मिलते हैं उतने अन्य भाषाओं के साथ नहीं मिलते। बौद्ध ग्रंथों की भाषा से समानता रखने वाली एक बोली ई०पू० द्वितीय शताब्दी में स्थिर हो चुकी थी, यह तथ्य खारवेल के लेखों से सिद्ध होता है। साहित्यिक भाषा के रूप में पालि की प्रतिष्ठा मध्य-आर्यभाषा-काल (ई० पू० 200 से 200 ई०) में हुई। इस संक्रमण-काल में मध्यदेश की जो बोली संस्कृत से प्रतिस्पर्द्धा रखती थी, पालि के रूप में वह साहित्य-भाषा बन गई। जातकों के रूप में उत्तर-भारत की लोक-कथाओं और बौद्ध धर्म एवं दर्शन ने इस भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में समृद्ध एवं उच्च पद पर स्थापित कर दिया। उत्तर-पश्चिमी, पश्चिमी तथा मध्य-भारत के बौद्ध-विहारों में इसका अध्ययन होने लगा। मौर्यों के पतन के साथ इसकी प्रतिद्वंद्विनी पूर्वी अर्द्धमागधी का भी अंत हो गया और उत्तर भारत की यह एकमात्र बोली रह गई।

कनिष्क काल—ई०पू० 100-400 ई०

इस काल में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत एवं गांधार की बोलियाँ भी महत्त्व-पूर्ण रहीं। इसके दो कारण थे : पहला कारण यह था कि वह शासकों की भाषा थी। दूसरा यह कि उन दिनों तक्षशिला विश्वविद्यालय संस्कृति और भाषाओं के अध्ययन का अखिल-भारतीय प्रमुख केंद्र था। स्वाभाविक रूप से स्थानीय बोली का प्रभाव स्नातकों पर पड़ता था और वे समस्त भारत के सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव डालते थे। उत्तर-पश्चिमी बोलियाँ बोलनेवाले भी पालि का प्रयोग करते थे। परिणाम-स्वरूप इसमें उत्तर-पश्चिमी शब्द एवं रूप बड़ी संख्या में आ गए। उनमें दर्दिस्तान और पिशाच-प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दूसरी आर्यबोलियों से भी शब्द एवं रूप लिए गए। गुजराती और मालवी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणों के रूप में 'द्व' के स्थान में 'व' और 'त्म' के स्थान में 'प्प' इसी का प्रभाव है। पालि का विकास सिंहल में भी हुआ। संभव है, निर्माण-काल में सिंहली का प्रभाव भी पड़ा हो। उपर्युक्त 'द्व' और 'प्प' सिंहली प्रभाव भी कहा जा सकता है। लंका की आर्यभाषा प्राचीन

से पुकारते हैं। प्राच्य भाषाओं के दो रूप हैं—पूर्वी और पश्चिमी। प्राच्य भाषा के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :

ध्वनि-संबंधी

1. र के स्थान पर ल बोला जाता है।
2. र से संयुक्त त और द को मूर्धन्य कर दिया जाता है।
3. वैदिक 'त्य', 'त्य' आदि का स्वर-भक्ति के नियमानुसार 'तिय', 'निय' हो हो जाता है, किंतु 'ल्य' का 'ट्य' हो जाता है।
4. श, ष, स के स्थान में केवल दन्त्य 'स' रह जाता है।

रूप-संबंधी

5. अकारांत शब्दों के प्रथमा एकवचन में 'ए' होता है। पश्चिमी भाषाओं में 'ओ' होता है।
6. अकारांत पुल्लिग शब्दों से द्वितीया बहुवचन में 'आनि' प्रत्यय आता है।
7. सप्तमी एकवचन में 'अस्सि' या 'आस्सिं' प्रत्यय आता है।

पूर्वी प्राच्य भाषा में, जो कि पश्चिमी रूप को लेकर चली, स्थानीय प्रभाव के कारण और भी अनेक परिवर्तन हो गए। वहाँ केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता है। प्राकृत के वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत विभाजन के अनुसार पश्चिमी प्राच्या को अर्ध-मागधी कहा गया है और पूर्वी प्राच्या को मागधी। मध्य-आर्यभाषा के प्रारंभकाल में इन भाषाओं के जो रूप थे, उन्हें क्रमशः प्राचीन अर्द्धमागधी कहा जा सकता है। बुद्ध की भाषा प्राचीन अर्द्धमागधी थी और कोशल में बोली जाती थी। पूर्वी आर्यों की वर्तमान भाषा इसी पर आधारित है। महावीर और बुद्ध ने इसी में उपदेश दिया। कालांतर में यह मगध की राजभाषा बन गई। मध्यदेश और पूर्व में अशोक के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनकी भी यही भाषा है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में प्राच्यों के विशाल साम्राज्य का प्रमाण ग्रीक लेखों में भी मिलता है। यह आश्चर्य नहीं है कि कुछ काल के लिए उनकी भाषा को भी उच्च पद मिल गया हो और मध्यदेश तथा दूसरे पश्चिमी प्रदेशों की भाषाएँ तिरस्कृत हो गई हों। मौर्यों के शासन में विशेषतया अशोक के समय, यह प्राच्या समस्त भारत में राजकीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। गिरनार, शाहबाज़गढ़ी और मानसेरा के शिलालेखों को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। अशोक तक के ब्राह्मी शिलालेख, जोकि पिप्रावा, सहगौरा और पूर्वी प्रदेशों में मिले हैं, तथा बौद्धनाटकों के अंश, जो कि मध्य-एशिया में मिले हैं और प्राचीन कुशाण-काल से संबंध रखते हैं, इस भाषा के प्राचीनतम लेख हैं।

बुद्ध और महावीर के मौलिक उपदेश इसी प्राच्या में हुए। अशोक के पश्चात् बुद्ध के उपदेश पश्चिमी भाषा में अनूदित हुए। यह भाषा मध्यदेश की शौरसेनी का

प्राचीन रूप था। साधारणतया एक बोली का दूसरी बोली में रूपांतर करते समय मौलिक बोली के बहुत से रूप अपना लिए जाते हैं। इसी प्रकार प्राच्या के भी अनेक रूप उस पश्चिमी रूपांतर में अक्षुण्ण रह गए और वे नवीन भाषा का आधार बन गए। बुद्ध के उपदेशों का जिस पश्चिमी भाषा में अनुवाद हुआ उसे 'पालि' कहा गया, जिसका अर्थ है--मूल पाठ। व्याकरण से पता लगता है कि इसका मूल आधार मध्यदेश की भाषा थी। पालि कुछ बौद्धों के लिए दैवी भाषा बन गई, क्योंकि बुद्ध ने मगध में जन्म लिया, वहीं उपदेश दिया। उसके रूपांतरित उपदेशों की भाषा भी 'मागधी' कही गई। सर्वप्रथम लंकाद्वीप के बौद्धों ने इसे यह नाम दिया। इस नाम से पालि का मगध के साथ संबंध प्रकट होता है। परिणाम-स्वरूप पालि के मूलस्थान के विषय में पर्याप्त भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं।

पालि की ध्वनियाँ तथा रूप जितने मध्यकाल की शौरसेनी के साथ मिलते हैं उतने अन्य भाषाओं के साथ नहीं मिलते। बौद्ध ग्रंथों की भाषा से समानता रखने वाली एक बोली ई०पू० द्वितीय शताब्दी में स्थिर हो चुकी थी, यह तथ्य खारवेल के लेखों से सिद्ध होता है। साहित्यिक भाषा के रूप में पालि की प्रतिष्ठा मध्य-आर्यभाषा-काल (ई० पू० 200 से 200 ई०) में हुई। इस संक्रमण-काल में मध्यदेश की जो बोली संस्कृत से प्रतिस्पर्द्धा रखती थी, पालि के रूप में वह साहित्य-भाषा बन गई। जातकों के रूप में उत्तर-भारत की लोक-कथाओं और बौद्ध धर्म एवं दर्शन ने इस भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में समृद्ध एवं उच्च पद पर स्थापित कर दिया। उत्तर-पश्चिमी, पश्चिमी तथा मध्य-भारत के बौद्ध-विहारों में इसका अध्ययन होने लगा। मौर्यों के पतन के साथ इसकी प्रतिद्वंद्विनी पूर्वी अर्द्धमागधी का भी अंत हो गया और उत्तर भारत की यह एकमात्र बोली रह गई।

कनिष्क काल--ई०पू० 100-400 ई०

इस काल में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत एवं गांधार की बोलियाँ भी महत्त्व-पूर्ण रहीं। इसके दो कारण थे : पहला कारण यह था कि वह शासकों की भाषा थी। दूसरा यह कि उन दिनों तक्षशिला विश्वविद्यालय संस्कृति और भाषाओं के अध्ययन का अखिल-भारतीय प्रमुख केंद्र था। स्वाभाविक रूप से स्थानीय बोली का प्रभाव स्नातकों पर पड़ता था और वे समस्त भारत के सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव डालते थे। उत्तर-पश्चिमी बोलियाँ बोलनेवाले भी पालि का प्रयोग करते थे। परिणाम-स्वरूप इसमें उत्तर-पश्चिमी शब्द एवं रूप बड़ी संख्या में आ गए। उनमें दर्दिस्तान और पिशाच-प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दूसरी आर्यबोलियों से भी शब्द एवं रूप लिए गए। गुजराती और मालवी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणों के रूप में 'द्व' के स्थान में 'व' और 'त्म' के स्थान में 'प्प' इसी का प्रभाव है। पालि का विकास सिंहल में भी हुआ। संभव है, निर्माण-काल में सिंहली का प्रभाव भी पड़ा हो। उपर्युक्त 'द्व' और 'प्प' सिंहली प्रभाव भी कहा जा सकता है। लंका की आर्यभाषा प्राचीन

मध्य आर्यभाषा-काल की गुजराती का ही एक रूप है। जब पालि साहित्य-भाषा बन गई तो इसपर संस्कृत का प्रभाव भी पड़ा। वही इसके लिए नमूना बनी। पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् पालि भारत, लंका, बर्मा और स्याम की एक कृत्रिम भाषा बन गई। इस रूप में इसकी तुलना संस्कृत के साथ भी की जा सकती है।

इस प्रकार मध्यदेश की बोली ने पालि का रूप लेकर बौद्ध साहित्य से पश्चिमी प्राच्या अर्थात् अर्धमागधी को पृथक् कर दिया। जैन साहित्य में महावीर की अर्धमागधी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है। प्राचीनतम जैन आगम अर्धमागधी भाषा में हैं। यह भाषा आर्यभाषा के मध्यकाल की द्वितीय अवस्था को प्रकट करती है, इसलिए पालि से अर्वाचीन है। पश्चिमी बोलियों का इसपर भी पर्याप्त प्रभाव है। 'र' का उच्चारण इसी का उदाहरण है। फिर भी स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि यह कोसल की भाषा का प्रतिनिधित्व पर्याप्त रूप में करती है।

पूर्वी प्राच्या या मागधी का जन्म, लगता है, प्राच्या से हुआ। इसकी एक विशेषता तालव्य 'श' है। प्रतीत होता है यह प्राच्या पर स्थानीय बोली का प्रभाव है और यह परिवर्तन प्राचीन काल में ही हो चुका था। किंतु इसका सर्वप्रथम उल्लेख 'शुतनुका' के शिलालेख में मिलता है जोकि अशोक का समकालीन है। किंतु अशोक की भाषा में मगध के शिलालेखों में भी यह विशेषता नहीं है। संभवतया 'श' का उच्चारण ग्राम्य माना जाता था, इसलिए अशोक के राजकीय लेखों में उसे स्थान नहीं मिला। संस्कृत-नाटकों से भी यही प्रमाणित होता है। वहाँ 'श' का उच्चारण नीच ग्राम्य पात्रों तक सीमित है। मध्य-एशिया से जो नाट्यांश मिले हैं उन में यह विशेषता पाई गई है। ये नाट्यांश प्राचीन मागधी के प्राचीनतम उदाहरण हैं। शुतनुक-शिलालेख छोटा नागपुर में सरगुजा के पास रामगढ़ की पहाड़ियों में जोगीमारा नाम की गुफा में है। यह वर्तमान मागधी का प्राचीनतम नमूना है। यह इस प्रकार है :

शुतनुक नाम देव दशिक्यि
तं कमयिथ बलन शेये
देव दिने नम लुपदखे

शुतनुका नामदेव-दाशिक्यी, तं कामयित्था वालान शेये देवदिन्ने नाम लूपदक्खे।

(संस्कृत : सुतनुका नाम देवदासिका। ताम् अकामयिष्ट वाराणसेयः देवदत्तो नाम रूपदक्षः।

हिंदी : सुतनुका नाम की देवदासी थी। उसे वाराणसी का निवासी, रूप बनाने में चतुर देवदत्त चाहता था।)

उपर्युक्त शिलालेख ब्राह्मी लिपि में है और ई०पू० तृतीय शताब्दी की एक बोली को उपस्थित करता है। अशोक के शिलालेख भी उसी समय को उपस्थित करते हैं। उनमें तत्कालीन बोलियों के तीन रूप मिलते हैं :

1. शाहबाजगढ़ी और मानसेरा में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत की बोली मिलती है। इसकी ध्वनियाँ आर्यभाषा के प्राचीन रूप से मिलती हैं।

2. गिरनार में दक्षिण-पश्चिमी अर्थात् गुजरात की बोली मिलती है। उसमें प्राचीन भाषा के लक्षण मिलते हैं।

3. पूर्वी बोली, कुछ परिवर्तन के साथ। यह लेख तत्कालीन बोलचाल की भाषा को पूर्णरूप से उपस्थित करता है। दूसरे शिलालेखों में राजकीय प्राच्या को अपनाया गया है और स्थानीय विशेषताओं को छोड़ दिया गया है। इस प्रकार मागधी राजभाषा के रूप में स्थिर रूप लेती गई। सुतनुका-शिलालेख में मागधी बोली का एक रूप मिलता है।

कालसी, तोप्रा, मेरठ और वैराट भाषा

मध्यदेश में अशोक के जो शिलालेख मिले हैं, उनमें मध्यदेश की भाषा प्रतीत नहीं होती। उनकी भाषा मागधी का ही एक रूप है। मालूम पड़ता है कि मागधी ने राजभाषा के रूप में मध्यदेश की भाषा को उसके निजी क्षेत्र में भी दबा लिया। किंतु राजकीय क्षेत्र से बाहर इसने अपना वैशिष्ट्य स्थिर रखा। इसके 'र' प्रयोग, प्रथमा एकवचन में 'ओ', द्वितीया बहुवचन में 'ए' आदि विशेषताएँ बोलचाल में स्थिर रहीं। धीरे-धीरे इसने प्राच्या को एकदम हटा दिया और पालि के रूप में व्यापक रूप ले लिया। मध्यदेश की भाषा ने कालांतर में पूरा बदला ले लिया। संक्रमण-काल और मध्य आर्यभाषा के द्वितीय युग से लेकर शौरसेनी, अपभ्रंश, ब्रजभाषा और वर्तमान हिंदी के रूप में इसी का आधिपत्य रहा। उत्तर प्रदेश और बिहार के पूर्वी प्रदेशों में भी इसी का प्रचार है।

अशोक के बाद के जो शिलालेख मध्यदेश (मथुरा), मालवा (सांची) तथा दक्षिण (नासिक और कार्ले की गुफाओं) में प्राप्त हुए हैं, ऐसी बोली को प्रकट करते हैं जो न्यूनाधिक रूप में प्राच्य-भाषा के प्रभाव से युक्त है। प्रतीत होता है कि स्थानीय बोलियों का प्रभाव फिर से आ गया। मध्यदेश में ऐसे शिलालेख भी मिले हैं जिनपर उत्तर-पश्चिमी बोली का प्रभाव है। संभवतया राजनीतिक कारणों से ऐसा हुआ होगा। संक्रमणकाल (ई० पू० 200—200 ई०) के जो लेख मिले हैं वे कई कारणों से तत्कालीन बोलियों के परस्पर भेद को प्रदर्शित करने में असमर्थ हैं। उसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम कारण है—लेखन में असावधानी। दूसरा कारण है—पड़ोसी एवं शासकीय बोलियों का प्रभाव। तीसरा कारण है, संस्कृतीकरण की ओर झुकाव। इस दृष्टि से संक्रमण-काल के शिलालेख अशोक के शिलालेखों से बहुत पीछे हैं। अशोक के शिलालेख न्यूनाधिक रूप में अपने समय की स्थिति को प्रामाणिक रूप में उपस्थित करते हैं।

ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत के सामाजिक जीवन में बोलियों के पारस्परिक भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगे। प्राचीन आर्यभाषा के अंतिमकाल (ई० पू० 800-600) में मध्यदेश के लेखक उदीच्यों की भाषा-शुद्धि का उल्लेख करते हैं और पूर्वनिवासी

व्रात्यों की प्राकृत बोलियों को घृणा से देखते हैं। किंतु ईसा के पश्चात् तथा कुछ पहले भी संस्कृत-नाटककार अपनी रचनाओं में स्वाभाविकता लाने के लिए बोलियों के भेद को आवश्यक मानने लगे। तदनंतर भारतीय नाटकों में उस-उस काल एवं उस-उस देश की सामाजिक अवस्था का चित्रण करने के लिए विभिन्न काल एवं क्षेत्रों की विभिन्न लोकभाषाओं का प्रयोग होने लगा। इस दृष्टि से संस्कृत के पश्चात् दूसरा स्थान 'शौरसेनी' का है। जो लोग प्रायः सभ्य एवं संस्कृत माने जाते थे किंतु संस्कृत नहीं बोलते थे वे प्रायः शौरसेनी बोलते थे। दक्षिण की महाराष्ट्री प्राकृत में दो स्वरों के मध्यवर्ती स्पर्श व्यंजन का प्रायः लोप हो जाता है। इसलिए वह स्वाभाविक रूप से संगीतमय बन गई है। परिणाम-स्वरूप जो लोग साधारण वार्तालाप में शौरसेनी का प्रयोग करते थे वे पद्य में भी महाराष्ट्री का प्रयोग करते थे। मागधी एक ऐसी बोली थी जो अपनी विशेषताओं के कारण आर्यभाषा से अपेक्षाकृत अधिक भिन्न थी। उस देश के निवासियों के प्रति भी ब्राह्मण-परंपरा में स्वाभाविक घृणा रही है। वह नीच एवं असंस्कृत पात्रों के लिए प्रयुक्त की गई। बौद्ध-नाटकों के जो अंश मिलते हैं उनमें अर्धमागधी का प्रयोग भी किया गया है। किंतु उत्तरकालीन नाटकों में अर्धमागधी का प्रयोग बंद हो गया। उसका स्थान शौरसेनी ने ले लिया। स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी ने संक्रमण और मध्यकालीन आर्यभाषा के द्वितीय काल के नाटकों में प्रभुत्व जमा लिया। उसके पश्चात् दूसरी बोलियों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। नाटकों में शौरसेनी आदि के प्रयोग का मुख्य ध्येय साधारण वर्ग का चित्र उपस्थित करते समय तदनुरूप वातावरण उपस्थित करना था। कालांतर में इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि व्यक्ति अपने प्रदेश की बोली का वास्तविक प्रतिनिधित्व करे। लाक्षणिक ग्रंथों में पात्र के अनुसार बोली रूढ़ कर दी गई और उस बोली का रूप भी कृत्रिम बन गया। परिणाम-स्वरूप नाटकों के आधार पर किसी बोली के वास्तविक रूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। सबसे पहला प्राकृत व्याकरण वररुचि (ई० पू० 500) का है। उसके सामने भी यही लक्ष्य है कि नाटक में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची कैसी होनी चाहिए। उसे इस बात का ध्यान नहीं है कि इन भाषाओं का वास्तविक रूप क्या था। उत्तरकालीन वैयाकरण भी इन्हीं सिद्धांतों पर चले हैं और उत्तरकालीन नाटककार व्याकरण में प्रतिपादित रूपों को ही आदर्श मानते चले गए। उनके सामने और कोई आधार नहीं था।

मध्यकालीन आर्यभाषाओं का नवीन आर्यभाषाओं में संक्रमण

जब हिंदी, गुजराती, पंजाबी आदि नवीन आर्यभाषाओं की प्राचीन आर्यभाषाओं के साथ तुलना की जाती है, तो वे एकदम भिन्न प्रकार की प्रतीत होती हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृतों में प्रकृति और प्रत्यय मिलकर एक पद बन जाते हैं। किंतु आधुनिक भाषाओं में विभक्ति को प्रगट करने के लिए पृथक् शब्द जोड़ा जाता है। इसी प्रकार विभिन्न कालों को प्रगट करने वाले शब्द धातु से पृथक् अस्तित्व रखते हैं।

संस्कृत में 'रामम्', 'रामेण' या 'रामाय' एक पद है किंतु हिंदी में इनके स्थान पर 'राम को', 'राम के द्वारा', 'राम के लिए' बोला जाता है और दो या दो से अधिक पदों का प्रयोग है। इस प्रकार भाषा का रूप ही बदल गया है। इसके दो कारण हैं—पहला कारण है मध्यकालीन भाषाओं के प्रथम व द्वितीय अर्थात् संक्रमण-काल में किए गए परिवर्तन। दूसरा कारण है—मध्यकालीन आर्यभाषाओं में उत्तरोत्तर प्रत्ययों की न्यूनता। नवीन भाषाओं में प्राचीन आर्यभाषाओं के प्रत्यय अत्यल्प संख्या में बचे हैं। इसी प्रकार प्राचीनकाल की आर्यभाषा को मध्यकाल की आर्यभाषा में परिवर्तित करने वाले भी दो मुख्य तत्त्व हैं। पहला है—स्वर-मध्यवर्ती स्पर्शों का लोप। दूसरा है—महाप्राण व्यंजनों का 'ह' के रूप में शिथिलीभाव। इन परिवर्तनों के कारण भारतीय भाषाएँ उत्तरोत्तर बदलती गईं। यदि दो स्वरों के बीच में स्थित क, च, ट, त, प का उच्चारण शिथिलता के साथ किया जाए तो वे ग, ज, ड, द, ब के रूप में घोष बन जाएँगे। शौरसेनी भाषा इस स्थिति को प्रकट करती है। यदि शिथिलता और बढ़ जाए तो स्पर्श व्यंजन अस्पर्श अर्थात् ऊष्म या अंत:स्थ हो जाएगा। परिणाम-स्वरूप महाप्राण प्राय: 'ह' का रूप ले लेते हैं और अल्पप्राणों में नीचे लिखे परिवर्तन आ जाते हैं :

क, ग, च, ज, त, द, प = य
ट ड = ल अथवा र
ब = व

इस प्रकार आने वाले 'य' और 'व' लघु-श्रुति माने जाते हैं—अर्थात् उनका उच्चारण करते समय वायु स्थान-विशेष को स्पष्ट रूप से स्पर्श नहीं करती। इस प्रकार के व्यंजन एक तरह से लुप्त हो जाते हैं।

अघोष व्यंजनों के स्थान में घोष का प्रयोग ई० पू० तृतीय शताब्दी में अशोक के शिलालेखों में मिलता है। उदाहरण—

'अप' के स्थान में 'अव' (सहस्राभ शिलालेख)
'अचल' के स्थान में 'अजल' (धौली शिलालेख)
'लोक' के स्थान में 'लोग' (जौगढ़ शिलालेख)
'लिपि' के स्थान में 'लिबि' (दिल्ली-तोप्रा शिलालेख)
'अन्तियोक' (ग्रीक) के स्थान में 'अान्तियोग' (कालसी)
'रथितर' के स्थान में 'रथिदर' (कांगड़ा घाटी)

स्वर-मध्यवर्ती मूर्धन्य स्पर्शों का शिथिलीकरण 'ल' या 'र' के रूप में हुआ। मूर्धन्य उच्चारण में जीभ ऊपर की ओर मुड़कर मूर्धा (मुख की छत) को स्पर्श करती है। इसका अर्थ है कि एक बार ध्वनि अवश्य रुक जाती है जबकि दूसरे व्यंजनों की ध्वनि खुली रहती है।

संक्रमण-काल (ई०पू० 200 से लेकर 200 ई० तक) के शिलालेखों में

घोषीकरण का यह तत्त्व और भी बढ़ गया है और लोप के उदाहरण भी मिलने लगे हैं। मध्यकालीन आर्यभाषा के द्वितीय युग में लोपों की संख्या और बढ़ गई है। उदाहरण—

अनाथ पिण्डिक	अनाथपिण्डिअ	बर्हुत 200 ई०पू०
मघादेविया	मखादेव	
अवयेसि, अवाओं एसि	अवादयत्	
अवादेसि		
पढमे	प्रथमे	खारवेल ई०पू० 200
चउत्थ	चतुर्थ	
चओउत्थ	चतुर्थ	
रघ	रथ	
वितघ	वितथ	
भरघ-भरथ	भारत	
ञावक	ज्ञापक	
छात्रव	क्षत्रप	प्रथम शताब्दी ई० का प्रारंभ
अन्तेउरेण-अन्तेपुर	अन्तःपुर	
थुव	स्तूप	
नियडिरो	निर्यातित	
नाकर अस्स	नागरकस्य	

(यहाँ 'ग' के स्थान में 'क' दर्दी या पिशाच-भाषा का प्रभाव है)

अयरिय	आचार्य	मथुरा
वेयउदिनो	वेगोदीर्ण	
वियय	विजय	
अप्रतिठवित	अप्रतिष्ठापित	तक्षशिला 100 ई०

कालगुफा (200 ई०) के शिलालेखों में अघोष स्पर्शों के स्थान में घोष स्पर्श तथा ऊष्माओं के स्थान में 'ह' पाया गया है।

संस्कृत के प्राचीन नाटकों की प्राकृतें ई०पू० 100-500 ई० में बोली जाने वाली लोक-भाषाओं पर आश्रित हैं। उनमें अघोष स्पर्श घोष हो गए हैं और वे मौलिक घोषों के साथ विद्यमान हैं। मागधी तथा शौरसेनी में यह परिवर्तन नियम-सा बन गया है। उनमें क और ग का लोप हो जाता है और त एवं द 'द' के रूप में पाए जाते हैं। किंतु महाराष्ट्री में त, द, एवं च, ज का भी लोप हो जाता है। आधुनिक भाषाओं में हिंदी और बंगाली क्रमशः शौरसेनी एवं मागधी से विकसित हुई हैं। प्राचीन आर्यभाषा के जो अघोष स्पर्श साहित्यिक प्राकृतों में घोष हो गए थे वे इन भाषाओं में कहीं लुप्त हो गए हैं और कहीं घोष के रूप में पाए जाते हैं। उदाहरण :

प्राचीन आर्यभाषा	मागधी	शौरसेनी	अपभ्रंश हिंदी	बंगाली
शतम्	शद	सदं	सउ, सौ	शअ
पाद	पाद	पाद	पाव	पा
चलति	येलति	चलदि, चलइम	चले	चाले

प्राकृत का प्राचीनतम व्याकरण वररुचि का 'प्राकृतप्रकाश' है। लेखक ने इसमे मागधी तथा शौरसेनी की उस स्थिति को प्रकट नहीं किया जिसमें अल्पप्राण व्यंजनों का प्राय: लोप हो गया है। उसने इतना ही बताया है कि शौरसेनी में त और थ का क्रमश: द और ध हो जाता है और मागधी के लिए कहा है कि इस विषय में वह शौर-सेनी का अनुसरण करती है। उत्तरकालीन संस्कृत के लेखकों ने संस्कृत-शब्दों का प्राकृत-रूपांतर करते समय वररुचि तथा शूद्रक एवं कालिदास के प्रयोगों का अनुसरण किया है। किंतु शौरसेनी अपभ्रंश में ऐसे प्रयोगों की विशाल संख्या है जिनमें इन व्यंजनों का लोप हो गया है। यह अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं के साथ मध्यकालीन भाषाओं की कड़ी जोड़ती है।

मध्यवर्ती या अंतिम व्यंजन का लोप तभी हो सकता है जब वह शिथिलता या आलस्य के साथ बोला जाए। इस प्रकार बोलने से जिह्वा का विभिन्न स्थानों के साथ संबंध नहीं हो पाता और व्यंजन के स्थान में विवृत स्वर का उच्चारण हो जाता है, अथवा वह अनुच्चारित व्यंजन के रूप में रह जाता है या शिथिल उच्चारण वाला व्यंजन बन जाता है। उत्तर भारत में परिवर्तन का क्रम निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा सकता है :

1. शिथिल उच्चारण के कारण स्पर्श 'घोष' हो गए।
2. आलस्यपूर्ण उच्चारण के कारण घोष 'विवृत' या 'अस्पर्श घोष' (Fricative)' हो गए।
3. अंत में उनका सर्वथा लोप हो गया।

जैन अर्धमागधी में ऐसे स्थानों पर लघुश्रुति 'य' आता है। यह स्थिति लोप तथा अस्पर्श घोष के बीच की मालूम पड़ती है। सिल्वन लेवी ने वर्हुत (200 ई० पू०) के शिलालेखों में इसी तथ्य का उल्लेख किया है।[1] उदाहरण—

सं० अवादयत्   शौ० अवादेसि   शिला० अवायेसि।

संक्रमणकालीन लेख भी इस तथ्य को प्रगट करते हैं। विदित होता है कि जैन अर्धमागधी में य-श्रुति की परंपरा बोली के इतिहास की वास्तविक स्थिति को प्रकट करती है अर्थात् किसी साधारण बोलचाल में 'य' श्रुति रही होगी। इसका अर्थ है कि मध्यकालीन आर्यभाषा के द्वितीय युग में वररुचि तथा प्राचीन नाटककारों ने अघोष

1. J. A. 1912 ii page 511-512.

के स्थान में जो ग, द, ब एवं घ, ध, भ का प्रयोग किया है वह शिथिलीकरण का ही एक रूप है।

प्रत्यय एवं रूपों की समानता तथा ध्वनि एवं वाक्य-रचना के सादृश्य से प्रतीत होता है कि बंगाल, आसाम, उड़ीसा तथा बिहार की बोलियाँ आर्यभाषा के किसी एक ही प्राचीन रूप से प्रस्फुटित हुई हैं। यह रूप उत्तर-भारत के पूर्वी भाग में प्रचलित होगा। इस रूप को मागधी नाम दिया गया है। प्राचीन आर्यभाषा या मध्य आर्यभाषा में मागधी और उसकी पड़ोसिन अर्धमागधी ने मिलकर प्राच्या भाषा-समूह का निर्माण किया। मागधी की कुछ प्राचीनतम ध्वनियाँ उससे उद्बुद्ध भाषाओं में अभी तक विद्यमान हैं। उदाहरण के रूप में श, ष और स के स्थान में श, तथा र के स्थान में ल का प्रयोग अब भी विद्यमान है। कुछ ध्वनियाँ—मागधी के भोजपुरी, मैथिली, मगही, उड़िया तथा आसामी, बंगाली में रूपांतरित होने से पहले तक—चलती रहीं, और उसके पश्चात् प्रादेशिक प्रभाव के अनुसार बदल गईं, फिर भी अपने वैशिष्टय को प्रकट करती रहीं। पद-निर्माण और वाक्य-निर्माण में भी मागधी की अपनी विशेपता है, जैसे

1. पष्ठी के लिए कअ, केर या कर का प्रयोग।
2. कर्मवाच्य कृदंत के लिए इल्ल, ऍल्ल या अल्ल का प्रयोग।
3. भविष्यत् कृदंत बनाने के लिए 'एब्ब' या 'अब्ब'।
4. भूतकाल में कर्तृ प्रधान वाक्य-रचना।

उपर्युक्त विशेषताएँ आर्यभाषा के इतिहास में बिलकुल नई थीं किंतु पूर्व की वर्तमान भाषाओं में भी मिलती हैं। मागधी का यह उत्तरकालीन रूप—जिसमें उपयुक्त विशेषताएँ आ गई—'अपभ्रंश मागधी' के नाम से कहा जा सकता है। इस उत्तरकालीन मागधी के आधारभूत लेख नहीं मिलते। फिर भी, प्राचीन बंगाली, उड़िया एवं मैथिली आदि पूर्वीय भाषाओं की शौरसेनी और पश्चिमी अपभ्रंश बोलियों के साथ तुलना करने पर उसकी कल्पना की जा सकती है। पश्चिम में आर्यभाषा के जो रूप मिलते हैं उनसे प्राच्या (मागधी और अर्धमागधी) का ध्वनियों में पर्याप्त भेद है। रूप-निर्माण में भी कहीं-कहीं भेद है।

शैली एवं रूप-संबंधी परिवर्तन

आर्यभाषा के विभिन्न युगों की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ जान लेने के पश्चात् हमारे सामने कई नए प्रश्न उठ खड़े होते हैं। हम देखते हैं कि वैदिक भाषा के पश्चात् एक ओर संस्कृत का जन्म हुआ और दूसरी ओर पालि, मागधी आदि प्राकृतों का। जहाँ तक व्याकरण एवं ध्वनियों का संबंध है, संस्कृत भाषा वैदिक भाषा से मिलती है। पाणिनि के पश्चात् इसका व्याकरण प्रायः स्थिर हो गया। कात्यायन और पतंजलि ने कुछ नए प्रयोग किए, किंतु उनके बाद नए प्रयोग होने बंद हो गए। फिर भी, यह

नहीं कहा जा सकता कि ई० पू० लगभग 800 से लेकर ईसा की 20वीं सदी तक, अपने लगभग अट्ठाईस शताब्दियों के विकास-काल में संस्कृत एक-सरीखी बनी रही। इसकी शैली, विषय एवं वर्णन-पद्धति में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। प्राकृत, लौकिक भाषाओं एवं विदेशी भाषाओं से नए शब्द भी आए हैं। उस परिवर्तन का इतिहास रोचक एवं उपयोगी है।

संस्कृत-साहित्य को स्थूल रूप से दो प्रकार की भाषाओं में विभक्त किया जाता है। प्रथम प्रकार को 'वैदिक भाषा' कहा जाता है और दूसरी को 'संस्कृत'। पहली का प्राचीनतम रूप 'ऋग्वेद' में मिलता है और दूसरी का प्रारंभ 'वाल्मीकि-रामायण' में होता है। ऋग्वेद-संहिता एक संग्रह-ग्रंथ है। यह समय-विशेष में की गई किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। इसके अनेक सूक्त अत्यंत प्राचीन हैं। उनमें आए हुए बहुत से शब्दों का अर्थ समझना भी कठिन है। बहुत से अर्वाचीन हैं, उनकी भाषा संस्कृत के बहुत समीप है। इसके दस मंडलों में से दूसरे से लेकर आठवें तक सात मंडलों और पहले मंडल का कुछ भाग प्राचीन माना जाता है। नवाँ मंडल तो सोमविषयक सूक्तों का संग्रहमात्र है जोकि अन्य मंडलों में प्रयुक्त हुए हैं। भाषा की दृष्टि से बीच के सात मंडलों के पश्चात् प्रथम मंडल का शेष भाग आता है। दसवाँ मंडल बहुत बाद में जोड़ा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ऋग्वेद' की भाषा एक-सरीखी नहीं है। इसके पश्चात् अन्य वेदों एवं ब्राह्मणों (ब्राह्मण-ग्रंथों) की भाषा है। इनमें भी परस्पर भेद है। किंतु इस सूक्ष्म भेद की उपेक्षा करके सारे वैदिक साहित्य की भाषा को एक ही प्रकार में रखा गया है जिसे 'वैदिक भाषा' कहा जाता है।

दूसरे प्रकार की भाषा का प्राचीनतम रूप 'वाल्मीकि रामायण' में मिलता है। पाणिनि-रचित 'अष्टाध्यायी' इसका प्रतिनिधि व्याकरण है। पाणिनि (500 ई० पू०) के पश्चात् लगभग ढाई हज़ार वर्ष तक इस भाषा में निरंतर साहित्य की रचना होती रही और अब भी हो रही है। इस सुदीर्घकाल में लेखन-शैली में कई परिवर्तन आए। पाणिनि के समय क्रियाओं का प्रयोग बहुलता से होता था। छोटे-छोटे वाक्य और तिङन्त पद उस शैली की विशेषता है। बाण और दंडी के समय लंबे-लंबे समासों वाले पद प्रयुक्त होने लगे। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् जैन एवं बौद्ध-लेखकों की संस्कृत में प्राकृत एवं पालि का प्रभाव दिखाई देता है। इन सब परिवर्तनों के होने पर भी भाषा में व्याकरण-संबंधी कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

वैदिक काल के पश्चात् एक ओर संस्कृत के रूप में साहित्यिक भाषा का निर्माण हुआ, दूसरी ओर बोलचाल की भाषा में स्वाभाविक परिवर्तन आते गए। ये ही परिवर्तन देश और काल के भेद से पालि एवं विभिन्न प्राकृतों के रूप में पाए जाते हैं। साहित्यिक स्थान प्राप्त करने पर उन प्राकृतों का रूप भी स्थिर होता गया किंतु बोलियों में निरंतर परिवर्तन होते रहे। प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश-काल आता है और उसके पश्चात् हिंदी तथा उत्तरी-भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का काल।

पाये जाते हैं, जैसे, करत्, तारिषत्[1], वक्षति[2], मवाति आदि ।

16. वैदिक भाषा में विभिन्न गण तथा आत्मनेपद, परस्मैपद आदि विद्यमान हैं किंतु धातुओं का प्रयोग संस्कृत के समान स्थिर नहीं है। जैसे :

संo—शृणु (√श्रु, तनादि), वैo—श्रुधि (अदादि)।

17. संस्कृत में गण-चिह्न (विकरण-प्रत्यय) केवल लट्, लोट्, लङ् और विधि-लिङ्—इन चार सार्वधातुक लकारों में लगते हैं, किंतु वैदिक में ये अन्य लिट् आदि लकारों में भी उपलब्ध हैं, जैसे—विशृण्विरे (लिट्)।

18. संस्कृत में 'लङ्' के मध्यमपुरुष, बहुवचन को ङित् माना गया है। उससे पूर्व स्वर को गुण नहीं होता, किंतु वैदिक में हो जाता है :

संo—अशृणुत वैo—शृणोत।

19. (क) वैदिक भाषा में 'तुमन्' के अर्थ में 'से, असे, ध्यै, अध्यै, तवै, और तवे' प्रत्यय आते हैं :

संस्कृत	वैदिक	संस्कृत	वैदिक
वक्तुम्	वक्षे	दातुम्	दातवै
जीवितुम्	जीवसे	हन्तुम्	हन्तवे।
पातुम्	पिबध्यै		

(ख) इसी प्रकार चतुर्थी के अर्थ में कुछ अन्य प्रत्यय (ए, ऐ) भी लगाए जाते हैं, जैसे दृशे, विख्ये (ए), प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै (ऐ)।

(ग) √शक् के योग में कहीं-कहीं 'तुमुन्' के अर्थ में द्वितीया विभक्ति भी आती है, जैसे :

संस्कृत	वैदिक	संस्कृत	वैदिक
आरोढुम्	आरूहम्[3]	विप्रष्टुम्	विपृच्छम्[4]।

20. कृत्य के रूप तवै, ए, एन्य और त्व प्रत्यय लगा कर बनाए जाते हैं, जैसे :

संस्कृत	वैदिक
भर्तव्य	भर्तवै[5] (तवै)
आदेष्टव्य	आदिशे[6] (ए)

1. सुपथा करत प्र ण आयूंषि तारिषत। ऋग्० 1.25.12.
2. स देवानेह वक्षति। ऋग्० 1.1.2.
3. न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम्। ऋग्० 10.44.6.
4. चिकितुषो विपृच्छम्। ऋग्० 7.86.3.
5. नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। ऋग्० 10.14.2.
6. न तेन देव आदिशे। ऋग्० 6.56.1.

द्रष्टव्य	दिदृक्षेण्य (एन्य)
कर्तव्य	कर्त्व (त्व)।

21. वैदिक में 'त्वा' के अतिरिक्त त्वाम, त्वीन, त्वी प्रत्ययों का भी प्रयोग होता है, जैसे :

संस्कृत	वैदिक	संस्कृत	वैदिक
गत्वा	गत्वाय	हत्वा	हत्वी
इष्ट्वा	इष्टीनम्	पीत्वा	पीत्वी।

22. कहीं-कहीं शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन भी हो गया है, जैसे :

वैदिक	संस्कृत	वैदिक	संस्कृत
सध	सह	गृभ्	गृह्।

यहाँ महाप्राण स्पर्श का केवल ऊष्म रह गया है।

वैदिक भाषा का रूप जानने के लिए नीचे लिखे उद्धरण उपयोगी हैं :

—यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतं।
मिनीमसि द्यवि द्यवि ॥

—मानो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥

—कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे।
मृळीकायोरुचक्षसम् ॥

—वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतातम्।
वेद नावः समुद्रियः॥

—नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः॥

—अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभिः पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा॥

—स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

—इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।
त्वामवस्युराचके ॥

उपर्युक्त आठ ऋचाओं में 72 पद हैं। निपातों को पृथक् पद नहीं माना गया। इनमें से उन्नीस संस्कृत-काल में पूर्णतया लुप्त हो गए। बारह का अर्थ बदल गया। यह सूक्त उनमें से हैं जो न्यूनाधिक रूप में समझ में आ जाते हैं। ऐसे भी बहुत से सूक्त हैं जिनमें अप्रयुक्त शब्दों की संख्या अधिक है। इन्हीं अप्रयुक्त शब्दों के कारण

वैदिक भाषा को समझना कठिन हो गया है। उपर्युक्त उद्धरणों में नीचे लिखी विशेषताएँ उल्लेखनीय है :

—यत् के साथ चित् का प्रयोग किया गया है। संस्कृत में इसका प्रयोग केवल सर्वनाम 'किम्' के साथ होता है।

—'प्र' उपसर्ग का संबंध 'मिनीमसि' क्रिया के साथ है किंतु बीच मे तीन पद आ गए हैं। संस्कृत में उपसर्ग और क्रिया के बीच में कोई शब्द नहीं रखा जाता।

—'मि' धातु पाणिनीय धातुपाठ में तो हैं किंतु संस्कृत-साहित्य में इसका प्रयोग नहीं हुआ। वर्तमान संस्कृत में इसके स्थान पर 'अतिक्राम्यामः' का प्रयोग होता है।

—यहाँ 'व्रत' शब्द का अर्थ 'मर्यादा' (order) है। संस्कृत में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। वर्तमान संस्कृत में इसके स्थान पर 'मर्यादा' या 'शासन' शब्द का प्रयोग होता है।

—'द्यवि द्यवि' का अर्थ है—प्रतिदिन। संस्कृत में द्यु शब्द का अर्थ 'आकाश' है।

—संस्कृत में 'वध' शब्द का अर्थ मारना या फाँसी देना होता है। यहाँ पर हत्नु का विशेषण है। यहाँ इसका अर्थ अस्पष्ट है। यह कोई हथियार या प्रहार होना चाहिए। 'हत्नु' का प्रयोग संस्कृत में नहीं होता।

—'जिहीळानस्य' √हेड् या √हीड् का परोक्षभूत कृदन्त है। यह रूप संस्कृत में नहीं आता। इसी प्रकार इस धातु का तिङन्त प्रयोग भी नहीं हुआ। किंतु इससे बना हुआ शब्द संस्कृत में प्रयुक्त होता है।

—'हृणान' का प्रयोग भी संस्कृत में नहीं होता।

—संस्कृत में क्षत्र शब्द क्षत्रियों अथवा योद्धाओं की व्यवस्था में आता है। यहाँ इसका अर्थ 'शक्ति' अथवा 'साहस' है।

—'नर' का अर्थ यहाँ मनुष्य के बजाय 'पौरुष' है।

—'आ' और 'करामहे' के बीच वरुण शब्द आ गया।

—'मृळीक' कृपा के अर्थ में अब प्रयुक्त नहीं होता।

—चक्षस् का अर्थ है—दृष्टि का विषय अथवा देखने की शक्ति। संस्कृत में यह प्रयुक्त नहीं होता।

—'समुद्रियः' समुद्र शब्द से 'समुद्री' विशेषण बनाया गया और उसका षष्ठी एकवचन में 'समुद्रियः' बनाया गया। इस प्रकार के विशेषण संस्कृत में नहीं बनाए जाते।

—'अद्‌भुता' द्वितीया का वहुवचन है। यहाँ प्रत्यय 'नि' का लोप केवल वैदिक में होता है, संस्कृत में नहीं।

—'कर्त्वा' कर्तव्य अर्थ में वैदिक रूप है। यहाँ भी 'नि' का लोप है।

—'करत्' और 'तारिषत्' लेट् के प्रयोग हैं।

—'श्रुधी' यहाँ √श्रु को अदादिगण में रखा गया है। संस्कृत में यह तनादिगण में है। संस्कृत में 'धि' का 'हि' या लोप हो जाता है। 'श्रुधी' (श्रुधि) तथा 'अद्या' (अद्य) को लय के कारण दीर्घ कर दिया गया है।

ब्राह्मण-ग्रंथों (ब्राह्मणों) की भाषा

भारतीय आर्यभाषा का दूसरा रूप ब्राह्मणों में मिलता है। 'ऋग्वेद' का 'ऐतरेय ब्राह्मण' और 'शुक्ल यजुर्वेद' का 'शतपथ ब्राह्मण' इस रूप को उपस्थित करते हैं। वैदिक सूक्तों में प्रयुक्त अनेक शब्द, जिनका अर्थ दुरूह हो गया, ब्राह्मणों में नहीं पाए जाते। शब्दों के रूप प्रायः संस्कृत के समान हो गए हैं। धातुओं के गण-विभाजन में भी व्यवस्था आ गई है। इसकी कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. प्रथमा वहुवचन का 'असस्' और तृतीया वहुवचन का एभिः' ब्राह्मणों में लुप्त हो गया।
2. 'लेट्' का प्रयोग भी प्रायः लुप्त हो गया। फिर भी 'निष्पद्याते' (शत० 1.4.1.10) और 'असत्' (ऐत० 2.11) जैसे प्रयोग मिलते हैं।
3. लुङ् के रूप एवं अर्थ में पाणिनि का पूरा अनुसरण है।
4. 'भक्ति' और 'तुमुन्' अर्थ में विविध प्रत्यय लुप्त हो गए। अधिकतर 'तुम्' का प्रयोग होने लगा।
5. इसमें संस्कृत के समान सभी कालों के अनेक रूप प्रयुक्त हैं।
6. फिर भी संस्कृत से भिन्न कुछ प्रयोग हैं:

(क) कुछ प्राचीन शब्द पाए जाते हैं, जैसे:

वसँ (अतिशय)। ऐत 11.2
अर्नीक (छोटी नौका)
मन्थावल (मथानी)। ऐत० 3.26
निष्ठाव (अंतिम प्रमाण)
अववदितृ (निर्णय की घोषणा करने वाला)
मगवस् (समृद्ध)
तत (तात)। ऐत० 5.14
इरा (भोजन)। ऐत० 8.7

शुष्मिण (शक्तिशाली) । ऐत० 8.23
मेनि (घातक हथियार, अग्नि) । ऐत० 8.24

(ख) स्त्रीलिंग में षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी एकवचन का प्रयोग :
पृथिव्यै राजा स्याः । ऐत० 8.23
सर्वस्यै वाचः । परिगृहीत्यै ।

(ग) ऋग्वेद के समान आत्मनेपद तृतीयपुरुष के 'ते' का लोप :
सविता प्रसवानामीशे । ऐत० 7-96

(घ) कुछ धातुओं का लुङ् पाणिनि से भिन्न है :
सं० अजनिष्ठ । ब्रा० अज्ञत (संस्कृत-अजनिषत) वा अस्य दन्ताः । ऐत० 7.14
सं० अद्रुहत् अद्रुक्षो (सं० अद्रुहः) वै म आत इदं ऐत० 8.23.

(ङ) ईश्वर शब्द के योग में 'तुमुन्' के अर्थ में 'तोस्' का प्रयोग :
ईश्वरो ह तु पुरायुषः प्रैतोः । ऐत० 8.7.

(च) ग्रह का प्रयोग 'ग्रभ्' के रूप में हुआ है । ऐत० 3.26

(छ) ऐतरेय ब्राह्मण की सातवीं और आठवीं पञ्जिका में कुछ उद्धृत गाथाएँ हैं । उनकी भाषा शेष ग्रंथ से अधिक प्राचीन है ।

इन सब अनियमितताओं के होने पर भी ब्राह्मणों की भाषा पाणिनि-व्याकरण के क्रियापदों का सुंदर प्रतिनिधित्व करती है । किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पाणिनि ने जहाँ भाषा-शब्द का प्रयोग किया है वहाँ ब्राह्मणों को भी ले लिया है । ब्राह्मणों को वेद में ही गिना गया है । किंतु यह कहना होगा कि पाणिनि ने अपने व्याकरण के लिए जिस साहित्य को आधार बनाया है वह लुप्त हो गया है । या इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत का जो साहित्य इस समय उपलब्ध है वह कम-से-कम क्रियापद एवं तद्धित में पाणिनि-व्याकरण का प्रतिनिधित्व नहीं करता । संभवतया पाणिनि-व्याकरण का आधार तत्कालीन बोलचाल की भाषा रही होगी ।

यास्क की भाषा

भारतीत आर्यभाषा का तीसरा रूप यास्क के 'निरुक्त' में मिलता है । इसकी भाषा अन्य अवैदिक साहित्य से प्राचीन है । (1) निरुक्त में बहुत से शब्द एवं अभिव्यक्तियाँ ऐसी हैं जो उत्तरवर्ती साहित्य में नहीं मिलतीं । उदाहरण—

उपजन (आसपास)	शिशिक्ष राज्येन (राज्य पर आरूढ़ किया)
उपेक्षितव्य (परक्षितव्य या प्राप्तव्य)	विल्म (विविधता)
कर्मन् (अभिप्राय)	नैघण्टुक (गौण)

यथो (यथा) अनिर्वाह् (ब्रह्मचर्य)
उपदेशाय ग्लपयन्तः (अध्यापन में असमर्थ)।

2. कुछ परिभाषिक शब्द भी उत्तरकालीन साहित्य में नहीं मिलते। उदाहरण—

निवृत्तिस्थान (weak terminations)
उपजन (prepositions)
उपबन्ध (आगम)
नामकरण (संज्ञाओं से आने वाले प्रत्यय)।

क्रिया-प्रधान और नाम-प्रधान शैलियाँ

यास्क के पश्चात् संस्कृत में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन आया। इसे समझने के लिए अभिव्यक्ति की दो शैलियों को जानना आवश्यक है। इनसे बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अंतर स्पष्ट हो जाता है :

क्रियाप्रधान शैली : प्रतिदिन के व्यवहार में हमारा लक्ष्य व्यक्ति के कार्य की ओर रहता है। 'यह करो', 'यह मत करो', 'मैंने यह किया', 'उसने किया' आदि वाक्यों में हम क्रिया का प्रतिपादन करते हैं। इस शैली में व्यक्ति प्रत्येक अभिव्यक्ति के साथ स्वतंत्र क्रियापद का प्रयोग करता है। छोटे-छोटे वाक्य होते हैं और वे सीधे अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। यास्क और पाणिनि के समय इसी प्रकार की भाषा का प्राबल्य था।

नामप्रधान शैली : जब व्यक्ति का लक्ष्य क्रिया की प्रगति के स्थान पर वैयक्तिक वैशिष्ट्य बन जाता है तो वह क्रियाओं का विशेषण के रूप में प्रयोग करता है। धातु में दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं—क्रिया और प्रकार। यदि प्रकार को निकाल दिया जाए तो क्रिया 'अस्ति', 'भवति' या 'करोति' के रूप में सामान्य बन जाती है और इसका प्रयोग करना संस्कृत में आवश्यक नहीं माना जाता। प्रयोग के बिना ही इनका अध्याहार हो जाता है। इस प्रकार हमारे सामने दो रूप आते हैं :

क्रियाप्रधान	**नामप्रधान**
अश्वमारुक्षत्।	अश्वमारूढः।
सोऽवोचत्।	तेनोक्तम्।
अयम् मांसं भक्षयति।	मांसभक्षकोऽयम्।
मालामग्रथ्नात्	मालां ग्रथितवान्।

धातु को विशेषण और क्रिया के रूप में विभक्त करने पर भी दो रूप बनते हैं :

अविभक्त	विभक्त
पचति	पाकं करोति या पक्वं करोति ।
पच्यते	पक्वो भवति ।

उत्तरकालीन संस्कृत एवं आधुनिक भाषाओं में इस प्रकार के प्रयोग बाहुल्य से पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	हिंदी
सेवते	सेवा करता है।
निन्दति	निंदा करता है।
शंसति	प्रशंसा करता है।

विभक्तियों को भी विशेषण के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

विभक्ति	विशेषण
राज्ञः पुरुषः	राजसंबंधी पुरुषः।
रामेण कृतः कटः	रामकर्तृकःकटः।

इस प्रकार की शैली में समस्त-पदों का अधिक प्रयोग होने लगा और सारे वाक्य को एक विशेषण में संक्षिप्त किया जाने लगा। यह शैली का विकृत रूप था। क्रिया-प्रधान शैली से भेद प्रकट करने के लिए इसे नाम-प्रधान शैली कहा जा सकता है।

संस्कृत के प्राचीन साहित्य में क्रिया-प्रधान शैली ही पाई जाती है। उसमें क्रियाओं से बने हुए विशेषण-पदों का प्रयोग बहुत कम है। वाक्य छोटे-छोटे हैं और रचना सरल है। 'ऐतरेय' और 'शतपथ' ब्राह्मणों में इसी प्रकार की भाषा है। वाक्य छोटे हैं और क्रियापदों का बाहुल्य है। यास्क के समय में भी प्रायः यही शैली रही। उनकी रचना 'निरुक्त' एक परिभाषिक ग्रंथ है। अनेक शताब्दियों का अंतर होने पर भी उसमें प्राचीन रचनाओं की शैली विद्यमान है। पाणिनि के समय भी क्रिया-प्रधान शैली विद्यमान थी। पतंजलि (200 ई० पू०) के 'महाभाष्य' में भी उसी शैली का प्राधान्य है किंतु उस समय विशेषण-प्रधान शैली स्थान ले रही थी। यह आर्यों की प्रतिभा का एक उदाहरण है कि एक ही अभिव्यक्ति को अनेक प्रकारों से उपस्थित किया जा सकता था। गद्य-पद्य आदि विविध रचनाओं के लिए अभिव्यक्ति को विविध प्रकारों से अनुकूल बनाया जा सकता था। इतिहास, पुराण तथा श्लोकबद्ध स्मृति-ग्रंथ इस नाम-प्रधान शैली में लिखे गए। यह भी कहा जा सकता है कि उस समय गद्य की शैली क्रिया-प्रधान थी और पद्य की नाम-प्रधान।

किंतु मध्यकाल में नाम-प्रधान शैली गद्य में भी प्रयुक्त होने लगी और इसने एक नया रूप ले लिया। सुबंधु, दंडी और बाणभट्ट का गद्य इसका उदाहरण है। इसमें क्रियापद बहुत कम हो गए और लंबे-लंबे समास भाषा का सौंदर्य माने जाने लगे। मध्यकाल में नाटक, गद्य एवं अन्य सभी ग्रंथ इसी शैली को प्रकट करते हैं। यह

बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती।

क्रिया-प्रधान बोलचाल की भाषा में जो भी रचना मिलती है वह या तो लेखक की सुरुचि को प्रकट करती है या वह प्राचीन काल की है।

किंतु दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र तथा भाष्य-ग्रंथों में क्रिया-प्रधान शैली का सुंदर विकास हुआ है। इस प्रकार का प्राचीनतम रूप कात्यायन के वार्तिक तथा पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। संस्कृत का सारा दार्शनिक साहित्य शास्त्रार्थ की पद्धति में लिखा गया है। भारतीय दर्शन उन अनुभवों का वर्णन नहीं करता जिनके आधार पर उसने अपने मंतव्य बनाए हैं। वह अपने मंतव्य को उपस्थित करता है, उसका समर्थन करता है और वास्तविक या संभावित आक्षेपों का निराकरण करता है। एक शैली यह भी है कि पहले विरोधी मत प्रकट किए जाते हैं, पूर्वपक्ष के रूप में उनका युक्ति द्वारा प्रतिपादन किया जाता है और फिर उन आधारों का खंडन कर दिया जाता है। महाभाष्य इसी शैली में लिखा गया है। किंतु उत्तरकालीन भाष्यों की शैली इससे भिन्न है। महाभाष्य में पूर्वपक्ष का प्रतिपादन करते हुए विरोधी के शब्द इस प्रकार रखे हैं जैसे वह स्वयं बोल रहा हो। इसमें वादों की ऐसी सुंदर परंपरा है जहाँ पूर्वपक्षी और सिद्धांती वार्तालाप के रूप में अपने विचार प्रकट करते हैं। इसलिए भाषा स्पष्ट एवं सरल है। वाक्य छोटे हैं जिनका साधारण वार्तालाप एवं शास्त्रार्थ में स्वाभाविक प्रयोग किया जा सकता है।

नाम-प्रधान शैली का उत्तम एवं स्वाभाविक रूप रामायण-महाभारत आदि इतिहास-ग्रंथों एवं स्मृति-ग्रंथों में मिलता है। गौतमकृत न्याय-सूत्र के वात्स्यायन भाष्य, जैमिनिकृत मीमांसा-सूत्रों के शाबर भाष्य, और इसी प्रकार श्रौत-सूत्रों के अन्य भाष्यों में यह शैली सजीव एवं सरल रूप में मिलती है। किंतु यह शैली उत्तरोत्तर कठिन एवं निर्जीव बनती चली गई। दूसरी ओर दर्शन के क्षेत्र में इस शैली ने एक नया रूप ले लिया। शंकराचार्य का भाष्य बीच की दशा को प्रकट करता है। इसमें पहले की अपेक्षा वाक्य अधिक लंबे है, रचना उलझी हुई-सी है और विशेषणों का अधिक प्रयोग है। वार्तालाप के स्थान पर एक निबंध या व्याख्यान की पद्धति है। फिर भी, शंकराचार्य की शैली अंत तक प्रांजल, प्रवाहशील और आकर्षक है, उत्तरकालीन लेखकों के समान स्थिर एवं निर्जीव नहीं है। उत्तरकालीन लेखकों ने क्रियाओं का प्रयोग बहुत कम कर दिया। विभक्तियों में भी केवल प्रथमा और पंचमी एकवचन रह गए हैं। लंबे लंबे समासों की भरमार है। अव्ययों का प्रयोग भी समाप्त-प्राय है। इस शैली में नियमों एव लक्षणों का विश्लेषण अधिक है। नव्य-न्याय के समय यह शैली अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। आधुनिक पंडित भी शास्त्रार्थ में इस शैली का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार क्रियाओं के स्थान पर विशेषण एवं भाववाचक संज्ञाओं के प्रयोग ने अंत में जाकर क्रियाओं को सर्वथा उड़ा दिया और वह समास एवं भाव-प्रधान नामों की भाषा बन गई।

स्पष्ट है कि यदि सभी लोग विचार एवं अभिव्यक्ति में नव्य नैयायिकों का अनुकरण करने लगें तो संस्कृत से क्रियापद सर्वथा लुप्त हो जाएँ। अव्ययों का प्रयोग भी बंद हो जाए। विभक्तियों में प्रथमा और पंचमी के अतिरिक्त कोई विभक्ति न रहे। किंतु इस पद्धति को दूसरे विषयों के लिए नहीं अपनाया जा सकता।

संस्कृत का असली रूप रामायण, महाभारत एवं स्मृति-ग्रंथों में, प्रारंभ-काल के कुछ अच्छे काव्यों एवं नाटकों में तथा पुरातन भाष्यों एवं दार्शनिक ग्रंथों में मिलता है। यदि हम इस साहित्य का सर्वेक्षण करें तो पता चलेगा कि भाववाचक संज्ञा एवं विशेषण पदों के अधिक प्रयोग ने प्रायः क्रियापदों का बड़ा भाग समाप्त कर दिया है। इस भाषा में नीचे लिखी बातें पाई जाती हैं :

1. लट् और लृट् को छोड़कर शेष लकारों के स्थान में कृदंत का प्रयोग अधिक मिलता है।

2. अव्ययों का प्रयोग बाहुल्य से है।

3. जिन धातुओं में विशेष प्रकार के परिवर्तन होते हैं उनका तिङन्त प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया है और उनके स्थान पर उस भाव को प्रकट करने वाले कृदन्त रूपों का प्रयोग है।

4. समास-बद्ध पदों का खुला प्रयोग है।

5. बहुत से तद्धित-प्रयोग लुप्त हो गए हैं और उनके स्थान पर पद-समूह का प्रयोग है। यदि पाणिनि-व्याकरण लुप्त हो जाए और उपलब्ध साहित्य के आधार पर नया व्याकरण बनाया जाए तो धातुओं एवं तद्धित-रूपों की संख्या बहुत कम हो जाएगी।

प्रोफ़ेसर बेन्फी के अनुसार इस स्थिति का कारण प्राकृत और प्रचलित बोलियों का प्रभाव है। किंतु देखा जाए तो यह स्थिति स्वाभाविक है। इसके लिए प्राकृत आदि का प्रभाव मानने की आवश्यकता नहीं है। कुछ बातों में यह परिवर्तन वैसा ही है जैसा कि वैदिक से संस्कृत में परिवर्तन के युग में हुआ, जबकि लेट् लकार व धातु एवं शब्दों के बहुत से रूपों का लोप हो गया। प्राकृत से संस्कृत में कुछ शब्द अवश्य आए किंतु संस्कृत को व्याकरण का ढाँचा भी प्राकृत से ही मिला, यह कहना अत्युक्ति है, बल्कि भ्रम है। इसकी अपेक्षा यह मानना ही अधिक संगत है कि संस्कृत का अपना प्राचीन व्याकरण ही प्रयोगों की दृष्टि से संकुचित होता गया। अस्तु !

ब्राह्मण-ग्रंथों के पश्चात् यास्क तक संस्कृत में जो परिवर्तन हुए, उनका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। साहित्य की परीक्षा के आधार पर वे सभी निष्कर्ष ठीक उतरते हैं। कात्यायन ने अपने वार्तिकों में इनकी चर्चा की है। पतंजलि ने इस चर्चा को नीचे लिखे अति रोचक संवाद के रूप में उपस्थित किया है—

"पूर्वपक्षी प्रश्न करता है—'अस्त्यप्रयुक्तः' अर्थात् बहुत से शब्द ऐसे हैं जो प्रयोग में नहीं आते। उदाहरणार्थ—ऊष, तेर, चक्र, पेच। ये परोक्षभूत मध्यम पुरुष

बहुवचन के रूप हैं।

सिद्धांती उत्तर देता है—यदि वे प्रयोग में नहीं आते तो क्या हुआ।

पूर्वपक्षी—आप शब्दों की शुद्धि का निर्णय प्रयोग के आधार पर करते हैं। जिनका प्रयोग नहीं होता वे शुद्ध नहीं माने जाएँगे।

सिद्धांती—आप जो-कुछ कह रहे हैं उनमें परस्पर-विरोध है। आप कहते हैं कि शब्द हैं और उनका प्रयोग नहीं होता। जो हैं उनका प्रयोग अवश्य होगा। यदि प्रयोग नहीं है तो अस्तित्व भी नहीं हो सकता। यह कहना कि अस्तित्व है और प्रयोग नहीं है, परस्पर-विरोध है। आप स्वयं उनका प्रयोग कर रहे हैं और कहते हैं कि उनका प्रयोग नहीं होता। आप सरीखा और कौन मिलेगा जिसके द्वारा किए गए प्रयोग के आधार पर इन शब्दों को शुद्ध कहा जा सके।

पूर्वपक्षी—यह परस्पर-विरोध नहीं है। उनके अस्तित्व का अर्थ यह है कि व्याकरण में उन रूपों को सिद्ध किया जाता है। 'अप्रयुक्त' का अभिप्राय है कि वे जनता के व्यवहार में नहीं आते। मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि मैं भी उनका प्रयोग नहीं करता।

सिद्धांती—तो क्या ?

पूर्वपक्षी—जनता उनका प्रयोग नहीं करती।

सिद्धांती—किंतु आप तो जनता में आ जाते हैं।

पूर्वपक्षी—हाँ, मैं जनता में हूँ किंतु जनता नहीं हूँ।

सिद्धांती—अगर आपका कहना है कि उनका प्रयोग नहीं होता तो यह आपत्ति ठीक नहीं है।

पूर्वपक्षी—क्यों नहीं ?

सिद्धांती—क्योंकि शब्दों का प्रयोग अर्थ को प्रकट करने के लिए होता है। वे अर्थ अब भी विद्यमान हैं जिन्हें ये शब्द प्रकट करते हैं। इसलिए किसी-न-किसी के द्वारा शब्द-प्रयोग भी अवश्य होता होगा। यदि अर्थ है तो उसे प्रकट करने वाला शब्द भी अवश्य रहेगा।

पूर्वपक्षी—उन शब्दों के अप्रयोग का कारण यह है कि उनके अर्थ में दूसरे शब्दों का प्रयोग होने लगा। 'ऊष' के अर्थ में 'क्व यूयमुषिताः। 'तेर' के स्थान में 'क्व यूयं तीर्णाः', 'चक्र' के स्थान में 'क्व यूयं कृतवन्तः'। 'पेच' के स्थान में 'क्व यूयं पक्वन्तः।'' यहाँ हम देखते हैं कि परोक्षभूत में तिङन्त ('ऊस') के स्थान पर कृदन्त (उषिताः) का प्रयोग होने लगा था।

सिद्धांती—(वार्तिक : **'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्'**, अर्थात्) दीर्घकालीन यज्ञों के समान अप्रयुक्त होने पर भी इन शब्दों की शिक्षा अवश्य होनी चाहिए। यह इस प्रकार है—कुछ यज्ञ ऐसे हैं जो सौ वर्ष और हज़ार वर्ष तक चलते हैं। वर्तमान समय में उन्हें

उपाजेकृत्य }
अन्वाजेकृत्य } दृढ़ बनाकर

कणेहत्य }
मनोहत्य } जी भरकर

निवचनेकृत्य = चुप करके

ब्राह्मणवेदं भोजयति = जो भी ब्राह्मण मिलता है उसे भोजन कराता है।

चेलक्नोपं वृष्टः = कपड़े गीले होने तक बरसा।

स्वपोषं पुष्णाति = अपने ही साधनों से पोषण करता है।

ऊर्ध्वशोषं शुष्यति = खड़े-खड़े सूखता है।

इसी प्रकार तद्धित के अनेक प्रयोग इस गणना में रखे जा सकते हैं।

पाणिनि की भाषा कात्यायन से प्राचीन थी, यह भी उपर्युक्त संवाद से सिद्ध होता है। इसके लिए और आधार भी हैं। कात्यायन ने पाणिनि-सूत्रों पर वार्तिक लिखे हैं। उनमें से अधिकतर वार्तिक सूत्रों की व्याख्यारूप हैं। कुछ वार्तिक सूत्रों में टूटे हुए संबंध को जोड़ते हैं। बहुत से वार्तिक उन रूपों की सिद्धि करते हैं जिन्हें पाणिनि ने छोड़ दिया है, अथवा उन शब्दों का शुद्ध रूप बताते हैं जिनका शुद्ध रूप सूत्रों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। किंतु पाणिनि.सूत्रों के आधार पर इस प्रकार के शब्दों की सिद्धि खींचतान कर की जाती है। संभवतया वे शब्द पाणिनि को स्वयं अभीष्ट न थे। यह भी संभव है कि कुछ रूप प्रचलित होने पर भी पाणिनि के ध्यान में न आए हों। इन सब सुझावों के बावजूद भी यह मानना पड़ेगा कि कात्यायन ने बहुत से ऐसे रूप उपस्थित किए हैं जिनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि ने छोड़ दिए थे या उन्हें अज्ञात थे। उनके लिए यही मानना पड़ता है कि वे रूप पाणिनि के समय प्रचलित नहीं थे। पाणिनि से भूल हो सकती है, किंतु फिर भी वे समर्थ एवं सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण हैं और उनका यह पद पूर्णतया न्याय्य है। व्याकरण के फुटकर रूपों पर भी उन्होंने पूरा ध्यान दिया है। ऐसी दशा में यही मानना उचित है कि कात्यायन द्वारा प्रस्तुत अनेक रूप पाणिनि के समय प्रचलित नहीं थे। उदाहरणार्थ—

—पाणिनि के अनुसार नकारांत नपुंसक लिंग शब्दों का संबोधन में 'हे ब्रह्मन्' 'हे नामन्' रूप होता है। कात्यायन के अनुसार 'हे ब्रह्म' और 'हे ब्रह्मन्' एवं 'हे नाम' और 'हे नामन्' दोनों रूप होते हैं।

—पाणिनि के अनुसार द्वितीया और तृतीया शब्दों के चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, और सप्तमी विभक्तियों के एकवचन में एक रूप सर्वनाम की तरह होता है और एक साधारण शब्द के समान, जैसे—

चतुर्थी विभक्ति—द्वितीयस्यै, द्वितीयायै
पञ्चमी विभक्ति—द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः
षष्ठी विभक्ति—द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः
सप्तमी विभक्ति—द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम्

और कात्यायन के अनुसार यह विकल्प 'द्वितीय' (पुल्लिंग) में भी होता है—

द्वितीयस्मै, द्वितीयाय

द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्

द्वितीयस्मिन्, द्वितीये

किंतु उधर पाणिनि के अनुसार पुल्लिंग में सर्वनाम वाले रूप (द्वितीयस्मै, द्वितीयस्मात्, द्वितीयस्मिन्) नहीं होते।

—पाणिनि के मतानुसार 'मातुल' शब्द का स्त्रीलिंग केवल 'मातुलानी' होता है, किंतु कात्यायन के मतानुसार 'मातुली' और 'मातुलानी' दोनों होते हैं। पाणिनि ने 'उपाध्याय' शब्द को छोड़ दिया है। कात्यायन ने उसके 'उपाध्यायानी' और 'उपाध्यायी' दो रूप बताए हैं। ये दोनों रूप 'उपाध्याय की स्त्री' के अर्थ में होते हैं। यदि स्त्री स्वयं अध्यापन करती हो तो उसके 'उपाध्याया' और 'उपाध्यायी' दो रूप कात्यायन ने बताए हैं। इसका यह आशय भी लिया जा सकता है कि पाणिनि के समय स्त्रियाँ अध्यापन नहीं करतीं थीं किंतु कात्यायन के समय में करने लगी थीं, इसलिए कात्यायन को उनका भेद बताने की आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार 'स्वयं व्याख्यात्री' के लिए 'आचार्या' शब्द प्रयुक्त हुआ और 'आचार्य की स्त्री' के लिए 'आचार्याणी'। पाणिनि के अनुसार क्षत्रिय जाति की स्त्री के लिए 'क्षत्रिया' होगा, किंतु कात्यायन ने 'क्षत्रियाणी' और 'क्षत्रिया' दो रूप माने हैं। इसी प्रकार आर्य शब्द के भी स्त्रीलिंग में दो रूप हैं—आर्याणी और आर्या।

—इसी प्रकार अन्य अनेक रूप भी दिए जा सकते हैं। क्या उन रूपों के लिए यह कहा जाएगा कि ये पाणिनि की दृष्टि से बच गए या पाणिनि उन्हें नहीं जानते थे? यह मानने की अपेक्षा यह संभावना कहीं अधिक संगत प्रतीत होती है कि वे रूप पाणिनि के समय प्रयोग में नहीं थे, अर्थात् पाणिनि के समय भाषा का रूप कात्यायन के समय से भिन्न था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि की संस्कृत 'रामायण' और 'महाभारत' से पहले की भाषा है। ब्राह्मण और यास्क का मध्यवर्ती साहित्य इसका प्रतिबिंब रहा होगा। उपलब्ध साहित्य में ब्राह्मण ही ऐसे हैं जो पाणिनि की भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके विपरीत कात्यायन के समय संस्कृत ने शास्त्रीय (क्लासिकल) रूप ग्रहण कर लिया था।

इस प्रकार संस्कृत के विकास में हमें तीन कालों का पता चलता है। पहला वैदिक काल है जिसमें 'ऋग्वेद संहिता', 'यजुर्वेद का मंत्रभाग' और 'अथर्ववेद का अपेक्षाकृत प्राचीन भाग' आते हैं। इसके पश्चात् द्वितीय काल प्रारंभ होता है जिसका प्रारंभ ब्राह्मणों से होता है। यह काल वैदिक युग की अंतिम झलक है। पाणिनि के व्याकरण में परिणत होने से पहले संस्कृत ने यहाँ वैदिक शब्दों का अंतिम प्रयोग किया। तृतीय काल में यास्क और पाणिनि की भाषा है। इसे मध्यकालीन संस्कृत

कहा जा सकता है। इसके पश्चात् क्लासिकल संस्कृत है। रामायण, महाभारत, प्राचीन महाकाव्य, रूपक, पद्यबद्ध स्मृतियाँ और कात्यायन की भाषा इसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

पाणिनि की भाषा यदि 'मध्यकालीन संस्कृत' है तो कात्यायन की भाषा 'क्लासिकल संस्कृत' है। कात्यायन ने अप्रयुक्त रूपों के अध्ययन को दीर्घसत्रों के समान आवश्यक माना है। पतंजलि ने ऐसे बहुत-थोड़े प्रयोग बताए हैं जो कात्यायन से भिन्न हैं। इसलिए उनकी भाषा को पृथक् विकास-युग के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी कृति (महाभाष्य) को कात्यायन के युग में ही रखा जाएगा। इस समय भाषा ने जिस रूप एवं स्तर को अपनाया वह उत्तरकालीन लेखकों के लिए अनुकरणीय बन गया। इस समय कात्यायन और पतंजलि. भाषा की शुद्धि के लिए, प्रमाण माने जाते हैं। अब यह देखा जएगा कि अंतिम दो युगों का प्राकृत एवं अन्य भाषाओं पर क्या प्रभाव पड़ा।

प्राकृत में सरलीकरण के स्वाभाविक नियमानुसार संयुक्त व्यंजनों में एक शेष रह जाता है और अन्य उसी में विलीन हो जाते हैं। इस विलय के परिणामस्वरूप शेष बचा हुआ व्यंजन द्वित्व हो जाता है।

पालि और प्राकृत भाषाएँ

आजकल जिसे शास्त्रीय संस्कृत कहा जाता है वह रूप इसने ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व ले लिया था। उसके पश्चात् शैली में विविध परिवर्तन होने पर भी भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कारण यह है कि संस्कृत बोलने वालों की संख्या उत्तरोत्तर घटती गई। लंबे समय से यह बोलचाल की भाषा नहीं रही। इसका प्रयोग एक निश्चित वर्ग में सीमित हो गया और वह भी केवल अध्ययन-अध्यापन, शास्त्रार्थ तथा संस्कारों तक। इस प्रकार क्षेत्र सीमित होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। गदाधर भट्टाचार्य एवं नव्य-न्याय के अन्य आचार्यों ने जिस शैली एवं भाषा को अपनाया वह कणाद, गौतम और व्यास की शैली नहीं है। इसी प्रकार नागोजीभट्ट-सरीखे नव्य वैयाकरणों ने जैसा लिखा है वह कात्यायन और पतंजलि से भिन्न है। किंतु परिवर्तन एक ही दिशा में है। नवीन आचार्यों ने प्रायः प्राचीन विचारों को ही परिष्कृत एवं कसी हुई भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न किया है। उनका शास्त्रार्थ भावों से इतना संबंध नहीं रखता जितना अभिव्यक्ति के नियमन से। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसी शैली का विकास किया जिसमें अर्थ के स्थान पर शब्दों का प्राधान्य है। उनकी शैली कृत्रिम है। वास्तविकता से दूर है। साहित्य की दूसरी शाखाओं पर भी इस शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। किंतु यदि शैली को छोड़ दिया जाए और भाषा की शुद्धि को आधार माना जाए तो संस्कृत का स्तर एवं रूप वही है जो पाणिनि के समय था। विविध प्रकार की संस्कृत के कुछ ढांचे स्थिर

हो गए हैं और वर्तमान लेखक इच्छानुसार उन्हें ही अपनाते हैं।

जो भाषा प्रतिदिन बोलचाल में व्यवहृत होती है उसमें अधिक परिवर्तन होते रहते हैं। साधारण लोगों के लिए भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा वे अपने विचार दूसरों तक पहुँचाते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य विचारों का आदान-प्रदान है। वे इस बात की चिंता नहीं करते कि उनका उच्चारण पूर्णतया शुद्ध है या पूर्वजों के उच्चारण से पूरी तरह मिलता है। वे इतना ही चाहते हैं कि उनकी वाणी सुनने वाला समझ ले। विचार-पद्धति के नए-नए रूप प्रकट होते हैं, नए विचार जन्म लेते हैं। वे सभी नई भाषा में अभिव्यक्त किए जाते हैं। ऐतिहासिक घटनाएँ भी भाषा को बदल देती हैं। जब युद्ध अथवा अन्य कारणों से एक जाति दूसरी जाति के संपर्क में आती है तो परस्पर शब्दों का आदान-प्रदान भी होता है। किंतु ये सब परिवर्तन निश्चित सिद्धांतों के अनुसार होते हैं। उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर भाषाविज्ञान का अविष्कार हुआ।

उपर्युक्त परिवर्तनों के कारण संस्कृत अत्यंत प्राचीन समय में, जिस समय में वह बोलचाल की भाषा थी, विकृत हो गई और उससे नई-नई बोलियों ने जन्म लिया। इन बोलियों के विषय में हमें जो ज्ञान प्राप्त है उसका एकमात्र आधार तत्कालीन साहित्य है। यदि वह साहित्य न रचा गया होता तो उनके विषय में जानना असंभव हो जाता। इन बोलियों में संस्कृत के निकटतम पालि है। यह लंका, स्याम और बर्मा के बौद्धों की धर्मभाषा है और इसमें विशाल साहित्य है। पालि का रूप जानने के लिए नीचे लिखा उद्धरण उपयोगी होगा—

सावत्थियं किर अदिण्ण पुब्बको नाम ब्राह्मणो अहोसि। तेन कस्सचि किञ्चिददिण्णपुब्बं तेन तं अदिण्णपुब्बको त्वेव सं जानिसु। तस्सेक पुत्तको अहोसि, पियो मनापो।······तस्स सोलसवस्सकाले पण्डुरोगो उदपादि। माता पुत्तं ओलेकित्वा ब्राह्मण पुत्तस्स ते रोगो उप्पन्नो तिकिच्छायेहि नन्ति आह। भोति स चे वेज्जं आनेस्सामि भत्त वेतन दातब्बं भविस्सति। त्वं मम धनच्छेदं न ओलोकेसीति। अथ किं करिस्ससि ब्राह्मणा ति। यथा मे धनच्छेदो न होति तथा करिस्सामीति। सो वेज्जानं सन्तिकं गन्त्वा अमुकरोगस्स नाम तुम्हे किं भेसज्जं करोथा ति पुच्छि। अथस्स ते यं वा तं वा रुक्खतच्चादि आचिक्खन्ति। सो तं आहरित्वा पुत्तस्स भेसज्जं करोति। तं करोन्तस्सेवस्स रोगो बलवा अहोसि।[1]

---

1. संस्कृत-रूपांतर—श्रावस्त्यां किलादत्तपूर्वको नाम ब्राह्मणोऽभूत्। तेन कस्मैचित् किञ्चिददत्त-पूर्वं तेन तमदत्तपूर्वकस्त्वेव समजानत। तस्यैकपुत्रोऽभूत् प्रियो मनोज्ञः।···तस्य षोडशवर्षकाले पाण्डुरोग उदपादि। माता पुत्रमवलोक्य ब्राह्मण! पुत्रस्य ते रोग उत्पन्नः चिकित्सयैनमित्याह। भवति! स चेद् वैद्यमानेष्यामि भक्तवेतनं दातव्यं भविष्यति। त्वं मम धनच्छेदनं नावलोकयसि। अथ किं करिष्यसि ब्राह्मणेति। यथा मे धनच्छेदो न भवति तथा करिष्यामीति। स वैद्यानामन्तिकं गत्वाऽमुकरोगस्य नाम यूयं किं भैषज्यं कुरुथेत्यप्राक्षीत्। अथास्य ते यद्वा तद्वा वृक्ष-त्वगाद्याचक्षते। स तदाहृत्य पुत्रस्य भैषज्यं करोति। तत्कुर्वत एवास्य रोगो बलवानभूत्।
हिंदी में अर्थ—श्रावस्ती में अदत्तपूर्वक (जिसने पहले कभी नहीं दिया) नाम का ब्राह्मण रहता

कहा जा सकता है। इसके पश्चात् क्लासिकल संस्कृत है। रामायण, महाभारत, प्राचीन महाकाव्य, रूपक, पद्यबद्ध स्मृतियाँ और कात्यायन की भाषा इसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

पाणिनि की भाषा यदि 'मध्यकालीन संस्कृत' है तो कात्यायन की भाषा 'क्लासिकल संस्कृत' है। कात्यायन ने अप्रयुक्त रूपों के अध्ययन को दीर्घसत्रों के समान आवश्यक माना है। पतंजलि ने ऐसे बहुत-थोड़े प्रयोग बताए हैं जो कात्यायन से भिन्न हैं। इसलिए उनकी भाषा को पृथक् विकास-युग के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी कृति (महाभाष्य) को कात्यायन के युग में ही रखा जाएगा। इस समय भाषा ने जिस रूप एवं स्तर को अपनाया वह उत्तरकालीन लेखकों के लिए अनुकरणीय बन गया। इस समय कात्यायन और पतंजलि, भाषा की शुद्धि के लिए, प्रमाण माने जाते हैं। अब यह देखा जएगा कि अंतिम दो युगों का प्राकृत एवं अन्य भाषाओं पर क्या प्रभाव पड़ा।

प्राकृत में सरलीकरण के स्वाभाविक नियमानुसार संयुक्त व्यंजनों में एक शेष रह जाता है और अन्य उसी में विलीन हो जाते हैं। इस विलय के परिणामस्वरूप शेष बचा हुआ व्यंजन द्वित्व हो जाता है।

पालि और प्राकृत भाषाएँ

आजकल जिसे शास्त्रीय संस्कृत कहा जाता है वह रूप इसने ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व ले लिया था। उसके पश्चात् शैली में विविध परिवर्तन होने पर भी भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कारण यह है कि संस्कृत बोलने वालों की संख्या उत्तरोत्तर घटती गई। लंबे समय से यह बोलचाल की भाषा नहीं रही। इसका प्रयोग एक निश्चित वर्ग में सीमित हो गया और वह भी केवल अध्ययन-अध्यापन, शास्त्रार्थ तथा संस्कारों तक। इस प्रकार क्षेत्र सीमित होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। गदाधर भट्टाचार्य एवं नव्य-न्याय के अन्य आचार्यों ने जिस शैली एवं भाषा को अपनाया वह कणाद, गौतम और व्यास की शैली नहीं है। इसी प्रकार नागोजीभट्ट-सरीखे नव्य वैयाकरणों ने जैसा लिखा है वह कात्यायन और पतंजलि से भिन्न है। किंतु परिवर्तन एक ही दिशा में है। नवीन आचार्यों ने प्राय: प्राचीन विचारों को ही परिष्कृत एवं कसी हुई भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न किया है। उनका शास्त्रार्थ भावों से इतना संबंध नहीं रखता जितना अभिव्यक्ति के नियमन से। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसी शैली का विकास किया जिसमें अर्थ के स्थान पर शब्दों का प्राधान्य है। उनकी शैली कृत्रिम है। वास्तविकता से दूर है। साहित्य की दूसरी शाखाओं पर भी इस शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। किंतु यदि शैली को छोड़ दिया जाए और भाषा की शुद्धि को आधार माना जाए तो संस्कृत का स्तर एवं रूप वही है जो पाणिनि के समय था। विविध प्रकार की संस्कृत के कुछ ढाँचे स्थिर

हो गए हैं और वर्तमान लेखक इच्छानुसार उन्हें ही अपनाते हैं।

जो भाषा प्रतिदिन बोलचाल में व्यवहृत होती है उसमें अधिक परिवर्तन होते रहते हैं। साधारण लोगों के लिए भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा वे अपने विचार दूसरों तक पहुँचाते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य विचारों का आदान-प्रदान है। वे इस बात की चिंता नहीं करते कि उनका उच्चारण पूर्णतया शुद्ध है या पूर्वजों के उच्चारण से पूरी तरह मिलता है। वे इतना ही चाहते हैं कि उनकी वाणी सुनने वाला समझ ले। विचार-पद्धति के नए-नए रूप प्रकट होते हैं, नए विचार जन्म लेते हैं। वे सभी नई भाषा में अभिव्यक्त किए जाते हैं। ऐतिहासिक घटनाएँ भी भाषा को बदल देती हैं। जब युद्ध अथवा अन्य कारणों से एक जाति दूसरी जाति के संपर्क में आती है तो परस्पर शब्दों का आदान-प्रदान भी होता है। किंतु ये सब परिवर्तन निश्चित सिद्धांतों के अनुसार होते हैं। उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर भाषाविज्ञान का अविष्कार हुआ।

उपर्युक्त परिवर्तनों के कारण संस्कृत अत्यंत प्राचीन समय में, जिस समय में वह बोलचाल की भाषा थी, विकृत हो गई और उससे नई-नई बोलियों ने जन्म लिया। इन बोलियों के विषय में हमें जो ज्ञान प्राप्त है उसका एकमात्र आधार तत्कालीन साहित्य है। यदि वह साहित्य न रचा गया होता तो उनके विषय में जानना असंभव हो जाता। इन बोलियों में संस्कृत के निकटतम पालि है। यह लंका, स्याम और बर्मा के बौद्धों की धर्मभाषा है और इसमें विशाल साहित्य है। पालि का रूप जानने के लिए नीचे लिखा उद्धरण उपयोगी होगा—

सावत्थियं किर अदिण्ण पुब्बको नाम ब्राह्मणो अहोसि। तेन कस्सचि किञ्चिददिण्णपुब्बं तेन तं अद्दिण्णपुब्बको त्वेव सं जानिसु। तस्सेक पुत्तको अहोसि, पियो मनापो।······तस्स सोलसवस्सकाले पण्डुरोगो उदपादि। माता पुत्तं ओलेकित्वा ब्राह्मण पुत्तस्स ते रोगो उत्पन्नो तिकिच्छायेहि नन्ति आह। भोति स चे वेज्जं आनेस्सामि भत्त वेतन दातब्बं भविस्सति। त्वं मम धनच्छेदं न ओलोकेसीति। अथ किं करिस्ससि ब्राह्मणा ति। यथा मे धनच्छेदो न होति तथा करिस्सामीति। सो वेज्जानं सन्तिकं गन्त्वा अमुकरोगस्स नाम तुह्मे किं भेसज्जं करोथा ति पुच्छि। अथस्स ते यं वा तं वा रुक्खतच्चादि आचिक्खन्ति। सो तं आहरित्वा पुत्तस्स भेसज्जं करोति। तं करोन्तस्सेवस्स रोगो बलवा अहोसि।[1]

---

1. **संस्कृत-रूपांतर**—श्रावस्त्यां किलादत्तपूर्वको नाम ब्राह्मणोऽभूत्। तेन कस्मैचित् किञ्चिददत्त-पूर्वं तेन तमदत्तपूर्वकस्त्वेव समज्ञासत। तस्यैकपुत्रोऽभूत् प्रियो मनोज्ञः।···तस्य षोडशवर्षकाले पाण्डुरोग उदपादि। माता पुत्रमवलोक्य ब्राह्मण! पुत्रस्य ते रोग उत्पन्नः चिकित्सयैनमित्याह। भवति! स चेद् वैद्यमानेष्यामि भक्तवेतनं दातव्यं भविष्यति। त्वं मम धनच्छेदनं नावलोकयसि। अथ किं करिष्यसि ब्राह्मणेति। यथा मे धनच्छेदो न भवति तथा करिष्यामीति। स वैद्यानामन्तिकं गत्वाऽमुकरोगस्य नाम यूयं किं भैषज्यं कुरुथेत्यप्राक्षीत्। अथास्य ते यद्वा तद्वा वृक्ष-त्वगादाचक्षते। स तदाहृत्य पुत्रस्य भैषज्यं करोति। तत्कुर्वत एवास्य रोगो बलवानभूत्।
हिंदी में अर्थ—श्रावस्ती में अदत्तपूर्वक (जिसने पहले कभी नहीं दिया) नाम का ब्राह्मण रहता

उपर्युक्त उद्धरण बुद्धघोष-कृत 'अर्थकथा' में से लिया गया है। यह धम्मपद की टीका है और ईसा के पश्चात् पाँचवीं शताब्दी में लिखी गई थी। उस समय पालि बोलचाल की भाषा नहीं थी। नीचे लिखे उद्धरण 'धम्मपद' से लिए गए हैं, जो कि 'अर्थकथा' की अपेक्षा बहुत प्राचीन हैं—

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥129॥

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥131॥

मा वोच फरुसं कंचि वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥133॥

स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपसतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति[1] ॥134॥

था। उसने किसी को कुछ नहीं दिया, इसलिए उसे अदत्तपूर्वक कहने लगे। उसके एक पुत्र हुआ—प्रिय और मनोज्ञ। सोलह वर्ष की आयु में उसे पाण्डुरोग हो गया। माता ने पुत्र को देख कर कहा—ब्राह्मण! तुम्हारे पुत्र को रोग हो गया है। इसकी चिकित्सा कराओ।

"भद्रे। यदि वैद्य को लाऊँगा तो उसे भोजन और वेतन देना होगा। तुम नहीं देखती हो कि इसमें धन का व्यय होगा।"

"तो ब्राह्मण! तुम क्या करोगे?"

"ऐसे करूँगा जिससे धन का व्यय न हो।"

उसने वैद्यों के पास जाकर पूछा—"आप लोग पाण्डुरोग की क्या ओषधि करते हैं?" वे लोग यद्वा-तद्वा वृक्ष की छाल आदि बताने लगे। वह उसे लाकर पुत्र की ओषधि करने लगा। ओषधि करते रहने पर भी उसका रोग प्रबल होगया।

1. **संस्कृत-रूपांतर**—सर्वे त्रस्यन्ति दण्डात् सर्वे बिभ्यति मृत्योः।
आत्मानमुपमां कृत्वा न हन्यान्न घातयेत् ॥ 129
सुख-कामानि भूतानि यो दण्डेन विहिनस्ति।
आत्मनः सुखमिच्छन्प्रेत्य स न लभते सुखम् ॥ 131
मा वोचः परुषं कंचिदुक्ताः प्रतिवदेयुस्त्वाम्।
दुःखा हि संरम्भकथाः प्रतिदण्डा स्पृशेयुस्त्वाम् ॥ 133
स चेन्नेरयस्यात्मनं कांस्यमुपहतं यथा।
एष प्राप्नोति निर्वाणं संरम्भस्ते न विद्यते ॥ 134

हिंदी में अर्थ—सभी दंड से भय खाते हैं, सभी मृत्यु से डरते हैं। अपनी आत्मा को उदाहरण बनाकर न किसी को मारना चाहिए और न मारने की प्रेरणा करनी चाहिए ॥ 129

जो व्यक्ति अपने सुख की इच्छा से सुख के इच्छुक अन्य प्राणियों की हिंसा करता है वह मर कर सुख नहीं प्राप्त कर सकता ॥ 131

किसी को कठोर शब्द मत कहो। कहने पर वे भी उत्तर में कहेंगे। इस प्रकार झगड़ा दुःख का कारण होगा और दूसरों के द्वारा लिया गया बदला तुम्हें तंग करेगा ॥ 133

यदि तुम टूटे हुए कांस्य के समान अपने-आप विचलित नहीं होते (चोट से प्रभावित नहीं होते) तो तुमने निर्वाण प्राप्त कर लिया। फिर तुम्हें किसी प्रकार का झगड़ा नहीं है ॥ 134

ध्वनि-परिवर्तन के जो नियम बताये गये हैं उपर्युक्त उद्धरणों में उनके बहुत उदाहरण मिलेंगे—पालि में पुत्र के स्थान पर पुत्त, भक्त के स्थान पर भत्त, प्राप्त के स्थान पर पत्त और उत्पन्न के स्थान पर उप्पन्न हो गया है। उपर्युक्त उदाहरण ध्वनि-विकार के सूचक हैं। संयुक्त व्यंजनों में प्राय: दुर्बल का लोप हो जाता है और शेष व्यंजन का द्वित्व हो जाता है। इस नियम को व्यंजन-विलय (Assimilation of consonants) कहा जाता है।

जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो वायु मुख में विद्यमान विविध स्थानों से टकराकर बाहर निकलती है। जब वह विविध स्थानों से टकराती है तो व्यंजनों की ध्वनि देती है और बाहर निकलते समय स्वरों की। एक व्यंजन के पश्चात् दूसरे व्यंजन का उच्चारण करने के लिए वायु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना पड़ता है। स्थान-विशेष पर निरुद्ध या निपीडित वायु यदि बाहर निकल जाए और फिर दूसरे व्यंजन का उच्चारण करना हो तो उसमें सरलता रहती है। किंतु ऐसी दशा में व्यंजनों के बीच स्वर आ जाएगा और उनका संयोग नहीं हो सकता। संयोग के लिए निरुद्ध, निपीडित वायु को बाहर किए बिना ही दूसरे स्थान पर ले जाना होता है और इसके लिए जिह्वा को विशेष रूप से घुमाने की आवश्यकता है। यह कार्य कष्टसाध्य है। अत: संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण सरल नहीं है। परिणाम-स्वरूप पालि और प्राकृत में प्राय: दो विरूप व्यंजन एक-साथ नहीं मिलते।

अब यह प्रश्न होता है कि दो या अधिक संयुक्त व्यंजनों में से किसका विलय किया जाए और कौन शेष रहे। इसके लिए भी उच्चारण-सौकर्य के आधार पर निम्न-लिखित विलय-नियम बनाए गए हैं :

1. जहाँ दो असमान व्यंजनों का संयोग होता है वहाँ जिस व्यंजन का उच्चारण प्रबल है उसमें दुर्बल उच्चारण वाले का विलय हो जाता है। इस नियम के अनुसार—

(क) साधारणतया स्वर-रहित व्यंजन, स्वर-सहित व्यंजन में लीन हो जाता है :

दुग्ध	दुद्ध	भक्त	भत्त
उत्पन्न	उप्पन्न	प्राप्त	पत्त

(ख) संयोग में जहाँ एक स्पर्श हो और दूसरा अंतस्थ हो वहाँ अंतस्थ का स्पर्श में विलय हो जाता है, जैसे :

पुत्र पुत्त

इसी प्रकार श, ष, स के साथ संयोग होने पर भी उनका स्पर्श में विलय हो जाता है, किंतु ये महाप्राण हैं इसलिए स्पर्श को भी महाप्राण बना देते हैं—

पुष्प	पुप्फ	श्रावस्त्याम्	सावत्थियं
स्पृशेयु:	फुसेय्यु	स्कन्ध	खंध

पुष्कर	पोक्खर	पश्चात्	पच्छा
मस्तक	मत्थक	वस्तु	वत्थु

पालि में ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धांत

पालि में ध्वनि-परिवर्तन के नीचे लिखे सिद्धांत हैं :

समस्थानीभाव (Assimilation)

1. **वर्ण-विलय :** विभिन्न स्थानों से उच्चारित दो या अधिक व्यंजन जब एक साथ आ जाते हैं तो उनका उच्चारण कठिन है। उसको सरल बनाने के लिए या तो बीच में स्वर आ जाता है या एक व्यंजन दूसरे व्यंजन का समस्थानी बन जाता है। बीच में स्वर आ जाने को स्वर-भक्ति कहते हैं और व्यंजन के परिवर्तन को विलय। यह विलय दो प्रकार का है :

(क) **पर-विलय** (Progressive assimilation) : जहाँ प्रथम व्यंजन *परवर्ती व्यंजन का समस्थायी बन जाता है।*

उदाहरण : धर्म=धम्म

(ख) **पूर्व-विलय** (Regressive assimilation) जहाँ पर व्यञ्जन पूर्ववर्ती व्यंजन का समस्थानी बन जाता है।

उदाहरण : प्राप्नोति=पप्पोति

पूर्व-विलय और पर-विलय का आधार

साधारणतया स्वर के बिना व्यंजन का स्पष्ट उच्चारण नहीं होता। इसलिए संयोग में प्रायः अंतिम व्यंजन का उच्चारण स्पष्ट होता है और पूर्ववर्ती व्यंजनों का दबा हुआ। ध्वनि के स्पष्ट उच्चारण को संस्कृत में वर्ण-विस्फोट (Explosion) कहते हैं। जिस व्यंजन का स्वर के कारण स्पष्ट उच्चारण होता है या जहाँ पर स्फोट होता है वह शेष रह जाता है और दूसरे व्यंजन उसके समस्थानी बन जाते हैं। इस नियम के अनुसार प्रायः पूर्ववर्ती व्यंजन का विलय परवर्ती व्यंजन में होता है। किंतु व्यंजनों में सबकी ध्वनि एक-सरीखी नहीं है। कुछ की ध्वनि प्रबल है और कुछ की दुर्बल। इसका क्रम नीचे लिखे अनुसार है :

(क) झय् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अक्षर)

(ख) शर् (श, ष, स)

(ग) ञम् (अनुनासिक ञ, म, ङ, ण, न)

(घ) यण् (क्रमशः य, र, व, ल)

उपर्युक्त व्यंजनों में उत्तरोत्तर समूह दुर्बल है । परिणाम-स्वरूप यदि 'र' झय् या 'शर्' के साथ संयुक्त हो तो वह उनका समस्थानी बन जाएगा, चाहे वह संयोग के आदि में हो, चाहे मध्यम में हो, या अंत में हो । जहाँ दोनों व्यंजन समान बल वाले हों वहाँ साधारण नियम के अनुसार पूर्व का पर में विलय होगा ।

हेमचन्द्र ने इसके लिए तीन सूत्र दिए हैं :

(1) 'क ग ट ड त द प श ष स ᳵक ᳵ पामूर्ध्वं लुक् ।' 8.2.77

अर्थात् संयोग में पूर्ववर्ती क, ग, ट, ड, त, द, प, श, ष, स जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का लोप हो जाता है ।

(2) 'अधो मनयाम् ।'

अर्थात् यदि संयोग में म, न और य उत्तरवर्ती हों तो उनका भी लोप होता है ।

(3) 'सर्वत्र लवरामवन्द्रे ।'

अर्थात् 'वन्द्र' शब्द को छोड़कर संयोग में ल, व और र का सर्वत्र लोप हो जाता है ।

निष्कर्ष यह कि ल, व और र का सर्वत्र अर्थात् पूर्व और पर दोनों अवस्थाओं में लोप होगा । म, न और य का लोप परावस्था में ही होगा । क, ग आदि का लोप पूर्वावस्था में ही होगा ।

विशेष परिवर्तन

उपर्युक्त साधारण नियम के अतिरिक्त समस्थानीभाव में नीचे लिखे परिवर्तन उल्लेखनीय हैं :

(क) यदि संयोग में एक व्यंजन ऊष्म है और दूसरा स्पर्श, तो स्पर्श महाप्राण हो जाएगा । इस नियम के अनुसार वर्ग का प्रथम अक्षर द्वितीय हो जाएगा, तृतीय चतुर्थ हो जाएगा और पंचम के साथ ह् लग जाएगा ।

(ख) यदि संयोग आदि में है तो समस्थानीभाव न होकर विलय हो जाता है, अर्थात् वहां एक ही व्यंजन शेष रह जाता है, द्वित्व नहीं होता । उदाहरणार्थ :

स्थान थान स्तन थन

किंतु यदि समास हो तो व्यंजन फिर से द्वित्व हो जाता है, जैसे :

देवस्थान देवत्थान

संधि में कभी-कभी द्वित्व होता है ।

(ग) जहाँ विलय के पश्चात् 'व्व' बन जाता है वहाँ पालि में 'ब्बा' हो जाता है और शेष प्राकृतों में 'व्व' ही रहता है । 'व' यदि आदि में हो तो उसका 'व' नहीं होता ।

पुष्कर	पोक्खर	पश्चात्	पच्छा
मस्तक	मत्थक	वस्तु	वत्थु

पालि में ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धांत

पालि में ध्वनि-परिवर्तन के नीचे लिखे सिद्धांत हैं :

समस्थानीभाव (Assimilation)

1. **वर्ण-विलय :** विभिन्न स्थानों से उच्चारित दो या अधिक व्यंजन जब एक साथ आ जाते हैं तो उनका उच्चारण कठिन है। उसको सरल बनाने के लिए या तो बीच में स्वर आ जाता है या एक व्यंजन दूसरे व्यंजन का समस्थानी बन जाता है। बीच में स्वर आ जाने को स्वर-भक्ति कहते हैं और व्यंजन के परिवर्तन को विलय। यह विलय दो प्रकार का है :

(क) **पर-विलय** (Progressive assimilation) : जहाँ प्रथम व्यंजन परवर्ती व्यंजन का समस्थायी बन जाता है।

उदाहरण : धर्म=धम्म

(ख) **पूर्व-विलय** (Regressive assimilation) जहाँ पर व्यञ्जन पूर्ववर्ती व्यंजन का समस्थानी बन जाता है।

उदाहरण : प्राप्नोति=पप्पोति

पूर्व-विलय और पर-विलय का आधार

साधारणतया स्वर के बिना व्यंजन का स्पष्ट उच्चारण नहीं होता। इसलिए संयोग में प्रायः अंतिम व्यंजन का उच्चारण स्पष्ट होता है और पूर्ववर्ती व्यंजनों का दबा हुआ। ध्वनि के स्पष्ट उच्चारण को संस्कृत में वर्ण-विस्फोट (Explosion) कहते हैं। जिस व्यंजन का स्वर के कारण स्पष्ट उच्चारण होता है या जहाँ पर स्फोट होता है वह शेष रह जाता है और दूसरे व्यंजन उसके समस्थानी बन जाते हैं। इस नियम के अनुसार प्रायः पूर्ववर्ती व्यंजन का विलय परवर्ती व्यंजन में होता है। किंतु व्यंजनों में सबकी ध्वनि एक-सरीखी नहीं है। कुछ की ध्वनि प्रबल है और कुछ की दुर्बल। इसका क्रम नीचे लिखे अनुसार है :

(क) झय् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अक्षर)

(ख) शर् (श, ष, स)

(ग) ञम् (अनुनासिक ञ, म, ङ, ण, न)

(घ) यण् (क्रमशः य, र, व, ल)

उपर्युक्त व्यंजनों में उत्तरोत्तर समूह दुर्बल है। परिणाम-स्वरूप यदि 'र' झय् या 'शर्' के साथ संयुक्त हो तो वह उनका समस्थानी वन जाएगा, चाहे वह संयोग के आदि में हो, चाहे मध्यम में हो, या अंत में हो। जहाँ दोनों व्यंजन समान वल वाले हों वहाँ साधारण नियम के अनुसार पूर्व का पर में विलय होगा।

हेमचन्द्र ने इसके लिए तीन सूत्र दिए हैं :

(1) 'क ग ट ड त द प श ष स ᳵक ᳵ पामूर्ध्व लुक्।' 8.2.77

अर्थात् संयोग में पूर्ववर्ती क, ग, ट, ड, त, द, प, श, ष, स जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का लोप हो जाता है।

(2) 'अधो मनयाम्।'

अर्थात् यदि संयोग में म, न और य उत्तरवर्ती हों तो उनका भी लोप होता है।

(3) 'सर्वत्र लवरामवन्द्रे।'

अर्थात् 'वन्द्र' शब्द को छोड़कर संयोग में ल, व और र का सर्वत्र लोप हो जाता है।

निष्कर्ष यह कि ल, व और र का सर्वत्र अर्थात् पूर्व और पर दोनों अवस्थाओं में लोप होगा। म, न और य का लोप परावस्था में ही होगा। क, ग आदि का लोप पूर्वावस्था में ही होगा।

विशेष परिवर्तन

उपर्युक्त साधारण नियम के अतिरिक्त समस्थानीभाव में नीचे लिखे परिवर्तन उल्लेखनीय हैं :

(क) यदि संयोग में एक व्यंजन ऊष्म है और दूसरा स्पर्श, तो स्पर्श महाप्राण हो जाएगा। इस नियम के अनुसार वर्ग का प्रथम अक्षर द्वितीय हो जाएगा, तृतीय चतुर्थ हो जाएगा और पंचम के साथ ह लग जाएगा।

(ख) यदि संयोग आदि में है तो समस्थानीभाव न होकर विलय हो जाता है, अर्थात् वहां एक ही व्यंजन शेष रह जाता है, द्वित्व नहीं होता। उदाहरणार्थ :

स्थान थान स्तन थन

किंतु यदि समास हो तो व्यंजन फिर से द्वित्व हो जाता है, जैसे :

देवस्थान देवत्थान

संधि में कभी-कभी द्वित्व होता है।

(ग) जहाँ विलय के पश्चात् 'व्व' बन जाता है वहाँ पालि में 'ब्बा' हो जाता है और शेष प्राकृतों में 'व्व' ही रहता है। 'व' यदि आदि में हो तो उसका 'ब' नहीं होता।

उपर्युक्त व्यंजनों में उत्तरोत्तर समूह दुर्बल है। परिणाम-स्वरूप यदि 'र' अय् या 'शर्' के साथ संयुक्त हो तो वह उनका समस्थानी बन जाएगा, चाहे वह संयोग के आदि में हो, चाहे मध्यम में हो, या अंत में हो। जहाँ दोनों व्यंजन समान बल वाले हों वहाँ साधारण नियम के अनुसार पूर्व का पर में विलय होगा।

हेमचन्द्र ने इसके लिए तीन सूत्र दिए हैं :

(1) 'क ग ट ड त द प श ष स ᳵक ᳵ पामूर्ध्वं लुक्।' 8.2.77

अर्थात् संयोग में पूर्ववर्ती क, ग, ट, ड, त, द, प, श, ष, स जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का लोप हो जाता है।

(2) 'अधो मनयाम्।'

अर्थात् यदि संयोग में म, न और य उत्तरवर्ती हों तो उनका भी लोप होता है।

(3) 'सर्वत्र लवरामवन्द्रे।'

अर्थात् 'वन्द्र' शब्द को छोड़कर संयोग में ल, व और र का सर्वत्र लोप हो जाता है।

निष्कर्ष यह कि ल, व और र का सर्वत्र अर्थात् पूर्व और पर दोनों अवस्थाओं में लोप होगा। म, न और य का लोप परावस्था में ही होगा। क, ग आदि का लोप पूर्वावस्था में ही होगा।

विशेष परिवर्तन

उपर्युक्त साधारण नियम के अतिरिक्त समस्थानीभाव में नीचे लिखे परिवर्तन उल्लेखनीय हैं :

(क) यदि संयोग में एक व्यंजन ऊष्म है और दूसरा स्पर्श, तो स्पर्श महाप्राण हो जाएगा। इस नियम के अनुसार वर्ग का प्रथम अक्षर द्वितीय हो जाएगा, तृतीय चतुर्थ हो जाएगा और पंचम के साथ ह् लग जाएगा।

(ख) यदि संयोग आदि में है तो समस्थानीभाव न होकर विलय हो जाता है, अर्थात् वहाँ एक ही व्यंजन शेष रह जाता है, द्वित्व नहीं होता। उदाहरणार्थ :

स्थान थान स्तन थन

किंतु यदि समास हो तो व्यंजन फिर से द्वित्व हो जाता है, जैसे :

देवस्थान देवत्थान

संधि में कभी-कभी द्वित्व होता है।

(ग) जहाँ विलय के पश्चात् 'व्व' बन जाता है वहाँ पालि में 'ब्ब' हो जाता है और शेष प्राकृतों में 'व्व' ही रहता है। 'व' यदि आदि में हो तो उसका 'ब' नहीं होता।

(घ) दन्त्य या ण के पश्चात् य हो तो उनका तालव्य हो जाता है। इस नियम का आधार है तालव्यीकरण (Palatalization)। य तालव्य है। वह विलीन होता हुआ अपना प्रभाव छोड़ जाता है।

(ङ) 'क्ष' का कभी 'ख' होता है और कभी 'छ'। इसका कारण यह है कि 'क्ष' बहुत से स्थानों पर तालव्य 'श' से भी बनता है, जैसे तादृक्ष, यादृक्ष इत्यादि। ऐसे स्थानों में तालव्य 'श' विलीन होते समय अपना प्रभाव 'क' पर छोड़ जाता है और उसे तालव्य बना देता है। तदनंतर वही महाप्राण होकर 'छ' बन जाता है। जहाँ 'ष' को तालव्य न मानकर मूर्धन्य ही माना है वहाँ 'ख' होता है। इसलिए दोनों रूप मिलते हैं। कई स्थानों पर ऐसा भी हुआ है कि एक ही शब्द के अनेकार्थक होने पर एक अर्थ में 'छ' रूढ़ हो गया है और दूसरे अर्थ में 'ख'। उदाहरण—छमा (क्षमा—पृथ्वी) खमा, (क्षमा—दंड से मुक्ति)।

□

पालि-व्याकरण

पालि-व्याकरण

प्रथम खण्ड : वर्णविज्ञान

1. ध्वनि-व्यवस्था

§ 1. पालि भाषा को लिखने के लिए पूर्वी देशों में विभिन्न लिपियाँ प्रचलित हैं, जैसे श्रीलंका में सिंहली, बर्मा में बर्मी, स्याम में कम्बोज। तिपिटक का बैंकाक संस्करण स्यामी वर्णमाला में मुद्रित है।

§ 2. पालि में ध्वनि-व्यवस्था नीचे लिखे अनुसार है :

(क) स्वर : अ आ इ ई उ ऊ ए ओ तथा सानुनासिक स्वर—अँ इँ उँ।

(ख) व्यंजन :

कण्ठ्य	क ख ग घ ङ
तालव्य	च छ ज झ ञ
मूर्धन्य	ट ठ ड ढ ण
दन्त्य	त थ द ध न
ओष्ठ्य	प फ ब भ म
द्रुत	र ल ळ ळ्ह
अर्धस्वर	य व
ऊष्म	स (Sibilant)
महाप्राण	ह (Aspiration)

ज्ञातव्य है कि (1) संस्कृत में ए और ओ दीर्घ ही होते हैं किंतु पालि में वे ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार के होते हैं। संयुक्त व्यंजन से पहले वे ह्रस्व होते है और असंयुक्त से पहले दीर्घ।

(2) संस्कृत के अनुस्वार और अनुनासिक को प्रकट करने के लिए पालि में जो चिह्न आता है उसे 'निग्गहीत' कहते हैं। लंका में निग्गहीत का उच्चारण ङ् (कण्ठ्य

अनुनासिक) के समान होता है।

(3) 'ळ' ड का द्रुत है और 'ळ्ह' ढ का। वैदिक भाषा में इनका प्रयोग होता था किंतु संस्कृत में लुप्त हो गया। पालि, प्राकृत तथा मराठी आदि आधुनिक बोलियों में इसका प्रयोग अब भी विद्यमान है। जहाँ ड, ढ बिगड़ कर क्रमशः ळ, ळ्ह बने हैं वहाँ उनका उच्चारण स्वाभाविक है, किंतु किसी-किसी जगह ल और ळ का प्रयोग वक्ता की अपनी इच्छानुसार भी होता है। उदाहरण-स्वरूप 'काल' शब्द यदि काले रंग का वाचक है तो 'ल' वर्ण 'ळ' उच्चरित होता है, और यदि समय का वाचक है तो 'ल' उच्चरित होता है।

(4) 'ह्' जब अकेला है तो व्यंजन है, किंतु जब यह य् र् ल् व् या अनुनासिकों के साथ होता है तो इसका उच्चारण बदल जाता है। वैयाकरण इस उच्चारण को हार्द (*Orasa* : Spoken in the breast) कहते हैं।

§ 3. जहाँ तक ध्वनि-व्यवस्था का संबंध है पालि प्राकृत से मिलती है। (1) प्राकृत में भी ऋ, लृ, ऐ और औ नहीं होते। 'ऋ' का उच्चारण भी अपभ्रंश को छोड़कर किसी प्राकृत में नहीं पाया जाता। (2) प्राकृत में भी पालि के समान ळ और ह्रस्व ए, ओ विद्यमान हैं। (3) पालि के सामान अधिकतर प्राकृतों में दन्त्य 'स' ही पाया जाता है। (4) मूर्धन्य 'ष्' कहीं नहीं है। तालव्य 'श' मागधी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है।

(क) 'ए' और 'ओ' को सन्ध्यक्षर माना गया है क्योंकि संस्कृत में अ+इ= ए, और अ+उ=ओ बनता है। उदा० मच्छस्सेवोदके गतम् (मत्स्यस्येवोदके गतम् : पानी में मत्स्य की गति के समान)। (ख) ए और ओ का—ऐ और औ के स्थान में—वृद्धि-स्वर के रूप में भी प्रयोग होता रहा है। इसलिए पालि 'तेपिटक' (सं० त्रैपिटक, त्रिपिटक को मानने वाला) आदि रूप भी मिलते हैं। इसी प्रकार 'उपाधि' से ओपधिक (सं० औपधिक)। (ग) 'ए' और 'ओ' का प्रयोग वहाँ भी मिलता है जहाँ मूल में 'इ' या 'उ' नहीं थे। उदा० गिलान (सं० ग्लान) से गेलञ्ञ, पुथुज्जन (सं० पृथक्-जन) से पोथुज्जनिक, सुसान (सं० श्मशान) से सोसानिक (श्मशान-संबंधी), सुवत्थि (सं० स्वस्ति) से सोवात्थिक। उपर्युक्त उदाहरणों में स्वर-भक्ति के रूप में आए हुए 'इ' और 'उ' प्रवल होकर ए और ओ बन गए।

अन्य उदाहरण—

वेयावच्च (सेवा करना)—सं० व्यापृत
वेय्याकरण (स्पष्टीकरण)=वियाकरोति—सं० व्याकरोति

इस प्रकार 'अ' प्रबल होकर 'आ' हो जाता है। उदाहरण :

साखल्य, साखल्ल (मित्रता) 'सखिल' से
भाकुटिक 'भकुटि', सं० भ्रकुटि या भृकुटि से

§ 4. पालि में प्राचीन स्वरपद्धति दृष्टिगोचर नहीं होती। प्राकृत के समान इसमें भी संस्कृत की स्वर-व्यवस्था ही दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के रूप में उदात्त के पश्चात् स्वर दुर्बल हो जाता है और उदात्त से पहले प्रबल हो जाता है।

2. मात्रा-नियम

§ 5. पालि एवं प्राकृत में मात्रा की रक्षा के लिए दीर्घ का ह्रस्व तथा ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है। अक्षरों के उच्चारण-काल का परिमाण मात्रा द्वारा किया जाता है। ह्रस्व की एक मात्रा होती है और दीर्घ की दो मात्राएं। यदि ह्रस्व के पश्चात् संयोग या अनुस्वार हो तो उसकी दो मात्राएं हो जाती हैं। दीर्घ के पश्चात् संयोग और अनुस्वार नहीं आते। परिणाम-स्वरूप (क) जहाँ दीर्घ के पश्चात् अनुस्वार है वहाँ दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है।[1] (ख) जहाँ दीर्घ के पश्चात् संयोग है वहाँ भी सामान्य रूप से दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है।[2] (ग) जहां ह्रस्व के पश्चात् संयोग है वहाँ या तो ह्रस्व ज्यों का त्यों रहता है अथवा ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है और संयोग के स्थान में एक ही व्यंजन रह जाता है, जैसे :

(क) दीर्घ स्वर के पश्चात् यदि अनुस्वार हो तो दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
मांसं	मंसं	पांसनः	पंसणो
पांसु	पंसु	पाण्डवः	पंडवो
कांस्यं	कंसं		

(ख) दीर्घ स्वर के पश्चात् यदि संयोग हो तो दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
जीर्ण	जिण्णं	चूर्णः	चुण्णो
तीर्थ	तित्थं		

यदि मूलतः दीर्घ स्वर के पश्चात् एक व्यंजन हो और पालि में वह एक व्यंजन संयुक्त व्यंजन बन गया हो तो वहाँ दीर्घ स्वर भी ह्रस्व हो जाता है। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उदूखल	उदुक्खल (अ०मा० उदुक्खल अथवा उदूखल)	कूबर, कूपर	कुब्बर
		पैतृक	पेट्टिक
		मातृक	मोट्टिक (मिथ्या-सादृश्य के कारण)
महाबल	महब्बल		
महाफल	महप्फल		

1. मांसादिष्वनुस्वारे (हे० प्रा० व्या० 8.1.70)
2. ह्रस्वः संयोगे (हे० प्रा० व्या० 8.1.84)

(3) सानुस्वार ह्रस्व की दो मात्राएँ होती हैं। इसलिए अनुस्वार-रहित दीर्घ के स्थान में सानुस्वार ह्रस्व, और सानुस्वार ह्रस्व के स्थान में निरनुस्वार दीर्घ प्रायः दिखाई देते हैं। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
मत्कुण	मंकुण	शर्वरी	संवरी
शुल्क	सुंक	घृषति	घंसति
विदांसयन्ति	विदंसेन्ति		

(4) 'ए' और 'ओ' में दोनों प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं, अर्थात् कहीं संयोग है तो ए, ओ ह्रस्व हैं, कहीं संयोग नहीं है तो ए, ओ दीर्घ हैं। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उपेक्षा	उपेॅक्खा, उपेखा	अपेक्षा	अपेॅक्खा, अपेखा
विमोक्ष	विमोॅक्ख, विमोख		

§ 6. मात्रानियम के कारण पालि में कई परिवर्तन देखे जाते हैं :

संस्कृत में जहाँ संयोग से पहले ह्रस्व है वहाँ पालि में एक व्यंजन और दीर्घ देखा जाता है। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सर्षप	सासंप	वल्क	वाक
निर्याति	नीयाति		

संस्कृत में जहाँ एक व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर है वहाँ पालि में संयोग और ह्रस्व देखे जाते हैं। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आवृहति	अव्बहति	नीड	निड्ड
विंशति	वीसति	(अ०मा०) नेॅड्ड	
सिंह	सीह	संरम्भ	सारम्भ (अहंकार)

टिप्पणी : पालि में सानुस्वार उच्चारण की पद्धति बाहुल्य से पाई जाती है। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
नगर	नंगर	उडुप	उलुम्प

§ 7. कभी-कभी संयोग से पहले ह्रस्व स्वर को दीर्घ होता है, और कभी दीर्घ स्वर दीर्घ ही रहता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
दर्वी	दावी	दात्र	दात्त
स्वाख्यात	स्वाक्खात		

संधि-स्थलों में प्रायः दीर्घ स्वर रहता है :

सं० सार्या साज्ञा (सा + आज्ञा)
सं० यथा + अध्याशयेन यथाज्झासयेन (यथा + अज्झासयेन)

§ 8. मात्रानियम के प्रभाव के कारण ही जहाँ दो व्यंजनों को स्वरभक्ति के द्वारा पृथक् कर दिया जाता है वहाँ भी पूर्ववर्ती दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है। ऐसे उदाहरणों में दो एकमात्रिक वर्ण दीर्घ का प्रतिनिधित्व करते हैं :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सूर्य (रवि)	सुरिय	शौर्य (वीरता)	सूरिय
प्रकीर्य (फैलाकर)	पकिरिय	चैत्य	चेतिय
मौर्य	मोरिय		

(उपर्युक्त उदाहरणों में ए और ओ ह्रस्व हैं)

स्वरभक्ति का प्रभाव पश्चाद्वर्ती स्वर पर नहीं पड़ता :

सं० ग्लान पा० गिलान

किंतु उपर्युक्त नियम एक वर्ण वाले शब्दों में ही आधिक्य से लागू होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्त्री	इत्थी	श्री	सिरी
ह्री	हिरी		

समास होने पर इन शब्दों में अंतिम स्वर ह्रस्व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्त्रीरत्न	इत्थिरतन	ह्रीमना	हिरिमन
श्रीमान्	सिरिमन्त	ह्रीमान्	हिरिमन्त
सश्रीक	सस्सिरिक	अह्रीक	अहिरिक

3. अ, इ तथा उ के परिवर्तन

§ 9. कई बार संयोग से पूर्व 'अ' के स्थान में 'ए' आता है :

सं० फल्गु पा० फेग्गु सं० शय्या पा० सेय्या

§ 10. प्रत्यय-संबंधी इ और उ को दीर्घ हो जाता है : ईहि, ऊहि, ईसु, ऊसु बहुत बार संयोग से पहले इ और उ का ह्रस्व ए और ओ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
विष्णु	वेण्हु	उष्ट्र	ओट्ठ
निष्क	नेक्ख	व्युत्क्रमति	वोक्कमति
कूर्च	कोच्छ	उल्कामुख	ओक्कामुख

(3) सानुस्वार ह्रस्व की दो मात्राएँ होती हैं। इसलिए अनुस्वार-रहित दीर्घ के स्थान में सानुस्वार ह्रस्व, और सानुस्वार ह्रस्व के स्थान में निरनुस्वार दीर्घ प्रायः दिखाई देते हैं। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
मत्कुण	मंकुण	शर्वरी	संवरी
शुल्क	सुंक	घृषति	घंसति
विदासयन्ति	विदासेन्ति		

(4) 'ए' और 'ओ' में दोनों प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं, अर्थात् कहीं संयोग है तो ए, ओ ह्रस्व हैं, कहीं संयोग नहीं है तो ए, ओ दीर्घ हैं। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उपेक्षा	उपॆक्खा, उपेखा	अपेक्षा	अपॆक्खा, अपेखा
विमोक्ष	विमॊक्ख, विमोख		

§ 6. मात्रानियम के कारण पालि में कई परिवर्तन देखे जाते हैं :

संस्कृत में जहाँ संयोग से पहले ह्रस्व है वहाँ पालि में एक व्यंजन और दीर्घ देखा जाता है। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सर्षप	सासप	वल्क	वाक
निर्याति	नीयाति		

संस्कृत में जहाँ एक व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर है वहाँ पालि में संयोग और ह्रस्व देखे जाते हैं। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आवृहति	अब्बहति	नीड	निड्ड
विंशति	वीसति	(अ०मा०) नॆड्ड	
सिंह	सीह	संरम्भ	सारम्भ (अहंकार)

टिप्पणी : पालि में सानुस्वार उच्चारण की पद्धति बाहुल्य से पाई जाती है। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
नगर	नंगर	उडुप	उलुम्प

§ 7. कभी-कभी संयोग से पहले ह्रस्व स्वर को दीर्घ होता है, और कभी दीर्घ स्वर दीर्घ ही रहता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
दर्वी	दावी	दात्र	दात्त
स्वाख्यात	स्वाक्खात		

संधि-स्थलों में प्रायः दीर्घ स्वर रहता है :

सं० सार्या साज्जा (सा + आज्जा)
सं० यथा + अध्याशयेन यथाज्झासयेन (यथा + अज्झासयेन)

§ 8. मात्रानियम के प्रभाव के कारण ही जहां दो व्यंजनों को स्वरभक्ति के द्वारा पृथक् कर दिया जाता है वहां भी पूर्ववर्ती दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है। ऐसे उदाहरणों में दो एकमात्रिक वर्ण दीर्घ का प्रतिनिधित्व करते हैं :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सूर्य (रवि)	सुरिय	शौर्य (वीरता)	सूरिय
प्रकीर्य (फैलाकर)	पकिरिय	चैत्य	चेतिय
मौर्य	मोरिय		

(उपर्युक्त उदाहरणों में ए और ओ ह्रस्व हैं)

स्वरभक्ति का प्रभाव पश्चाद्वर्ती स्वर पर नहीं पड़ता :

सं० ग्लान पा० गिलान

किंतु उपर्युक्त नियम एक वर्ण वाले शब्दों में ही आधिक्य से लागू होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्त्री	इत्थी	श्री	सिरी
ह्री	हिरी		

समास होने पर इन शब्दों में अंतिम स्वर ह्रस्व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्त्रीरत्न	इत्थिरतन	ह्रीमना	हिरिमन
श्रीमान्	सिरिमन्त	ह्रीमान्	हिरिमन्त
सश्रीक	सस्सिरिक	अह्रीक	अहिरिक

3. अ, इ तथा उ के परिवर्तन

§ 9. कई बार संयोग से पूर्व 'अ' के स्थान में 'ए' आता है :

सं० फल्गु पा० फेग्गु सं० शय्या पा० सेय्या

§ 10. प्रत्यय-संबंधी इ और उ को दीर्घ हो जाता है : ईहि, ऊहि, ईसु, ऊसु
बहुत बार संयोग से पहले इ और उ का ह्रस्व ए और ओ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
विष्णु	वेण्हु	उष्ट्र	ओट्ठ
निष्क	नेक्ख	व्युत्क्रमति	वोक्कमति
कूर्च	कोच्छ	उल्कामुख	ओक्कामुख

नीचे लिखे शब्दों में 'इय्य' का 'एय्य' हो गया है :

सं० रामयीय पा० रामणेय्य सं० दक्षिणीय पादक्खिणेय्य

जहाँ 'आ' के स्थान में 'इ' होता है वहाँ भी उपर्युक्त परिवर्तन देखा जाता है :

सं० घृप्यति पा० घेप्पति प्रा० घेप्पइ

जहाँ एँ, ओँ के बाद संयोग है, बहुत बार मात्रा-नियम के अनुसार संयोग के स्थान पर एक व्यंजन रह जाता है और 'एँ' और 'ओँ' दीर्घ हो जाते हैं :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उरुविल्ला *उरुवेल्ला[1]	ऊरुवेला	ऊर्जः *उज्जा	ओजा
विहिंसति	विहेसति	परिगृद्धिन्	पलिगेधिन्

§ 11. जहाँ संयोग हटने के कारण पूर्ववर्ती एँ और ओँ दीर्घ हो गए हैं वहाँ संयोग और ह्रस्व एँ, ओँ वाले रूप की कल्पना करनी होगी :

इति	इद्दि	एदि		
ईदृश	इद्दिस	एदिस	या	एरिस
ईदृशक	इद्दिसक	एदिसक		ऐरिसक
ईदृक्ष	इद्दिक्ख	एदिक्ख	या	एरिक्ख
*आबेडा	*आवेड्॑डा	*आविड्डा		
सं० आपीड	पा० आवेळा			
गडूची	गळोँच्चि	गळोचि		
सं० जम्बूनद	*जम्बोँनद	*जम्बुनद	पा० जम्बोनद	

4. ऋ और लृ के परिवर्तन

§ 12. पालि में ऋ के स्थान में अ, इ, या उ पाया जाता है। यह परिवर्तन अधिकतर पास वाले व्यंजन पर निर्भर है। ओष्ठ्य के पश्चात् अधिकतर ऋ का उ होता है।

(क) ऋ का अ

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
ऋक्ष	अच्छ	वृक	वक
पृषत	पसद	हृदय	हदय

1. '*' संकेत से अभिप्रेत है वैदिक भाषा से भी पूर्ववर्ती किसी भाषा का कल्पित रूप। प्रायः यह चिह्न भारोपीय भाषा के शब्द-रूपों के लिए प्रयुक्त होता है।

(ख) ऋ का इ

ऋण	इण	सृपाटिका	सिपाटिका
वृश्चिक	विच्छिक		

(ग) ऋ का उ

ऋजु	उजु या उज्जु	वृषभ	उसभ
पृच्छति	पुच्छति	मृणाल	मुळाल
पावुस	प्रावृष		

उपर्युक्त परिवर्तन ऐकांतिक नहीं हैं। प्रांतीय बोलियों के अनुसार दूसरे रूप भी देखे जाते हैं :

ऋक्ष	इक्ख	कृष्ण	कण्ह, किण्ह
वृद्धि	वुद्धि	स ऋण	साण (स+अण) सयिण या सइण
मृग	मग (पशु) मिग (हरिण)	पृथ्वी	पठवी, पुथवी, पुथुवी पुठुवी
अनण	अनृण		

ऐसे उदाहरणों में प्रांतीयता का विचार आवश्यक है। उदाहरण के रूप में बर्मा के पाठों में पथवी मिलता है। इसी प्रकार—पितृघातक, से पितुघातक (विनयपिटक 1.88), मातृघातक से मातुघातक (वि० पि०), किंतु क्रमशः पितिपक्खतो, मातिपक्खतो रूप भी मिलते हैं।

§ 13. कभी-कभी 'ऋ' का र भी हो जाता है।

बृहन्त्	ब्रहन्त्	वृक्ष	रुक्ख (वृ का रु)
बृंहयति अथवा वृंहयति	ब्रूहेति	प्रावृत	पारुत
		अपावृत	अपारुत (वृ का रु)

§ 14. 'लृ' के स्थान में 'उ' पाया जाता है। उदाहरण :

क्लृप्त (जुड़ा हुआ)	कुत्त	क्लृप्ति (व्यवहार)	कुत्ति
क्लृप्तक (ऊनी शाल)	कुत्तक	स्त्री-क्लृप्त (स्त्री-व्यवहार)	इत्थिकुत्त
क्लृप्त (व्यवहार)	कुत्त	पुरुष-क्लृप्त (पुरुष-व्यवहार)	पुरिसकुत्त

5. संध्यक्षर

§ 15. साधारणतया 'ए' और 'ओ' में कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐ और औ का 'ए' और 'ओ' हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
ऐरावण	एरावण	औरस	ओरस
मैत्री	मेत्ति	पौर	पोर
वै	वे	रात्री	रत्तो

प्राय: संयोग से पहले ए और ओ को ह्रस्व इ और उ हो जाता है। जहाँ संयोग या द्वित्व मूल में नहीं है और परिवर्तन के रूप में आया है वहाँ भी ह्रस्व होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
प्रतिवेश्यक	पटिवेस्सक	द्वयोः	द्विन्नम्[1]
प्रसेवक	पसिव्वक	उभयोः	उभिन्नम्[2]
उद्वेल्ल	उब्बिल्ल		

निम्नोक्त शब्दों में मूल ऐ को 'ए' हो गया और ए को ह्रस्व 'इ' हो गया :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
ऐश्वर्य	इस्सरिय	सैन्धव	सिन्धव

निम्नोक्त शब्दों में मूल 'ओ' को 'उ' हो गया है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अकोप्य	अकुप्प	श्रोष्यामि	सुस्सं
असंकोप्य	असंकुप्प	गोनाम् (गवाम्)	गुन्नं
तोत्र	तुत्त		

निम्नोक्त शब्दों में मूल 'औ' को 'ओ' हो गया और 'ओ' को 'उ' हो गया :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
औत्सुक्य	उस्सुक्क	अश्रोष्य	अस्सुम्ह
क्षौद्र	खुद्द	अवश्याय[3]	उस्साव
रौद्र	लुद्द		

1, 2. प्राकृत में मिथ्या-सादृश्य के आधार पर द्व और उभे शब्द बन गए हैं। उनसे षष्ठी बहुवचन में 'नाम्' प्रत्यय लगकर 'आ' का ह्रस्व हो गया है।

3. 'अवश्याय' शब्द में 'अव' को 'ओ', और फिर 'ओ' को 'उ' हो गया।

6. निकटवर्ती स्वर एवं व्यंजन का स्वरों पर प्रभाव

§ 16. स्वरों पर निकटवर्ती स्वरों का भी प्रभाव पड़ता है। यहीं से पालि में स्वर-विलय प्रारंभ होता है :

(क) उ से पहले निकटवर्ती 'इ' का उ हो जाता है :

संस्कृत	पालि
इषु	उसु, अ० मा० इषु
इक्षु	उच्छु, अ० मा० उच्छु और इक्खु
किष्कु	कुक्कु (लम्बाई का एक नाप)
शिशु	सुसु
शिशुमार	सुंसुमार (यहाँ 'उ' सानुस्वर हो गया)
किक्नस	कुक्कुस (*किक्कस, * किक्कुस)
निष्टुभति	नुट्ठुभति

(ख) उ से पहले निकटवर्ती अ का भी उ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
समुद्र	सुमुग्ग, सुमुग्गु	असूया	उसूया, उसुय्या

(ग) इ से पहले निकटवर्ती अ का इ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सरीसृप	सिरिसप	तमिस्रा	तिमिस्सा

(घ) निकटवर्ती अ से पहले उ का 'अ' हो जाता है :

सं० कूर्पर पा० कप्पर

§ 17. पूर्ववर्ती स्वर का प्रभाव दूसरे कई रूपों में भी दिखाई देता है :

(क) उ के बाद आने वाले अ का उ हो जाता है :

उदङ्क	उलुंक	पुक्कश	पुक्कुस
कुरङ्ग	कुरुंग	पृथग्जन	पुथुज्जन

(ख) अ के बाद आने वाले 'इ' का अ हो जाता है :

अलिञ्जर	अरंजर	पुष्करिणी	पोक्खरणी
काकिणिका	काकणिका	सखिल	साखल्ल, साखिल्य

(ग) अ के बाद आने वाले 'उ' का अ हो जाता है :

आयुष्मन्त्	आयस्मन्त्	शष्कुली	सक्खली
मस्तुलुंग	मत्थलुंग		

(घ) इ के बाद आने वाले 'अ' को 'इ' हो जाता है :

शृङ्गवेर	सिंगिवेर	निषण्ण	निसिन्न ।

§ 18. व्यंजनों का स्वरों पर प्रभाव नीचे लिखे अनुसार दृष्टिगोचर होता है :

(क) ओष्ठ्य व्यंजनों के समीप प्राय: 'उ' दिखाई देता है । उदाहरणार्थ : मस्ज् धातु से पहले नि या उद् उपसर्ग होने पर नीचे लिखे रूप बनते हैं :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
निमज्जति	निमुज्जति	उन्मज्जति	उम्मुज्जति
निमज्जा	निमुज्जा	उन्मज्जा	उम्मुज्जा
निमग्ना	निमुग्गा	उन्मग्ना	उम्मुग्गा

इसी प्रकार—

संमार्जनी	समुज्जनी	मति	मुति
मार्जनी	मुंजनी	मतिमान्	मुतिमा

मुत आदि का प्रयोग बोलचाल में प्रादेशिक रूप से होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि पालि में 'मु' स्वतंत्र धातु है । उससे मोतब्ब, मोतर् आदि रूप बनते हैं । उपर्युक्त शब्दों में म की सन्निधि के कारण अ को उ हो गया ।

(ख) तालव्य व्यंजनों के समीप प्राय: 'इ' दिखाई देता है । उदा० सं० 'मज्जा' पा० 'मिंजा' (अ ओ इ) । इसी प्रकार सं० जुगुप्सति, पा० 'जिगुच्छति' में भी इ हो गया है । यहाँ इसका अर्थ है छिपाना । घृणा अर्थ में सं० जुगुप्सते, पा० जिगुच्छा इत्यादि प्रयोग होते हैं । इसी प्रकार सं० भूयस्, पा० भिय्यो में 'ऊ' का 'इ' हो गया है । सं० शय्या पा०, 'सेय्या में भी 'अ' का इ, और फिर 'इ' के स्थान में 'ए' हो गया ।

7. उच्चारण पर निघात का प्रभाव

§ 19. निघात (अनुदात्त)[1] अर्थात् स्वर का दमन या अभाव । उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरों का भी उच्चारण पर पर्याप्त प्रभाव है । तीन या चार अक्षरों वाले शब्दों में संस्कृत के नियमानुसार प्रथम स्वर उदात्त होता हैं और द्वितीय अनुदात्त । परिणामस्वरूप द्वितीय स्वर क्षीण हो जाता है । पालि में :

(1) (क) उदात्त स्वर के पश्चात् अनुदात्त 'अ' क्षीण होकर 'इ' हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
चन्द्रमस्	चंद्रिमा	मध्यम	मज्झिम
चरम	चरिम	सत्यक	सच्चिक
परम	परिम	पुत्रकम्	पुत्तिमा

1. संस्कृत और पालि (दे० पृष्ठ 57) में निघात शब्द के अर्थ में अन्तर है ।

परम	परिम	सत्यक	सच्चिक
पुत्रवान्	पुत्तिमा	अहङ्कार	अहिंकार, अहंकार
मध्यम	मज्झिम	ममकार	ममिकार, ममंकार

(ख) भविष्यत्काल के प्रयोगों में भी यही नियम लागू होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
द्रक्ष्यसि	दक्खिसि, दक्खसि	एष्यसि	एहिसि, एहसि
कर्ष्यसि	काहिसि, काहसि		

(2) (क) उदात्त स्वर के पश्चात् अनुदात्त 'अ' यदि ओष्ठ्य व्यंजन के बाद है तो 'उ' हो जाता है :

नवति	नवुति	सम्मति	सम्मुति, सम्मति
प्रावरण	पापुरण, अ० मा० पाउरण		

प्रत्ययों में भी 'अ' का 'उ' हो जाता है :

ब्रह्मणा	ब्रह्मुणा	कर्मणः	कम्मुणो अ० मा०
ब्रह्मणः	ब्रह्मुणो	अध्वना	अद्धुना
कर्मणा	कम्मुणा अ० मा०	अध्वनः	अद्धुनो

(ख) कहीं-कहीं ओष्ठ्य के बिना भी 'उ' दृष्टिगोचर होता है :

अर्जक	अज्जुका (वृक्ष-विशेष)	प्रेङ्खण	पेक्खुण
किक्नस	कुक्कुस	सर्जरस	सज्जुलस (लाक्षा आदि पदार्थ)

(ग) उदात्त स्वर के पश्चात् कभी 'इ' का 'उ' हो जाता है और कभी 'उ' का 'इ' हो जाता है :

राजिल	राजुल	मृदुता	मुदिता
गैरिक	गेरुक, गेरुय, महा० गेरिया	शृणुष्व	सुणीसा
प्रसित	पसुत		

§ 20. (क) अनुदात्त स्वर—विशेष रूप से उदात्त के पश्चाद्वर्ती—लुप्त हो जाते हैं :

सं० जागर्ति पा० जग्गति

यहाँ 'ग' का उत्तरवर्ती 'अ' लुप्त हो गया। इसके पश्चात् 'र' का लोप हो गया।

सं० उदक पा० ओक

(क्रम : उद्क, उत्क, उक्क, ओक)

सं० आगार, पा० अग्ग (घर) (क्रम : आग्र, अग्ग)।

इसी प्रकार उपोसथग्ग, खुरग्ग, भत्तग्ग इत्यादि में 'अग्ग' सं० आगार से विकसित है।

(ख) इस प्रकार का स्वरलोप तिङन्त प्रत्ययों में भी दृष्टिगोचर होता है :

सं० महे	पा० म्हे

(ग) कुछ अनुकरणात्मक शब्दों में भी स्वरलोप दृष्टिगोचर होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
चिच्चिटायति	चिटिचिटायति	बभ्भर	भरभर
सरसर	सस्सर		

(घ) इसी प्रकार 'खलु' का 'खो' हो गया है :

(क्रम : खलु, क्खु, खु, खो)।

§ 21. (क) उदात्त का पूर्ववर्ती स्वर भी प्रायः दुर्बल हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कार्षापण	कहायण,	न्यग्रोध	निग्रोध
(एक सिक्का)	प्रा० कहावण	श्मशान	सुसान
		(क्रम : श्वसान, सुसान)	

(ख) य, व को संप्रसारण हो जाने की स्थिति में क्रमशः इ, उ दुर्बल हो जाते हैं और उनका लोप हो जाता है। उदा०—सं० द्विपद, पा० दिपद। सं० द्विभूमिक, पा० दिभूमिको। इन शब्दों में 'द्वि' में 'व' को उ होने पर 'दुइ' बन जाने पर दुर्बल 'उ' का लोप हो गया।

किंतु संप्रसारण की स्थिति में यदि पहला स्वर उदात्त हो तो दूसरे स्वर का लोप हो जाता है। जैसे—सं० द्विजिह्व, पा० दुजिह्व में द्वि का 'दुइ' बन जाने पर 'इ' का लोप हो गया न कि उ (सम्प्रसारण) का।

स्थापयति	थापेति	मीनाति	मिनाति
क्रीयाति	कियति	लूनाति	लुनाति

§ 21. अंतिम दीर्घ स्वर यदि अनुदात्त हो तो उसका भी ह्रस्व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
असौ	असु	कृत्वस्[1]+अदस्[2]	खट्टुं

1. कृत्वस् (अव्यय) : संख्यावाचक शब्दों के साथ जोड़ा जाने वाला प्रत्यय, जो कि 'गुणा' अथवा 'तह' को प्रकट करता है। उदाहरण—अष्टकृत्वः (आठगुणा अथवा आठ तह का)।

2. सं० 'कृत्वस्+अदस्' > *'खट्टो+अदो (अदुम्)=पा० खट्टुं।

उताहो	उदाहु	सार्द्धम्	सद्धिम्
सद्यस् (प्रा० सज्जो)	सज्जु	*साक्षम्	सक्खिम्, सच्चि
कस्य हेतोः	किस्स हेतु	*शनम् (शनैः)	सणिम्

(छ) पूर्ववर्ती उ के कारण पश्चाद्वर्ती स्वर भी 'उ' हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
पृथक्	पुथु	किंस्विद्	सु (किंसु = सं० किंस्विद्), अथवा स्सु (केनस्सु = सं० केनस्विद्)

§ 23. (क) अनेक अक्षरों वाले शब्द में द्वितीय स्वर यदि दीर्घ हो तो उसका ह्रस्व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अलीक	अलिक	वल्मीक	वम्मिक, वम्मीक
गृहीत	गहित	शालूक	सालुक
प्रज्ञावन्त्	पञ्ञवन्त	द्वितीय	दुतिय
पानीय	पानिय	तृतीय	ततिय

(ख) जहाँ द्वितीय स्वर पहले ही ह्रस्व है वह यदि उदात्त हो तो स्वर का परिवर्तन हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
पर्जन्य	पज्जुन्न	मैरेय	मेरय
मृदङ्ग	मुतिंग		

§ 24. (क) प्रथम ह्रस्व स्वर, यदि उदात्त हो तो दीर्घ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अजिर	आजिर	अरोग	आरोग
अलिन्द	आलिन्द	प्रतिभोग	पातिभोग
अनुभाव	आनुभाव	प्रत्येक	पाटियेक्क, पच्चेक

(ख) कहीं-कहीं स्वर को दीर्घ नहीं होता, किंतु परवर्ती व्यञ्जन द्वित्व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उमापुष्प	उम्मापुप्फ	कुशुंभ	कुसुम्भ
कुमार्ग	कुम्मग्ग	मुखर	मुक्खर
कुनदी	कुन्नदी		

8. सम्प्रसारण

§ 25. (क) संप्रसारण के कारण 'य' का 'इ' हो जाता है, चाहे वह उदात्त हो :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्त्यान	थीन	व्यति	वीति
द्व्यह	द्वीह	व्यतिवृत्त	वीतिवत्त
त्र्यह	तीह	न्यङ्कु	निक
विश्यापयति	विसीवेति		

(ख) कई स्थानों में इ के स्थान पर ए आता है :

सं० प्रव्यथते पा० पवेधति

(ग) कई जगह 'य' का संप्रसारण नहीं होता :

सं० व्यसन पा० व्यसन सं० व्याध पा० व्याध

(घ) य का पूर्ववर्ती व्यंजन में विलय भी हो जाता है :

सं० त्यजति पा० चजति सं० मध्यान्तिक पा० मज्झंतिक

(ङ) व का सम्प्रसारण 'उ' हो जाता है : सं० श्वन्, पा० सून।

(च) संयुक्त व्यंजन से पहले उ का ओ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्वस्ति	सोत्थि	श्वभ्र	सोब्भ
स्वप्न	सोप्प, सुपिन	कुश्वभ्र	कुस्सुब्भ
क्व	को		

(क्वं, कुवं, क्वचि ये रूप भी मिलते हैं)।

(छ) असंयुक्त व्यंजन से पहले भी ऊ के स्थान पर ओ आता है :

सं० श्वपाक पा० सोपाक सं० श्वन् पा० सोण

(ज) कहीं व का पूर्ववर्ती व्यंजन में विलय हो जाता है :

अश्वत्थ	अस्सत्थ	द्वेषणीय	दोसनिय
द्वेष	दोस		

§ 26. सम्प्रसारण में अय का ए, और अव का ओ हो जाता है :

सं० जयति पा० जेति सं० अध्ययन पा० अज्झेन

उपर्युक्त नियम ण्यन्त धातुओं में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
मोचयति	मोचेति	त्रयोदश	तेरस
कथयति	कथेति	त्रयोविंशति	तेवीस

कुछ शब्दों में 'अय' का परिवर्तन नहीं होता।

सं० नयन पा० नयन सं० शयन पा० सयन

किंतु 'सेनासन' (शयनासन) में ए हो गया।

अव का ओ

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अवधि	ओधि	लवण	लोण
अवम	ओम	भवति	होति
प्रवण	पोण		

अव उपसर्ग का भी 'ओ' हो जाता है :

अवरोध ओरोध व्यवसित (वि+अव) वोसित

कहीं-कहीं 'अव' में परिवर्तन नहीं होता :

लवन (फ़सल काटना) लवन श्रवण सवन

किंतु नमक अर्थ में 'लोण' हो जाता है।

§ 27. सम्प्रसारण के अन्य रूप :

(क) अय का आ

प्रतिसंलयन	पतिसाल्लान	उपस्थापक	उपट्ठाक, कच्चायन (स्त्री. उपट्ठायिका)
स्वस्त्ययन	सोत्थान	कात्यायन	कच्चान
वैहायस	वेहास	मौद्गल्यायन	मोग्गलान

शब्द के अंत में 'आय' हो तो प्रायः उसका आ हो जाता है :

स्वयम् अभिज्ञाय	सयं अभिञ्ञा	एषणाय	एसना (खोज)
अप्रतिपृच्छ्य	अपटिपुच्छा.	क्षमायाम्,	क्षमाय, क्षमा, छमा

यदि 'आय' प्रथम वर्ण के साथ हो तो उसमें परिवर्तन नहीं होता :

वायस वायस जायते जायति

(ख) आव का ओ

अतिधावन अतिधोन (चारिन्) (मर्यादा का उल्लंघन करने वाला),

किंतु प्रथम वर्ण के साथ लगा हुआ 'आव' परिवर्तित नहीं होता :

पावक पावक श्रावक सावक

(ग) अवा का आ

यवागू यागू

नीचे लिखे शब्दों में 'अवा' परिवर्तित नहीं होता :

कपाट	कवाट	प्रवाल	पवाल

इसी प्रकार 'दयालु' आदि शब्दों में 'अया' परिवर्तित नहीं होता।

अयि और अवि का ए

आश्चर्य	अच्छेर (अच्छरिय)	स्थविर	थेर
आचार्य	आचेर (आचरिय)	भविष्यति	हेस्सति
मात्सर्य	मच्छेर		

*अत्यायिक (चीवर) अच्चेक
(विशेष अवसर पर दिया जाने वाला वस्त्र)

कहीं-कहीं ए के स्थान पर ई होता है :

प्रातिहार्य पाटिहीर
(क्रम : पारिहायिर, विपर्य्यय—पाटिहारिय)

संहार्य संहीरा

'इय' का भी ई हो जाता है :

कियत्तक	कित्तक
इयत्तक	इत्तक, एत्तक

फुटकर रूप

मयूर	मोर	कोयष्टि	कोठ

§ 28. प्राकृत के समान उप और अप उपसर्गों का उव और अव हो जाता है, और फिर वे 'ऊ' और 'ओ' में बदल जाते हैं :

उपहदति	ऊहदेति	अपत्रपति	ओत्तप्पति (लज्जित होता है)
उपहसन	ऊहसन	अपत्रापिन्	ओत्तप्पिन्, ओत्तापिन्
उपहसित	ऊहसिअ	अपष्वष्कति	ओसक्कति
अपवरक (घर का अंदरूनी कमरा)	ओवरक		

9. स्वरभक्ति

§ 29. स्वरभक्ति का अर्थ है संयोग के दो व्यंजनों के मध्य में या पहले उच्चारण-सौकर्य के लिए स्वर का आजाना। इसका प्रयोग प्रायः वहीं होता है जहाँ संयोग में अंतःस्थ (य, र, ल, व) या अनुनासिकों (ङ, ञ, ण, न, म) में से कोई हो। कहीं-कहीं इनके विना भी स्वरभक्ति का प्रयोग देखा गया है :

कष्ट कसट

स्वर का आगमन प्रायः व्यंजनों के मध्य में होता है। कहीं-कहीं प्रारंभ में हो जाता है :

स्त्री	इत्थी	स्मयते	उम्हयति

गाथाओं की प्राचीन पालि में स्वरभक्ति के स्थान पर व्यंजन-विलय मिलता है। किंतु टीकाओं में उनका प्रयोग स्वरभक्ति के साथ मिलता है :

जातक : असि तिक्खो व मंसम्हि

टीका : असि तिखिणो व मंसम्हि

संस्कृत—असिः तीक्ष्ण इव मांसे।

पद्य में प्रायः स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता।

स्वरभक्ति के अन्य उदाहरण :

अर्हति	अरहति	सुर्यस्मि (सूर्ये)	सुरियस्मि

§ 30. स्वरभक्ति के कारण सबसे अधिक प्रयोग इ का होता है :

*ईर्यते	इरियति	वज्र	वजिर, अ०मा० वइर
मर्यादा	मरियादा	श्री	सिरि
कार्यते	कारीयति	ह्री	हिरि
वार्यते	वारियति	प्लक्ष	पिलक्खु
कालुष्य	कालुसिय	ह्लाद	हिलाद
ज्या	जिया	स्नेह	सिनेह
पृच्छयते	पुच्छियति	तृष्णा	तसिणा
ह्यस्	हिय्यो, अ० मा० हिज्जो		

'कृष्ण' शब्द का पालि में 'कण्ह' एक ही रूप मिलता है किंतु प्राकृत में कण्ह, कसिण और कसण तीनों रूप मिलते हैं। इसी प्रकार नग्न शब्द का पालि में 'नग्ग' रूप मिलता है किंतु प्राकृत में 'नगिण' और 'निगिण' रूप भी मिलते हैं।

प्रत्यय-युक्त रूपों में भी स्वरभक्ति होती है। परिणाम-स्वरूप राज्ञा, राज्ञः के स्थान पर राजिना, राजिनो एवं रण्णा तथा रण्णो रूप मिलते हैं।

इसी प्रकार 'अग्नि' से गिनि।

§ 31. अ=स्वरभक्ति

जहाँ पहले और पीछे 'अ' हो वहाँ स्वरभक्ति के रूप में भी प्रायः अ आता है :

गर्हा	गरहा	ह्रीते	हरायति, हिरियति-
गर्हति	गरहति	अन्तर्दधाति	अन्तरधायति
प्लवति	पलवति		

उ=स्वरभक्ति

(क) म और व से पहले स्वरभक्ति के रूप में 'उ' आता है :

उष्मन्	उसुमा	द्वि	दुवे (अधिकतर द्वे)
सूक्ष्म	सुखुम	मूर्वा	मरुवा, मुरुवा

(ख) कई बार पश्चाद्वर्ती 'उ' के कारण भी 'उ' स्वरभक्ति के रूप में आता है :

क्रूर	कुरूर	स्नुषा	सुणिसा

नीचे लिखे शब्दों में भी 'उ' स्वरभक्ति है :

सक्कुणाति	शक्नोति	प्राप्नोति	पापुणाति

10. वृत्त के आधार पर परिवर्तन

§ 32. (क) वृत्त में मात्रा या लघु, गुरु को ठीक करने के लिए ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सतीमति	सतीमती	तृतीयम्	ततीयम्
तुरीयम्	तूरियम्	अनुदके	अनूदके

प्राय: अंतिम वर्ण में : सीहो व नदती वने।

(ख) वृत्त में मात्रानियम के अनुसार दीर्घ होना और पश्चाद्वर्ती व्यंजन का द्वित्व होना समान हैं। इसलिए कहीं दीर्घ होता है और कहीं व्यंजन को द्वित्व हो जाता है :—

परिवसन	परिब्बसानो	सरति वय: (आयु बीतती है)	सरति ब्बयो

इसी प्रकार कुम्मिग (कुमृग) और कुस्सोभा (कुशोभा) आदि रूप भी वृत्त को ठीक करने के लिए बनाए गए हैं। कहीं-कहीं छन्दों में मात्रा-संबंधी आवश्यकता के बिना भी ऐसे रूप देखने में आते हैं।

(ख) कहीं-कहीं दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है :

भुम्मानि वा यानि व (वा के स्थान पर व),

पच्चनिका (पच्चनीका के स्थान पर), सं० प्रत्यनीका।

(ग) ओ का ह्रस्व होकर अ हो जाता है :
ओकमोकत (ओकमोकतो के स्थान पर)

(घ) 'ए' का ह्रस्व इ हो जाता है :
गिम्हिसु (गिम्हेसु के स्थान पर)

(ङ) -इनं, -उनं, -इहि, -उहि, -इसु, -उसु ये सभी श्लोक में प्रायः ह्रस्व रहते हैं, किंतु गद्य में -ईनं आदि रहते हैं।

(च) सानुनासिक प्रायः निरनुनासिक बन जाते हैं :
दीर्घं अद्धान सोचति (अद्धानं के स्थान पर)
पापुणि (पापुणिम् के स्थान पर)

(छ) सन्धि में भी प्रायः अनुस्वार का लोप हो जाता है :
समतिमञ्ञि हं ('ञ्ञि अहम्' के स्थान पर)

(ज) शब्दों के अंदर भी अनुस्वार का लोप हो जाता है :
जीवतो जा (जीवंतो के स्थान पर)

मात्रा की दृष्टि से परवर्ती संयुक्त व्यंजन को असंयुक्त बनाना पूर्ववर्ती स्वर के ह्रस्वीकरण के समान ही है। इसलिए नीचे लिखे रूप भी मिलते हैं :

दुखम् (दुक्खम् के स्थान पर)
दक्खिसं (दक्खिस्सम् के स्थान पर)

§ 33. समास में स्वर-परिवर्तन

(क) समास में प्रथम पद का अंतिम व्यंजन प्रायः दीर्घ हो जाता है :
सखीभाव (सखिभाव)
रजापथ (रजपथ के स्थान पर)

(ख) अन्तिम स्वर को दीर्घ करने के स्थान पर द्वितीय पद का आदि व्यंजन द्वित्व भी देखा जाता है :
जातस्सर (जातसर के स्थान पर)
नवक्खत्तुं (सं० नवकृत्वस्)

(ग) उपसर्गों में अंतिम स्वर का दीर्घभाव या प्रथम व्यंजन का द्वित्व अधिक दृष्टिगोचर होता है :
दीर्घ : पावचन, (अ०मा० पावयन) सं० प्रवचन
पाकट (अ०मा० पागड), सं० प्रकट
यह दीर्घीभाव प्रथम स्वर के उदात्त होने के कारण भी संभव है।
द्वित्व : अभिक्कन्त, सं० अभिकान्त
पतिक्कूल, सं० प्रतिकूल।

(क) इसी आधार पर कुछ समासों में भी दीर्घ देखा जाता है : फलाफल (हर प्रकार के फल), मग्गामग्ग (हर प्रकार के मार्ग), सुभासुभ (हर प्रकार के शुभ)।

(ख) जब दीर्घ स्वर प्रथम शब्द के अंत में हो तो वह ह्रस्व हो जाता है :

उपाहन-दान ('उपाहना-दान' से), सं० उपानह्-दान
दासिगण, सं० दासीगण
सस्सुदेवा, सं० श्वश्रूदेवा

11. उच्चारण-संबंधी अनियमितताएँ

§ 34. कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिनमें साधारण नियम लागू नहीं होते :

(क) सं० 'पुनः' के पालि में दो रूप होते हैं : 'दुबारा' अर्थ में 'पुनः' होता है, और 'किंतु' अर्थ में 'पुना'।

(ख) कुछ उदाहरणों में पालि का उच्चारण संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन है :

(1) संस्कृत के गुरु (भारी) के स्थान पर पालि में गरु, और सं० अगुरु ('अगर' की सुगंधित लकड़ी) के स्थान पर पालि में अगरु या अगलु बोला जाता है,

(2) सं० किलिञ्ज (चटाई) के स्थान पर किलञ्ज

(3) मुचिलिंद के स्थान पर मुचलिंद

(4) झिल्लिका के स्थान पर झल्लिका

(ग) कुछ उदाहरणों में पालि शब्द का मूल, संस्कृत से भिन्न है। उदाहरण : तिपु (टीन, राँगा) शब्द सं० त्रपु से न बनकर *त्रिपु से बना है। इसी प्रकार :

पप्फास (फेफड़ा) सं० पुप्फुस से नहीं बना।

सिम्बल (कपास का पौधा) सं० शाल्मलि (ली) से नहीं बना। इसका मूल रूप वै० शिम्बल (कपास का फूल) है।

तेकिच्छा सं० चिकित्सा से नहीं बना। इसका मूल *चेकित्सा है।

पालि में किम् सर्वनाम से षष्ठी एकवचन में 'किस्स' और सप्तमी एकवचन में 'किस्मिन्' तथा 'किम्हि' रूप मिलते हैं। ये रूप 'क' प्रातिपदिक से नहीं बने, किंतु 'कि' से बने हैं। 'किम्' का संस्कृत में प्रायः 'क' हो जाता है, किंतु वैदिक और पालि में 'कि' भी बोला जाता है।

संस्कृत में पारापत (कबूतर) शब्द मिलता है। किंतु पालि और अ० मा० में क्रमशः पारेपत और पारेवय शब्द मिलते हैं। हेमचन्द्र ने 'आ' के स्थान पर 'ए' आदेश किया है, किंतु प्रतीत होता है कि 'ए' वाला रूप भी रहा होगा।

संस्कृत में म्लेच्छ शब्द है। किंतु पालि एवं प्राकृत में मिलेक्ख, मिलेक्खु या मिल्लेक्खु (अ०मा०) प्रयोग मिलते हैं, जो कि 'म्लेक्ष' शब्द से संभव हैं।

'तिम्बरु' शब्द संस्कृत के तुम्बुरु से नहीं बना।

इसी प्रकार पा० धोवति (धोता है) क्रिया-रूप संस्कृत की धाव (धोना) धातु से नहीं बन सकता।[1]

12. व्यञ्जनों में ध्वनि-विकार

§ 35. (क) साधारणतया असंयुक्त व्यञ्जनों में कोई विकार नहीं होता। प्राकृत में मध्यवर्ती स्पर्शों का प्रायः लोप हो जाता है, किंतु पालि में नहीं होता।

(ख) प्राकृत में न का ण तथा य का ज हो जाता है किंतु पालि में यह परिवर्तन नहीं होता।

(ग) तालव्य श और मूर्धन्य ष दन्त्य स में बदल जाते हैं।

(घ) सामान्यतः ड और ढ क्रमशः ळ और ळ्ह में बदल जाते हैं :

आपीडा	आवेळा (कण्ठहार)
पेटा, पेडा (टोकरी)	पेळा
हीडयति	हीळेति
(हेड् होड् अनादरे)	
मीढ (मिह् + क्त)	मीळ्ह
ऊढ (उह् + क्त)	वूळ्ह

नीचे लिखे शब्दों में 'ड' नहीं बदलता :

कुड्मल	कुडुमल

(यहाँ 'ड्' संयुक्त था और स्वरभक्ति के कारण असंयुक्त हो गया।)

कुडव	कुडुब	सहोढ (सह + ऊढ)	सहोढ

§ 36. कहीं-कहीं प्राकृत में होने वाले परिवर्तन पालि में होते हैं :

(क) इस प्रकार के विशिष्ट परिवर्तनों में एक है—स्पर्श का लोप और उसके स्थान पर लघुश्रुति य या व का आ जाना :

शुक	सुअ	सुव
खादित	खाइत	खायित
निज	निअ	निय
स्वादते	साअति	सायति (सादियति)

1. धाव् से व का सम्प्रसारण होकर धो बन सकता है और उसके पश्चात् अ आने पर फिर व की श्रुति हो सकती है। इसलिए इसमें अनियमितता नहीं है।

अपरगोदान	अपरगोयान
कुशिनगर (*नअअर)	कुसिनार

प्रतीत होता है कि पालि-साहित्य में उपर्युक्त रूप प्रादेशिक बोलियों से ज्यों के त्यों ले लिए गए हैं।

(ख) 'इका' और 'इया' में परस्पर परिवर्तन प्रायः मिलता है :

आवेणिक	आवेणिय	कौशिक	कोसिय
पोषापनिका	पोसावनिया		

नीचे लिखे शब्दों में दो प्रत्यय प्रतीत होते हैं :

लौकिक	लोकिको
लौक्य	लोकिय
श्रोत्रिय	सोत्थिक, सोत्थिय
व्यक्त	वेयावित्तिका, वेयावित्तिया
व्यापृत	*वियावत, वेयावच्च

§ 37. (क) वर्गों का चतुर्थ अक्षर (घोष महाप्राण) ह में बदल जाता है। यह भी प्राकृत का प्रभाव है :

लघु	लहु लहुक	रुधिर	रुहिर
साधु	साहु	*आयोधते	आयूहति
निष्टुभति	नुट्ठुहति,	नुट्ठुभति	
प्रघर्षति	*पघंसति,	पहंसति	
मोमुघ	मोमूह (मूर्ख)		

(क) इसी प्रकार तृतीया बहुवचन का 'भिस्' हि में बदल जाता है। भि का प्रयोग लुप्तप्राय है।

(ख) दहति (रखता है) *दधति से बना है। दहासि 'दधासि' से, और दहाति 'दधाति' से बने हैं।

(ग) प्रारम्भ में भी भ के स्थान पर ह आता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
भवति	होति (प्रा० होइ)	प्रभवति	पहोति
प्रभवनक	पहोनक	प्रभु	पहु
प्रभूत	पहूत		

(घ) द्वितीय वर्ण में घ के स्थान में ह आता है :

अधस्तात्	हेठा

(ङ) कई स्थान ऐसे हैं जहाँ वैदिक और पालि में तो महाप्राण घोष का उच्चारण विद्यमान है किंतु संस्कृत में 'ह' है :

सं० इह　　पा० इघ　　सं० ह्म्मति[1]　　पा० घम्मति (प्रा० ह्म्मई)
सं० वैहार　　पा० वेभार, (अ०मा० विब्भार), (जैन० वैभार)
(एक पहाड़ी का नाम)
सं० पि √नह्　　पा० पिलंधति (सजाता है)

पालि में प्राचीन घ विद्यमान है। .

(च) अघोष महाप्राण के स्थान पर भी है आता है :

सं० सुखता　　पा० सुहता
सं० समीखते[2]　　पा० समीहति (दूर होता है)

(छ) पालि में मध्यवर्ती अघोष का घोष हो जाना भी प्राकृत बोलियों का प्रभाव है :

§ 38. (क) क का ग

सं० एडमूक　　पा० एळमूग (वहरा और गूंगा)
सं० प्रतिकृत्य　　पा० पटिगच्च, पडिगच्च (कुछ पहले)

विशेष नामों में भी परिवर्तन होता है—

सं० शाकल (एक नगर का नाम)　　पा० सागल
सं० माकन्दिक (एक नगर का नाम)　　पा० मागंदिय

(ख) ख का मृदु घ हो जाता है :

सं० निखनिष्यसि　　पा० निघञ्जसि (तुम खोदोगे)
सं० स्रुच (यज्ञाग्नि के लिए प्रयुक्त लकड़ी का चम्मच), पा० सुजा

(ग) त का द

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उताहो	उदाहु	निर्यातयति	निय्यादेति, निय्यातेति
पृषत (चित्तीदार मृग)	पसद	रुत (आवाज़)	रुद
		वितस्ति	विदत्थि
सङ्घातिशेष	संघादिसेस	एकोतिभाव (एक+ऊति)	एकोदिभाव

1. ह्म्म ह्म्म मीमृ गतौ।
2. ख्व इखि गतौ।

अपरगोदान	अपरगोयान
कुशिनगर (*नअअर)	कुसिनार

प्रतीत होता है कि पालि-साहित्य में उपर्युक्त रूप प्रादेशिक बोलियों से ज्यों के त्यों ले लिए गए हैं।

(ख) 'इका' और 'इया' में परस्पर परिवर्तन प्रायः मिलता है :

आवेणिक	आवेणिय	कौशिक	कोसिय
पोषापनिका	पोसावनिया		

नीचे लिखे शब्दों में दो प्रत्यय प्रतीत होते हैं :

लौकिक	लोकिको
लौक्य	लोकिय
श्रोत्रिय	सोत्थिक, सोत्थिय
व्यक्त	वेयावित्तिका, वेयावित्तिया
व्यापृत	*वियावत, वेयावच्च

§ 37. (क) वर्गों का चतुर्थ अक्षर (घोष महाप्राण) ह में बदल जाता है। यह भी प्राकृत का प्रभाव है :

लघु	लहु लहुक	रुधिर	रुहिर
साधु	साहु	*आयोधते	आयूहति
निष्टुभति	नुट्ठुहति,	नुट्टुभति	
प्रघर्षति	*पघंसति,	पहंसति	
मोमुघ	मोमूह (मूर्ख)		

(क) इसी प्रकार तृतीया बहुवचन का 'भिस्' हि में बदल जाता है। भि का प्रयोग लुप्तप्राय है।

(ख) दहति (रखता है) *दघति से बना है। दहासि 'दधासि' से, और दहाति 'दधाति' से बने हैं।

(ग) प्रारम्भ में भी भ के स्थान पर ह आता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
भवति	होति (प्रा० होइ)	प्रभवति	पहोति
प्रभवनक	पहोनक	प्रभु	पहु
प्रभूत	पहूत		

(घ) द्वितीय वर्ण में घ के स्थान में ह आता है :

अघस्तात्	हेठा

(ङ) कई स्थान ऐसे हैं जहाँ वैदिक और पालि में तो महाप्राण घोष का उच्चारण विद्यमान है किंतु संस्कृत में 'ह' है :

सं० इह पा० इघ सं० हम्मति[1] पा० घम्मति (प्रा० हम्मई)
सं० वैहार पा० वेभार, (अ०मा० विब्भार), (जैन० वैभार)
(एक पहाड़ी का नाम)
सं० पि √नह् पा० पिलंघति (सजाता है)

पालि में प्राचीन घ विद्यमान है।

(च) अघोष महाप्राण के स्थान पर भी ह आता है :

सं० सुखता पा० सुहता
सं० समीखते[2] पा० समीहति (दूर होता है)

(छ) पालि में मध्यवर्ती अघोष का घोष हो जाना भी प्राकृत बोलियों का प्रभाव है :

§ 38. (क) क का ग

सं० एडमूक पा० एळमूग (बहरा और गूंगा)
सं० प्रतिकृत्य पा० पटिगच्च, पडिगच्च (कुछ पहले)

विशेष नामों में भी परिवर्तन होता है—

सं० शाकल (एक नगर का नाम) पा० सागल
सं० माकन्दिक (एक नगर का नाम) पा० मागंदिय

(ख) ख का मृदु घ हो जाता है :

सं० निखनिष्यसि पा० निघञ्जसि (तुम खोदोगे)
सं० स्रुच (यज्ञाग्नि के लिए प्रयुक्त लकड़ी का चम्मच), पा० सुजा

(ग) त का द

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उताहो	उदाहु	निर्यातयति	निय्यादेति, निय्यातेति
पृषत (चित्तीदार मृग)	पसद	रुत (आवाज)	रुद
		वितस्ति	विदत्थि
सङ्घातिशेष	संघादिसेस	एकोतिभाव (एक+ऊति)	एकोदिभाव

1. द्रम हम्म मीमृ गतौ।
2. इख इखि गतौ।

(घ) थ का घ

सं० प्रव्यथते	पा० पवेधति
सं० ग्रथित	पा० गधित, गथित

(ङ) प का व

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अपाङ्ग	अवंग	अपावरण	अवापुरण
आपीडा	आवेला	उभिलापित	उभिलावित (सीमा से अधिक उल्लसित अथवा गर्वशील)

कपि	कवि
कपित्थ (एक वृक्ष का नाम)	कवित्थ
√स्तिप् (रिसना)	थेव (बूंद)
अपूप	पूव
भिन्दिपाल (एक शस्त्र)	भिंदिवाल
व्यापृत	व्यावर
विश्यापर्यति	विसीवेंती

(च) ट का ड होकर ळ

संस्कृत	पालि
कक्खट (निर्दय) < कक्खड	कक्खळ
खेट (ग्राम) < खेड	खेळ

*चक्रवर्त < *चक्कवाट (सं० चक्रवाड, चक्रवाल), पा० चक्कवाळ (क्षितिज)

स्फटिक < फडिक	फळिक
आटवि (एक नगर) < आडवि	आळवि
लाट (एक देश) < लाड	लाळ

घोष के स्थान पर अघोष

§ 39. बोलियों के प्रभाव के कारण कई बार घोष व्यञ्जनों के स्थान में अघोष :

ग के स्थान में क

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अगुरु	अकलु	छगल	छकल
स्थगपति	थकेति	स्थगन	थकन
परिगुण्ठित	पलिकुण्ठित	लगति	लकेति
लग्नक	लकनक	वागुरा (जालीदार फन्दा)	वाकुरा

प्रारम्भ में घोष का अघोष

संस्कृत	पालि
ग्लास्नु (√ग्ला)	किलासु (निष्कर्मण्य)
परिघ	पलिख

ज के स्थान में च

सं० प्राजति, पा० पाजेति, पाचेति (हांकता है)

द के स्थान में त

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कुसीद	कुसीत (ढीला)	प्रदर	पतर (फूटा हुआ)
संसदि	संसति	चेदि (व्यक्ति-नाम)	चेति
चेद (व्यक्ति-नाम)	चेत	चेदिका (व्यक्ति-नाम)	चेतिय

घ के स्थान में थ

सं० उपध्येय	पा० उपथेय्य
सं० पिधीयते	पा० पिथीयति

ब और व के स्थान में प

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अपावरण	अवापुरण	अपावृणोति	अवापुरति
शाव(क)	चाप(क)		
वल्वज (एक प्रकार की घास)	पब्बज	प्रलाव	पलाप (भूसी)
प्रावरण	पापुरण	प्लावयति	ओपिलायेति
लावा, लावा	लापा	अलाबु, लाबु	लापु, अलापु
हावयति (बुझाता है—आग को)	हापेति	भव्य<हुवेय्य	हुपेय्य

§ 40. महाप्राण एवं अल्पप्राण

प्राकृत के समान पालि में भी महाप्राणों का आगमन और लोप होता रहता है :

(घ) थ का घ

सं० प्रव्यथते	पा० पवेधति
सं० ग्रथित	पा० गधित, गथित

(ङ) प का व

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अपाङ्ग	अवंग	अपावरण	अवापुरण
आपीडा	आवेला	उभिलापित	उभिलावित (सीमा से अधिक उल्लसित अथवा गर्वशील)

कपि	कवि
कपित्थ (एक वृक्ष का नाम)	कवित्थ
√स्तिप् (रिसना)	थेव (बूंद)
अपूप	पूव
भिन्दिपाल (एक शस्त्र)	भिंदिवाल
व्यापृत	व्यावर
विश्यापयति	विसीवेंती

(च) ट का ड होकर ळ

संस्कृत	पालि
कक्खट (निर्दय) < कक्खड	कक्खळ
खेट (ग्राम) < खेड	खेळ

*चक्रवर्त < *चक्कवाट (सं० चक्रवाड, चक्रवाल), पा० चक्कवाळ (क्षितिज)

स्फटिक < फडिक	फळिक
आटवि (एक नगर) < आडवि	आळवि
लाट (एक देश) < लाड	लाळ

घोष के स्थान पर अघोष

§ 39. बोलियों के प्रभाव के कारण कई बार घोष व्यञ्जनों के स्थान में अघोष :

ग के स्थान में क

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अगुरु	अकलु	छगल	छकल
स्थगपति	थकेति	स्थगन	थकन
परिगुण्ठित	पलिकुण्ठित	लगति	लकेति
लग्नक	लकनक	वागुरा (जालीदार फन्दा)	वाकुरा

प्रारम्भ में घोष का अघोष

संस्कृत	पालि
ग्लास्नु (√ग्ला)	किलासु (निष्कर्मण्य)
परिघ	पलिख

ज के स्थान में च

सं० प्राजति, पा० पाजेति, पाचेति (हाँकता है)

द के स्थान में त

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कुसीद	कुसीत (ढीला)	प्रदर	पतर (फूटा हुआ)
संसदि	संसति	चेदि (व्यक्ति-नाम)	चेति
चेद (व्यक्ति-नाम)	चेत	चेदिका (व्यक्ति-नाम)	चेतिय

ध के स्थान में थ

सं० उपध्येय	पा० उपथेय्य
सं० पिधीयते	पा० पिथीयति

ब और व के स्थान में प

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अपावरण	अवापुरण	अपावृणोति	अवापुरति
शाव(क)	चाप(क)		
बल्वज (एक प्रकार की घास)	पब्बज	प्रलाव	पलाप (भूसी)
प्रावरण	पापुरण	प्लावयति	ओपिलायेति
लावा, लाबा	लापा	अलाबु, लाबु	लापु, अलापु
हावयति (बुझाता है—आग को)	हापेति	भव्य<हुवेय्य	हुपेय्य

§ 40. महाप्राण एवं अल्पप्राण

प्राकृत के समान पालि में भी महाप्राणों का आगमन और लोप होता रहता है :

स्वाभाविक महाप्राण प्रारम्भ में :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
किल	खिल	कृत्व:	खत्तुम्
कुब्ज	खुज्ज	तुष (भूसी)	थुप
परशु	फरसु	परुष	फरुस
पल	फल	पलगण्ड	फलगण्ड
परुस	फलु	पारुषक	फारुसक
परिभद्र	फालिभद्दक	पार्शुका	फासुका
पुलक	फुलक	पृषत्	फुसित
पुष्य	फुस्स	पुष्यरथ	फुस्सरथ
पुष्पराग	फुस्सराग	वस्त (बकरी)	भस्त
बिस	भिस	बृषी (भूसा)	भिसि

पिशल के अनुसार मौलिक व्यंजन का महाप्राणीकरण नीचे लिखे शब्दों में भी दृष्टिगोचर होता है :

संस्कृति	पालि	संस्कृत	पालि
षट्	छ	शकृत्	छक
शाव	छाप, छाव		
शेप	छेप्पा, (अ०मा० छिप्प)		

उपर्युक्त उदाहरणों में महाप्राण होने के पश्चात् 'ष्ह' का श्ह हो गया और श्ह 'छ' बन गया।

जान्सन के मतानुसार भारोपीय भाषाओं में स्क और क का अस्तित्व है और 'छ' स्क का परिवर्तन है।

-शब्द के मध्यस्थ मौलिक व्यंजन

शुनक सुनख (प्रा० सुनह)। सुकुमाल सुखुमार
ककुद् (कूबड़) ककुध

महाप्राण का अल्पप्राण बहुत कम होता है :

प्रारम्भ में : झल्लिका जल्लिका

मध्य में :

कफोणी (कोहनी) (कपोणी अप०) क्षुधा खुदा
*कथिका कतिका, कथिका

§ 41. बोलियों के प्रभाव के कारण व्यंजनों के स्थान में भी परिवर्तन :

कण्ठ्य के स्थान पर तालव्य

सं० कुण्ड	पा० चुण्ड (खराद)
सं० इङ्ग (इगि, इंगति)	पा० √इंज् (हिलना)

तालव्य के स्थान पर दन्त्य

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
जघन्य	दिघन्न	जाज्वल्यते	दद्दलति
चिकित्सति	तिकिच्छति	जुगुप्सते	दिगुच्चति, जिगुच्चति (अ०मा० दुगुच्छई)

मूर्धन्य के स्थान पर दन्त्य : डिण्डिमा देण्डिमा

§ 42. पालि में र और ऋ के लुप्त हो जाने पर भी उनके प्रभाव के कारण दन्त्य व्यंजनों के स्थान में मूर्धन्य का प्रयोग बाहुल्य से पाया जाता है :

त के स्थान में ट

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आम्रातक	अम्बाटक	अवतंस	वटंस
पतङ्ग	पटंग		

ऋकारान्त धातुओं से बने हुए कृदंत में भी त का ट, पाया जाता है :

सं० हृत	पा० हट (जैन महा० हड)
सं० व्यावट	पा० व्यापृत

किंतु नीचे लिखे शब्दों में त ही मिलता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
मृत	मत	आभृत	आभत
संवृत	संवुत	कृत	कत (प्रायः)
दुष्कृत	दुक्कट, अ० मा० दुक्कड		

प्रति के स्थान पर कहीं पति और कहीं पटि आता है। साधारणतया ति वहाँ आता है जहाँ उसी शब्द में दूसरा व्यंजन मूर्धन्य हो :

सं० प्रतिष्ठति	पा० पतिट्ठाति

किंतु यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। इसके अपवाद मिलते हैं :

सं० प्रतिमन्त्रयति	पा० पतिमन्तेति

ति के स्थान पर टि

सं० प्रतिमा	पा० पटिम[1] (अ०मा० पडिमा)

1. मिकल्सन के मतानुसार पटि का संबंध प्रति से है, और पति का अवस्ता भाषा के 'पैति' से।

थ के स्थान पर ठ

संस्कृत	पालि
प्रथम	पठम
शिथिल (*शृथिल)	सठिल (अ०मा० सठिल)
पृथी	पथवी, पृथ्वी
कथित	कठित (अ०मा० कढिय, महा० कधिअ)
प्रक्वथित	पक्कठित

द के स्थान पर ड

सं० √दंश्, पा० डसति, संडास (चिमटा), संडंस, डंस (मच्छर)

दट्ठ (दष्ट) और दाढा (दंष्ट्रा) शब्दों में परवर्ती व्यंजन के मूर्धन्य होने के कारण 'द' को ड नहीं हुआ।

सं० √दह् पा० डहति, डाह

किंतु दड्ड (दग्ध) में पूर्वोक्त नियम के कारण 'द' को ड नहीं हुआ।

ड का पुन: ळ परिवर्तन

परिदाह	परिडाह	परिळाह (शोक)
उदार	उडार	उळार
उदङ्क	उडंक	उळंक
कोविदार (एक वृक्ष)	कोविडार	कोविळार
दोहद	दोहड	दोहळ
बुद्बुद	बुब्भुड	बुब्भुळ

ध के स्थान पर ळ्ह

सं० द्वैध पा० द्वेळ्हक

न के स्थान पर ण

शकुन	सकुण	*शनम्	सणि, सणिकं
शान	सण	अभिज्ञान	अभिञ्ञाण

पालि में वर्णों में परिवर्तन निश्चित नहीं है। उदाहरण : सं० √स्वन् से पा० सनति तथा सणति दोनों रूप होते हैं।

§ 43. द के स्थान में र, न के स्थान में ल या र, और ण के स्थान में ळ का प्रयोग भी मूर्धीकरण का प्रभाव है। जो संख्यावाची शब्द 'दश' के साथ समास के करने पर बनते हैं उनमें द का र बाहुल्य से पाया जाता है :

सं० एकादश पा० एकारस या एकादस।

इसी प्रकार दृश और दृक्ष में प्राय: द का र हो जाता है :

सं० ईदृश पा० एरिस या एदिस

सं० ईदृक्ष पा० एरिक्ख, या एदिक्ख

कात्यायन के अनुसार सप्तति में भी त का द होकर र हो गया है :

सत्तरि।

न का ल

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
एनस् (पाप)	अनेलक (पाप-रहित)	प्रणह्न	पिलंधन (√नह्, बन्धने)
प्रणह्यति (√नह्, बांधना)	पिलंधति	मिनेन्द्र	मिलिन्द (मेनन्ड्रोस : एक ग्रीक शासक)

न का र

सं० नैरञ्जाना (नदी का नाम) पा० नेरञ्जरा

ण के स्थान पर ळ

वेणु वेळु मृणाल मुळाल।

§ 44. पालि में र के स्थान में ल बाहुल्य से पाया जाता है। मागधी में भी र का ल हो जाता है। दूसरी प्राकृतों में भी यह परिवर्तन यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
रुज्यते (अलग होता है)	लुज्जति	रुद्र	लुद्द
प्ररुज्यते	पलुज्जति		

अनेक शब्दों में जहाँ संस्कृत में र और ल दोनों मिलते हैं, पालि में केवल ल है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
रूक्ष, लूक्ष	लूख, लुक्ख (अ०मा०लूह)	लोध्र, रोध्र	लोद्द
रोम, लोम	लोम (अप० रोम)	लोहित, रोहित	लोहित

(कुछ विशिष्ट प्रकार के समासबद्ध रूपों में 'रोहित' भी)

मध्यस्थ र के स्थान में ल

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
एरण्ड	एलण्ड	दर्दुर	दद्दुळ
तरुण	तलुण, तरुण	सर्जरस	सज्जुलास
त्रिपुष्कर	तिपुक्खल	कुम्भीर, कुम्भील	(मगरमच्छ) कुम्भीळ

परि के स्थान में भी प्रायः पलि हो जाता है :

परिखनति	पलिखनति	परिष्वजति	पलिस्सजति

द से बिगड़कर बना हुआ र भी विकल्प से ल हो जाता है :

सं० त्रयोदश पा० तेरस, तेळस ।

§ 45. संस्कृत ल के स्थान में भी पालि में कहीं-कहीं र मिलता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अलिञ्जर (जलपात्र)	अरञ्जर	बिडाल	बिलार, बिळाल
आलम्बन	आरम्मण	बिडालिका	बिडारिका
किल	किर		

इसी प्रकार ल के स्थान पर कहीं-कहीं न आता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
लाङ्गल	नाङ्गल	गोलाङ्गूल	गोनंगुल
लाङ्गूल	नंगुल	ललाट	नलाट

मध्यस्थ ल के स्थान में भी न मिलता है :

सं० देहली (देहलीज) पा० देहनी

§ 46. य और व का परस्पर-व्यत्यय बाहुल्य से मिलता है :

य के स्थान में व

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आयुध	आवुध	पिण्डदायिका	पिण्डदाविका
आयुष्मन्!	आवुसो	मृगया	मिगवा
अवश्याय	उस्साव	कियत्	कीव(म्) (वैदिक कीवना)
कषाय	कसाव		
काषाय	कासाव	कण्डूयति	कण्डूवति
त्रायास्त्रिंश	तावतिंस (अ०मा० तावत्तीसा)	कण्डूयन	कण्डूवन

स्वर-भक्ति के रूप में आए हुए इ के पश्चात् भी कहीं-कहीं य के स्थान में व :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
प्रत्यंश	पटिविंस	द्व्यर्द्ध	दिवड्ढ
त्र्यङ्गिक	तिवङ्गिक		

जहाँ व पुनरावृत्त है वहाँ उसका ब्ब हो जाता है :

*पुव्व, *पूव, सं० पूय पा० पुब्ब (पीप),

इस प्रकार सं० वणीयक पा० वणिब्बक (भीख माँगना) ।

जिस प्रकार संस्कृत व पालि में प्रायः व हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कवल	कबल	वृद्ध	वुड्ढ, वुड्ढ,
कवलिका	कबलिका		

उसी प्रकार य से बिगड़कर बना हुआ व भी ब हो जाता है :

सं० जरायु पा० जलाबु

संस्कृत व के स्थान में य

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
दाव	दाय	चत्वर	चत्यर चच्चर
रावित, लावित	लावित		

कहीं-कहीं य के स्थान में ल आता है :

सं० यष्टि पा० लण्टी

व्यक्तियों के नामों में म और व का परस्पर परिवर्तन हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
द्रविड	दमिळ	मीमांसते	विमंसति
श्वाविध् (साही मछली)	सामि	मीमांसा	विमंसा

13. विषमीकरण और व्यत्यय

§ 47. विषमीकरण के कुछ उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। नीचे कुछ अन्य फुटकर उदाहरण प्रस्तुत हैं :

संस्कृत	पालि
पिपील, पिपीलिका	किपिल्ल, किपोल्लिका
कक्कोल, तक्कोल, (गूगल)	तक्कोल

मृदु (liquid) र का प्रायः व्यत्यय होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आरालिक(रसोइया)	आलारिक	प्रावृणोति	पारुपति
करेणु (छोटा हाथी)	कणेरु(का)	प्रावपण	पारुपण, पापुरण

स्वरभक्ति के अनन्तर भी व्यत्यय होता है :

संस्कृत	पालि
√कर् >*करिया=*करयात्=*कर्यते	कयिरति
*परियुदाहरति (सं० पर्युदाहरति) (उच्चरित करता है)	पयिरुदाहरति
*परियुपासते (सं० पर्युपासते) (चरणों में बैठता है—गुरु के)	पायिरुपासति
*हरद (सं० ह्रद) (सरोवर)	रहद
*द्रह (सं० ह्रद) (सरोवर)	दह (अ० मा० दह, द्रह)
आश्चर्य> *अच्छरिय> *अच्छयिर	अच्छेर
*मसक=मशक (मच्छर, पिस्सू)	मकस

14. संयुक्त व्यञ्जन

§ 48. स्वरभक्ति के नियमानुसार संयुक्त व्यञ्जनों को विभक्त किया जा सकता है। किंतु नीचे लिखी अवस्थाओं में वे विभक्त नहीं होते :

(क) यदि संयोग समान व्यंजनों में हो,

(ख) स्पर्श का ऊष्म के साथ संयोग हो,

(ग) यदि संयोग में एक अनुनासिक हो और दूसरा उसी वर्ग का स्पर्श हो।

उक्त (क) के उदाहरण—

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
पञ्चदश	पन्नरस, पण्णरस, पञ्जरस	पञ्चाशत	पण्णासं अथवा पञ्ञासं
पञ्चविंश	पण्णुवीस		

§ 49. यदि ह के पश्चात् अनुनासिक य अथवा व हो तो व्यत्यय हो जाता है। इस प्रकार ह्ण, ह्न, ह्म, ह्य और ह्व क्रमशः ण्ह, न्ह, म्ह, य्ह, और व्ह हो जाते हैं :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
पूर्वाह्ण	पुब्बण्ह	सह्य	सय्ह
अपराह्ण	अपरण्ह	आरुह्य	आरुय्ह
सायाह्न	सायण्ह	दुह्यते	दुय्हति
चिह्न	चिन्ह, चिहन	जिह्वा	जिव्हा
जिह्म (कुटिल)	जिम्ह	वह्वावाध	वव्हावाध
वाह्य	वय्हा	वहूदक	वव्होदक

ह और र के संयोग में अनेक परिवर्तन होते हैं :

(क) आदिस्थ संयोग में ह शेष रह जाता है :

सं० ह्रेषते, ह्रेषा, ह्रेषित — पा० हेसति, हेसा, हेसित

अपवाद : सं० ह्रस्व — पा० रस्स, मा० हस्स

(ख) स्वरभक्ति और व्यत्यय

सं० ह्रद (सरोवर) — पा० रहद

§ 50. ऊष्म और अनुनासिक का संयोग

(क) प्राकृत के समान पालि में भी व्यत्यय हो जाता है और श, ष, स के स्थान पर ह हो जाता है।

(ख) स्वरभक्ति के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कहीं-कहीं मौलिक रूप में स्वरभक्ति हो जाती है और कहीं व्यत्यय और ह करने के पश्चात् :

श्न का ञ्ह

सं० प्रश्न, पा० पञ्ह (अ०मा० पण्ह), सं० प्रश्निपर्णी, पा० पञ्हिपण्णी।

श्म का म्ह

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अश्मना	अम्हना	अश्मन्	अम्हा, अस्मा
अश्ममय	अम्हमय		

कभी-कभी-कभी पालि में श्म और स्म पूर्ववत् रहते हैं :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
काश्मीर	कश्मीर	वेश्मन्	वेस्म
रश्मि	रस्मि (प्रा० रस्सि, रंसि)		

आदिस्थ श् का लोप

सं० श्मश्रू — पा० मस्सु (अ० मा० मंसु)

ष्ण का ण्ह

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उष्ण	उण्ह	तूष्णीम्	तुण्ही
उष्णीष (पगड़ी)	उण्हीस	विष्णु	वेण्हु
कृष्ण	कण्ह	स्नुषा *सुष्णा	सुण्हा, सुणिसा
तृष्णा	तण्हा		

ष्म का म्ह

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
ग्रीष्म	गिम्ह	युष्मे	तुम्हे
श्लेष्मन्	सेम्ह (अ०मा० सेम्भ, सिम्भ)	युष्माकम्म्	तुम्हाकम्

कहीं-कहीं स्म और ष्म में पविर्तन नहीं होता :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उष्मन्	उस्मा, उसुमा	भैष्म	भेस्म (भयानक)
आयुष्मन्त	आयस्ममन्त (आदरणीय)		

स्न का न्ह

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्नायति	न्हायति	सुस्नात	सुन्हात, सुनहात
स्नान	न्हान	स्नायु	न्हारु, नहारु

स्म का म्ह

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
विस्मय	विम्हय	अस्मि	अम्हि, अस्मि
विस्मित	विम्हित	अस्मात्	अम्हा, अस्मा
अस्मान्	अम्हे, अस्मे	अस्मिन्	अम्हि, अस्मि
अस्माकम्	अम्हाकम्, अस्माकम्	भस्मन्	भस्म

आदिस्थ स्म में स्वरभक्ति

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्मरति	सुमरति, सरति	स्मित	सित, मिहित

विलय-नियम

§ 51. स्वरभक्ति से इतर स्थानों में साधारण नियम यह है कि कि दुर्बल ध्वनि वाला व्यञ्जन प्रबल ध्वनि वाले व्यञ्जन में विलीन हो जाता है। प्राबल्य का क्रम इस प्रकार है :—स्पर्श—ऊष्म—अनुनासिक—ल, व, य, र। परिणाम-स्वरूप :

(क) यदि र, स्पर्श या ऊष्म के साथ, संयुक्त होगा तो वह उनमें विलीन हो जाएगा चाहे वह संयोग के आदि में हो या अंत में।

(ख) जहाँ एक स्पर्श दूसरे स्पर्श के साथ या एक अनुनासिक दूसरे अनुनासिक के साथ संयुक्त है वहाँ प्रथम का द्वितीय में विलय हो जाएगा।

इसके अतिरिक्त नीचे लिखे परिवर्तन भी उल्लेखनीय हैं :

(क) यदि संयोग में एक महाप्राण है तो वह पूर्ण विलय के अनन्तर बने हुए संयोग के अंत में आता है। जैसे :

ख+य = क्ख.

क+थ = त्थ

(ख) यदि मौलिक संयोग में एक ऊष्म है तो विलय के पश्चात् बना हुआ संयोग महाप्राण हो जाएगा : स+त=त्थ।

(ग) यदि संयोग आदि में है तो विलीन वर्णों में केवल एक शेष रहता है और वह साधारणतया द्वितीय होता है :

सं० स्थान पा० थान सं० स्तन पा० थन,

किंतु यदि समास हो तो व्यञ्जन का फिर से द्वित्व हो जाता है :

सं० देवस्थान पा० देवत्थान

संधि में भी कभी-कभी द्वित्व हो जाता है।

(घ) जहाँ विलय के पश्चात् व्व हो जाता है वहाँ पालि में ब्ब आता है, किंतु दूसरी प्राकृतों में व्व ही रहता है। किंतु यदि आदि में व हो तो उसका ब नहीं होता।

(ङ) दन्त्य या ण के पश्चात् यदि य हो तो विलय होने से पहले दन्त्य तथा ण का पालि में तालव्य हो जाता है।

(च) कभी-कभी क्ष में भी क का च हो जाता है।

(छ) जहाँ म के पश्चात् अन्तःस्थ हो वहाँ दोनों के बीच ब आ जाता है, उसके पश्चात् अन्तःस्थ का विलय हो जाता है, या स्वरभक्ति द्वारा विभाजन हो जाता है। उदाहरण :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आम्र	अम्ब	आम्रातक	अम्बाटक
ताम्र	तम्ब	ताम्रपर्णी	तम्बपण्णी

स्वरभक्ति : सं० अम्ल, पा० अम्बिल। सं० गुल्म पा० गुम्ब।

अनुलोम-विलय

§ 52. (क) दो स्पर्शों का संयोग होने पर पूर्व का उत्तर में विलय :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
षट्क	छक्क	मुद्ग	मुग्ग
सक्थि	सत्थि	उद्घात	उग्घात

(ख) ऊष्म का स्पर्श के साथ संयोग हो तो विलय के साथ स्पर्श महाप्राण हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आश्चर्य	अच्छेर	आस्फोटयति	अप्फोटेति, अप्फोटन, अप्फोटित
निष्क	निक्ख, नेक्ख		

आदि में :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्खलति	खलति	स्तनित	थनित
स्तनयति	थनेति	स्पर्श	फस्स

अपवाद : नीचे लिखे शब्दों में विलय नहीं होता :

सं० भस्त्रा पा० भस्त सं० वनस्पति पा० वनस्पति

(ग) अन्त:स्थ का स्पर्श, ऊष्म या अनुनासिक के साथ संयोग हो तो अन्त:स्थ का दूसरों में विलय हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कर्क	कक्क	कर्षक	कस्सक
किल्बिश	किब्बिस	ऊर्मि	ऊमि
वल्क	वाक या वक्क	कल्माष	कम्मास

(घ) दो अनुनासिकों का संयोग हो तो प्रथम का द्वितीय में विलय हो जाता है :

सं० निम्न पा० निन्न सं० उन्मूलयति पा० उम्मूलेति

(ङ) र का ल, य, या व के साथ संयोग हो तो र का विलय हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
दुर्लभ	दुल्लह	निय्यास	निर्यास
आर्य	अय्य, अरिय	संकीर्यते	संकीयति
उदीर्यते	उदिय्यति	कुर्वन्ति	कुब्बन्ति
निर्याति	निय्याति	सर्व	सब्ब
निर्याम	निय्याम	दुर्वृष्टि	दुब्बुट्ठि

अपवाद : कुछ शब्दों में य, का र में विलय हो जाता है। ये उदाहरण प्रतिलोम विलय के हैं :

सं० पूर्यते पा० पूरति सं० जीर्यति पा० जीरति

इसी के सादृश्य पर सं० ह्रियते से पा० हीरति, और सं० भ्रियते से पा० भीरति बन गया।

§ 53. प्रतिलोम-विलय (पूर्व-समीकरण)

प्रतिलोम विलय नीचे लिखे स्थानों में होता है :

(क) संयोग में पहले स्पर्श हो और पश्चात् अनुनासिक :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उद्विग्न	उब्बिग्ग	अभिमथ्नाति	अभिमत्थति
स्वप्न	सोप्प	छद्मन्	छद्दन् (विवत्तच्छद्द)

अपवाद: 'ज्ञ' (ज्ञ) का 'ञ्ञ' अनुलोम विलय (पर-समीकरण) के रूप में होता है।

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
प्रज्ञा	पञ्ञा	राज्ञा	रञ्ञा
प्रज्ञान	पञ्ञान	राज्ञः	रञ्ञो
ज्ञप्ति	ञत्ति		

किंतु 'आणा' (आज्ञा) में ज्ञ का ण हो गया है (देखिए § 62)।

इसी प्रकार रुम्मवती (रुक्मवती) में भी अनुलोम विलय है।

(ख) जब स्पर्श का अन्त:स्थ के साथ संयोग होता है तो प्रतिलोम विलय होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
तक्र	तक्क	श्वभ्र (रन्ध्र)	सोब्भ
उद्र (कदविलाव)	उद्द	शुक्ल	सुक्क

शब्द के आदि में यदि उक्त प्रकार का संयोग हो तो केवल एक स्पर्श रह जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
क्रय-विक्रय	कय-विक्कय	भ्रातर	भातर
त्राण	ताण		

कभी-कभी स्पर्श + र का संयोग अपरिवर्तित रहता है :

न्यग्रोध	निग्रोध	उद्ग्रीयते	उद्ग्रीयति
तत्र	तत्र, तत्थ	अत्रिच्छन्	अत्रिच्छा,
		(अत्र अत्र इच्छन्)	(अभिच्छता : लोभ)
चित्र	चित्र, चित्त	आत्मजा *अत्तजा	अत्रजा
भद्र	भद्र, भद्द		

(ग) जब स्पर्श का अर्द्धस्वर (य, व) के साथ संयोग हो तो प्रतिलोम-विलय होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
शक्य	सक्क	लभ्य	लब्भ
उच्यते	वुच्चति	चत्वारः	चत्तारो
कुड्या (दीवार)	कुड्ड	अध्वन्	अद्धन्
प्रज्वलति	पज्जलति	शाड्वल	सद्दल

आदि में :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्खलति	खलति	स्तनित	थनित
स्तनयति	थनेति	स्पर्श	फस्स

अपवाद : नीचे लिखे शब्दों में विलय नहीं होता :

सं० भस्त्रा पा० भस्त सं० वनस्पति पा० वनस्पति

(ग) अन्तःस्थ का स्पर्श, ऊष्म या अनुनासिक के साथ संयोग हो तो अन्तःस्थ का दूसरों में विलय हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कर्क	कक्क	कर्षक	कस्सक
किल्बिश	किब्बिस	ऊर्मि	ऊमि
वल्क	वाक या वक्क	कल्माष	कम्मास

(घ) दो अनुनासिकों का संयोग हो तो प्रथम का द्वितीय में विलय हो जाता है :

सं० निम्न पा० निन्न सं० उन्मूलयति पा० उम्मूलेति

(ङ) र का ल, य, या व के साथ संयोग हो तो र का विलय हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
दुर्लभ	दुल्लह	निर्यास	निर्यास
आर्य	अय्य, अरिय	संकीर्यते	संकीयति
उदीर्यते	उदिय्यति	कुर्वन्ति	कुब्बन्ति
निर्याति	निय्याति	सर्व	सब्ब
निर्याम	निय्याम	दुर्वृष्टि	दुब्बुट्ठि

अपवाद : कुछ शब्दों में य, का र में विलय हो जाता है। ये उदाहरण प्रतिलोम विलय के हैं :

सं० पूर्यते पा० पूरति सं० जीर्यति पा० जीरति

इसी के सादृश्य पर सं० ह्रियते से पा० हीरति, और सं० भ्रियते से पा० भीरति बन गया।

§ 53. **प्रतिलोम-विलय (पूर्व-समीकरण)**

प्रतिलोम विलय नीचे लिखे स्थानों में होता है :

(क) संयोग में पहले स्पर्श हो और पश्चात् अनुनासिक :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उद्विग्न	उब्बिग्ग	अभिमथ्नाति	अभिमत्थति
स्वप्न	सोप्प	छद्मन्	छद्दन् (विवत्तच्छद्द)

अपवाद: 'ज्ञ' (ज्ञ) का 'ञ्ञ' अनुलोम विलय (पर-समीकरण) के रूप में होता है।

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
प्रज्ञा	पञ्ञा	राज्ञा	रञ्ञा
प्रज्ञान	पञ्ञान	राज्ञः	रञ्ञो
ज्ञप्ति	ञत्ति		

किंतु 'आणा' (आज्ञा) में ज्ञ का ण हो गया है (देखिए § 62)।

इसी प्रकार रुम्मवती (रुक्मवती) में भी अनुलोम विलय है।

(ख) जब स्पर्श का अन्तःस्थ के साथ संयोग होता है तो प्रतिलोम विलय होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
तक्र	तक्क	श्वभ्र (रन्ध्र)	सोब्भ
उद्र (ऊदबिलाव)	उद्द	शुक्ल	सुक्क

शब्द के आदि में यदि उक्त प्रकार का संयोग हो तो केवल एक स्पर्श रह जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
क्रय-विक्रय	कय-विक्कय	भ्रातर	भातर
त्राण	ताण		

कभी-कभी स्पर्श + र का संयोग अपरिवर्तित रहता है :

न्यग्रोध	निग्रोध	उद्ग्रीयते	उद्ग्रीयति
तत्र	तत्र, तत्थ	अत्रिच्छन् (अत्र अत्र इच्छन्)	अत्रिच्छा, (अभिच्छता : लोभ)
चित्र	चित्र, चित्त	आत्मजा *अत्तजा	अत्रजा
भद्र	भद्र, भद्द		

(ग) जब स्पर्श का अर्द्धस्वर (य, व) के साथ संयोग हो तो प्रतिलोम-विलय होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
शक्य	सक्क	लभ्य	लब्भ
उच्यते	वुच्चति	चत्वारः	चत्तारो
कुड्या (दीवार)	कुड्ड	अध्वन्	अद्धन्
प्रज्वलति	पज्जलति	शाद्वल	सद्दल

शब्द के आदि में केवल पहला स्पर्श रह जाता है :

क्वथित	कठित	ध्वनित	धनित
द्विज	दिज		

अपवाद : शब्द के आदि में 'द्व' का व (ब) भी देखा जाता है, अर्थात् द्व का अनुलोम विलय अर्थात् पर-समीकरण (ब्ब) होकर पहले ब का लोप हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
द्वादश	बारस	द्वात्रिंशत्	बत्तिस
द्वाविंशति	बावीसति		

कई बार स्पर्श+अर्द्धस्वर का संयोग यथास्थित रहता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
वाक्य	वाक्य	त्वा	त्वा
आरोग्य	आरोग्य	त्वान	त्वान
क्व	क्वं	द्वे	द्वे
क्वचित्	क्वचि	द्वेधा, द्विधा	द्विधा

जहाँ द्व मौलिक नहीं है वहाँ अनुलोम विलय के अनुसार उसका व्व होकर ब्ब हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उद्विग्न	उब्बिग्ग	उद्वेजितर	उब्बेजितर
उद्वेल्ल	उब्बिल्ल	तद्वंशिक	तब्बंसिक
उद्वासीयते	उब्बासीयति	षड्वर्ण	छब्बण्ण
उद्वर्तयति	उब्बट्टेति	षड्विंशति	छब्बीसति
(तेल मलता है)	(हि० उबटन)	उद्विनय	उब्बिनय

§ 54. (क) ऊष्म का अन्तःस्थ या अर्द्धस्वर के साथ संयोग हो तो प्रतिलोम् विलय होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
मिश्र	मिस्स	अश्व	अस्स
अवश्यम्	अवस्सं	परिष्वजति	पलिस्सजति
वयस्य	वयस्स		

शब्द के आदि में केवल 'स' आता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
स्रोत	सोत	स्यन्दन	संदन
श्लेष्म	सेम्ह	श्वेत	सेत

अपवाद : स्वे, सुवे (सं० श्वः) में व का विलय नहीं होता। इसी प्रकार 'स्वातनाय' (सं० श्वस्तनाय), स्वाक्खात (सं० स्वाख्यात), स्वागत (सं० स्वागत) आदि शब्दों में भी।

(ख) भविष्यत्काल के स्य का ह् हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
एष्यसि	एहिसि, एस्ससि	करिष्यासि	काहासि
एष्यति	एहिति एस्सति	करिष्यति	काहाति
करिष्यामि	काहामि		

(ग) अनुनासिक एवं ल का अर्द्धस्वरों के साथ संयोग होने पर प्रतिलोम-विलय होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
समन्वेति	संमन्नति	विल्व, बैल्व	विल्ल, वेल्ल
समन्वेषति	समन्नेसति	खल्वाट	खल्लाट
किण्व	किण्ण	पर्यङ्क	पल्लंक
रम्य	रम्म	पर्यस्त	पल्लत्थ
कल्प	कल्ल		

अपवाद: 'न्व' कहीं-कहीं अपरिवर्तित रहता है :

अन्वदेव	अन्वदेव	अन्वय	अन्वय (किंतु दुरन्नय)
अन्वेति	अन्वेति		

इसी प्रकार 'म्य' भी कहीं-कहीं परिवर्तित नहीं होता :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
काम्य	कम्य	काम्यता	कम्यता

ल्य भी अपरिवर्तित

सं० माल्य, पा० मल्य, किंतु प्रत्यय में पिप्फलमा (पिप्फली)।

(घ) व्य, व्र का संयोग व्ब बन जाता है :

परिव्यय	परिव्बय	तीव्र	तिव्ब
उदयव्यय	उदयव्बय	पतिव्रता	पतिव्बता

शब्द के आदि में अकेला व पाया जाता है :

सं० व्यपयन्ति पा० वपयन्ति

सं० व्याड (मांसभक्षी पशु) अथवा व्याल (सर्प) पा० वाळ

सं० व्रत पा० वत सं० व्यव- पा० वो-

इसी प्रकार उदयवय (उदयव्यय) आदि समासों में भी एक व मिलता है।

अपवाद : व्यासेक, व्यावट (व्यापृत)। (तटवर्ती प्रदेशों में व्य के स्थान पर ब्य लिखा जाता है)।

पठव्या अथवा पठवियम्, उदेयव्यय आदि शब्दों में भी मध्यस्थ 'व्य' पूर्ववत् बना रहता है।

तालु-विधि

§ 55. य के साथ संयुक्त होने पर तवर्ग और ण का तालव्य वर्ण हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सत्य	सच्च	रथ्या	रच्छा, रथिया
छिद्यते	छिज्जति	द्वैध्य	द्वेज्झ
अन्य	अञ्ञ	जात्या	जच्चा, जातिया
नाड्या	नज्जा, नाडिया		

शब्द के आदि में

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
त्यजति	चजति	द्योतते	जोतति
न्याय	ञाय		

ण्य का ञ्ञ:

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कर्मण्य	कम्मञ्ञ, कम्मणिय	पिण्याक	पिञ्ञाक (तेल का बना पदार्थ, हींग)

मूर्धन्य+य के संयोग में तालूकरण का नियम लागू होता है :

संस्कृत	पालि
विकुरण्ड[1], *वैकुरण्ड्य	>वेकुरञ्ज

अपवाद : सं० आढ्य, पा० अड्ढ।

जब य से प्रारम्भ होने वाले शब्द से पहले 'उद्' उपसर्ग हो तो द्य का य्य (अनुलोम-विलय या पर-समीकरण) हो जाता है :

उद्यान	उय्यान	उद्युक्त	उय्युत्त।

§ 56. क्ष का परिवर्तन

संस्कृत का क्ष पालि में क्ख अथवा च्छ के रूप में बदल जाता है। पिशल का मत है कि जहाँ भारत-ईरानियन भाषा में क्ष (अवेस्ता में $\chi\check{s}$) रहा है वहाँ क्ख

1. कुरण्ड—'अण्डकोष-वृद्धि' नामक एक रोग, विकुरण्ड—इस रोग से रहित।

होता है और जहाँ श्ष (अवेस्ता का $\check{s}$) रहा है वहाँ-वहाँ च्छ होता है। यद्यपि संस्कृत में दोनों का क्ष हो गया है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पालि और प्राकृत में परिवर्तनों का आधार उपर्युक्त रहा है। दोनों भाषाओं के उदाहरणों से पिशल के मत का समर्थन नहीं होता। उनसे यही प्रतीत होता है कि क्ख और च्छ किसी आधार के बिना होते रहे हैं। कहीं-कहीं उपर्युक्त नियम का अनुसरण भी मिलता है किंतु अधिकतर उदाहरण अवेस्ता के विपरीत हैं। बहुत से उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ पालि और प्राकृत में समानता नहीं है। एक में क्ख है तो दूसरी में च्छ। कई जगह दोनों भाषाओं में दोनों विकल्प समकक्ष रूप में पाए जाते हैं :

(क) सं० 'दक्षिण' का प्राकृत और पालि में दक्खिण मिलता है किंतु अवेस्ता में da$\check{s}$ina (दशिन) है।

सं० मक्षिका का पालि में मक्खिका होता है और प्राकृत में मच्छिअ, अवेस्ता में मशि (maχ$\check{s}$i) है।

शब्द के आदि में :

सं० क्षुधा, प्रा० खुहा और छुहा, पा० खुदा अवे० शुदा

इसी प्रकार,

सं० कक्ष	प्रा०, पा० कच्छ०	अवे० कश
सं० तक्षति	प्रा० तक्खइ, तच्छइ	अवे० तशन्

शब्द के आदि में

सं० क्षारिका, पा० छारिका०

कई बार पालि के उसी शब्द में क्ख और च्छ का विकल्प होता है :

सं० अक्षि	प्रा०, पा० अच्छि, अक्खि, अवे० अशि
सं० इक्षु	प्रा० पा० उच्छु, अ० मा० उक्खु

*उक्काक तथा उक्खक > सं० इक्ष्वाकु, पा० ओक्काक

*इक्ख (रीछ) > पा० इक्क, सं० ऋक्ष > पा० अच्च

सं. क्षण शब्द का जब पा० छण होता है तो उसका अर्थ है 'उत्सव', और जब खण बनता है तो उसका अर्थ है 'समय'।

इसी प्रकार सं० 'क्षमा' का जब पा० छमा होता है तो उसका अर्थ है पृथ्वी, और जब 'खमा' होता है तो उसका अर्थ है अपराध क्षमा करना।

जहाँ भारत-ईरानियन भाषा में झ्श ($z\check{s}$) है, जो कि संस्कृत में क्ष (क्ष) है, तो वहाँ पालि में ग्घ अथवा ज्झ हो जाता है और प्राकृत में ज्झ। उदाहरण—

सं० प्रक्षरति, पा० पग्घरति। इसी प्रकार पा० उग्घरति।

शब्द के आदि में सं० 'क्ष' पा० में 'झ' मिलता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
क्षाम	झाम	क्षायति	झायति
क्षापयति	झापेति		(अ० मा० झियाई)

§ 57. त्स और प्स

पालि में त्स और प्स का च्छ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
कुत्सित	कुच्छित	मत्सरिन	मच्छरिन
वत्सतर	वच्छतर	अप्सरा	अच्छरा
जुगुप्सा	जिगुच्छा	जुगुप्सते	जिगुच्छति
ईप्सते, इच्छति	इच्छति		

अपवाद : स्थानीय प्रभाव के कारण शब्द के आदि में 'त्स' का थ भी :

सं० त्सरु (तलवार की मूंठ) पा० थरु, छरु

शब्द के आदि में भी प्स का छ ही होता है :

सं० प्सात (1. खाया हुआ, 2. भूखा) पा० छात

दो पदों के मिलने पर जब प्रथम पद के अंत में स्थित त् द्वितीय पद के आदि में स्थित् स् या श् के साथ मिलता है तो दोनों के स्थान पर अनुलोम-विलय (पर-समीकरण) के कारण 'स्स' हो जाता है, किंतु कहीं-कहीं, विशेषतया उद् के संयोग में, च्छ भी मिलता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उत्सद	उस्सद (रगड़)	उत्सादन	उच्छादन (रगणाहट)
उत्सन्न	उस्सन्न (बढ़ा हुआ)	उत्सव	उस्सव
उत्सहते	उस्सहति	उत्साह	उस्साह
*उत्सोढि	उस्सोढि	उत्सिञ्चति	उस्सिञ्चति
उत्सुक	उस्सुक	औत्सुक्य	उस्सुक्क
उत्सूर	उस्सूर (सायम्)	तत्सारूप्य	तस्सारुप्प

सं० त्स के स्थान पर पा० च्छ भी मिलता है :

उत्सङ्ग	उच्छङ्ग	उत्सादन	उच्छादन

त्श का स्स

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उत्+शङ्किन्	उस्सङ्किन्	उत्+शीर्षक	उस्सीसक
			जैन महा० (ऊसीसअ)

श्श का च्छ

उत्+शुष्यति	उच्छुस्सति	उत्+शिष्ट	उच्छिट्ठ

§ 58. दो से अधिक व्यंजनों का संयोग

विलय (समीकरण) के सामान्य नियमानुसार दो से अधिक व्यंजनों के संयोग में दो व्यंजन रह जाते हैं :

(क) जहाँ संयोग के आदि में अनुनासिक हो और उसके पश्चात् स्पर्श हो तो अनुनासिक ज्यों का त्यों रहेगा और उत्तरवर्ती व्यंजनों का ध्वनि-नियमों के अनुसार सरलीकरण हो जाएगा :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आनन्त्य	आनञ्च	कांक्षा	कंखा
रन्ध्र	रन्ध		

(ख) जब कोई गुरु व्यंजन (स्पर्श अथवा ऊष्म), लघु व्यंजनों (अनुनासिक, द्रुत अथवा अर्धस्वर) के बीच में हो तो पहले प्रथम लघु व्यंजन का विलय होगा :

सं० मर्त्य, र् का त् में विलय—मत्त्य, मत्य, मच्च ।
सं० पार्ष्णि (एड़ी) र् का ष में विलय—पष्ष्णि, पण्हि, पाण्हि ।
सं० अकार्ष्म (हमने किया), र् का ष् में विलय—अकष्ष्म, अकष्म, अकम्ह ।

स्वरभक्ति

सं० वर्त्मन्—वट्टम> वट्म> वटुम (टु में 'उ' स्वरभक्ति)
सं० पार्ष्णि(एड़ी)— पष्ष्णि> पष्णि> पाषनि (ष में 'अ' स्वरभक्ति)

(ग) इसी प्रकार जब संयोग का अंतिम व्यंजन लघु है और प्रथम दो गुरु हैं, अथवा उनमें से एक गुरु और एक लघु है तो पहले प्रथम दो व्यंजनों का समीकरण :

सं० उष्ट्र—ष् का ट् रूप में समीकरण—उट्ठ्र> उठ्र> ओट्ठ
सं० तीक्ष्ण—तिक्ख्ण> तिख्ण> तिक्ख तथा तिखिण (इ स्वरभक्ति)
सं० दंष्ट्रा—दट्ठेरा> दाढ्रा> दाठा> दट्ठा ।

उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं-कहीं स्वरभक्ति भी हो जाती है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
पक्ष्मन्	पखुम (उ स्वरभक्ति)	समुच्छ्रित	समुस्सित
सूक्ष्म	सुखुम	समुच्छ्रय	समुस्सय
उच्छ्रापयति (उद् √श्रि)	उस्सापेति (उठाता है)		

अपवाद : क्त्वा में व का विलय नहीं होता :

मुक्त्वा	मुक्त्वा	प्र+आप्त्वा	पत्वा
उक्त्वा	वत्वा		

इसी प्रकार नीचे लिखे रूपों में य बना रहता है :

रात्र्याम्	रत्या	रात्र्यः	रत्योः
अग्न्यन्तराय	अग्यन्तराय	अग्न्यागार	अग्यागार

समस्त पदों में केवल गुरु व्यंजनों के संयोग मिलते हैं :

उत्क्षरति	उग्घरति	निष्क्षुभ्यति	निच्छुब्वति

इन उदाहरणों से पहले क्ष वा क्रमशः छ और क्ष हो गया है, उसके पश्चात् उपसर्ग के अंतिम व्यंजन का विलय हुआ है।

§ 59. **विशेष विवरणीय**

(क) क्ष्ण, क्ष्म, त्स्न के संयोग क्रमशः ष्ण, ष्म, स्न के रूप में समझे जा सकते हैं। और 'फिर' क्रमशः ण्ह, म्ह और न्ह में बदल जाते हैं—

श्लक्ष्ण	सण्ह	ज्योत्स्ना	जुण्हा, जुन्हा, जोण्हा(प्रा०)
तीक्ष्ण	तिण्ह, तिक्ख, तिखिण	ज्योत्स्न	दोसिन, जुण्ह,
अभीक्ष्णम् (बारबार)	अभिण्हं, अभिक्खणम्	कृत्स्न	कसिन
अभीक्ष्णशः (निरन्तर)	अभिण्हसो	कृच्छ्र	कसिर, किच्छ (किच्छेन कसिरेन)
पक्ष्मन्	पम्ह,पखुम	ऊर्ध्वम्	उद्धं, उब्भम्[1]
दृष्ट्वा	दिस्वा (अ०मा० दिस्सा)		

15. संयोगों में अनियमित परिवर्तन

§ 60. (क) संयुक्त व्यंजनों में जो अनियमित परिवर्तन होते हैं उनका एक रूप है—'भ्य' में 'भ्' का ह् । तत्पश्चात् व्यत्यय के कारण 'य्' पहले आ जाता है और 'य्ह' बन जाता है। उदा०—सं० तुभ्यम्, पा० तुय्हम् ।

प्रतीत होता है यह रूप 'मह्यम्' के मिथ्या-सादृश्य के कारण हुआ है।

(ख) इसी प्रकार 'ध्व' का 'व्ह' हो जाता है। मध्यम पुरुष बहुवचन के 'ध्वे' का 'व्हे' हो जाता है।

(ग) कुछ शब्दों में अनुनासिक के पश्चात् 'ह' और घोष महाप्राण स्पर्श विकल्प से पाए जाते हैं। उदा०—

पा० सुम्भति, सुम्हति (आघात करता है), संभवतः सं० √सुम्भ

पा० वम्भेति, वम्हेति (शर्माता है), वम्भना, वम्हना (लाज), संभवतः सं० √वम्भ

1. ऊर्ध्वम्>'उब्भम्' में ध्व>द्व>ब्व>ब्व।

(घ) रुन्धति के स्थान पर 'रुम्भति' 'रुम्हति' भी रूप मिलते हैं। प्रतीत होता है 'रुन्ध्' के समान 'रुम्' भी स्वतंत्र धातु रही होगी।

(ङ) इसी प्रकार 'समुद्धत' से 'समूहत' बन गया।

§ 61. अनुनासिक के पश्चात् निम्नोक्त परिवर्तन होते हैं

(क) कठोर व्यंजन प्राय: मृदु हो जाते हैं :

निघण्टु	निघण्डु	अध्युष्ठ (साढ़े तीन)	अड्ढुड्ढ
ग्रन्थ	गन्ध	प्रोञ्छति	पुञ्जति
हन्त	हन्द	शक्ष्यसि	सग्घसि

(ख) कई स्थानों में अनुनासिक के पश्चात् मध्य व्यंजन कठोर हो जाता है :

भृङ्गार	भिङ्कार, भिङ्गार	तीव्र	तिप्प, तिव्व
विलग्न	विलक्क, विलाक (दुबला पतला)		

§ 62. कई स्थानों पर निर्वचन-नियमों के विपरीत

1. अल्पप्राण का महाप्राण हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
शृङ्गाटक (चौराहा)	सिघाटक, (अ०मा० सिंघाडक)	पिप्पल	पिप्फल
स्कन्दपुर	खन्धपुर	पिप्पली, —लि	पिप्फली

(ख) यदि पूर्व में र हो तो यह महाप्राण बाहुल्य से होता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
अर्चि (ज्वाला)	अच्छि, अच्चि	कूर्च (गुच्छा)	कोच्छ

(ग) यदि संयोग र पर हो तो भी कहीं-कहीं महाप्राण हो जाता है :

तत्र	तत्थ	श्रोत्रिय (वेद-प्रवीण)	सोत्थिय, सोत्तिय

परिप्रोषयति (परि√प्रुष्) (छिड़कता है) परिप्फोसेति, परिप्रोषक (-षित) परिप्फोसक (छिड़का हुआ)

(घ) शब्द में आदि में महाप्राणीकरण

सं० क्रीडा प्रा० खिड्डा, कीला वै० सं० प्राशु (क) पा० फासुअ।

2. कहीं-कहीं महाप्राण का अल्पप्राण हो जाता है :

लोध्र. रोघ्र (वृक्ष-विशेष)	लोद्द	*मिलच्च, *मिलच्छ	मिलाच, (वनवासी), मिलच्च, मिलच्छ, मिलक्ख।
बभ्रु (क) (भूरा)	बब्बु (क)		
बुध्न (पेड़ की जड़)	बुन्द ('न' का व्यत्यय)		
मूर्छति	मुच्चति	लुब्ध (क) (शिकारी)	लुद्द (क)[1]
मर्थ	अट्ट		

1. सम्भवतया 'लुद्द' रूप 'रुद्र' के साथ मिश्रण के कारण हुआ है।

3. (क) जब संयोग में ऊष्म मिला हुआ हो तो महाप्राण प्रायः नहीं होता :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
सश्चयिष्यति (वै०)√सश्च्	सच्चेस्सति (बाधा डालेगा)	अभिवृष्ट प्रति √ष्वष्क	अभिवट्ट, वट्ट, वुट्ट पच्चासक्कति
किष्कु (निन्द्य)	कुक्कु	तस्कर	तक्कर
चतुष्क	चतुक्क	संत्रस्त	संतत्त
नैष्पेपिक (धोखेबाज)	निप्पेसिक	इन्द्रप्रस्थ	इन्दपत्त, पत्थ
वाष्प	वप्प	लेष्टु	लेट्ठु, लेट्ठु, लेड्डु
मृष्ट	मट्ट, मट्ठ		

('लेड्डु' में सारा संयोग मृदु हो गया।)

(ख) नीचे लिखे उदाहरणों में समास के कारण महाप्राण नहीं हुआ :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
निश्चल	निच्चल	नमस्कार	नमक्कार
दुश्चरित	दुच्चरित	मध्यस्थ	मज्झत्त।
दुस्तर	दुत्तर		

(ग) ऊष्म परे होने पर महाप्राण का अभाव :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
*धंख, सं० ध्वांक्ष (सारस)	धंक	इक्ष्वाकु	ओक्काक
ऋक्ष	इक्क	तक्षशिला	तक्कसिला

(घ) शब्द के आदि में सम्भावित महाप्राण का अभाव :

क्षुद्र	कुड्ड, खुड्ड	क्षुल्ल (क्षुद्र)	चुल्ल, चूल

§ 63. व्यंजनों का परिवर्तन

(क) तालव्य का कण्ठ्य

भिषज् (वैद्य)	भिसक्क	भेषज (दवाई)	भेसज्ज

(ख) तालव्य के स्थान पर मूर्धन्य

आज्ञा	आणा	आज्ञप्त	आणत्त
आज्ञापयति	आणापेति	आज्ञप्ति	आणत्ति

अपवाद : अञ्ञा (परम ज्ञान), अञ्ञातर (परमज्ञानी), अञ्ञाय (आज्ञाय)

नीचे लिखे रूपों में भी मूर्धन्य हो गया :

पञ्चदश	पण्णरस	पञ्चविंश	पण्णुवीस

(ग) तालव्य के स्थान में दन्त्य

उच्छिष्ट	उत्तिट्ठ	उच्छिष्ट पात्र	उत्तिट्ठ पत्त

(घ) शब्द के आदि में स्थित ज्य के स्थान में द

ज्योत्स्ना दोसिन

§ 64. तालव्य के स्थान में मूर्धन्य बाहुल्य से होता है। किंतु इसका कारण पार्श्ववर्ती व्यञ्जन का उच्चारण-स्थान है। परिणाम-स्वरूप :

(क) र के प्रभाव के कारण र्त, र्द और र्ध का क्रमशः ट्ट, ड्ड और ड्ढ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
आर्त	अट्ट	कैवर्त (मछिहारा)	केवट्ट
छर्दयति (दूर फेंकता है)	छड्डेति	वर्द्धते √वृध्	वड्ढति (वुड्ढ, वड्ढ, बुड्ढ, वुड्ढ, वुड्ढि, वड्ढि आदि अनेक रूप √वृध् धातु से निष्पन्न हैं)
अर्थ (अभियोग)	अट्ट[1]	अर्थ (सम्पत्ति)	अत्थ[2]
वर्तते √वर्त (उचित है)	वट्टति[3]	वर्तते √वर्त (होता है)	वत्तति[4]।

इसी प्रकार—

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
वृत्त	वट्ट (गोल)	वृत्त	वत्त (कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व)
	आवट्टति पवट्टति (इधर उधर घूमता है)		
आवर्त	आवट्ट	संवर्त	संवट्ट
विवर्त	विवट्ट		

(ख) मूल 'र' के प्रभाव से 'न्त' का भी ण्ट हो जाता है :

वृन्त	वण्ट	तालवृन्त	तालवण्ट

आर्द्र *अड्ढ, *अड्ढ अल्ल

(ग) ऊष्म के प्रभाव से भी मूर्धन्य हो जाता है :

√स्था	ठाति, ठहति (ठहरता है)	स्थान	ठान
संस्थान	संठान	प्रस्थाय	पट्ठाय
कूटस्थ (अचल)	कूटट्ठ		

1-4. स्पष्टतः इन चारों शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन अर्थ के आधार पर हुआ है।

(घ) अनियमित मूर्धन्य :

जानुक	जण्णुक, जन्नु(क)	कपित्थ	कविट्ठ, कपित्थ
दग्ध	दड्ढ	(कैथ नामक वृक्ष)	

16. व्यत्यय तथा निगलन

§ 65. (क) जहाँ अनुनासिक का ह, अर्द्धस्वर अथवा ऊष्म के साथ संयोग हो वहाँ व्यत्यय हो जाता है। ऐसी स्थिति में स् का ह हो जाता है। किंतु रंसि (रश्मि) में व्यत्यय के अनन्तर भी स विद्यमान है। जब 'र्य' का व्यत्यय 'य्र' हो जाता है तो स्वरभक्ति के द्वारा बीच में अ अथवा इ आजाता है। (दे० § 47)

गुल्म का गुम्ब (दे० § 51)
बुध्न का बुन्द (दे० § 62)
गर्दभ का गद्रभ (अनियमित)

वर्ण-निगलन

जहाँ एक-सरीखे उच्चारण वाले वर्ण दो बार बोले जाते हैं उनकी जगह प्रमाद के कारण एक ही का बोला जाना वर्ण-निगलन है :

सं० अर्द्धतृतीय (साढ़े तीन), *अड्ढततिय, पा० अड्ढतिय तथा अड्ढतेय्य (एक 'त' का बोला जाना)

सं० विज्ञानानन्त्यायतन (अनन्त विज्ञान का निवास-स्थान) >विञ्ञाणानञ्चायतन >विञ्ञाणञ्चायन ('णानञ्चा' का 'णञ्चा' बोला जाना)।

अनियमित उदाहरण

पविसिस्समि	पविस्सामि
सोस्ससि	सोस्सि
विपस्ससि	विपस्सि
गच्छिस्ससि	गच्छिसि
* सक्खिसि, सक्खिस्ससि	सक्खी
आसादितुम्	आसादुम्

ई वाली धातुओं में यह निश्चय करना कठिन है कि इन्हें स्वाभाविक माना जाए या वर्ण-निगलन। उदाहरण :

*जयेय्यम् √जि	जेय्यम्
*नयेय्यम् √नी	नेय्यम्

17. सन्धि

§ 66. आदि और अन्त में

(क) पालि में शब्द के प्रारम्भ में सदा एक स्वर या एक व्यंजन रहता है। कुछ शब्दों के आदि में स्थित ध्वनि विचित्र रूप में बदल जाती है। इसका कारण सन्धि द्वारा बने हुए रूपों का स्थिरीभाव है जिससे सन्धि के बिना भी उन रूपों का प्रयोग होने लगा :

(क) आदि स्वर का विकल्प से लोप हो गया :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
इव	व, इव	एव	व, एव
अपि	पि, अपि	इति	ति, इति
इदानीम्	दानी, इदानी	*अधेष्ठात्	हेट्ठा
एन (सर्वनाम)	न		

नीचे लिखे उदाहरण भी सन्धि-रूपों के हैं जो कि स्वर के पश्चात् आने पर बने हैं :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
उपवसथ	उपोसथ, पोसथ	अग्नि (*अगिनि)	गिनि
अवतंस	वतंस(क)	अवलंजति (प्रयोग में लाता है)	वलंजति

इसी प्रकार जहाँ इ (ए) से पहले 'य', और उ (ओ) से पहले 'व' आता है उसे भी सन्धि का स्थिरीकरण मानना चाहिए :

इष्ट (यज्ञों से पूजा गया)	यिट्ठ	उक्त	वुत्त
उप्त (बोया हुआ)	वुत्त	उप्त (कुतरा/फटा हुआ)	वुत्त
उषित (बसा हुआ)	वुसित	ऊढ	वूळ्ह
समूढ	संवूळ्ह, उब्बूळ्ह (वन्त)		

कुछ उदाहरणों में यह संदिग्ध है कि वो—'एव—>ओ' का रूप है या 'व्यव—' का।

इसी प्रकार सन्धि-स्थिरीकरण के रूप भी हैं :

एव येव विय[1] इव

व, पि और ति में भी वही नियम लागू होता है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। वे सबके सब स्वतंत्र वैकल्पिक रूप बन गए हैं। पि और ति का यह रूप अनुस्वार के पश्चात् आने पर बनता है—अनुस्वार, 'पि' से पहले 'म्', और 'ति' से पहले 'न्' बन जाता है :

यम्+अपि यम्पि तम्+अपि तम्पि

आलपितुम्+इति आलपितुन्ति

एव येव, और व के विषय में नीचे लिखी प्रक्रिया प्रतीत होती है :

(1) 'एव' प्रायः ज्यों का त्यों रहता है :

(क) यदि 'एव' स्वर के पश्चात् हो तो स्वयं स्वर का लोप हो जाता है। उदाहरण : सं० 'तस्य एव' पा० 'तस्स एव'।

(ख) यदि 'एव'—अं,—इं के पश्चात् हो तो 'अं' अम् बन जाता है और 'इं' इम्,

(ग) यदि 'एव' इ के पश्चात् हो तो इ का लोप हो जाता है,

(2) —अ, —इ, —उ, —ए तथा अनुनासिक स्वर के पश्चात् 'येव' आता है।

(3) —आ, —ए, —ओ के पश्चात् 'व' आता है।[2]

अनुनासिक स्वर के पश्चात् सन्धि-निष्पन्न रूप मिलते हैं जो उनके निकट संबंध को प्रकट करते हैं : 'त्वं ञेव' अथवा 'त्वञ् ञेव'।

संस्कृत 'इव' के पालि में तीन रूप होते हैं—इव, विय और व :

(क) 'इव' विशेष रूप से पद्य में अ के पश्चात् पाया जाता है और उसके साथ मिलकर ए हो जाता है।

(ख) 'विय' अधिकतर गद्य में अ, आ, ओ और अनुनासिक के पश्चात् आता है।

(ग) 'व' अधिकतर गाथाओं में दीर्घ या अनुनासिक के पश्चात् आता है।

पालि में शब्द के अंत में स्वर ही रहता है और वह अनुनासिक भी हो सकता है। यदि शब्द के अंत में मूल रूप से व्यंजन हो तो उसका लोप हो जाता है। न् और म् का अनुस्वार हो जाता है।

---

1. विय 'यिव' के व्यत्यय से बना प्रतीत होता है।
2. उल्लेख्य है कि (क) 'येव' की अपेक्षा 'एव' का प्रयोग दस-बारह गुना अधिक मिलता है, और (ख) येव की अपेक्षा 'व' का प्रयोग आधा मिलता है।

कुछ शब्दों में अंतिम म का लोप भी हो जाता है :

सं० तूष्णीम् पा० तुण्ही सं० इदानीम् पा० इदानी

इसके लिए नीचे लिखे नियम उल्लेखनीय हैं :

(क) अन्त्य अस् और अर् का 'ओ' हो जाता है :

सं० ततस् पा० ततो सं० प्रातर् पा० पातो

अपवाद : 'पुनर्' शब्द से 'पुना' और 'पुनो' दोनों रूप मिलते हैं।

क्रिया-प्रत्ययों में संस्कृत '—अस्' के स्थान में '—आ' मिलता है;

कहीं-कहीं ओ के स्थान में ए भी मिलता है, यह मागधी का प्रभाव है।

पूर्वस् पुरे श्वः स्वे, सुवे

यही परिवर्तन प्रत्ययों में भी होता है (दे० § 80, 82 और 98)।

(ख) व्यञ्जन का लोप होने के पश्चात् जो स्वर अंत में आ जाता है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता, किंतु मात्रा को क़ायम रखने के लिए दीर्घ हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
धिक्	धी	प्रापतत्	पपता
मधुवत्	मधुवा		

इस प्रकार—सं० 'परिवत्' से पा० 'परिसा' एक नया रूप बन गया है।

कहीं-कहीं अंतिम स्वर का ह्रस्व हो जाता है :

सं० अब्रवीत् पा० अब्रवि

कहीं उसका अनुनासिक हो जाता है :

संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
मनाक्	मनं	तिर्यक्	तिरियं
सकृत्	सकिं	कृत्वस्+अदस्	खट्टुं[1]

क्रियापदों में सं० 'उस्' के स्थान पर पा० 'उ' प्रत्यय हैं।

§ 67. सम्मिलित पदों में सन्धि के नियम प्रायः संस्कृत के समान हैं, विशेषतया उन समासों मे जो प्राचीन काल से लिए गए हैं। संयोग में परस्पर-विलय § 49 के अनुसार होता है।

स्वरसन्धि

संस्कृत	पालि
महा+उदधि=महोदधि	महोदधि

1. देखिए पृष्ठ 68 पा० टि० 2

काक+उलूक=काकोलूक	काकोलूक
महा+ईश+आख्य=महेशाख्य	महेसक्ख
अग्नि+अन्तराय=अग्न्यन्तराय	अग्यन्तराय
अनु+एति=अन्वेति	अन्वेति

व्यंजनसंधि

तत्+मय=तन्मय	तम्मय
तत्+निश्चित=तन्निश्चित	तन्निस्सित
जरत्+गव=जरद्गव	जरग्गव
तत्+विपरीत=तद्विपरीत	तब्बिपरीत

पद-समवाय में प्रथम पद का लुप्त अन्तिम व्यंजन फिर से प्रकट हो जाता है:

पुनर्भव (पुनर्जन्म)	पुनब्भव
षट्पञ्चवाचाभिः (पांच या छह शब्दों से)	छप्पञ्चवाचाहि
सकृदागामिन् (जिसने एक बार तो अवश्य पैदा होना है)	(सकिम्+आगमिन्=) सकदागामिन्

उत्तर पद के आदि में द्वित्व व्यंजन भी फिर से प्रकट हो जाता है:

सुव्रत	सुब्बत

किन्तु पालि में सदा एक-सा नियम नहीं रहता।

(क) स्वरसंधि में प्रायः एक स्वर उड़ जाता है:

सं० स्मृति+उपस्थान=स्मृत्युपस्थान (पा० सति+उपट्ठान=) सतिपट्ठान (एकनिष्ठ होकर की गई साधना)।

(ख) कई जगह पद-समवाय में भी सन्धि नहीं होती:

संस्कृत	**पालि**
पात्रं सोदकम् (पात्रः सोदकः)	पत्तो स उदको
अत्यग्निना	अति अग्गिना

(ग) कभी-कभी सन्धि में स्थित स्वरों में एक दीर्घ हो जाता है और दूसरा उड़ जाता है: सं० हित+उपचार, पा० हितूपचार।

(घ) कभी-कभी सन्धि-स्थल में व्यंजन आ जाते हैं:

संस्कृत	**पालि**	**संस्कृत**	**पालि**
निषीद पुष्पासने	निसीद पुप्फमासने	सु+ऋजु	सुहुजु

(ङ) कहीं-कहीं द्वितीय पद का आदि व्यंजन द्वित्व नहीं होता:

सं० सुप्रतिपन्न	पा० सुपटिपन्न, सुप्पटिपन्न

व्यंजन-सन्धि में प्रथम पद अपने विशिष्ट रूप में रहता है :

सं० प्रादुर्भाव, पा० पातुभाव (र् का भ में समीकरण नहीं हुआ, अतः 'ब्भा' नहीं बना), सं० अन्तर्वन, पा० अन्तोवन।

§ 68. पालि में बाह्य सन्धि संस्कृत से सर्वथा भिन्न है। यह इच्छा पर निर्भर है, तथा वाक्य के सभी शब्दों पर लागू भी नहीं होती। केवल उन्हीं शब्दों में सन्धि होती है जो परस्पर अत्यन्त निकट हैं। विण्डिश का कथन है कि पालि में सन्धि संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन और अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है। सन्धि नीचे लिखी दशाओं में हो जाती है :

(क) उद्देश्य और विधेय के क्रियापद में।

(ख) क्रिया और कर्म में।

(ग) विशेषण और विशेष्य में।

(घ) दो विशेषणों में।

(ङ) क्रिया-विशेषण और क्रिया में।

(च) विधेय के संज्ञापद और संयोग पद में।

(छ) क्रिया-विशेषण और कर्म में।

(ज) सम्बोधन और पूर्ववर्ती शब्द में।

(झ) निपात और सर्वनाम की अपने पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती शब्दों में।

सामान्य रूप से पद्यों में मात्रा-नियम के लिए सन्धि अधिक होती है। गद्य में इतनी नहीं होती।

§ 69. सवर्ण-सन्धि

अ+अ का आ हो जाता है यदि परवर्ती शब्द विवृत (open syllable) से आरम्भ होता है :

दुग्गता+अहम्	दुग्गताहं

और यदि परवर्ती शब्द निघात स्वर (closed syllable) 'अ' से आरम्भ होता है तो एक 'अ' का लोप हो जाता है :

पियो च अस्सं	पियो चस्सं
छाता अम्ह	छात् अम्ह

ऐसी स्थिति में जब एक स्वर रह जाता है तो उसका दीर्घत्व बना रहता है :

गवा अस्सा च	गवास्सा च
न अन्वेति	नान्वेति
तस्स अक्खिभेदं	तस्सक्खिभेदं

इ+इ एवं उ+उ के लिए भी यही नियम हैं।

उत्तरपद का आदि स्वर यदि निघात (close) हो तो भी इनमें लोप हो जाता है। पूर्वपद के अन्त्यपूर्व अक्षर का दीर्घ होना आवश्यक नहीं है :

गच्छति + इति	गच्छतीति
यम् अपि इच्छन् न लभते,	यं पिच्छं न लभति
चत्वारि इमानि	चत्तारिमानि
पञ्चसु उपादानस्कन्धेषु	पञ्चसु पादानखन्धेसु

§ 70. **असवर्ण स्वरों में संधि**

(क) अ + इ = ए
अ + उ = ओ

उपर्युक्त गुणसन्धि मुख्यतया गाथाओं में पाई जाती है।

मत्स्यस्य (पा० मच्छस्स) इव उदके = मच्छस्सेवोदके
च + इमे = चेमे
मां न + उपेति = मं नोपेति
मम + इदम = ममेदं

(ख) —असमान स्वर से पहले 'अ' का लोप भी हो जाता है :

सं० सप्त इमे सुताः, पा० सत्त + इमानि च सुत्तानि = सत्तिमानि च सुत्तानि
सं० बोधिसत्त्वस्य उपस्थापकः (सेवक), पा० बोधिसत्तस्स + उपट्ठाको = बोधिसत्तस्सुपट्ठाको
सं० मनसा + इच्छसि, पा० मनसिच्छसि

—जब पूर्वपद का आधा वर्ण ह्रस्व हो तो भी लोप हो जाता है :

सं० अनेन पणोपादेन, पा० इमिना पनुपादेन

—ए और ओ से पहले भी लोप हो जाता है :

सं० मूलेन + एकम् (मूलेनैकम्), पा० मूलेनेकं। (धुत्ता मूलेनेकं भत्त-पातिं आहरापेसुं।)

(ग) अ का लोप हो जाने के पश्चात् दूसरा स्वर दीर्घ हो जाता है :

इध + उपपन्न = इधूपपन्न

—जहाँ अ के पश्चात् इति आता है वहाँ इ का लोप हो जाता है और पूर्व-वर्ती अ दीर्घ हो जाता है :

भविस्साम + इति = भविस्सामा ति

—यण् = इ या उ के सामने यदि असमान स्वर हों तो इ का य, और उ का व हो जाता है। विशेष रूप से गाथा-साहित्य में, कभी-कभी अर्वाचीन गद्य में भी :

मनुस्सेसु + एतं = मनुस्सेस्वेतम् न विज्जति
न ते दुःखा पमुत्ति + अत्थि = वमुत्यत्थि
सं० इति एव = इत्येव, पा० इच्चेव (यहाँ य का त् में विलय होकर त्त = च्च)।

आगम तथा आगमोत्तरवर्ती साहित्य में :

सं० अपि एकत्वे पा० अप्पेकच्चे
सं० ब्रह्मायु + अहं पा० ब्रह्माय्वाहं

(यहाँ उत्तरपद का आदि स्वर दीर्घ भी हो गया है)

सं० पातु + अकार्षीत्, पा० पातु + अकासि = पात्वाकासि

दो स्वरों में से किसी स्वर का लोप हो सकता है :

करोमि + अहं = करोमहं
करिस्ससि + एको = करिस्ससेको
सं० पंडितैः + अर्थदर्शिभिः, पा० पण्डितेहि + अत्थदस्सिभि = पण्डितेह-त्थदस्सिभि
गच्छन्त + एव = गच्छन्तेव
यं हि + अस्स = यं हि स्स
सद्दहिस्सत + एव = सद्दहिस्सतेव
अनभिज्झालु + अहं अस्मि = अनभिज्झालु हं अस्मि।

शेष स्वर का दीर्घ हो जाता है :

आसि + उपसंपदा = आसूपसंपदा
इदानी + अहम् = इदानाहं।

§ 71. एच सन्धि

(क) यदि स्वर के पहले ए या ओ होंगे तो उत्तरपद के आदि स्वर का लोप हो जाता है :

सुत्तो + अस्मि = सुत्तो स्मि
ततो + आगच्छि = ततो गच्छि
चत्तारो इमे पुग्गला = चत्तारो मे पुग्गला।

(ख) जहाँ उत्तरपद का आदि स्वर विवृत है वहाँ कभी-कभी ए और ओ का भी लोप हो जाता है और परवर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है :

यो + अहं = याहं
यो + आहु = याहु

ये+अस्स=यस्स

सचे+अहं (सच्+आहं)=सचाहं

(ग) एकाच् शब्दों में ए और ओ क्रमशः य तथा व् में बदल जाते हैं। ऐसी स्थिति में परवर्ती ह्रस्व दीर्घ हो जाता है। यदि वह संयोग से पहले है तो दीर्घ विकल्प से होता है :

नमो ते+अत्थु	नमो त्यत्थु
ते+अहं	त्याहं
ते+अस्स	त्यास्स
खो+अस्स	ख्वास

इत्वेव (इतो+एव) में भी एकाच् शब्दों के समान परिवर्तन हुआ है।

अनुनासिक स्वर+स्वर

(क) ऐसी स्थिति में स्वरसन्धि के सभी नियम लागू होते हैं।

(i) सवर्णदीर्घ :

नन्देय्यं+अहं=नन्देय्याह

येसं+अहं=येसाहं।

(ii) लोप :

परिपुच्छिं+अहं=परिपुच्छहं

चतुन्नं+एतं= चतुन्नेतं।

(iii) लोप और दीर्घ :

तेसं+उपसम्मति=तेसूपसम्मति

(iv) निरनुनासिक होने के साथ य् और व् में परिवर्तन :

किं+अहं=क्याहं।

(ख) अनुस्वार का प्रायः म हो जाता है :

वन्धितुं+इच्छति=वन्धितुमिच्छति

अतीतं+अध्वानं =अतीतमध्वानं

सद्दं+अकासी =सद्दमकासी

अन्तलिक्खस्मिं+एळिकि=अन्तलिक्खस्मिमेळकि।

अनुस्वार से पहले दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है किंतु उसका म् हो जाने के पश्चात् पुनः दीर्घ हो जाता है :

आलोको पस्सतं+इव=तामिव

पप्पोति मं+इव=मामिव।

"नेतं अज्जतनामिव" में न को ना (दीर्घ) छन्द की दृष्टि से है।

§ 72. वाक्य में दो स्वरों के बीच जहाँ सन्धि नहीं होती वहाँ नीचे लिखे अनुसार व्यंजन का आगम हो जाता है :

(क) प्रथम पद के अन्त में वही व्यंजन आ जाता है जिसका लोप हो चुका है :

पुन+एहिसि=पुनरेहिसि (र् का आगम)
पातु+अहोसि=पातुरहोसि (र् का आगम)

(ख) प्रत्यय-युक्त रूपों में भी इस प्रकार व्यंजन का पुनः संस्थापन हो जाता है :

रंसि+इव =रंसिरिव
पथविघातु+एव = पथविघातुरेव
भट्टु+अत्थे = भट्टुरत्थे (सं० भर्तुरर्थे)
सब्भि+एव = सब्भिरेव (सं० सद्भिरेव)

(ग) मिथ्यासादृश्य के कारण भी व्यंजन आ जाता है :
विज्जु+इव = विज्जुरिव

द् का आगम
एत+अवोच = एतदवोच
य+इदं=यदिदं
य+इच्छिअं = यदिच्छिअं
अहु+एव भयं =अहुदेव भयं
सकि+एव = सकिदेव

ग् का आगम
प+एव=पगेव (सं० प्रागेव)
पुथ+एव=पुथगेव (सं० पृथगेव)

म् का आगम
तुण्ही+आसीने=तुण्हीमासीने (सं० तूष्णीमासीने)

ळ् का आगम
संख्यावाची छ (स० षट्) के पश्चात् ळ् का आगम होता है :
छ+एते=छळेते (सं० षडेते)
'पुनरहोसि' आदि के सादृश्य के कारण 'हंसरिव' में भी 'र' का आगम 'अञ्जदेव' के समान वहुदेव में द् का आगम।

उच्चारण-सौकर्य के लिए इ (ए) के पहले 'य', तथा उ (ओ) के पहले 'व्' आ जाता है। वहुत से उदाहरणों में सर्वनाम 'इदम्' से पहले 'य' मिलता है :

न+इदम्=नयिदं। इसी प्रकार—
च+इमे=चयिमे न+इतो=नयितो
आदिच्च+उदयं=आदिच्चवुदयं (उदय होता हुआ आदित्य)

उभय+ओकिण्णो=उभयवोकिण्णो। (दोनों ओर विकीर्ण)
कति+उत्तरि=कतिवुत्तरि
पञ्च+उत्तरि=पञ्जवुत्तरि

§ 73. उपर्युक्त तथ्यों के कारण, विशेष रूप से गाथा-साहित्य में, विग्रह को भरने के लिए सन्धि-व्यंजनों का प्रवेश हो गया है। इस प्रकार का व्यंजन 'ल' है। 'य' कभी-कभी अ से पहले भी आता है :

खणि+अस्मनि=खणियस्मनि
या+अञ्ञं=यायञ्ञं

म् का भी सन्धि-व्यंजन के रूप में प्रयोग होता है :

सकि+एव=सकिमेव
सत्तुका+इव=सत्तुकामिव
इसि+अवोच=इसिमवोच

§ 72 के अनुसार 'सकिदेव', 'सत्तुकादिव' और 'इसिरवोच' होना चाहिए था।

अन्य उदाहरण

नीचकुल+इव=नीचकुलमिव
पुनो+अहं=पुनोमहं
एकञ्च जेय्य+अत्तानं=एकञ्च जेय्यमत्तानं (एक, अर्थात् व्यक्ति, को अपने-आपको जीतना चाहिए)

ह्रस्वीकरण के साथ : हित्वा+अञ्ञं=हित्वमञ्ञं।

र् का आगम

धि+अत्थु=धिरत्थु (सं० धिगस्तु)
जलन्तं+इव=जलन्तरिव
जीवं+एव=जीवरेव (जीवन्तो येव)

§ 71 के अनुसार ये रूप 'जलन्तमिव' और 'जीवमेव' होने चाहिए।

इव से पहले प्राय: 'र' आता है—विशेषत: 'आ, ए और ओ' के पश्चात् :

तुरिया+इव=तुरियारिव
जनमज्झे+इव=जनमज्झेरिव
धम्बो+इव=धम्बोरिव
सो+इव संसुमारो=सोरिव सुंसुमारो

हंसा+इव='हंसरिव' में ह्रस्व भी हो गया है। हंसोरिव पाठ भी है।
सुरियन्तपन्तं सरदो+इव=सरदरिव (सं० शरद: इव)

द् सन्धि-व्यंजन के रूप में

पुन+एव=पुनदेव (सं० पुनरेव)
सम्म+एव=सम्मदेव (सं० सम्यगेव)
बहु+एव=बहुदेव रत्ति (सं० बहु एव)

त् सन्धि-व्यंजन के रूप में

अज्ज+अग्गे=अज्जतग्गे (सं० अद्याग्रे)

न् सन्धि-व्यंजन के रूप में

चिरं+आयति=चिरन्नायति
इतो+आयति=इतो नायति

§ 74. स्वर-व्यंजनों की परस्पर-सन्धि

(क) दूसरे पद के आदि में रहा हुआ संयोग पुनः संस्थापित हो जाता है :
सरति वयो=सरतिब्बयो (सं० व्ययः)

(ख) 'ओ' अपने मौलिक रूप स् में बदल जाता है :
तयो+सुधम्मा=तयस्सु धम्मा
लुक्खो+सुदं होमि=लूक्खस्सुदं होमि

इसी प्रकार 'उस्' भी अपने रूप में आ जाता है :
सोणेन सुहनुस् सहा
पितुस्सुतं

(ग) जब व्यंजन से पहले अनुनासिक स्वर हो तो अनुस्वार उस वर्ग के अनुनासिक में बदल जाता है :
करिस्सं+च=करिस्सञ्च
भेरिं+चरापेत्वा=भरिञ्चरापेत्वा

ह से पहले अनुस्वार ञ् में बदल जाता है :
चित्तं+हि=चित्तञ्हि।

द्वितीय खण्ड : रूप-निर्माण

टिप्पणी : पालि में प्रत्ययों का निर्धारण सादृश्य-नियम के अनुसार होता है। जैसे-जैसे भाषा का विकास हुआ, प्राचीन रूपों के स्थान में नए रूप आते गए।

1. प्रातिपदिक (संज्ञा और विशेषण)

§ 75. (1) **सामान्य नियम**

पालि में मूल प्रातिपदिक में कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं :

(क) ध्वनि-नियम के अनुसार अंतिम व्यंजन का लोप हो जाता है। परिणाम-स्वरूप व्यंजनान्त शब्द स्वरान्त बन जाते हैं। उनमें वे ही प्रत्यय लगते हैं जो स्वरान्त शब्दों में लगते हैं। उदाहरण—

सुमेधस् से सुमेध (बुद्धिमान्)
आपद् से आपा (विपत्ति), आपासु (स० बहु०)
सर्पिष् से सप्पि (घी), सप्पिम्हा (पं० एक०)
अर्चिष् से अच्चि या अच्ची (चमक)
तादृश् से तादि
विद्युत् से विज्ज (बिजली)
मरुत् से मरु (वायुदेवता)

(ख) बहुत बार व्यंजनान्त शब्द के साथ अ जोड़ कर उसे स्वरान्त बना दिया जाता है। शब्दों के नूतन निर्माण में अ का प्रयोग बाहुल्य से पाया जाता है। उदाहरण—सुमेधस् के स्थान में सुमेध के समान सुमेधस भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग में इसका सुमेधसा रूप मिलता है। इसी प्रकार आपद् का आपदा (स० बहु० आपदासु)। विद्युत् से विज्जुता (स० बहु० विज्जुतासु)। शरद् से सरदः। बर्हिस् से बरिहिस। सरित् से सरित।

इस प्रकार व्यंजनान्त शब्दों के रूप उत्तरोत्तर घटते गए। व्यंजनान्त प्राचीन

रूपों के साथ-साथ स्वरान्त नए रूपों का प्रयोग होने लगा और क्रमशः उन्हीं रूपों को शुद्ध माना जाने लगा और प्राचीन रूप अप्रयुक्त हो गए।

§ 76. लिंग का निश्चय संस्कृत के अनुसार होता है। किंतु वाक्यों में जो अनियमितताएँ हैं, उनसे प्रतीत होता है कि व्याकरण पर आश्रित लिंग-व्यवस्था पुरानी पड़ चुकी थी। अपनी-अपनी इच्छानुसार स्त्रीलिंग विशेष्य के साथ विशेषण का प्रयोग पुल्लिंग या नपुंसकलिंग के रूप में होने लगा था। उदाहरण के रूप में पुल्लिंग या नपुंसकलिंग विशेष्यों के साथ सप्तमी एकवचनान्त 'असति' रूप आता है। किंतु नीचे लिखे स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ भी इसका प्रयोग किया गया है: पस्सद्धिया, रतिया, अगतिगतिया। इसी प्रकार चलिते और चुतूपपाते के साथ भी हुआ है।

दीघनिकाय 104 में 'अत्ता जितो' के स्थान में 'अत्ता जितं' आया है।

थेरीगाथा 518 में 'सखियो तिस्सो जनियो' के स्थान में "सखियो तीणि जनियो" आया है।

उदान 79 'उपासिकायो अनिप्फलानि कलंकतानि' में उद्देश्य स्त्रीलिंग है और विधेय नपुंसकलिंग।

जिन नपुंसकलिंग शब्दों के अंत में 'अस्' आता है वे विशेष रूप से पुल्लिंग माने जाते हैं। उदाहरण—"यत्था मे निरतो मनो" (जातक 3.91)। इसमें निरतं की जगह निरतो' है। इसी प्रकार "तपो सुखो" (धम्मपद 194)। सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो (सुत्तनिपात 662)। महावेगेन आगतो नदीसोतो (धम्मपदट्ठकथा 4. 45)।

उक्त तीनों वाक्यों में तपस्, रजस् और सोतस् ये तीनों नपुंसकलिंग शब्द क्रमशः तपो, रजो, सोतो पुल्लिंग रूप में प्रयुक्त हुए हैं, तथा इनके विशेषण क्रमशः सुखो, सुखुमो और खित्तो, आगतो भी पुल्लिंगरूप में प्रयुक्त हुए हैं।

अकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों का प्रयोग पुल्लिंग में और पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग नपुंसकलिंग में प्रायः हुआ है:

ये केचि रूपा···सब्बे वत् (संयुत्त० 1. 67), सब्बे ते रूपा मज्झिम० 3. 217), इमे दिट्ठिट्ठाना (दीघ० 1. 16, अंगुत्तर० 2. 42), सब्बे कट्ठमया वना (जातक 3. 289), चत्तारो उपादाना मज्झिम० 1. 67), चत्तारि उपादानानि' भी मिलता है (तुलनार्थ § 80।

बहुत स्थानों पर पुल्लिंग शब्दों के साथ नपुंसकलिंग के प्रत्यय पाए जाते हैं। उदाहरण—

धम्मा के स्थान पर धम्मानि (जातक 5. 221), वन्दति पादानि (विमानवत्थु

51.1)[1]। पेतानि पुत्तानि (द्वितीया बहु०) थेरीगाथा 312।[2]भुजानि पोठेंति (बुद्धवंस 1. 36)। इसके साथ पोठयं भुजे (रसवाहिनी 2. 92) प्रयोग भी मिलता है।

द्वितीया बहुवचन में 'तालतरुणे' पुल्लिग का प्रयोग करके उसके पश्चात् प्रथमा बहुवचन में 'तालतरुणानि' का प्रयोग आया है (विनयपिटक 1. 189)। पिशल (§ 358) के अनुसार 'पुत्तानि' आदि प्रयोग में अर्द्धमागधी का प्रभाव है।

स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में परस्पर संकर

ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ अकारान्त स्त्रीलिंग और अकारान्त पुल्लिग शब्दों में परस्पर सांकर्य है। उदाहरण—

सभानि (सभा का बहुवचन) (जातक 4. 223)।[3]

'कुक्षि' शब्द संस्कृत में पुल्लिग है। पालि में इसका 'कुच्छि' बन जाता है। इसके पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों में रूप मिलते हैं :

पुल्लिग पंचमी ए० व०—कुच्छिस्मा, कुच्छिम्हा

सप्तमी ए० व०—कुच्छिस्मिन्, कुच्छिम्हि।

इसी प्रकार स्त्रीलिंग के समान—कुच्छिया (पं०) कुच्छियं (सप्तमी) (जातक-टीका 1, 52, 293)।

'सालि' (शालि) शब्द पुल्लिग है किंतु इसके द्वितीया बहुवचन में सालियो रूप मिलता है जो कि स्त्रीलिंग के समान है।

धातु शब्द संस्कृत में पुल्लिग है किंतु उससे प्रथमा एवं द्वितीया बहुवचन में 'धातुयो' रूप मिलता है (धम्मसंगनि 67, थेरीगाथा 14)। तृतीया एकवचन 'धातुया' (दीघ० 2. 109, अंगुत्तरनिकाय 1. 28, 4. 313, किंतु षष्ठी एकवचन में 'धातुस्स' (महावंस 20. 19)। मस्सु (श्मश्रू) नपुंसकलिंग है, किंतु इसका षष्ठी एकवचन में 'मस्सुया' (जातक 3. 315) मिलता है। शब्द का रूप बदल जाने के कारण भी लिंगों में साङ्कर्य हो गया है।

§ 77. **वचन**—

पालि में द्विवचन नहीं होता। उसके स्थान पर बहुवचन आता है। द्विवचन केवल दो शब्दों में मिलता है—द्वे, दुवे और उभो (उभौ)। इसलिए 'द्वे चक्खूनि' (जातक-टीका 4. 137) आदि प्रयोग भी मिलते हैं।

---

1. टीका (218) में इसकी व्याख्या करते समय 'पादे' का प्रयोग किया गया है।
2. टीकाकार ने इस पर टिप्पण दिया है 'लिङ्गविपल्लासेन'। उसके अनुसार यहाँ 'पेते पुत्ते' होना चाहिए (तुलनार्थ: उदान 17)
3. टीका में इसकी व्याख्या में 'सभायो' का प्रयोग है।

इसी प्रकार 'द्वे अन्ता' प्रथमा बहुवचन 'उभो अन्ते' द्वितीया बहुवचन (विनय० 1. 10) । द्वन्द्व समास में भी द्विवचन के स्थान में बहुवचन का प्रयोग होता है—इमे चन्दिमसुरिये (मज्झिम० 1. 69), षष्ठी बहुवचन—चन्दिमसुरियानं (दीघ० 1. 10)।

कारक—चतुर्थी एकवचन तथा बहुवचन दोनों के स्थान में षष्ठी हो जाती है। केवल अकारांत शब्दों से तादर्थ्य या दिशासूचक अर्थ में चतुर्थी 'आय' का प्रयोग होता है। उदाहरण :

सग्गाय गच्छति (धम्म० 174) । जहस्सु रूपं अपुनब्भवाय (सुत्त० 1121)। 'तुमुन्' के अर्थ में भी चतुर्थी (आय) का प्रयोग मिलता है—न च मयं लभाम भगवन्तं दस्सनायं (भगवान् का दर्शन करने के लिए हमें अनुमति नहीं मिलती) (विनय० 1. 253)। यह चतुर्थी विशेष रूप से किसी वस्तु के प्रति इच्छा प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होती है—इच्छा लाभाय (अंगु० 4. 293) । इसी प्रकार किसी कार्य के लिए परिश्रम करने के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है—घटति वायमति लाभाय (वही) ।

पर्याप्त और अलम् अर्थ में चतुर्थी आती है—सल्लेखाय सुभरताय विरिया-रम्भाय संवत्तिस्सति (मज्झिम० 1. 13) । हेतु तथा प्रत्यय अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है—को पच्चयो महतो भूमिचालस्स पातुभावाय (दीघ० 2. 107) । 'अलं' के योग में चतुर्थी आती है—'अलं वचनाय' (अंगु० 3. 5)

साधारणतया पंचमी एकवचन 'तो' लगाकर बनाया जाता है। यह संस्कृत 'तः' का परिवर्तित रूप है। इसे शब्दरूपों में सम्मिलित कर लिया गया है। उदाहरण—

घरतो (गृहात्), (जातक-टीका 1. 290), मुखतो (मुखात्), (उदान 78), दूरतो (दूरात्), चापातो (चापात्) इसमें प के पश्चाद्वर्ती अ का दीर्घ भी हो गया (दीघ० 320), नालातो (थेरीगाथा 294), चूळातो (जा०टी० 2. 410), नावातो (धम्म० टीका 3. 39), जीवातो, जीवतो (जीवात्) (संयुत्त० 4, 178), (संयुत्त० 4. 175), सीमतो (सीमातः), यहाँ भी आ का ह्रस्व हो गया, (जातक-टीका 2. 3), आग्गितो (दीघ० 2. 88.), अट्ठितो (अस्थितः) (जा० 2. 409), दधितो (दधितः), (मिलिन्द० 41), भिक्खुतो (भिक्षुतः) (थेरगाथा 1024), कामण्डलुतो (कमण्डलुतः) (धम्म० टी० 3. 448), चक्खुतो (चक्षुष्टः) (संयुत्त० 4, 174), कुच्छितो (कुक्षितः) जा० टी० 1. 52), अंगुलितो (अंगुलीतः) (धम्म० टी० 1.164), वाराणसीतो (वाराणसीतः) (थेरीगाथा 335), अथवा वाराणसितो (ह्रस्व इ) (जा० टी० 2. 47), पोक्खारिणीतो (पुष्करिणीतः) (जा०टी० 2. 38), पोक्खरिणितो (विमानवत्थु 217), धातुतो (धातुतः) (जातक-टीका 1. 253) जम्बुतो (जम्बूतः) (बुद्धवंस० 17. 9), अभिभूतो (अभिभूतः) (दीघ० 1. 18, मज्झिम० 1. 2.), पितितो (पितृतः), मातितो (मातृतः) (दीघ० 1. 113, अंगुत्तर 3. 151), राजतो (राजतः) (धम्म० 139), अत्ततो (संयुत्त० 3. 46), हत्थितो (हस्तिः) (जा० 4. 257), हिमवन्ततो (जा० टी० 1. 140), मनतो (मनस्तः) (संयुत्त० 4. 175) ।

चतुर्थी तथा पंचमी बहुवचन का 'भ्यस्' पालि में नहीं मिलता।

पंचमी के स्थान पर बहुत स्थानों पर तृतीया का प्रयोग भी होता है, जिस प्रकार चतुर्थी के स्थान में षष्ठी का।

एकवचन में तृतीयान्त रूप पंचम्यन्त के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं।

2. शब्द-रूप

§ 78. (क) अकारांत शब्द

पुल्लिंग 'धम्म' शब्द

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	धम्मो	धम्मा
कर्म	धम्मं	धम्मे
करण	धम्मेन, धम्मा	धम्मेहि
सम्प्रदान / सम्बन्ध	धम्मस्स	धम्मानं
अपादान	धम्मा, धम्मस्मा, धम्मम्हा	धम्मेहि
अधिकरण	धम्मे, धंम्मस्मि म्हि	धम्मेसु
सम्बोधन	धम्म	धम्मा

नपुंसकलिंग 'रूप' शब्द

कर्ता	रूपं	रूपाणि, रूपा
कर्म	रूपं	रूपाणि, रूपे
सम्बोधन	रूप	रूपाणि, रूपा

शेष पुल्लिंग के समान।

अकारांत शब्दों का चतुर्थी एकवचन में 'आय' वाला (धम्माय) रूप भी बनता है।

प्रत्यय संबंधी टिप्पणी

1. तृतीया एकवचन का 'आ' वैदिक रूप से मिलता है।

गाथा तथा आगमिक गद्य में यह प्रायः प्रयुक्त नहीं हुआ है, किंतु आगमोत्तर साहित्य में कहीं-कहीं मिलता है। इस प्रकार का निम्नोक्त रूप है जो बहुत बार प्रयुक्त हुआ है–'सहत्था'[1] (विनयपटक 1. 18, जातक-टीका 1. 7 तथा 287, महावंस 5. 72. दीघ० 1. 109) (एक हाथ से)। इसी प्रकार 'सहत्थेन' का प्रयोग भी हुआ है (जातक-टीका 6. 305)।

1. स्टेन कोनो तथा डी० एण्डर्सन के मतानुसार यह पंचमी विभक्ति है।

अन्य उदाहरण :

योगा (योगेन)। (धम्म० टी० 3. 233 गाथा)। शब्दछाया करते समय 'योगेन' दिया गया है।

पादा (पादेन) जातक 3. 269, धम्म० टी० 1. 202 (गाथा)

सहवचना (सह वचनेन) उदान 16

मा सोका पहतो भव (मा शोकेन प्रहतो भव) थेरगाथा 1. 82

भिक्खुसंघा—(भिक्षुसंघेन) विनय० 2. 198

ये प्रयोग उत्तरकाल में आर्ष मान लिए गए क्योंकि टीका में 'योगा' की व्याख्या 'योगेन' के द्वारा तथा 'पादा' की व्याख्या 'पादेन' के द्वारा की गई है (जातक-टीका 3. 269)।

2. पंचमी एकवचन के प्रत्यय अस्मा और अम्हा एवं सप्तमी एकवचन के प्रत्यय स्मि और म्हि सर्वनामों से लिए गए हैं।

3. द्वितीया बहुवचन का एकारांत रूप भी सर्वनामों के रूप का अनुकरण है।

4. पालि में ते, सब्बे, इमे आदि एकारांत रूप प्रथमा और द्वितीया दोनों के बहुवचन में होते हैं। 'ते धम्मान्' से क्रमशः 'ते धम्मे' हो गया।

5. तृतीया बहुवचन 'एहि' या तो वैदिक 'एभिः' से लिया गया है या 'तेभिः' 'एभिः' आदि सर्वनामों से लिया गया है।

6. नपुंसक लिंग सम्बोधन एकवचन में विभक्ति का लोप संस्कृत के समान है।

7. नपुं० प्रथमा बहुवचन में 'आ' का प्रयोग भाषा के प्रथम दो युगों में बाहुल्य से मिलता है। उदाहरण :

रूपा (रूपाणि) थेरगाथा 455, विनय० 1. 21, दीघ नि० 1. 145, सोता (श्रोत्रे) सुत्तनिपात 345, नेत्ता (नेत्रे) थेरीगाथा 257। फला (फलानि) जातक 4. 203, विमान० 84. 4.।

इन रूपों को तब तक नपुंसक समझा जाता था। उदाहरण—तीणि अस्स लक्खणा गत्ते (सुत्त नि० 1019), मोघा (मोघानि) ते अस्सु परिफण्डितानि (जा० 3. 24.)। उपर्युक्त शब्द वैदिक बहुवचन 'युगा' के साथ मिलते हैं।

8. ये रूप क्योंकि पुंल्लिग प्रथमा बहुवचन से मिलते हैं इन्हीं के सादृश्य पर द्वितीया बहुवचन में भी पुंल्लिग का अनुकरण होने लगा। उदाहरण—रूपे (मज्झिम० 3. 281, (संयुत्त० 4. 8, (थेरगाथा 1099) में इसका प्रयोग पुंल्लिग द्वितीयान्त के साथ मिलता है)। सरीरे (धम्म० टी० 3. 208), पुप्फे विमान० टीका 174)। ते चिड्डे (संयुत्त० 1. 43 गाथा)। वहीं प्रथमा में चिड्डानि का प्रयोग है। ये सभी लिंग-संकर के उदाहरण हैं।

§ 79. असाधारण रूप

1. तृतीया एकवचन के रूप 'असा' के साथ भी मिलते हैं। संभवतया ये रूप 'अस्' अंत वाले शब्दों के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर बनाए गए हैं। पालि के प्रथम दो युगों में इस प्रकार के रूप आधिक्य से मिलते हैं। क्रमशः उत्तरकालीन कृत्रिम काव्य के युग में फिर मिलने लगे। आगमोत्तर गद्य में बहुत कम हैं। उदाहरण—

बलसा (बलेन) (थेरगाथा 1141), चर्यापिटक 2. 4.7), दमसा, दमेन (दमेन) (सुत्तनिपात 463-655), **वाहसा** (वाहेन) (थेरगाथा 218, विनय० 4. 158, दीघ० 2. 245), **पदसा** (पदेन) (जातक-टीका 3. 300, महावंस 14.2), **मुखसा** (मुखेन) (पेतवत्थु 1.2.3), टीका में 'मुखेन' के द्वारा व्याख्या की गई है। **वेगसा** (वेगेन) (जातक 3. 185), टीका में 'वेगेन' द्वारा व्याख्या की गई है।

2. मोग्गलान (2. 108) का मत है कि सप्तमी एकवचन में 'असि' तृतीया एकवचन के 'असा' के साथ सादृश्य के कारण आता है।

3. सम्बोधन एकवचन में अन्त्य स्वर कभी-कभी दीर्घ हो जाता है। आदर-पूर्वक बुलाने के लिए दोनों वचन और दोनों लिंगों में 'अय्यो' का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त अय्य, अय्या का पुल्लिग में तथा अय्ये, अय्या का स्त्रीलिंग में साधारण प्रयोग होता है (उदाहरण—विनयपिटक 1.75)।

4. गाथाओं में प्रथमा बहुवचन में 'आसे' वाला रूप भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। यह वैदिक 'आसस्' से मिलता है। 'अ' के स्थान पर 'ओ' न होकर 'ए' का प्रयोग मागधी के प्रभाव को प्रकट करता है। उदाहरण :

उपासकासे (सुत्तनिपात 376), पंडितासे (सुत्तनिपात 875), धम्मासे (सुत्तनिपात 1038), ब्राह्मणासे (सुत्तनिपात 1079), वंचितासे (थेरगाथा 102), गधितासे (थेरगाथा 1216), उस्सितासे (विमान० 84.15), रुक्खासे (जातक 3. 399), अरियासे (जातक० 4. 222), दुत्थासे आदि (इतिवुत्तक 1), गोतम सावकासे (दीघ० 2. 272 गाथा), गतासे (दीघ० 2. 255 गाथा, संयुत्त० 1. 27, जातक 1. 97), उप-पन्नासे (संयुत्त० 1.60 गाथा), निविट्ठासे (संयुत्त० 1. 67 गाथा)।

संधि के कारण नीचे लिखे उदाहरणों में पुल्लिग, द्वितीया बहुवचन का 'आन्' भी सुरक्षित है :

वेहासान्-उपसंकमि (थेरगाथा 564)

किंतु वेहासानि+उपसंकमि रूप भी बन सकता है (§ 70)।

6. तृतीया बहुवचन में 'एहि' के साथ-साथ वैदिक रूप 'एभि' भी मिलता है :-
अरियेभि (उदान 61)।

संस्कृत में जो 'ऐस' प्रत्यय है उस का पालि में 'ए' मिलता है। उदाहरण :

गुणे दसह् उपागतं (बुद्धवंस 2. 32)

अथवा यह 'गुणेहि दसहि' का संक्षिप्त रूप है।

§ 80. **मागधी का प्रभाव**—पालि आगमों के फुटकर पाठों में मागधी के रूप भी मिलते हैं :

1. प्रथमा एकवचन में पुल्लिंग 'ओ' और नपुंसक 'अं' के स्थान में 'ए' मिलता है। उदाहरण :

पुल्लिंग

अत्तकारे, परकारे, पुरिसकारे (दीघ० 1. 58)

बाले च पंडिते च (दीघ० 1. 55)

के चवे सिगाले के सीहनादे (दीघ० 3. 24)

बहुके जने पासपाणिके (जातक० 3. 288)

नपुंसकलिंग

सुखे दुक्खे जीवसत्तमे (दीघ० 1. 56)

ये अवितक्के अविचारे से पणीततरे (दीघ० 2. 278, 279)

ये लोकामिससंयोजने से वंते (मज्झिम० 2. 254)

नवचंदके दानि दय्यति (जातक० 3. 288)

(जातक-टीका : चन्दकं दानं)

2. सम्बोधन एकवचन में 'ए' का प्रयोग भी मागधी का प्रभाव प्रतीत होता है। उदाहरण—

भेसिके (हे भेसिक) (दीघ० 1. 225, 226)

तक्कारिये (हे तर्कार्य) (जातक 4. 247)

(तुलना—मागधी में पुत्तके, चेडे, भट्टके आदि प्रयोग सम्बोधन में मिलते हैं।)

दीघनिकाय (1.54) और मज्झिमनिकाय (1. 518) में षष्ठी बहुवचन 'उनो' के साथ मिलता है :

महाकप्पुनो सतसपस्सानि (दीघ० टी० 1. 164) = महाकप्पानं

पञ्चकम्मुनो सतनि (दीघ० 1. 54) = कम्मानं

§ 81. **आकारान्त स्त्रीलिंग**

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	कञ्ञा (कन्या)	कञ्ञायो, कञ्ञा
कर्म	कञ्ञं	
करण / अपादान	कञ्ञाय	कञ्ञाहि

§ 79. असाधारण रूप

1. तृतीया एकवचन के रूप 'असा' के साथ भी मिलते हैं। संभवतया ये रूप 'अस्' अंत वाले शब्दों के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर बनाए गए हैं। पालि के प्रथम दो युगों में इस प्रकार के रूप आधिक्य से मिलते हैं। क्रमशः उत्तरकालीन कृत्रिम काव्य के युग में फिर मिलने लगे। आगमोत्तर गद्य में बहुत कम हैं। उदाहरण—

बलसा (बलेन) (थेरगाथा 1141), चर्यापिटक 2. 4.7), दमसा, दमेन (दमेन) (सुत्तनिपात 463-655), **बाहसा** (बाहेन) (थेरगाथा 218, विनय० 4. 158, दीघ० 2. 245), **पदसा** (पदेन) (जातक-टीका 3. 300, महावंस 14.2), **मुखसा** (मुखेन) (पेतवत्थु 1.2.3), टीका में 'मुखेन' के द्वारा व्याख्या की गई है। वेगसा (वेगेन) (जातक 3. 185), टीका में 'वेगेन' द्वारा व्याख्या की गई है।

2. मोग्गलान (2. 108) का मत है कि सप्तमी एकवचन में 'असि' तृतीया एकवचन के 'असा' के साथ सादृश्य के कारण आता है।

3. सम्बोधन एकवचन में अन्त्य स्वर कभी-कभी दीर्घ हो जाता है। आदर-पूर्वक बुलाने के लिए दोनों वचन और दोनों लिंगों में 'अय्यो' का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त अय्य, अय्या का पुल्लिग में तथा अय्ये, अय्या का स्त्रीलिंग में साधारण प्रयोग होता है (उदाहरण—विनयपिटक 1.75)।

4. गाथाओं में प्रथमा बहुवचन में 'आसे' वाला रूप भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। यह वैदिक 'आसस्' से मिलता है। 'अ' के स्थान पर 'ओ' न होकर 'ए' का प्रयोग मागधी के प्रभाव को प्रकट करता है। उदाहरण :

उपासकासे (सुत्तनिपात 376), पंडितासे (सुत्तनिपात 875), धम्मासे (सुत्तनिपात 1038), ब्राह्मणासे (सुत्तनिपात 1079), वंचितासे (थेरगाथा 102), गधितासे (थेरगाथा 1216), उस्सितासे (विमान० 84.15), रुक्खासे (जातक 3. 399), अरियासे (जातक० 4. 222), दुत्थासे आदि (इतिवुत्तक 1), गोतम सावकासे (दीघ० 2. 272 गाथा), गतासे (दीघ० 2. 255 गाथा, संयुत्त० 1. 27, जातक 1. 97), उप-पन्नासे (संयुत्त० 1.60 गाथा), निविट्ठासे (संयुत्त० 1. 67 गाथा)।

संधि के कारण नीचे लिखे उदाहरणों में पुल्लिग, द्वितीया बहुवचन का 'आन्' भी सुरक्षित है :

वेहासान्-उपसंकमि (थेरगाथा 564)

किंतु वेहासानि+उपसंकमि रूप भी बन सकता है (§ 70)।

6. तृतीया बहुवचन में 'एहि' के साथ-साथ वैदिक रूप 'एभि' भी मिलता है :- अरियेभि (उदान 61)।

संस्कृत में जो 'ऐस' प्रत्यय है उस का पालि में 'ए' मिलता है। उदाहरण :
गुणे दसह् उपागतं (बुद्धवंस 2. 32)
अथवा यह 'गुणेहि दसहि' का संक्षिप्त रूप है।

§ 80. **मागधी का प्रभाव**—पालि आगमों के फुटकर पाठों में मागधी के रूप भी मिलते हैं :

1. प्रथमा एकवचन में पुल्लिग 'ओ' और नपुंसक 'अं' के स्थान में 'ए' मिलता है। उदाहरण :

पुल्लिग

अत्तकारे, परकारे, पुरिसकारे (दीघ० 1. 58)
बाले च पंडिते च (दीघ० 1. 55)
के चवे सिगाले के सीहनादे (दीघ० 3. 24)
बहुके जने पासपाणिके (जातक० 3. 288)

नपुंसकलिंग

सुखे दुक्खे जीवसत्तमे (दीघ० 1. 56)
ये अवितक्के अविचारे से पणीततरे (दीघ० 2. 278, 279)
ये लोकामिससंयोजने से वंते (मज्झिम० 2. 254)
नवचंदके दानि दय्यति (जातक० 3. 288)
(जातक-टीका : चन्दकं दानं)

2. सम्बोधन एकवचन में 'ए' का प्रयोग भी मागधी का प्रभाव प्रतीत होता हैं। उदाहरण—

भेसिके (हे भेसिक) (दीघ० 1. 225, 226)
तक्कारिये (हे तर्कार्य) (जातक 4. 247)

(तुलना—मागधी में पुत्तके, चेडे, भट्टके आदि प्रयोग सम्बोधन में मिलते हैं।)

दीघनिकाय (1.54) और मज्झिमनिकाय (1. 518) में षष्ठी बहुवचन 'उनो' के साथ मिलता है :

महाकप्पुनो सतसपस्सानि (दीघ० टी० 1. 164)=महाकप्पानं
पञ्चकम्मुनो सतनि (दीघ० 1. 54)=कम्मानं

§ 81. आकारान्त स्त्रीलिंग

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता कर्म	कञ्ञा (कन्या) कञ्ञं	कञ्ञायो, कञ्ञा
करण अपादान	कञ्ञाय	कञ्ञाहि

सम्प्रदान / सम्बन्ध	कञ्ञाय	कञ्ञानं
अधिकरण	कञ्ञाय, कञ्ञायं	कञ्ञासु
सम्बोधन	कञ्ञे	कञ्ञा, कञ्ञायो

टिप्पण

1. करण, सम्प्रदान, अपादान तथा सम्बन्ध चारों का एकवचन 'आय' है। यह संस्कृत 'आयाः' का ध्वनि-परिवर्तन है। करण में 'अया' का पालि में लोप हो गया। 'आय' के अतिरिक्त 'आ' वाला रूप भी मिलता है। वैदिक में भी दोषा, बर्हणा आदि 'आ' वाले रूप मिलते हैं। किंतु पालि-रूपों का उनके साथ सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। साधारण ध्वनि-परिवर्तन के आधार पर भी उपर्युक्त रूप बन सकते हैं, क्योंकि अंतिम 'आ' अधिकरण में भी मिलता है। उदाहरण—रथिया (रथ्याम्), (दीपवंस 6.34)।

2. सम्बोधन एकवचन के उदाहरण :

भद्दे (जातक-टीका 2. 29), अय्ये (जातक-टीका 1. 405), थेरीके (थेरीगाथा 1) यहाँ छंद में मात्रापूर्ति के लिए इ को दीर्घ कर दिया गया, देवते (विमान० 29.2.), लोहितपे बिड़ारिके (जातक 3. 206)।

कात्यायन-व्याकरण (2. 1. 64) के मतानुसार नीचे लिखे रूप अपवाद हैं :

अम्मा, अन्ना, अम्बा, ताता। ये सभी शब्द माता के सम्बोधन में प्रयुक्त होते हैं। इनमें 'अम्मा' का निर्देश थेरगाथा 44 तथा दीघनिकाय 1. 93 में आया है।

3. कर्ता, कर्म और सम्बोधन बहुवचन में 'कञ्ञाओ' रूप ईकारान्त शब्दों के रत्तियो, कुमारियो आदि का अनुकरण है। कहीं-कहीं ऐसे रूपों में दीर्घ 'ई' का प्रयोग भी मिलता है। उदाहरण—पोक्खरणीतो (अंगु० 1. 145)

3. इकारांत-उकारांत शब्द-रूप

§ 82. पुल्लिग इकारान्त शब्द : अग्गि

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	अग्गि	अग्गयो
कर्म	अग्गिं	अग्गी
करण / अपादान	अग्गिना / अग्गिस्मा / अग्गिम्हा / अग्गिना	अग्गीहि
सम्प्रदान / सम्बन्ध	अग्गिस्स / अग्गिनो	अग्गीनं

अधिकरण	अग्गिस्मि अग्गिम्हि	अग्गीसु
सम्बोधन	अग्गि	अग्गयो अग्गी

पुल्लिंग उकारान्त शब्द भिक्खु

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	भिक्खु	भिक्खवो
कर्म	भिक्खुं	भिक्खू
करण	भिक्खुना	भिक्खूहि
अपादान	भिक्खुस्मा भिक्खुम्हा भिक्खुना	
सम्बन्ध सम्प्रदान	भिक्खुस्स भिक्खुनो	भिक्खून
अधिकरण	भिक्खुस्मि भिक्खुम्हि	भिक्खूसु
सम्बोधन	भिक्खु	भिक्खवो भिक्खवे भिक्खू

टिप्पण

1. अपादान में इस्मा, इम्हा और उस्मा, उम्हा तथा अधिकरण में इस्मि, इम्हि एवं उस्मि, उम्हि अकारान्त शब्दों के साथ सादृश्य के आधार पर बने हैं। षष्ठी एकवचन में इस्स, उस्स तथा कर्ता एवं सम्बोधन के बहुवचन में 'ई' 'ऊ' भी उसी आधार पर हैं।

2. सम्प्रदान तथा संबंध के एकवचन में 'इनो' 'उनो' या तो नपुंसक इकारान्त, उकारान्त रूपों का अथवा इन्नन्त रूपों का अनुकरण है।

3. अपादान एकवचन में 'इना' और 'उना' वाले रूप तृतीया का अपादान में प्रयोग है।

4. कर्म बहुवचन में 'अयो', 'अवो' प्रथमा बहुवचन का अनुकरण है। दीर्घ ई, ऊ में भी यही अनुकरण है। उदाहरण :

प्रथमा बहुवचन इसयो (संयुत्त० 1. 226), सत्तवो (जातक 5. 95), अग्गी (विनय० 1. 31), भिक्खू (मज्झिम० 1. 84)।

5. तृतीया, पंचमी एवं सप्तमी के बहुवचन में ह्रस्व इ या उ का दीर्घ हो गया है। यह संभवतया षष्ठी बहुवचन का सादृश्य है।

6. संबोधन बहुवचन में 'भिक्खवे' रूप मागधी का प्रभाव है। यह साधारण बोलचाल से साहित्यिक भाषा में आ गया है। भिक्षुओं द्वारा अपने साथियों को बुलाने के लिए इसका प्रयोग होता था। संबोधन एकवचन में कर्ता का रूप ही काम में आता है।

§ 83. **असाधारण रूप**—1. कर्म एकवचन में 'भिक्खुनं' रूप भी मिलता है (सु० नि० 513), आदिच्च बंधुनं (दीघ० 2. 287 गाथा)। यह रूप इन्नन्त शब्दों का सादृश्य है। 'अग्गिनं' भी इसी प्रकार हुआ है।

संस्कृत पर आश्रित पञ्चमी-षष्टी एकवचन का 'ओस्' रूप 'हेतु', 'कारण से' 'के लिए' अर्थों में प्रयुक्त होता है।

3. सप्तमी एकवचन में संस्कृत रूप 'औ' के सदृश 'आदो' (आदौ) होना चाहिए। किंतु इसके स्थान पर 'आदु' रूप मिलता है। (थेरगाथा 1. 1274)।

4. संबोधन एकवचन का प्राचीन रूप 'ए', 'इसे'(सुत्तनिपात 1052) में मिलता है। इसी प्रकार सुतनो (जातक 3. 329) में 'ओ' मिलता है। किंतु जातक-टीका में यह कर्ता का रूप माना गया है (जातक-टीका 3, 325, 329)।

5. इकारान्त और इन्नन्त शब्दों के सम्मिश्रण के कारण इकारान्त शब्दों के रूप भी इन्नन्त शब्दों के समान मिलते हैं। उदाहरण—अग्गिनो सुधम्मोपायन, दुम्मतिनो (महावंस 4.3), मित्तद्दुनो (महावंस 4.3), सारमतिनो (धम्म० 2), वज्जमतिनो (धम्म० 318)।

तृतीय एकवचन निवातवुत्तिना(थेरगाथा 71, 210)। संस्कृत में भी 'वृत्ति' के स्थान में कभी-कभी 'वृत्तिन्' का प्रयोग होता है।

6. द्वितीया बहुवचन में 'इसे' (ऋषीन्) जातक 5.92 भी मिलता है। यहाँ 'इसे' अकारान्त के समान कर दिया गया है। इससे पहले 'समणे ब्राह्मणे' पाठ है।

7. तृतीया बहुवचन में सामान्य रूप 'हि' है, किंतु प्राचीन रूप 'भि' भी मिलता है:

इसिभि (थेरगाथा 1065, जातक 3. 29)
इसीभि (ई दीर्घ, थेरीगाथा 206),
ञातिभि (चरियापिटक 1.9.56, जातक 3. 329, 495)

8. तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी एवं सप्तमी के बहुबचन में ह्रस्व 'इ', 'उ' के रूप भी मिलते हैं। यह ह्रस्व प्राय: छन्द में मात्रा के लिए होता है—

पाणिहि (जातक 6. 579), किमिहि (थेरगाथा 315), आक्खिहि (सुत्तनि० 608), साधुहि (दीपवंस 4. 6), आदिसु (जातक-टीका 1. 61), आसिसु (मज्झिम० 1. 86), भिक्खुसु (थेरगाथा 241, 1207), उसुसु (मज्झिम० 1. 86), अप्पबुद्धिनं (थेरगाथा 667), ञातिनं(थेरगाथा 240), साधुनं (महावंस 37. 232), भिक्खुनं

(थेरगाथा, 1231) संयुत्त० 1. 190), बंधुनं (थेरगाथा 240)।

§ 84. सखि शब्द का प्रयोग कविता में होता है गद्य में उसके स्थान पर 'सहायक' शब्द आता है। सखि शब्द के अतिरिक्त दो शब्द और व्यवहृत होते हैं—सख और सखार। सखार शब्द द्वितीया एकवचन 'सखारं' से आया है। 'सखारं' भी 'सत्थार' (शास्तारं) का सादृश्य है। इसके प्रत्यय नीचे नीचे लिखे अनुसार हैं :

प्रथमा ए० व०—सखा (संस्कृत के समान) : (सुत्तनि० 253. जातक 2. 29, 3. 50, 296, 5. 509, संयुत्त० 1. 36 गाथा, दीपवंस 11.26, महावंस 19.13)।

(सब्ब) सखो (थेरगाथा 648)

द्वितीया ए० व०—सक्खारं (जातक 2. 348, 3. 296, 4. 509)

तृतीया ए० व०—सक्खिना (अग्गिना के सदृश) (जातक 5. 41)

पञ्चमी—सक्खारस्मा (जातक 3. 534)

षष्ठी—सक्खिनो (जातक 5. 426., 6 478) 'सक्खिस्स' कात्यायन 2.3.34

सप्तमी—सखे (कात्यायन 2.3.32)

सम्बोधन—एकवचन सखा (जातक 3. 295)

सम्बोधन बहुवचन—सखारो (जातक 3.492)।

कात्यायन-व्याकरण में सखानो रूप भी नकारन्त शब्दों के सादृश्य पर मिलता है। इसी प्रकार 'सखायो', 'सखिनो' रूप भी मिलते हैं।

तृतीया ब० व०—सखेहि, सखारेहि (कात्या० 2. 3.34 के अनुसार)।

षष्ठी-चतुर्थी—सखीनं (जातक 3. 492, 4. 42),
सखानं (सुत्तनि० 123, जातक 2. 228),
सखारानं (कात्या० 2.3.36)।

सप्तमी—सखेसु, सखारेसु (कात्यायन 2.3.36)।

§ 85. इकारान्त, उकारान्त नपुंसकलिंग : अक्खि (अक्षि), अस्सु (अश्रु)

कारक	एकवचन		बहुवचन	
कर्ता, कर्म तथा सम्बोधन	अक्खि	अस्सु	अक्खीनि	अस्सूनि
	अक्खि	अस्सं	अक्खी	अस्सू

शेष पुल्लिंग के समान (§ 82)।

अम्बु शब्द से सप्तमी एकवचन में 'अम्बुनि' (जातक 5.^) रूप बनता है, जैसे संस्कृत में मधुनि।

टिप्पण

1. इम् और उम् मकारान्त रूप संस्कृत में नहीं होते। ये अकारान्त शब्दों के सादृश्य पर बनाए गए हैं। बहुवचन में दीर्घ ई, ऊ भी इसी सादृश्य पर हैं।

2. कर्ता एक वचन में 'म्' के उदाहरण :

दधिं (जातक-टीका 4. 140), सुचि सुगंधं सलिलं (जातक 6. 534)

अस्सुं (जातक-टीका 3. 163), वत्थुं (जातक-टीका 3. 39), कुसलं बहुं (विमान० 18.15)।

किंतु इसके विपरीत दधि (मिलिन्दपञ्ह 48), अस्सु (थेरीगाथा 220)।

3. बहुवचन में ई, ऊ के उदाहरण—

अक्खी भिन्ना (जातक 1. 483), मधू (जातक 6. 537)

कर्म कारक में अक्खी (धम्म० टीका 1. 9)।

§ 86. **स्त्रीलिंग इकारान्त (ईकारान्त) तथा उकारान्त (ऊकारान्त) शब्द :-**

जाति, नदी, धेनु और सस्सू (श्वश्रू)

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	जाति	जातियो
कर्म	जातिं	जाती
करण, अपादान	जातिया	जातीहि
सम्प्रदान, सम्बन्ध	जातिया	जातीनं
अधिकरण	जातिया-यं	जातीसु
सम्बोधन	जाति	जातियो, जातीयो

× × ×

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	धेनु	धेनुयो
कर्म	धेनुं	धेनू
करण, अपादान	धेनुया	धेनूहि
सम्प्रदान, सम्बन्ध	धेनुया	धेनूनं
अधिकरण	धेनुया, धेनुयं	धेनूसु
सम्बोधन	धेनु	धेनुयो, धेनू

टिप्पण

1. पालि में प्रथमा एकवचन को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों में ह्रस्व और दीर्घ इकारान्त, उकारान्त शब्दों के रूप एक-सरीखे होते हैं। प्रथमा एकवचन में दीर्घ ई, ऊ वैसे ही रह जाते हैं किंतु कहीं-कहीं ह्रस्व भी हो जाते हैं। उदाहरण—

सस्सु (विमान० 29.7.8)।

2. स्वरादि विभक्तियों से पहले 'इ' नियमित रूप से 'इय्' वदल जाती है। इस प्रकार संस्कृत के एकाच् ईकारान्त शब्दों के समान रूप बनते हैं। इसी के सादृश्य में उ भी 'उय्' में वदल जाता है। किंतु इकारान्त शब्दों के बहुत से ऐसे रूप भी हैं

जहां 'इ' का 'य' होता है। गाथा-साहित्य में मात्रा की रक्षा के लिए विशेष रूप में ऐसा किया गया है। आगामिक गद्य में भी कहीं ऐसे प्रयोग मिलते हैं। उदाहरण—

प्र० ब० रत्या (रात्र्यः) थेरगाथा 517, 628, जातक 6. 491)

प्र० व० रत्या (जातक 6. 26), (टीका : रत्तिओ)

स० ए० रत्तिम्हि (जातक 5. 102)

तृ० ए० निकत्या (जातक 7. 88 (टीका निकतिया), सं० निकृत्या (धोखे से)

ष० ए० पथव्या (धम्म० 178), सं० पृथ्व्याः

प्र० व० नाभ्यो (टीका नाभिओ (विमान० 64.4)।

इन उदाहरणों में यदि व्यञ्जन के अव्यवहित पश्चात् य हो तो विलयन के नियम लागू होते हैं—

तृ० ए० जच्चा (धम्म० 393; सुत्त० 136; जातक 3. 395), (टीका जातिया),
संमच्चा (संमत्या) (सुत्त० 648),
उपच्चा (उत्पत्त्या) (संयुत्त० 1. 209 गाथा)

स० ए० नलिञ्ञं (नलिन्याम्) (जातक 6. 313)

प्र० ब० पोक्खरञ्ञो (पुष्करिण्यः) (विमान० 44. 11, संयुत्त० 1. 233 गाथा)

प्र० ब० दस्सो (दास्यः) जातक 4. 53), नज्जो (नद्यः) (विमान० 6,7)।

गद्य में :

षष्ठी ए० नज्जा (नद्यः)(विनय० 1. 1, दीघ० 2. 112)

प्र० व० नज्जो (नद्यः) संयुत्त० (3. 202, 221) इत्यादि।

प्रथमा बहुवचन में नज्जायो (जा० 4. 278) रूप भी मिलता है। यह रूप 'नज्जा' शब्द से बन सकता है जो द्वितीया एकवचन *'नज्जं' (वैदिक 'नद्यं') से प्राप्त हो सकता है।

3. बहुवचन के रूप अन्तिम ह्रस्व स्वर के साथ भी मिलते हैं—

नरनारिणं (चर्या० 1. 6.2), नारिसु (धम्म० 284), जातिसु (थेरगाथा 346)

4. कर्ता बहुवचन में दो रूपों के उदाहरण—

कुमारियो (जातक-टीका 1. 337), पोक्खरणी (विमान० 81.5), जम्बुयो (थेरगाथा 309), (अच्छरा) पुथू (थेरगाथा 1190)।

कर्म बहुवचन—

पोक्खरणियो (दीघ० 2. 178), रंसी (विमान० 58.5), धेनुयो (विमान० 80.6)

5. संस्कृत सप्तमी एकवचन में 'औ' के समान रूप भी मिलता है—

रत्तो (रात्रौ) दिवा च रत्तो च [सुत्त० 223, विमान० 84.32, धम्म० 296, थेरी० 312, संयुत्त० 1. 33. उदान 15 गाथा, सद्धम्मसंगह 51 गद्य।

भुवि (कात्यायन के अनुसार)।

2. कर्ता एक वचन में 'म्' के उदाहरण :

दधिं (जातक-टीका 4. 140), सुचिं सुगंधं सलिलं (जातक 6. 534)

अस्सुं (जातक-टीका 3. 163), वत्थुं (जातक-टीका 3. 39), कुसलं बहुं (विमान० 18.15)।

किंतु इसके विपरीत दधि (मिलिन्दपञ्ह 48), अस्सु (थेरीगाथा 220)।

3. बहुवचन में ई, ऊ के उदाहरण—

अक्खी भिन्ना (जातक 1. 483), मधू (जातक 6. 537)

कर्म कारक में अक्खी (धम्म० टीका 1. 9)।

§ 86. स्त्रीलिंग इकारान्त (ईकारान्त) तथा उकारान्त (ऊकारान्त) शब्द :

जाति, नदी, धेनु और सस्सू (श्वश्रू)

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	जाति	जातियो
कर्म	जातिं	जाती
करण, अपादान	जातिया	जातीहि
सम्प्रदान, सम्बन्ध	जातिया	जातीनं
अधिकरण	जातिया-यं	जातीसु
सम्बोधन	जाति	जातियो, जातीयो

× × ×

कर्ता	धेनु	धेनुयो
कर्म	धेनुं	धेनू
करण, अपादान	धेनुया	धेनूहि
सम्प्रदान, सम्बन्ध	धेनुया	धेनूनं
अधिकरण	धेनुया, धेनुयं	धेनूसु
सम्बोधन	धेनु	धेनुयो, धेनू

टिप्पण

1. पालि में प्रथमा एकवचन को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों में ह्रस्व और दीर्घ इकारान्त, उकारान्त शब्दों के रूप एक-सरीखे होते हैं। प्रथमा एकवचन में दीर्घ ई, ऊ वैसे ही रह जाते हैं किंतु कहीं-कहीं ह्रस्व भी हो जाते हैं। उदाहरण—

सस्सु (विमान० 29.7.8)।

2. स्वरादि विभक्तियों से पहले 'इ' नियमित रूप से 'इय्' बदल जाती है। इस प्रकार संस्कृत के एकाच् ईकारान्त शब्दों के समान रूप बनते हैं। इसी के सादृश्य में उ भी 'उय्' में बदल जाता है। किंतु इकारान्त शब्दों के बहुत से ऐसे रूप भी हैं

पारगू (दीघ० 1. 88, जातक-टीका 2. 99)
विञ्ञू (इतिवुत्तक 98 आदि)
ह्रस्व रूप भी : पारगु (थेरगाथा 66), मतञ्ञु (संयुत्त० 4. 175)

कर्म — अभिभुं (धम्म० 418, सुत्त० 534, मज्झिम० 1. 2)
सब्बञ्ञुं (जातक-टीका 1. 335)

करण — सब्बञ्ञुना, सयम्भुना (मिलिंदपञ्हो 214)

सम्प्र०, सम्बन्ध — अमत्तञ्ञुनो (संयुत्त० 4. 103)
विञ्ञुस्स (अंगु० 1. 138, मज्झिम 3. 179),
अभिभुस्स (संयुत्त० 1. 157)

अधिकरण — अभिभुस्मिं (मज्झिम० 1. 2

कर्ता, कम ब०व० — मत्तञ्ञुनो (संयुत्त० 4. 105), गोत्रभुनो, (मज्झिम० 3. 256), सहभुनो (धम्मसं० 1197), वेदगुनो (उदान 14 गाथा), तथा सहभू (दीघ० 2. 260 गाथा), वदञ्ञू (संयुत्त० 1. 34, गाथा), अद्धगू (थेरीगाथा 55)

नपुं० लिं० — सहभूनि (नेत्तिप्पकरण 16)

करण — विञ्ञूहि (दीघ० 2. 93, संयुत्त० 1. 9)
लोकविदूहि (विमान० 44. 25)

सम्प्र०, सम्ब० — विञ्ञूनं (थेरगाथा 667, संयुत्त० 4. 93).
रत्तञ्ञूनं (अंगु० 1. 25)

अधिकरण — विञ्ञूसु (अंगु० 3. 153, 5. 15)

(4) सन्ध्यक्षरान्त शब्द-रूप (ए, ऐ, ओ, औ अन्त वाले शब्दों के रूप)

§ 88. 1. संस्कृत का ऐकारान्त 'रै' शब्द पालि में नहीं मिलता।

2. **नौ** शब्द से 'नावा' बना लिया गया है और आकारान्त माला के समान रूप चलते हैं। उदाहरण :

नावायो (धम्म० टी० 3. 184)
नावासु (धम्म० टी० 185)

3. **गो** शब्द के प्राचीन रूपों में से नीचे रूप लिखे मिलते हैं :

कर्ता — एक व० गो (संयुत्त० 1. 121 गाथा), गोरिव (जातक 5. 15)
बहु व० गावो (सुत्त० 20, अंगु० 2. 43)

कर्म — ब० व० गावो (कर्ता के सदृश) (जातक 6. 549, संयुत्त० 4. 1 धम्म० टीका 3. 43)

करण — ,, गोहि (संयुत्त 1. 6 गाथा, सुत्तनिपात 33)

सम्प्र०, सम्बन्ध — गवं (जातक 3. 111),
गोनं (वैदिक : गोनाम्) (दीपवंस 1. 76)
गुन्नं (ध्वनि-परिवर्तन) (संयुत्त० 2. 188, अंगु० 1. धम्प० टीका 3. 243)

पारगू (दीघ० 1. 88, जातक-टीका 2. 99)
विञ्ञू (इतिवुत्तक 98 आदि)
ह्रस्व रूप भी : पारगु (थेरगाथा 66), मतञ्ञु (संयुत्त० 4. 175)

कर्म — अभिभुं (धम्म० 418, सुत्त० 534, मज्झिम० 1. 2)
सब्बञ्ञुं (जातक-टीका 1. 335)

करण — सब्बञ्ञुना, सयम्भुना (मिलिंदपञ्हो 214)

सम्प्र०, सम्बन्ध — अमत्तञ्ञुनो (संयुत्त० 4. 103)
विञ्ञुस्स (अंगु० 1. 138, मज्झिम 3. 179),
अभिभुस्स (संयुत्त० 1. 157)

अधिकरण — अभिभुस्मिं (मज्झिम० 1. 2

कर्ता, कम ब०व० — मत्तञ्ञुनो (संयुत्त० 4. 105), गोत्रभुनो, (मज्झिम० 3. 256), सहभुनो (धम्मसं० 1197), वेदगुनो (उदान 14 गाथा), तथा सहभू (दीघ० 2. 260 गाथा), वदञ्ञू (संयुत्त० 1. 34, गाथा), अद्धगू (थेरीगाथा 55)

नपुं० लिं० — सहभूनि (नेत्तिप्पकरण 16)

करण — विञ्ञूहि (दीघ० 2. 93, संयुत्त० 1. 9)
लोकविदूहि (विमान० 44. 25)

सम्प्र०, सम्ब० — विञ्ञूनं (थेरगाथा 667, संयुत्त० 4. 93),
रत्तञ्ञूनं (अंगु० 1. 25)

अधिकरण — विञ्ञूसु (अंगु० 3. 153, 5. 15)

(4) सन्ध्यक्षरान्त शब्द-रूप (ए, ऐ, ओ, औ अन्त वाले शब्दों के रूप)

§ 88. 1. संस्कृत का ऐकारान्त 'रै' शब्द पालि में नहीं मिलता।

2. **नौ** शब्द से 'नावा' बना लिया गया है और आकारान्त माला के समान रूप चलते हैं। उदाहरण :

नावायो (धम्म० टी० 3. 184)
नावासु (धम्म० टी० 185)

3. **गो** शब्द के प्राचीन रूपों में से नीचे रूप लिखे मिलते हैं :

कर्ता — एक व० गो (संयुत्त० 1. 121 गाथा), गोरिव (जातक 5. 15)
बहु व० गावो (सुत्त० 20, अंगु० 2. 43)

कर्म — ब० व० गावो (कर्ता के सदृश) (जातक 6. 549, संयुत्त० 4. 181, धम्म० टीका 3. 43)

करण ,, — गोहि (संयुत्त 1. 6 गाथा, सुत्तनिपात 33)

सम्प्र०, सम्बन्ध — गवं (जातक 3. 111),
गोनं (वैदिक : गोनाम्) (दीपवंस 1. 76)
गुन्नं (ध्वनि-परिवर्तन) (संयुत्त० 2. 188, अंगु० 1. 229, धम्म० टीका 3. 243)

6. कई बार ईकारान्त शब्द को आकारान्त बना दिया जाता है :
अड्ढरत्तायं (टीका : रत्तियं) विमान० 81.16।

§ 87. श्री, ह्री और स्त्री शब्दों के रूप

सिरी (श्री) : एकवचन

कर्ता	सिरी (जातक 5. 112), सिरि (संयुत्त० 1. 44 गाथा)
कर्म	सिरिं (जातक-टीका 2. 410)
करण	सिरिया (सुत्त० 686, विमान० टी० 328)
सम्बोधन	सिरि (दीघ० टी० 97)

हिरी (ह्री) : एकवचन

कर्ता	हिरी (संयुत्त० 1. 33 गाथा, अंगु० 1. 95) हिरि (इतिवुत्तक 36, अंगु० 1. 51; 4. 11, नेत्तिप्पकरण 82, जा० टी० 1. 207)
कर्म	हिरिं (सुत्त० 719)
करण	हिरिया (जातक 2. 65, अंगु० 3. 6, नेत्तिप्पकरण 50, जातक-टीका० 1. 129)

इत्थी (स्त्री) : एकवचन

कर्ता	इत्थी (जातक 1. 307, अंगु० 1. 28., महावंस 9.24) इत्थि (थेर० 151, दीघ० 2. 273 गाथा, अंगु० 3. 68, जातक टीका 1. 437)
कर्म	इत्थिं (थेर० 315, विनय०, 1. 23, जातक-टीका 1. 307)
करण	इत्थिया (विनय० 1. 23, जातक-टीका 1. 290)
सम्प्र० सम्ब०	इत्थिया (संयुत्त० 1. 33 गाथा, जातक-टीका 1. 307) थिया (जातक 5. 81)

बहुवचन

कर्ता	इत्थियो (संयुत्त० 1. 185 गाथा, विनय० 1. 36, जातक-टीका 3. 392)
कर्म	इत्थियो (जा० टी० 1. 289) थियो (सुत्त० 769), (जातक 3. 569)
करण	इत्थीहि
सम्बन्ध, सम्प्रदान	इत्थीनं (जातक-टीका 3. 392) थीनं (जा० 1. 295)
अधिकरण	इत्थीसु (थेर० 137, संयु० 4. 346)

ऊकारांत पुल्लिंग : अभि-भू आदि शब्द

कर्ता	ए०व० [अभि-भू (संयुत्त० 1. 121 गाथा, दीघ० 1. 18) सयंभू (बुद्धवंस 14 1. 66)

पारगू (दीघ० 1. 88, जातक-टीका 2. 99)
विञ्ञू (इतिवुत्तक 98 आदि)
ह्रस्व रूप भी : पारगु (थेरगाथा 66), मतञ्ञु (संयुत्त० 4. 175)

कर्म — अभिभुं (धम्म० 418, सुत्त० 534, मज्झिम० 1. 2)
सब्बञ्ञुं (जातक-टीका 1. 335)

करण — सब्बञ्ञुना, सयम्भुना (मिलिदपञ्हो 214)

सम्प्र०, सम्बन्ध — अमतञ्ञुनो (संयुत्त० 4. 103)
विञ्ञुस्स (अंगु० 1. 138, मज्झिम 3. 179),
अभिभुस्स (संयुत्त० 1. 157)

अधिकरण — अभिभुस्मिं (मज्झिम० 1. 2

कर्ता, कर्म ब०व० — मत्तञ्ञुनो (संयुत्त० 4. 105), गोत्रभुनो, (मज्झिम० 3. 256), सहभुनो (धम्मसं० 1197), वेदगुनो (उदान 14 गाथा), तथा सहभू (दीघ० 2. 260 गाथा), वदञ्ञू (संयुत्त० 1. 34, गाथा), अद्धगू (थेरीगाथा 55)

नपुं० लि० — सहभूनि (नेत्तिप्पकरण 16)

करण — विञ्ञूहि (दीघ० 2. 93, संयुत्त० 1. 9)
लोकविदूहि (विमान० 44. 25)

सम्प्र०, सम्ब० — विञ्ञूनं (थेरगाथा 667, संयुत्त० 4. 93),
रत्तञ्ञूनं (अंगु० 1. 25)

अधिकरण — विञ्ञूसु (अंगु० 3. 153, 5. 15)

(4) सन्ध्यक्षरान्त शब्द-रूप (ए, ऐ, ओ, औ अन्त वाले शब्दों के रूप)

§ 88. 1. संस्कृत का ऐकारान्त 'रै' शब्द पालि में नहीं मिलता।

2. नौ शब्द से 'नावा' बना लिया गया है और आकारान्त माला के समान रूप चलते हैं। उदाहरण :

नावायो (धम्म० टी० 3. 184)
नावासु (धम्म० टी० 185)

3. गो शब्द के प्राचीन रूपों में से नीचे रूप लिखे मिलते हैं :

कर्ता — एक व० गो (संयुत्त० 1. 121 गाथा), गोरिव (जातक 5. 15)
बहु व० गावो (सुत्त० 20, अंगु० 2. 43)

कर्म — ब० व० गावो (कर्ता के सदृश) (जातक 6. 549, संयुत्त० 4. 181, धम्म० टीका 3. 43)

करण — ,, गोहि (संयुत्त 1. 6 गाथा, सुत्तनिपात 33)

सम्प्र०, सम्बन्ध — गवं (जातक 3. 111),
गोनं (वैदिक : गोनाम्) (दीपवंस 1. 76)
गुन्नं (ध्वनि-परिवर्तन) (संयुत्त० 2. 188, अंगु० 1. 229, धम्म० टीका 3. 243)

गव शब्द

अपादान गवा (दीघ० 1. 201)
सम्प्र०, सम्बन्ध गवस्स (मज्झिम० 1. 429)
अधिकरण गवे (सुत्तनि० 310)
इसी प्रकार 'गाव', 'गावी' और गोण शब्दों के भी रूप मिलते हैं :
कर्ता एक व० गोणो (विनय० 4. 7, संयुत्त० 4. 195, धम्म० टीका 3. 262)
कर्म एक व० गोणं (मज्झिम० 1. 10, जातक-टीका 1. 494)
कर्म बहु व० गोणे (धम्म० टीका 3. 302)
सम्बन्ध गोणानं (धम्म० टीका 3. 239)

4. दिव् या द्यु शब्द का पालि में एक ही 'दिवा' रूप मिलता है। इसका क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है।

5. मूल शब्द

§ 89. धातु पर आश्रित शब्दों के बहुत थोड़े रूप पालि में सुरक्षित हैं :

करण—एक व० वाचा (सुत्त० 232), (सं० वाच्), पालि में साधारणतया यह 'वाचा' के रूप में प्रयुक्त होता है।

करण एक व० पदा (थेरगाथा 457, सुत्त० 768), (सं० पाद्)।
षष्ठी ब० व० खत्तियो दिपदं सेट्ठो (संयुत्त० 1. 6 गाथा), (सं० द्विपदाम्)
कर्म बहु व० सरदो सतं (जातक 2. 16), (सं० शरद्)
सम्बन्ध बहु व० सागरं सरितं पतिं (जातक 2. 442)
उपर्युक्त सभी उदाहरण गाथा-साहित्य में से हैं।
महावंस 36. 93 (सीलोनी संस्करण) में सप्तमी एकवचन 'पथि' मिलता है।

इसी प्रकार इसी ग्रन्थ के बर्मी संस्करण में द्वितीया एकवचन में 'पथं' मिलता है।

6. ऋकारान्त शब्द

§ 90. सत्थर (शास्तृ)

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सत्था	सत्थारो
कर्म	सत्थारं	
करण	सत्थारा, सत्थरा, सत्थुना	सत्थूहि
अपादान	सत्थरा, सत्थारा	सत्थारेहि
सम्प्र०, सम्ब०	सत्थु, सत्थुनो सत्थुस्स	सत्थूनं, सत्थारानं
अधिकरण	सत्थरि	सत्थूसु, सत्थारेसु
सम्बोधन	सत्था, सत्थ, सत्थे	सत्थारो

टिप्पणी :

1. नीचे लिखे रूप ऐतिहासिक हैं। भाषा के प्रत्येक युग में इनका प्रयोग होता रहा है :

कर्ता एo वo सत्था (जातक-टीका 3. 20)

कर्म एo वo सत्थारं
कर्ता वo वo सत्थारो (जातक-टीका 3. 21)
कर्म वo वo

सम्बन्ध एo वo सत्थु (इतिवुत्तक 79, जातक-टीका 3. 20),
भत्तु (विमानo 15)

अधिकरण एo वo सत्थरि (धम्म संo 1004, धम्मo टीo 2. 38)

करण एo वo सत्थरा (संo शास्त्रा : स्वरभक्ति)

करण का रूप अपादान में भी प्रयुक्त होने लगा।

2. समास में संस्कृत ऋ का पालि में 'उ' हो जाता है :

सत्थुकप्प (संo शास्तृकल्प) (महावंस 14.65)

भत्तुवसानुवत्तिनी (भर्तृवशानुवर्तिनी) (जातक 2. 348)

इन रूपों से एक नया शब्द 'सत्थु' बन गया, जिससे नीचे लिखे रूप बने :

करण एo वo सत्थुना (महावंस 17.12)

सम्प्रo, सम्बo सत्थुनो (सुत्तo 547,573, थेरगाथाo 131)
भत्तुनो (विमानo टीo 110)
सत्थुस्स (महावंस 4.32)

करण, अपादान वo वo सत्थूहि

सम्बन्ध ,, सत्थूनं, सोतूनं (दीघoटीo 1. 20)

अधिकरण ,, सत्थूसु

3. 'कम्मार' (कर्मभार : लोहार या सुनार) के सादृश्य पर एक नया शब्द 'सत्थार' भी बना लिया गया। उदाo—कर्म एo वo सत्थारं।

इस शब्द से नीचे लिखे रूप बनाए गए हैं :

करण वoवo सत्थारेहि

सम्बन्ध " सत्थारानं (जातक-टीका 1. 509)

अधि " सत्थारेसु

करण एoवo सत्थारा(सम्भवतः), (दीघo 1. 163, जातक-टीका 2. 24,
अपादान एoवo धम्मo टीo 2 45, महावंस 5.77)

4. अंतिम ऋ के स्थान में अ भी मिलता है :

नहापित (स्नापितृ : नाई)

कर्ता ए०व० नहापितो (दीघ० 1. 225)

कर्म ए०व० नहापितं (दीघ० 1. 225), ब०व० नहापिते (महावंस 20. 29)।

सल्लकत्त (शल्यकर्तृ)

कर्ता ए०व० सल्लकत्तो (सुत्त०560)

कर्म ए०व० सल्लकत्तं (मज्झिम० 1. 429, मिलिंदपञ्हो 247)

खत्त (क्षत्तृ द्वारपाल)

कर्ता ए०व० खत्ता (दीघ० 1.112, मज्झिम० 2. 164)

कर्म ए०व० खत्तं (दीघ० 1. 112, 164)

5. सम्बोधन एकवचन में 'सत्था' रूप होता है। यह प्रथमा का अनुकरण है। इसी प्रकार 'सत्थ' रूप भी मिलता है। यहाँ 'हे नदि' के समान ह्रस्व हो गया है। सत्थे, खत्ते, कत्ते आदि रूप 'कञ्ञे' के सादृश्य पर हैं।

§ 91. वैयक्तिक सम्बन्ध को प्रकट करने वाले शब्द

पितर् (पितृ)

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पिता	पितरो
कर्म	पितरं	पितूरो, पितरे
करण	पितरा	पितूहि, पितरेहि
अपादान	पितरा	
सम्प्र०, सम्ब०	पितु, पितुनो, पितुस्स	पितूनं, पितुन्नं, पितरानं
अधिकरण	पितरि	पितुसु, पितरेसु

मातर् (मातृ)

कर्ता	माता	मातरो
कर्म	मातरं	मातरो
करण	मातरा	मातूहि
अपादान	मातरा, मातुया	मातूहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	मातुया	मातूनं
अधिकरण	मातुया, मातुयं	मातूसु

टिप्पण : पितर् और पितु शब्द का पालि के सभी युगों में प्रयोग मिलता है।

इसी प्रकार 'पितर' शब्द भी मिलता है। किंतु इसके आधार के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

नत्ता (सं० नप्तृ) शब्द में ऋ का आर् होता है। उदा०—

कर्म ब०व० नत्तारो (उदान 91)
करण ब०व० नत्तारेहि (उदान 92)

मुख्य रूपों के उदाहरण

करण ए०व० पितरा (जातक-टीका 3. 37)
भातरा (जातक-टीका 1. 308)
मातरा (थेरीगाथा 212)
अपादान ए०व० पितरा, मातरा (जातक-टीका 5. 214)
धीतुया (महावंस 8.7)
सम्प्र०, सम्बन्ध ए०व० पितु (थेरीगाथा 419, जातक-टीका 4. 137)
मातु (थेर० 473, विनय० 1. 17, जा०टी० 1.52)
दुहितु (थेरी० टी० 267)
पितुनो (विनय० 1. 17, विमान० टी० 170)
भातुस्स महावंस 8. 9
मातुया (जातक-टीका 1. 53, महावंस 10. 8)
अधिकरण एक व० भातरि (जातक-टीका 3. 56)
करण ब०व० मातापितूहि (थेरी० 516, जा० टी० 2. 103)
सम्बन्ध ब०व० पितूनं (इतिवुत्तक 110)
पितुन्नं (धम्म० टीका 1 161)
अधिकरण बहु०व० मातापितूसु (थेरी० 499, जातक-टीका 1. 152)

3. अनियमित रूप

कर्म ए०व० पितुं (चरियापिटक 2. 9. 3)
कर्ता ब०व० भातुनो (थेरीगाथा 408)
कर्म ब०व० पितू (मातपितू) (थेरी० 433)
कर्ता ए०व० जामातो (जातक-टीका 4. 219)
कर्म ब०व० भाते (दीपवंस 6. 21, 22)

यहाँ भ्रातृ शब्द अकारांत 'भात' बन गया है।

ऋकारांत स्त्रीलिंग शब्दों का आकारांत हो जाता है :

षष्ठी—ए०व० मातायो (जातक-टीका 1. 62)

यह परिवर्तन 'धीतर्' (सं० दुहितृ) में बहुत अधिक मिलता है :

कर्ता	ए०व०	धीता (थेरी० 46)
कर्म	ए०व०	धीतरं (थेरी० 98, जातक-टीका 3. 19)
सम्प्र०, सम्बन्ध		धीताय (विमान० टीका 270, महावंस 5. 169) ('धीतु' रूप भी : जातक-टीका 6. 366)
सम्बोधन		धीते (जातक-टीका 3. 21, धम्मपद-टीका 3. 8)
कर्ता	ब०व०	धीता (महावंस 2. 18)
		धीतरो (जातक-टीका 3. 3)
करण		धीताहि (विमान० टीका 161, महावंस 7. 68)
सम्बन्ध		धीतानं (जा० टी० 3. 4)
अधिकरण		धीतासु (जा० टी० 1. 152)

7. नकारान्त शब्द

§ 92. **राजन् तथा अत्तान् (आत्मन्) शब्द**

	एकवचन		बहुवचन
कर्ता	राजा	अत्ता	राजानो, अत्तानो
कर्म	राजानं	अत्तानं	
करण	रञ्ञा	अत्तना	
	राजिना		राजाहि, अत्तनेहि, अत्तेहि
अपादान	रञ्ञा	अत्तना	राजाहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	रञ्ञो	अत्तनो	रञ्ञं
	राजिनो		राजानं अत्तानं
अधिकरण	राजिनि	अत्तनि	राजासु अत्तनेसु
सम्बोधन	रजा	अत्ता	राजानो अत्तानो

टिप्पणी : 1. एकवचन के रूप ऐतिहासिक हैं। अपादान (जो कि करण के समान है) को छोड़कर शेष सभी एकवचन पालि के सभी युगों में पाए जाते हैं।

करण ए०व० रञ्ञा (धम्मपद टी० 1. 164)

सम्प्र०, सम्बन्ध रञ्ञो (विमान० 74. 4, धम्म० टी० 1. 164, जातक-टीका 3. 5)

उपर्युक्त रूप 'राज्ञा' और 'राज्ञः' से बने हैं। (§ 53)

करण ए०व० राजिना (महावंस 6. 2)

सम्बन्ध ,, राजिनो (थेरीगाथा 463, सुत्त० 299, महावंस 2. 14)—

ये रूप स्वरभक्ति से बने हैं।

सप्तमी एकवचन में 'राजिनि' भी स्वरभक्ति से बना है।

सम्बोधन एकवचन में दीर्घान्त रूप कर्ता से आए हैं।

जिन शब्दों में न से पहले म या व का संयोग है उनके अ का लोप नहीं होता। जैसे :

अम्हना (सं० अश्मना)

अत्तनि (जातक-टीका 3. 25)

करण एकवचन मुद्धना (महावंस 19.30

अधिकरण ,, मुद्धनि (सुत्त० 689, मज्झिम० 1. 168 गाथा, जातक-टीका 4. 265, महावंस 36. 66)

इसमें भी अ का लोप नहीं हुआ।

कर्ता तथा सम्बोधन में बहुवचन के रूप ऐतिहासिक हैं। इनका प्रयोग कर्म में भी होता है। (उदा० धम्मपद-टीका 2. 15)

इसी प्रकार सम्बन्ध बहुवचन का रूप 'रञ्ञं' (सं० राज्ञां) भी ऐतिहासिक है। (धम्म० टीका 2. 87, महावंस 18. 32)

इनके अतिरिक्त बहुवचन में एक नया रूप 'राजु' अस्तित्व में आ गया। उदा० राजूहि (उदान 41. मज्झिम० 2. 120; जातक-टीका 3. 45; महावंस 5. 80 तथा 8. 21)

राजुभि (प्राचीन रूप) भी मिलता है (दीघनिकाय 2. 258)

राजूनं (उदान 11, जातक-टीका 2. 104, 3 487)

सम्भवतया यह ऋकारान्त शब्दों के सादृश्य के कारण है। जिस प्रकार सत्था का सत्थूहि हो गया, उसी प्रकार 'राजा' का राजूनं बना दिया गया।

'अत्तनेहि' आदि रूपों केलिए उदाहरण नहीं मिलता।

2. अन्त्य अनुनासिक का लोप कर देने पर अकारान्त शब्द बन जाते हैं। उदाहरण :

सम्बन्ध ए०व० राजस्स (दीपवंस 17. 41)

कर्ता ब०व० राजा (महावंस 37. 89, कोलम्बो सं० 2. 37, 39)

कर्म ए०व० ब्रह्मं ('ब्रह्मानं के स्थान पर) (विमान० 17. 4,. सुत्त० 151. 285, मज्झिम० 1. 2. 328)

प्राकृत और मागधी में 'बम्हं' हो जाता है।

मुद्धं (मुद्धन् से) (धम्म० 72, सुत्त० 987, दीघ० 1. 95)

अत्तं (धम्म० 379)

अत्तेहि, अत्तानं।

राजन् शब्द के 'राज्ञः' आदि रूपों के आधार पर 'रञ्ञा' शब्द भी बन गया है।

कर्ता ए० व० रञ्ञो (अंगु० 2. 113, 116, 117)
सम्बन्ध ए० व० रञ्ञास्स (जातक 3. 70)
अधिकरण ए० व० रञ्ञे (दीघ० 2. 145, 3. 83)
करण बहु व० रञ्ञेहि (अंगु० 1. 279)

आत्मन् शब्द के 'आत्मनः' आदि रूपों के आधार पर 'अत्तन' शब्द बन गया। उसके 'अत्तनेहि', अत्तनेसु आदि रूप बन गए।

इसी प्रकार 'अध्वानौ, अध्वानः' आदि रूपों के आधार पर अद्धान शब्द बन गया। उसके अद्धानं (द्वि० ए०) आदि रूप बन गए :

अतीतमद्धाने (जातक-टीका 3. 43 गाथा)
अद्धानमग्गपटिपन्नो (दीघ० 1. 1)

3. ब्रह्मन् शब्द में अ का—म-संज्ञक विभक्तियों में प्रथमवर्ती ओष्ठ्य व्यञ्जनों के कारण—'उ' हो जाता है :

करण ए०व० ब्रह्मुना (थेरगाथा 1168, उदान 77, दीघ० 2. 237)
किंतु द्वितीया ए०व० में 'ब्रह्मानं'।
सम्प्र०, सम्बन्ध ब्रह्मुनो (थेरगाथा 182, दीघ० 1. 220, 222, संयुत्त० 1. 141)
अधिकरण ब्रह्मनि (मज्झिम०) 1. 2.
सम्बोधन ब्रह्मे (जातक 6. 525, मज्झिम० 1. 328, विनय० 1. 6)
अद्धुना (संयुत्त० 1. 78, 2. 179)
अद्धुनो (दीघ० 1. 17, मज्झिम० 3. 184)

§ 93. सन् (श्वन्) शब्द

कर्ता ए० व० सा (संयुत्त० 1. 176 गाथा, दीघ० 1. 166, मज्झिम० 1. 77, 2. 232, पुग्गल०, 55)। बहु० व० सानो।

संस्कृत के शुनः से एक नया शब्द 'सुण' बन गया है।
करण ए० व० सुणेन (जातक 6. 353, 354)
सम्बोधन सुण (जातक-टीका 6. 357)
'सुनख' शब्द भी प्रचलित है।
'श्वानौ' 'श्वानः' से 'सुवान' एवं 'सुवाण' शब्द भी बन गए हैं :
कर्ता ब० व० सुवाना (जातक 6. 247)
करण ब० व० सुवानेहि (मज्झिम० 3. 91)

युवन् शब्द

कर्ता एक व० युवा (धम्मपद 280, सुत्त० 420, दीघ० 1. 80)
सम्बन्ध ए० व० युविनो (जातक 4. 222)
इस रूप का मूल अनिश्चित है।
'युवस्स' 'युव' शब्द का रूप है। (महावंस 18. 28.)
'यून' और 'युवान' शब्द 'यून:' इत्यादि और 'युवान:' इत्यादि से बने हैं।

मघवन् शब्द

कर्ता एक व० मघवा (धम्मपद 30)
सम्बोधन ,, मघवा (संयुत्त० 1. 221 गाथा)

पथिन् शब्द

संस्कृत में पथिन् शब्द के पथ और पन्थन् रूप बनते हैं। उनके आधार पर पालि में 'पथ' और पन्थ दो शब्द बन गए हैं। उनके नीचे लिखे रूप मिलते हैं :

पथ

कर्ता ए० व० पथो (दीघ० 1. 63)
कर्म ए० व० पथं (जातक-टीका 2. 39)
अपादान ए० व० पथा (जातक 6. 525)
सम्बन्ध ए० व० पथस्स (थेरगाथा 69)
अधिकरण ए० व० पथे (सुत्त० 176, महावंस 21. 24)

पन्थ

पन्थसकुन (जातक 6. 527), पन्थदेवता (जातक-टीका 6. 527)
कर्म ए०व० पन्थं (मिलिन्दपञ्हो 157)
अधि० ए०व० पन्थस्मिन् (सुत्त० 121)

पुमन् (पुंस्) शब्द

कर्ता ए० व० पुमा (रसवाहिनी 2. 83)
पुमं (कच्चायन 2. 2. 33)
कर्ता ब० व० पुमानो (कच्चायन 2. 2. 23)
सम्बोधन ब० व० पुमुना (कच्चायन 2. 2. 23)
'पुम' शब्द भी है—
कर्ता ए० व० पुमो (दीघ० 2. 273 गाथा)
कर्ता ब० व० पुमा (जातक 3. 459)
पुमान (कच्चायन)
पालि में 'पुम्स' का कोई अवशेष नहीं मिलता।

94. अन्नन्त नपुंसक-लिंग शब्द

कम्मन् (कर्मन्) शब्द

कर्ता, कर्म और सम्बोधन एकवचन में इसका ऐतिहासिक रूप है :

कर्ता कम्मा (धम्मपद 96, 217)

करण कम्मना (सुत्त० 136)

कम्मुना (थेरगाथा 143. 786, विमान० 32. 7, महावंस 5. 189)

सम्बन्ध कम्मुनो (जातक 3. 6)

अधिकरण कम्मनि

कालक्रम से प्राचीन रूप हटते गए और अकारान्त 'कम्म' शब्द से बने रूप व्यवहृत होने लगे। इस शब्द का आधार है—कर्ता, कर्म एवं सम्बोधन का बहुवचन कम्माणि (सुत्त० 263, धम्मपद 136)। परिणाम-स्वरूप :

कर्ता एक व० } कम्मं
कर्म एक व० }

करण कम्मेन इत्यादि।

तुलना : प्राचीनतम साहित्य में भी 'नामं' कर्ता ए० व० रूप मिलता है (सुत्त० 808)

कम्मेहि (सुत्त० 215)

कम्मेसु (सुत्त०140 इत्यादि)

इसी प्रकार पब्ब (पर्वन्) (गांठ या अध्याय) शब्द से :

अधिकरण ए० व० पब्बे (जातक-टीका 1. 245)

ब० व० पब्बेसु (संयुत्त० 4. 171)

थाम (स्थामन् = बल) शब्द

करण ए० व० थामेन (जातक-टीका 1.443, मिलिंद० 4)

इसी प्रकार थामासा (§ 79) (दीघ० 2. 282, महावंस 23. 83

शब्द के साथ 'अ' जोड़कर नये नपुंसक-लिंग शब्द भी बनाए जाते हैं :

कर्म ए० व० जम्मनं (सुत्त० 1018), जम्म (सं०जन्मन्) शब्द से

कर्ता ए० व० यकनं (खुद्दक 3, मज्झिम० 1. 57, दीघ० 2. 293), यकन् (सं० यकन्=जिगर) शब्द से।

जिन समस्त पुल्लिग शब्दों में दूसरा पद नपुंसक-लिंग है उनमें अधिकतर 'न्' का लोप हो जाता है और रूप अकारान्त शब्दों के समान चलते हैं :

कर्ता ब०व० पुञ्ञकम्मा (संयुत्त० 1. 97)
सम्बन्ध ए०व० पुथुलोमस्स अत्तनगलु विहारस्स (लोमन् शब्द से)
कर्ता ए०व० विस्सकम्म (विश्वकर्मन् शब्द)
कर्ता ए०व० विस्सकम्मो (जातक-टीका 4. 325)
कर्म ए०व० विस्सकम्मं (जातक-टीका 5. 132)
करण ए०व० विस्सकमेन (जातक-टीका 1. 315)

किन्तु नीचे लिखे रूप भी मिलते हैं :

विस्सकम्मानं (महावंस 28. 6)।
विस्सकम्मुना (महावंस 31. 76)

95. इन्नन्त संज्ञा और विशेषण

हत्थिन् (हस्तिन्) शब्द

	एकवचन	**बहुवचन**
कर्ता	हत्थी, हत्थि	हत्थिनो, हत्थी
कर्म	हत्थिनं, हत्थिं	हत्थिनो, हत्थी
करण	हत्थिना	हत्थीहि
अपादान	हत्थिना, हत्थिस्मा, हत्थिम्हा	हत्थीहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	हत्थिनो, हत्थिस्स	हत्थीनं
अधिकरण	हत्थिनि, हत्थिम्हि, हत्थिस्मि	हत्थीसु
सम्बोधन	हत्थि	हत्थिनो, हत्थी

टिप्पणी

1. उपर्युक्त रूपों में दो प्रकार स्पष्ट प्रतीत होते हैं। प्राचीन प्रकार में 'इन्' है और नवीन में 'इ'। ये रूप या तो इन्नन्त शब्दों से बने हैं, अथवा इकारान्त शब्दों के करण एकवचन से जहाँ इकारान्त तथा इन्नन्त शब्दों के रूप एक-सरीखे हो जाते हैं। भाषा के सभी युगों में दोनों प्रकार मिलते हैं। उदाहरण :

सम्बन्ध—ए०व० झायिनो (झायिन्=ध्यायिन्) (धम्म० 110)
सेट्ठिनो (श्रेष्ठिनः) (जातक-टीका 1. 122)
हत्थिनो (हस्तिनः) (धम्म० टीका 1. 168)

अनुपस्सिस्स (अनुपश्यिनः) (धम्मपद 253)
सेट्ठिस्स (श्रेष्ठिनः) (संयुत्त० 1. 90, विनय० 1. 218, जातक-टीका 4. 229)
हत्थिस्स (हस्तिनः) (विनय० 2. 195, जातक-टीका 1. 187)

कर्ता व०व० झायिनो (ध्यायिनः) (धम्म 23)
सामिनो (स्वामिनः) (जातक-टीका 2. 3)
गामवासिनो (ग्रामवासिनः) (जातक-टीका 3. 9)
पाणिनो (प्राणिनः) (महावंस 12. 22)
हत्थी (संयुत्त० 1. 211 गाथा, विनय० 1. 218, जातक-टीका 2. 102)
धंसी (मज्झिम० 1. 236.)

कर्म व०व० हत्थी (हस्तिनः)(धम्म० टी० 2. 45)
ए०व० हत्थिनं (हस्तिनम्) (थेरगाथा 355)
सामिं (स्वामिनं) (सुत्त० 83)
ग़ामवासिं (ग्रामवासिनं) (जातक-टीका 3. 10)

अधिकरण ए०व० सेट्ठिम्हि (विनय० 1. 17)

दीर्घ ई वाले रूप करण, अपादान, सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण बहुवचन में नियमित रूप से मिलते हैं, किन्तु छन्द की रक्षा के लिए ह्रस्व 'इ' भी पर्याप्त रूप में मिलती है। उदाहरण :

पाणिहि (विमान० 4. 6)
पाणिनं (धम्मपद 135, जातक 6. 594)

2. ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ न् के साथ 'अ' जोड़कर शब्द को अकारान्त बना दिया गया है। उदाहरण :

नपुं० कर्म ए० व० ओहारिणं (धम्म० 346), (अपहारिन्)
अधि० ए० व० अरियवुत्तिने (जातक-टीका 3. 12 गाथा)
कर्ता व० व० वेरिना (धम्म० टी० 2. 37) वेरिन् (सं० वैरिन्) शब्द से
कर्म व० व० पलोकिने (थेरीगाथा 101), पाणिने (सुत्त-निपात 220)
अधि० व० व० वेरिनेसु (धम्म० 197)

स्त्रीलिंग सम्बोधन एकवचन में 'आवेळिने उप्पलमालधारिने' एकारान्त रूप भी मिलते हैं। (विमान० 48. 2) (आवलिन् और धारिन् से)।

साधारणतया इन्नन्त शब्दों का स्त्रीलिंग, संस्कृत के समान, 'ई' लगाकर बनाया जाता है। उदाहरण : सामिनी (स्वामिनी), गब्भिनी (गर्भिणी) इत्यादि।

3. कुछ फुटकर असाधारण रूप भी मिलते हैं :
कर्ता व० व० पाणयो (प्राणयः) (सुत्त० 201),
हत्थियो (हस्तिनः) (जातक 6. 537)
इसी प्रकार करण का प्राचीन रूप 'भि' के साथ :
अत्थदस्सिभि (थेरगाथा 4. (आत्मदर्शिभिः)
नेत्तिसवरधारिभि (जातक 2. 77) (नैस्त्रिशवरधारिभिः)
झायिभि (मज्झिम० 3. 13) (ध्यायिभिः) ।
4. तादृश शब्द से बने हुए 'तादि' (§ 75) के रूप भी इन्नन्त के समान होते हैं।

सम्बन्ध ए० व० तादिनो (विमान० 82. 7)
व० व० तादीनं (विमान० 81. 26)
अधिकरण ए० व० तादिने (थेरगाथा 1173)

8. मतुबन्त शब्द

§ 96. सीलवन्त (शीलवन्त्)

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सीलवा, सीलवन्तो	सीलवन्तो, सीलवन्ता
कर्म	सीलवन्तं	सीलवन्तो, सीलवन्ते
करण, अपा०	सीलवन्ता, सीलवन्तेन	सीलवन्तेहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	सीलवन्तो	सीलवन्तं
	सीलवन्तस्स	सीलवन्तानं
अधिकरण	सीलवति, सीलवन्ते	सीलवन्तेसु
	सीलवन्तम्हि, सीलवन्तस्मि	
सम्बोधन	सीलव	सीलवन्तो
	सीलवन्त	सीलवन्ता

टिप्पणी

1. प्राचीन ऐतिहासिक रूप को अकारान्त बना देने पर नया रूप निकल आया। कर्म एकवचन का 'अन्तं' वाला रूप दोनों को जोड़ता है। भाषा के सभी युगों में दोनों रूप एक साथ मिलते हैं। करण, अपादान तथा अधिकरण के बहुवचन में प्रारम्भ से ही नवीन रूप का एकाधिपत्य है।

गाथाओं में भी नवीन रूप मिलते हैं :
सम्बन्ध ए० व० सीलवन्तस्स (धम्मपद 110)
अधिकरण ए० व० सीलवन्ते (जातक-टीका 3. 12 गाथा)
सम्बो० यसवन्त (विमान० 63. 30)

नपुंसक-लिंग कर्ता ए० व० वण्णवन्तं (पुप्फं) (थेरगाथा 323, 324)
कर्म ब० व० महन्ते (जातक 4. 222)

आगमिक गद्य में

कर्ता ए० व० महन्तो (मज्झिम० 3 185)
कर्म ब० व० महन्ते (विनय० 1. 85)
सम्बन्ध ब० व० सीलवन्तानं (मज्झिम० 1. 334)
सतिमन्तानं (अंगु० 1. 24)
धितिमन्तानं (अंगु० 1. 25)
भगवन्तानं (संयुत्त० 5. 164)
करण ब० व० सीलवन्तेहि (दीघ० 2. 80)

नियमित रूप इससे भी प्राचीन हैं :

संयुत्तनिकाय में चक्खुमन्त् (चक्षुष्मन्त्) शब्द का कर्ता एक व० में 'चक्खुमा' रूप है। इसी प्रकार सम्बोधन में भी 'मा' है। करण में 'मता' है। कर्ता एकवचन 'मन्तो'।

सतिमत् (स्मृतिमत्)

कर्ता ए० व० सतिमा धम्मपद
सम्बन्ध ए० व० सतिमतो
कर्ता ब० व० सन्तिमन्तो
सम्बन्ध० सतिमतं इत्यादि

आगमिक गद्य में पुरातन रूप

कर्ता ए०व० सतिमा (दीघ० 1. 37)
भूत कृदन्त—वुसितवा (व्युषितवान्) (मज्झिम० 1. 5),
सुतवा (श्रुतवान्) (मज्झिम० 1. 8)
करण ए०व० महता (संयुत्त० 5. 163)
सीलवता (संयुत्त० 3. 167)
सम्बन्ध सीलवतो (संयुत्त० 6. 303)
सब्बावतो (सब्बावन्त्, = सं० सर्ववन्त्) (मज्झिम० 2. 15)
सम्बन्ध ब०व० सब्बावतं (मज्झिम० 2. 16 आदि)

इसी प्रकार भगवा, भगवता भगवतो, भगवति, आयस्मा, आयस्मता आदि।

आगमोत्तर गद्य में पुरातन रूप

कर्ता ए०व० सीलवा (मिलिन्दपञ्हो 224, जातक-टीका 1. 187)
करण ए०व० पापिमता (मिलिन्दपञ्हो 155)।

इसी प्रकार—
बलवतो (मिलिंद० 234)
यसवतो (मिलिंद० 234)
भगवा, भगवता, भगवतो, भगवति,
आयस्मा, आयस्मता आदि रूप भी बाहुल्य से मिलते हैं।
इनके साथ-साथ अकारान्त शब्द के रूप भी बढ़ते जाते हैं :

कर्ता	ए०व०	सुमहन्तो (मिलिंद० 155)
करण	ए०व०	महन्तेन (जातक-टीका 3. 24, 40)
कर्म	ब०व०	सीलवन्ते (जातक-टीका 1. 187)
सम्बन्ध	ब०व०	भगवन्तानं (मिलिंद० 226)
नपुंसक० कर्ता	ए०व०	महन्तं (पाटिहारियं) (जातक-टीका 6. 229)
		ओजवन्तं (रट्ठं) (जातक-टीका 3. 111)
नपुं० कर्ता	ब०व०	ओजवन्तानि (जातक-टीका 3. 110)

जातक-टीका में 'हिमवन्त' शब्द के नीचे लिखे रूप मिलते हैं :

कर्ता	ए०व०	हिमवा (जातक-टीका 6. 580)
सम्बन्ध	,,	हिमवतो (जातक-टीका 5. 392, 419)
अधिकरण	,,	हिमवति, हिमवन्ते।

साधारणतया 'हिमवन्त' शब्द के रूप सर्वाधिक हैं।

इसी प्रकार भाववाचक सीलवन्तता (जातक-टीका 1. 320) आदि रूप भी मिलते हैं। ये शब्द मूल शब्द के साथ 'अ' लगने पर बने हैं।

2. न्त का लोप करके भी अकारान्त शब्द बनाया जाता है। इस प्रकार के रूप गाथाओं में मिलते हैं :

कर्म	ए०व०	सतिम (सुत्त० 212)
		भानुमं (सुत्त० 1016)
		हिमवं (जातक 6. 272.)
कर्ता	ब०व०	मुतीमा (सुत्त० 881)
स्त्रीलिंग, कर्ता	ए०व०	कित्तिमा (जातक 3. 70, 6.508)

स्त्रीलिंग 'सिरिमा' शब्द भाषा के सभी युगों में मिलता है।

नपुंसक-लिंग में 'ओजवं' (थेरी० 55) रूप ओजन शब्द से बना है, अथवा संस्कृत ओजवत् से सीधा प्राप्त हुआ है। इस प्रकार के रूपों के कारण 'न्त' वाले शब्द अकारान्त बन गए।

3. कर्ता बहुवचन का 'अन्तो' रूप कर्म में भी आता है, जिस प्रकार एकवचन में 'आ' वाला रूप संबोधन में आता है।

इसी प्रकार—
बलवतो (मिलिंद० 234)
यसवतो (मिलिंद० 234)
भगवा, भगवता, भगवतो, भगवति,
आयस्मा, आयस्मता आदि रूप भी बाहुल्य से मिलते हैं।

इनके साथ-साथ अकारान्त शब्द के रूप भी बढ़ते जाते हैं :

कर्ता	ए०व०	सुमहन्तो (मिलिंद० 155)
करण	ए०व०	महन्तेन (जातक-टीका 3. 24, 40)
कर्म	ब०व०	सीलवन्ते (जातक-टीका 1. 187)
सम्बन्ध	ब०व०	भगवन्तानं (मिलिंद० 226)
नपुंसक० कर्ता	ए०व०	महन्तं (पाटिहारियं) (जातक-टीका 6. 229)
		ओजवन्तं (रट्ठं) (जातक-टीका 3. 111)
नपुं० कर्ता	ब०व०	ओजवन्तानि (जातक-टीका 3. 110)

जातक-टीका में 'हिमवन्त' शब्द के नीचे लिखे रूप मिलते हैं :

कर्ता	ए०व०	हिमवा (जातक-टीका 6. 580)
सम्बन्ध	,,	हिमवतो (जातक-टीका 5. 392, 419)
अधिकरण	,,	हिमवति, हिमवन्ते।

साधारणतया 'हिमवन्त' शब्द के रूप सर्वाधिक हैं।

इसी प्रकार भाववाचक सीलवन्तता (जातक-टीका 1. 320) आदि रूप भी मिलते हैं। ये शब्द मूल शब्द के साथ 'अ' लगने पर बने हैं।

2. न्त का लोप करके भी अकारान्त शब्द बनाया जाता है। इस प्रकार के रूप गाथाओं में मिलते हैं :

कर्म	ए०व०	सतिम (सुत्त० 212)
		भानुमं (सुत्त० 1016)
		हिमवं (जातक 6. 272.)
कर्ता	ब०व०	मुतीमा (सुत्त० 881)
स्त्रीलिंग, कर्ता	ए०व०	कित्तिमा (जातक 3. 70, 6.508)

स्त्रीलिंग 'सिरिमा' शब्द भाषा के सभी युगों में मिलता है।

नपुंसक-लिंग में 'ओजवं' (थेरी० 55) रूप ओजन शब्द से बना है, अथवा संस्कृत ओजवत् से सीधा प्राप्त हुआ है। इस प्रकार के रूपों के कारण 'न्त' वाले शब्द अकारान्त बन गए।

3. कर्ता बहुवचन का 'अन्तो' रूप कर्म में भी आता है, जिस प्रकार एकवचन में 'आ' वाला रूप संबोधन में आता है।

97. वर्तमान कृदन्त शत्रन्त शब्द

मतुबन्त विशेषण-शब्दों से शत्रन्त वर्तमान कृदन्त में अन्तर यह है कि कर्ता एकवचन में संस्कृत 'अन्' के समान पालि में 'अं' विद्यमान रहता है। यह विशेषता गाथा और आगमिक गद्य दोनों में पाई जाती है।

कर्ता ए०व० जीवं (सुत्त० 427, 432, थेरगाथा 44), (सं० जीवन्)
कुब्बं (सं० कुर्वन्) (जातक 3. 278)
विहरं (विहरन्) (थेर० 425)
भणं (भणन्) (सुत्त० 429)
जाणं (जानन्) (मज्झिम० 2. 9)
पस्सं (पश्यन्) (मज्झिम० 3. 9)

इसके साथ-साथ प्राचीनतम युग में 'न्तो' रूप भी मिलता है :

कन्दन्तो (क्रन्दन्तः) (थेरगाथा 406)
पट्ठेन्तो (प्रार्थयन्तः) (थेरगाथा 264)
गवेसन्तो (गवेषमाणाः) (थेरगाथा 183)
अपटिकुज्झन्तो (अप्रतिक्रुध्यन्तः) (संयुत्त० 1. 162 गाथा)

आगमिक गद्य में यह रूप और भी अधिक मात्रा में प्रयुक्त है :

कण्डन्तो (मज्झिम० 2. 3)
अप्पजानन्तो (अप्रजानन्तः) (मज्झिम० 1. 7)

आगमोत्तर गद्य में 'न्तो' वाला रूप सर्वत्र प्रयुक्त होने लगा और 'अं' वाला रूप पुरातन एवं अप्रयुक्त माना जाने लगा। इसलिए टीका में निहनं (निघ्नन्) (जातक 2. 407) की व्याख्या 'निहनन्तो' द्वारा की गई है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों में भी किया गया है।

भाषा के प्रथम दो युगों में पुरातन रूप विद्यमान रहे। उदाहरण :

करण ए०व० इच्छता (इच्छता) (थेरगाथा 167)
सम्बन्ध ए०व० वसतो (वसतः) (जातक 3. 17)
सम्बन्ध ब०व० विजानतं (विजानताम्) (थेरगाथा 14)
वदतं (वदताम्) (विमान० 53. 1, टीका : वदन्तानं)
सम्बन्ध ए०व० पस्सतो (पश्यतः) (मज्झिम० 1. 7)
विहरतो (विहरतः) (मज्झिम० 1. 9)

इन्हीं के साथ नीचे लिखे रूप भी उल्लेखनीय हैं :

सम्बन्ध ए०व० करोतो (धम्मपद 116, थेरगाथा 98, 99)
सम्बन्ध ब०व० करुतं (विमान० 34. 21), किन्तु कुरुतं (मज्झिम० 1. 516)।

ये रूप 'करोन्त' शब्द से बने हैं। यह शब्द नए रूप करोन्तं (कर्म ए०व०) से बना है। वसतो और वसतं का 'वसन्तं' के साथ जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध 'करोतो' और 'करुतं' का 'करोन्तं' के साथ है।

इसी प्रकार कर्ता बहुवचन में 'इच्छत : (थेरगाथा 320) रूप भी उल्लेखनीय है।

गाथाओं से लेकर पीछे के समस्त साहित्य में पुरातन रूपों के साथ अकारान्त रूप भी मिलते हैं :

सम्बन्ध ए०व० नमन्तस्स (जातक 2. 205)
पस्सन्तस्स (थेर० 716)

अधिकरण ए०व० कण्डन्ते (थेरगाथा 774)

कर्ता ब०व० विचरन्ता (थेरगाथा 37)
अविजानन्ता (थेरगाथा 276)

सम्बन्ध ब०व० नदन्तानं (थेरगाथा-प्रस्तावना, गाथा 1)

अधिकरण ब०व० उप्पतन्तेसु (उत्पतत्सु) (थेरगाथा 67)
निपतन्तेसु (,,)

आगमिक गद्य में उपर्युक्त रूपों का बाहुल्य से प्रयोग मिलता है :

कर्ता ब०व० जानन्ता, पस्सन्ता (मज्झिम० 2. 10)

कर्म पविसन्ते, निक्खमन्ते } (मज्झिम० 2. 21)

आगमोत्तर गद्य में केवल इन्हीं रूपों का प्रयोग है।

2. कहीं-कहीं गाथा-साहित्य में 'न्त' का लोप करके भी शब्द को अकारान्त बनाया गया है :

जानो (जानन्) (जातक 3. 27)
पस्सो (पश्यन्) (थेरगाथा 61)

इस प्रकार के रूप अत्यल्प हैं। नीचे लिखा रूप भी इसी प्रकार समझा जा सकता है :—

अनुकुब्बस्स (अनुकुर्वतः) (जातक 2. 205, टीका : अनुकुब्बन्तस्स)
नपुं०, कर्ता ए०व० असं (सं० असत्) (जातक 2. 32)

98. अर्हन्त् शब्द—

अर्हन्त् शब्द अर्ह धातु का वर्तमान कृदन्त है। इसका स्वरभक्ति के द्वारा

97. वर्तमान कृदन्त शत्रन्त शब्द

मतुबन्त विशेषण-शब्दों से शत्रन्त वर्तमान कृदन्त में अन्तर यह है कि कर्ता एकवचन में संस्कृत 'अन्' के समान पालि में 'अं' विद्यमान रहता है। यह विशेषता गाथा और आगमिक गद्य दोनों में पाई जाती है।

कर्ता ए०व० जीवं (सुत्त० 427, 432, थेरगाथा 44),(सं० जीवन्)
कुब्बं (सं० कुर्वन्) (जातक 3. 278)
विहरं (विहरन्)(थेर० 425)
भणं (भणन्) (सुत्त० 429)
जाणं (जानन्) (मज्झिम० 2. 9)
पस्सं (पश्यन्) (मज्झिम० 3. 9)

इसके साथ-साथ प्राचीनतम युग में 'न्तो' रूप भी मिलता है :

कन्दन्तो (क्रन्दन्तः) (थेरगाथा 406)
पट्ठेन्तो (प्रार्थयन्तः) (थेरगाथा 264)
गवेसन्तो (गवेषमाणाः) (थेरगाथा 183)
अपटिकुज्झन्तो (अप्रतिक्रुध्यन्तः) (संयुत्त० 1. 162 गाथा)

आगमिक गद्य में यह रूप और भी अधिक मात्रा में प्रयुक्त है :

कण्डन्तो (मज्झिम० 2. 3)
अप्पजानन्तो (अप्रजानन्तः) (मज्झिम० 1. 7)

आगमोत्तर गद्य में 'न्तो' वाला रूप सर्वत्र प्रयुक्त होने लगा और 'अं' वाला रूप पुरातन एवं अप्रयुक्त माना जाने लगा। इसलिए टीका में निहनं (निघ्नन्) (जातक 2. 407) की व्याख्या 'निहनन्तो' द्वारा की गई है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों में भी किया गया है।

भाषा के प्रथम दो युगों में पुरातन रूप विद्यमान रहे। उदाहरण :

करण ए०व० इच्छता (इच्छता) (थेरगाथा 167)
सम्बन्ध ए०व० वसतो (वसतः) (जातक 3. 17)
सम्बन्ध ब०व० विजानतं (विजानताम्) (थेरगाथा 14)
वदतं (वदताम्) (विमान० 53. 1, टीका : वदन्तानं)
सम्बन्ध ए०व० पस्सतो (पश्यतः) (मज्झिम० 1. 7)
विहरतो (विहरतः) (मज्झिम० 1. 9)

इन्हीं के साथ नीचे लिखे रूप भी उल्लेखनीय हैं :

सम्बन्ध ए०व० करोतो (धम्मपद 116, थेरगाथा 98, 99)
सम्बन्ध ब०व० करुतं(विमान० 34. 21), किन्तु कुरुतं (मज्झिम० 1. 516)।

ये रूप 'करोन्त' शब्द से बने हैं। यह शब्द नए रूप करोन्तं (कर्म ए०व०) से बना है। वसतो और वसतं का 'वसन्तं' के साथ जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध 'करोतो' और 'करुतं' का 'करोन्तं' के साथ है।

इसी प्रकार कर्ता बहुवचन में 'इच्छत : (थेरगाथा 320) रूप भी उल्लेखनीय है।

गाथाओं से लेकर पीछे के समस्त साहित्य में पुरातन रूपों के साथ अकारान्त रूप भी मिलते हैं :

सम्बन्ध ए०व० नमन्तस्स (जातक 2. 205)
पस्सन्तस्स (थेर० 716)
अधिकरण ए०व० कण्डन्ते (थेरगाथा 774)
कर्ता ब०व० विचरन्ता (थेरगाथा 37)
अविजानन्ता (थेरगाथा 276)
सम्बन्ध ब०व० नदन्तानं (थेरगाथा-प्रस्तावना, गाथा 1)
अधिकरण ब०व० उप्पतन्तेसु (उत्पतत्सु) (थेरगाथा 67)
निपतन्तेसु (,,)

आगमिक गद्य में उपर्युक्त रूपों का बाहुल्य से प्रयोग मिलता है :

कर्ता ब०व० जानन्ता, पस्सन्ता (मज्झिम० 2. 10)
कर्म पविसन्ते, निक्खमन्ते } (मज्झिम० 2. 21)

आगमोत्तर गद्य में केवल इन्हीं रूपों का प्रयोग है।

2. कहीं-कहीं गाथा-साहित्य में 'न्त' का लोप करके भी शब्द को अकारान्त बनाया गया है :

जानो (जानन्) (जातक 3. 27)
पस्सो (पश्यन्) (थेरगाथा 61)

इस प्रकार के रूप अत्यल्प हैं। नीचे लिखा रूप भी इसी प्रकार समझा जा सकता है :—

अनुकुब्बस्स (अनुकुर्वतः) (जातक 2. 205, टीका : अनुकुब्बन्तस्स)
नपुं०, कर्ता ए०व० असं (सं० असत्) (जातक 2. 32)

98. अर्हन्त् शब्द—

अर्हन्त् शब्द अर्ह धातु का वर्तमान कृदन्त है। इसका स्वरभक्ति के द्वारा

अरहन्त् बन जाता है। इसके रूप निम्नलिखित हैं :

कर्त्ता ए० व० अरहं (संयुत्त० 1. 169. गाथा, सुत्त० पृष्ठ 100, 103, अंगु० 2. 234, इतिवुत्त० 78)

अरहा (सुत्त० 1003, अंगु० 3. 436. 437, 4. 364, इतिवुत्तक 95)

इसी प्रकार 'अरहन्त्' और 'अरहन्त' दोनों शब्द एक-साथ भी मिलते हैं :

अधिकरण ए०व० अरहन्तम्हि (थेरगाथा 1173)

सम्बन्ध ब०व० अरहत (धम्म० 164, दीघ० 1 88, संयुत्त० 1. 161)

अरहन्तानं (अंगु० 4. 394, मि०प० 208 आदि)

सन्त् शब्द

इसका करण बहुवचन में पुरातन रूप 'सब्भि' (सद्भिः) गाथाओं में मिलता है। (धम्मपद 151, थेरगाथा 1096, दीघ० 2. 246 गाथा)

सब्भिरेव (थेरगाथा 4, संयुक्त 1. 17 गाथा), असब्भि (सुत्त० 245)

दूसरे रूप 'सन्त्' या सन्त शब्द से बनाए गये हैं :

सम्प्र०, सम्बन्ध ए०व० सतो (थेर० 180, दीघ० 1. 34, मि० प० 235)

अधि० ए०व० सति (सुत्त० 81, दीघ 2. 31, विनय० 1. 112, मि०प० 231)

(स्त्रीलिङ्ग विशेष्य के साथ भी यही रूप मिलता है। (जा०टी० 1. 328, 348 आदि)। इसी प्रकार—

अधि० ए०व० सन्ते (सुत्त० 94, मज्झिम० 2. 24, धम्मपद-टीका 2. 134)

कर्त्ता ब०व० सन्तो (धम्म० 83, 151)

सन्ता (विनय० 1. 103)

अधि० ब०व० सन्तेसु (मि०प० 28 गाथा)

पुंल्लिग, कर्ता—ए०व० सदा 'सन्तो' है (सुत्त० 98 124, थेर० 198, मि०प०32)

'असतं' रूप (सुत्त० 131) को सम्बन्ध बहुवचन मानना अधिक उपयुक्त है। टीका में उसकी व्याख्या 'असज्जनानं' की गई है। टीका में पाठान्तर 'असन्तं' ='अभूतं' भी है।

'भवत्' आदर-वाची युष्मदर्थक सर्वनाम

कर्ता ए०व० भवं (सुत्त० 486, दीघ० 1. 249, मज्झिम० 1. 484)

नपुं० ए०व० भवं (मज्झिम० 3. 172)

कर्म ए०व० भवन्तं (सुत्त० 597, दीघ० 2. 231)

करण ए०व० भोता (दीघ० 1. 93, संयुत्त० 4. 120, सुत्त० पृ० 15)

सम्बन्ध ए०व० भोतो (सुत्त० 565, मज्झिम० 1. 486)

सम्बोधन एo वo भवं (दीघ० 1. 96)
भो (दीघ० 93, मज्झिम० 1. 484, जातक-टीका 2. 26)
कर्ता बo वo भवन्तो (सुत्त० पृ० 103)
भोन्तो (सुत्त० पृ० 101, 103, मज्झिम० 2. 2, मि०प० 25)
कर्म ब०व० भवन्ते (मज्झिम० 2. 3)
करण ब०व० भवन्तेहि (मज्झिम० 3. 13)
सम्बन्ध ब०व० भवतं (मज्झिम० 2. 3)
सम्बोधन ब०व० भोन्तो (थेर० 832, मज्झिम० 2.2)

मागधी से प्रभावित 'भन्ते' रूप केवल सम्बोधन में प्रयुक्त होता है (विनय० 1. 76; दीघ० 2. 154, 283, जातक-टीका 2. 111, 3. 46), अथवा सम्बोधन से सम्बद्ध होकर (मि०प० 25), अथवा किसी भी कारक में आदर-सूचक विशेषण के रूप में : दीघ० 1. 179, धम्म० टीका 1. 62. में यह 'कर्ता' है, दीघ० 1. 179 आदि में 'सम्बन्ध' और 'सम्प्रदान' है।

भवन्त् शब्द का स्त्रीलिंग 'भोती' होता है :
कर्ता एo वo भोती (सुत्त० 988, जातक 3. 95)
कर्म एo वo भोतिं (जातक 6. 523)
अधि० एo वo भोतिया (जातक 6. 523)
सम्बोधन एo वo भोति (जातक 6. 523, दीघ० 2. 249 आदि)

9. सकारान्त शब्द

§ 99. नपुंसक लिंग सोतस् (स्रोतस्) शब्द

इसके नीचे लिखे ऐतिहासिक रूप मिलते हैं :
कर्ता-कर्म-सम्बोधन—एकवचन सोतो,
करण—सोतसा, सम्प्र०, सम्बन्ध—सोतसो, अधिकरण—सोतसि।

अन्त्य स् का लोप हो जाने पर यह शब्द अकारान्त बन गया है। इस प्रकार बना हुआ अकारान्त सभी बहुवचनों में तथा अपादान के एकवचन में भी प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी एकवचन के दूसरे रूप भी इस के द्वारा बनाए गए हैं।

टिप्पणी

1. ऐतिहासिक रूप अधिकतर गाथा तथा आगमिक गद्य में मिलते हैं :
कर्ता ए०व० (परमं) तपो (धम्मपद 184)
कर्म ए०व० सिरो (सुत्त० 768), यसो (जातक 3. 87)
करण ए०व० उरसा (थेर० 27. 233), सिरसा (विनय० 1. 4, मज्झिम० 2. 120), चेतसा (विनय 1. 4.), जरसा (धम्म० टीका 3. 320 गाथा)

अरहन्त् बन जाता है। इसके रूप निम्नलिखित हैं :

कर्त्ता ए० व० अरहं (संयुत्त० 1. 169. गाथा, सुत्त० पृष्ठ 100, 103, अंगु० 2. 234, इतिवुत्त० 78)

अरहा (सुत्त० 1003, अंगु० 3. 436. 437, 4. 364, इतिवुत्तक 95)

इसी प्रकार 'अरहन्त्' और 'अरहन्त' दोनों शब्द एक-साथ भी मिलते हैं :

अधिकरण ए०व० अरहन्तम्हि (थेरगाथा 1173)

सम्बन्ध ब०व० अरहत (धम्म० 164, दीघ० 1 88, संयुत्त० 1. 161)

अरहन्तानं (अंगु० 4. 394, मि०प० 208 आदि)

सन्त् शब्द

इसका करण बहुवचन में पुरातन रूप 'सब्भि' (सद्भिः) गाथाओं में मिलता है। (धम्मपद 151, थेरगाथा 1096, दीघ० 2. 246 गाथा)

सब्भिरेव (थेरगाथा 4, संयुक्त 1. 17 गाथा), असब्भि (सुत्त० 245)

दूसरे रूप 'सन्त्' या सन्त शब्द से बनाए गये हैं :

सम्प्र०, सम्बन्ध ए०व० सतो (थेर० 180, दीघ० 1. 34, मि० प० 235)

अधि० ए०व० सति (सुत्त० 81, दीघ 2. 31, विनय० 1. 112, मि०प० 231)

(स्त्रीलिङ्ग विशेष्य के साथ भी यही रूप मिलता है। (जा०टी० 1. 328) 348 आदि)। इसी प्रकार—

अधि० ए०व० सन्ते (सुत्त० 94, मज्झिम० 2. 24, धम्मपद-टीका 2. 134)

कर्त्ता ब०व० सन्तो (धम्म० 83, 151)

सन्ता (विनय० 1. 103)

अधि० ब०व० सन्तेसु (मि०प० 28 गाथा)

पुंल्लिग, कर्ता—ए०व० सदा 'सन्तो' है (सुत्त० 98 124, थेर० 198, मि०प०32)

'असतं' रूप (सुत्त० 131) को सम्बन्ध बहुवचन मानना अधिक उपयुक्त है। टीका में उसकी व्याख्या 'असज्जनानं' की गई है। टीका में पाठान्तर 'असन्तं'='अभूतं' भी है।

'भवत्' आदर-वाची युष्मदर्थक सर्वनाम

कर्ता ए०व० भवं (सुत्त० 486, दीघ० 1. 249, मज्झिम० 1. 484)

नपुं० ए०व० भवं (मज्झिम० 3. 172)

कर्म ए०व० भवन्तं (सुत्त० 597, दीघ० 2. 231)

करण ए०व० भोता (दीघ० 1. 93, संयुत्त० 4. 120, सुत्त० पृ० 15)

सम्बन्ध ए०व० भोतो (सुत्त० 565, मज्झिम० 1. 486)

सम्बोधन ए०व० भवं (दीघ० 1. 96)
भो (दीघ० 93, मज्झिम० 1. 484, जातक-टीका 2. 26)
कर्ता ब०व० भवन्तो (सुत्त० पृ० 103)
भोन्तो (सुत्त० पृ० 101, 103, मज्झिम० 2. 2, मि०प० 25)
कर्म ब०व० भवन्ते (मज्झिम० 2. 3)
करण ब०व० भवन्तेहि (मज्झिम० 3. 13)
सम्बन्ध ब०व० भवतं (मज्झिम० 2. 3)
सम्बोधन ब०व० भोन्तो (थेर० 832, मज्झिम० 2.2)

मागधी से प्रभावित 'भन्ते' रूप केवल सम्बोधन में प्रयुक्त होता है (विनय० 1. 76; दीघ० 2. 154, 283, जातक-टीका 2. 111, 3. 46), अथवा सम्बोधन से सम्बद्ध होकर (मि०प० 25), अथवा किसी भी कारक में आदर-सूचक विशेषण के रूप में : दीघ० 1. 179, धम्म० टीका 1. 62. में यह 'कर्ता' है, दीघ० 1. 179 आदि में 'सम्बन्ध' और 'सम्प्रदान' है।

भवन्त् शब्द का स्त्रीलिंग 'भोती' होता है :

कर्ता ए०व० भोती (सुत्त० 988, जातक 3. 95)
कर्म ए०व० भोतिं (जातक 6. 523)
अधि० ए०व० भोतिया (जातक 6. 523)
सम्बोधन ए०व० भोति (जातक 6. 523, दीघ० 2. 249 आदि)

9. सकारान्त शब्द

§ 99. नपुंसक लिंग सोतस् (स्रोतस्) शब्द

इसके नीचे लिखे ऐतिहासिक रूप मिलते हैं :
कर्ता-कर्म-सम्बोधन—एकवचन सोतो,
करण—सोतसा, सम्प्र०, सम्बन्ध—सोतसो, अधिकरण—सोतसि।

अन्त्य स् का लोप हो जाने पर यह शब्द अकारान्त बन गया है। इस प्रकार बना हुआ अकारान्त सभी बहुवचनों में तथा अपादान के एकवचन में भी प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी एकवचन के दूसरे रूप भी इस के द्वारा बनाए गए हैं।

टिप्पणी

1. ऐतिहासिक रूप अधिकतर गाथा तथा आगमिक गद्य में मिलते हैं :
कर्ता ए०व० (परमं) तपो (धम्मपद 184)
कर्म ए०व० सिरो (सुत्त० 768), यसो (जातक 3. 87)
करण ए०व० उरसा (थेर० 27. 233), सिरसा (विनय० 1. 4, मज्झिम० 2. 120), चेतसा (विनय 1. 4.), जरसा (धम्म० टीका 3. 320 गाथा)

सम्प्र०, सम्बन्ध ए०व० चेतसो (विनय० 1. 4. मज्झिम० 3. 196)
मनसो (धम्म० 390)
अधि० ए०व० उरसि (जातक 3. 148)
अघसि-गम (विमान 16. 1)

पुरातन युग में भी उपर्युक्त रूपों के साथ-साथ 'अ' वाले रूप भी बाहुल्य से मिलते हैं :

कर्ता ए०व० सिरं (थेरी० 255), मनं (धम्म० 96)
कर्म ए०व० सिरं (अंगु० 1. 141)
करण ए०व० तपेन (सुत्त० 655)
सम्बन्ध ए०व० मनस्स (संयुत्त० 4. 4)
अधिकरण ए०व० उरे (दीघ० 1. 135) उरस्मिं (अंगु० 1. 141), नभम्हि (जातक 5. 14), अघे (जातक 4. 322), अघस्मि (जातक 4. 484)

आगमोत्तर गद्य में ये रूप सामान्य रूप से प्रयुक्त होने लगे। पुरातन अप्रयुक्त रूप कुछ शब्द तथा वाक्यों में सीमित हो गए :

कर्ता ए०व० मनो (जातक-टीका 4. 217)
कर्म ए०व० वचो (जातक-टीका 4. 234)
करण ए०व० मनसा (जातक-टीका 218, 227), कायेन वाचाय मनसा (मि० प० 227)
अधि० ए०व० मनसि (जातक-टीका 1. 393, 500) (मनसि करोति), मने धम्म० टी० 1. 23)
कर्ता ब०व० सोतानि(सुनि० 433)
सोता (सुत्त० 1033)
कर्म ,, सोते (थेर० 761)
करण ,, सोतेहि (सुत्त० 197)
सिरेहि (जातक 4. 250)
सम्बन्ध ,, सोतानं (सुत्त० 1034)

(3) स् के पश्चात् 'अ' लगाकर भी सकारान्त शब्दों को अकारान्त बनाया जाता है :

कर्म ए०व० सिरसं (जातक-टीका 5. 434)

§ 100. पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंग असन्त शब्द

1. पुंल्लिग चन्दिमस् (चन्द्रमस्)

कर्ता ए० व० चन्दिमा (धम्म० 172 पृ० 382)

शेष विभक्तियों के रूप अकारान्त के समान हैं। जिस समास के अन्त में 'असन्त' शब्द है उसके रूप भी इसी प्रकार होते हैं :

कर्ता ए०व० अत्तमनो (धम्म० 328, दीघ० 2. 352, मज्झिम० 1. 432),
दुम्मनो (विनय० 1. 21, जातक-टीका 2. 160)
स्त्रीलिंग—अत्तमना (जातक-टीका 1. 52)

कर्ता ब०व० अत्तमना (दीघ० 1. 46)
सुमना (सुत्त० 222)।

कर्म मुदितमने (सुत्त० 680)

किंतु गाथा-साहित्य में 'असन्त' के रूप मिलते हैं :

सम्बन्ध ए०व० अनन्वाहतचेतसो (धम्म० 39)

कर्म ए०व० व्यासत्तमनसं (धम्म० 47)

स् के पश्चात् अ जोड़कर भी उसे अकारान्त बनाया जाता है :

कर्ता ए०व० अव्यापन्नचेतसो (संयुत्त० 5. 74)

कर्ता ब०व० अधिमनसा (सुत्त० 692)

2. वस्वन्त शब्दों के रूप

संस्कृत में कर्तृवाच्य भूतकृदन्त में 'वस्' प्रत्यय आता है। उसके पालि में विविध प्रकार के रूप बनते हैं। उनमें ऐतिहासिक रूप निम्नलिखित हैं :

अविद्वा (अविद्वान्) (सुत्त० 535, मज्झिम० 1. 311)

दस्सिवा (दर्शिवान्) (भय-दस्सिवा) (धम्म० 31)

'विदु' रूप अत्यन्त प्रचलित है। यह भ-संज्ञक रूप 'विदुषः' आदि से बना है। इसके रूप उकारान्त के समान चलेंगे। इसके साथ 'विद्दसु' (कर्ता-एकवचन) रूप भी मिलता है। अविद्दसु (धम्म० 268), विद्दसुनो (मज्झिम० 1. 65)

कर्ता—ब०व० अविद्दसु (सुत्त० 762), अविद्दसुनो (मज्झिम० (1. 65)

3. तुलनावाची शब्द

जिन तुलनावाची शब्दों के अन्त में 'यस्' है उनके स् का लोप हो जाता है और अकारान्त रूप बन जाता है।

कर्ता ए०व० सेय्यो (धम्मपद 308), (सुत्त० 918, संयुत्त० 4. 88)

कर्म ,, सेय्यं (धम्म० 61, थेर० 208)

कर्ता ब०व० सेय्या (दीपवंस 4. 51)
सेय्यासे (विमान० 18. 12)

इस शब्द से स्त्रीलिंग में 'सेय्या' तथा नपुंसक-लिंग में सेय्यं रूप बन गए। (जातक-टीका 3. 237)। बहुवचन सेय्यानि (जातक 3. 196)

संस्कृत से बना हुआ पुरातन रूप नपुंसक-लिंग में विद्यमान है : सेय्यो (धम्म० 76, थेर० 194, जातक 2. 44, 6. 498, विनय० 3. 73 आदि)।

इसका विपरीत है 'पापीयो' (जातक 4. 44), साथ-साथ 'पापीयं' (मि०प० 155) रूप भी मिलता है।

'सेय्यसो' (ध०प० 42, जातक 4. 241) अव्यय है। इसका अर्थ 'सेय्यो' के समान है।

आगमोत्तर गद्य में साधारणतया 'सेय्यतर' रूप मिलता है। 'विमान०-टीका 96' में भी यह रूप मिलता है। वहाँ 'सेय्य' की व्याख्या 'सेय्यतर' रूप में की गई है। स्त्रीलिंग में पुरातन रूप 'सेयसि' (जातक 5. 393) मिलता है जो कि छन्द के कारण ह्रस्व हो गया है।

4. पालि रूप 'अच्छरा' 'संस्कृत' 'अप्सरस्' से बना है। यहाँ सकारान्त शब्द आकारान्त में बदल गया है।

5. जरा और जरस् दोनों शब्द संस्कृत में भी मिलते हैं।

§ 101. नपुंसक लिंग 'इस्' और 'उस्' वाले शब्द

नपुंसक-लिंग में जिन शब्दों के अन्त में इस् अथवा उस् है वे क्रमशः इकारान्त और उकारान्त बन जाते हैं। उनके मौलिक रूप अत्यल्प स्थानों में मिलते हैं। उदाहरण :

करण ए० व० आयुसा (सं० आयुषा) (सुत्त० 149)

साधारणतया सं. सर्पिष् से पालि सप्पि, संस्कृत चक्षुष् से पालि चक्खु शब्द बन जाते हैं। परिणामस्वरूप :

कर्ता	ए०व०	सप्पि (दीघ० 1. 201, अंगु० 1. 278), सप्पिं (जा०टी० 3. 18), आयु (थेरी० 145, धम्म०109), आयुं (जा० टी० 1. 138
करण	,,	सप्पिना (उदान 38) चक्खुना (जातक-टीका 3. 18)
अपादान	,,	सपिम्हा (दीघ० 1. 201)
सम्प्र०, सम्बन्ध	ए०व०	सप्पिस्स (उदा० 93) आयुस्स (महावंस 35. 73) चक्खुनो (जातक-टीका 4. 206)
अधिकरण	,,	चक्खुस्मि (विनय० 1. 34) चक्खुम्हि (दीपवंस 4. 4.)
कर्ता	ब०व०	चक्खूनि (जातक-टीका 4. 137)
करण	,,	चक्खूहि (दीपवंस 17. 26 आदि)

नपुंसक-लिंग 'अर्चिष्' शब्द पालि में 'अच्चि' बन गया और उसके रूप स्त्रीलिंग के समान हो गए :

करण ए० व० अच्चिया (मज्झिम० 2. 130)

कर्ता ब० व० अच्चिया (विनय० 1. 25)

अच्चि वातेन खित्ता (अंगु० 4. 103, संयुत्त० 4. 399)

पुंल्लिग 'दिघायु' (दीर्घायुस्) आदि शब्दों के रूप उकारान्त पुंल्लिग के समान होते हैं।

10. क्रियाविशेषण तथा तुलनावाची शब्द

§ 102. क्रिया-विशेषण—नपुंसक-लिंग विशेषणवाची शब्दों का कर्म में प्रयोग क्रियाविशेषण भी माना जाता है :

जह सीघं समुस्सयं (जहिहि शीघ्रं सम्मोहनम्) (थेर० 83)

साधु खो मयं पलायिम्ह (साधु खलु वयं पलायामहे) (विनय० 1. 88)

तुम्हे सणिकं आगच्छेय्यात्थ (यूयं शनैः आगच्छत) (जातक-टीका 3. 37)

पलायथ लहुं (पलायध्वं लघु) (महावंस 7. 66)

दूसरी विभक्तियों के रूप भी क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं :

(क) करण का क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग :

किच्चेन कता पण्णसाला (कृत्येन कृता पर्णशाला)(जातक-टीका 2. 44)

अपि च मे आवुसो सत्था परिचिण्णो दीघरत्तं मनापेन न अमनापेन (संयुत्त० 4. 57)

(ख) अपादान का क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयोग :

किच्चा लद्धो अयं पुत्तो (थेर० 475 विमान-टीका 229), यहां 'किच्चा' को करण भी माना जा सकता है।

§ 103. तुलनावाची शब्द

1. कुछ प्राचीन तुलनावाची शब्द तथा 'ईयस्' और 'इष्ट' पालि में विद्यमान हैं। उदा०—सेय्य(श्रेयस्), पापिय (पापीयस्) ; भिय्यो भीयो (भूयस्)(धम्म० 17, थेर० 110, 173, संयुत्त० 1. 108)

'नीचेय्य' शब्द 'सेय्य' के सादृश्य पर बनाया गया है। इसी प्रकार उत्तमावस्था में 'सेट्ठ' (श्रेष्ठ) शब्द है। पापिट्ठ (पापिष्ठ), कनिट्ठ (कनिष्ठ), जेट्ठ (ज्येष्ठ)। विमान 64. 33 में 'सेट्ठो' का उत्तरावस्था में प्रयोग किया गया है।

संस्कृत के समान पालि में भी इन शब्दों की और भी उत्तर तथा उत्तम अवस्थाएं बन जाती हैं। उदा०—सेय्यतर, सेट्ठतर (जातक 5. 148), पापिट्ठतर (विनय० 2. 5), पापिस्सिक शब्द का मूल बताना कठिन है। चाइल्डर्स के मतानुसार

यह 'पापीयस्+इक' है। अपेक्षाकृत न्यून रूप में संकुचित शब्द है 'पापियसिक,' जो कि पारिभाषिक 'तस्सपापीय्यसिका' में पाया जाता है।

2. पालि में तर का प्रयोग बहुत अधिक मिलता है। इसने उत्तमावस्था के तम को पूर्णतया हटा दिया है। उत्तमावस्था का उदाहरण है: उळारतम (विमान-टीका 320), सत्तम (सुत्त॰ 356)। उत्तरावस्था के साधारण उदाहरण हैं—

पियतर (प्रियतर) (जातक-टीका 7. 279)

सादुतर (स्वादुतर)(सुत्त॰ 181), संयुत्त॰ 1. 214 में यह रूप उत्तमावस्था में प्रयुक्त है।

बहुतर (बहुतर) (विनय॰ 1. 127)

कुछ नए रूप भी हैं। उदा॰—महन्ततर (मज्झिम॰ 3. 170, जातक-टीका 2. 417), सीलवन्ततर (जातक-टीका 3. 3), वण्णवन्ततर (दीघ॰ 1. 18)। इन उदाहरणों को अकारान्त रूप बनाकर उनके साथ तर प्रत्यय जोड़ा गया है।

बलवतर (बलवत्तर)(मि॰प॰ 234)—'बलवत्' शब्द के अन्तिम हल (त्) के लोप से 'बलव' अकारान्त रूप बना है। तुलनार्थ—पुरिमतर (संयुत्त॰ 4. 398), परमतर (थेर॰ 518), वरतर (धम्म॰ टी॰ 1. 332), क्रिया-वि॰ प्रथमतरं (विनय॰ 1. 30, धम्म॰ टी॰ 1. 138, जातक-टीका 6. 510)।

सप्पुरिसतर (सत्पुरुषतर) (संयुत्त॰ 5. 20) यहाँ तर प्रत्यय संज्ञा के साथ जोड़ दिया गया है। 'पुरेतर' में क्रिया विशेषण 'पुरे' के साथ जोड़ा गया है। 'पगेव' के साथ भी तर जोड़कर 'पगेवतरं' बनाया गया है (मज्झिम॰ 3. 145)। 'लहुकतरिक' में 'तर' के साथ इक जोड़ दिया गया है (मज्झिम॰ 2. 70)।

विशेषण को द्वित्व करके भी भृशता या अधिकता को प्रकट किया गया है। उदा॰—महन्तमहन्तो (जातक-टीका 1. 347, तुलनार्थ—दीघ॰ 2. 73)

3. उत्तरावस्था के अर्थ में शुद्ध विध्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी किया गया है:

ऐतेसु कतरं नु खो महन्तं (एतयोः कतरो नु खलु महत्तरः)(जा॰टी॰ 3. 194), सन्ति ते ञातितो बहू (सन्ति ते ज्ञातितो बहुतराः) (महावंस 14. 20, धम्म॰ टी॰ 1. 94)

2. सर्वनाम

§ 104. मम् (अस्मद्) शब्द (संयुत्त॰ 4. 315) के रूप

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	अहं	मयं (अम्हे)
कर्म	मं (ममं)	अम्हे (अस्मे, अम्हाकं, अस्माकं)

करण अपा०	मया	अम्हेहि
सम्प्र० सम्बन्ध	मम, मय्हं (ममं, अम्हं)	अम्हाकं (अस्माकं, अम्हं)
अधिकरण	मयि	अम्हेसु
अनुदात्त—करण, सम्प्र०, सम्बन्ध (Enclitic)	मे	कर्म, करण, सम्प्र०, सम्बन्ध नो

युष्मद् शब्द

कर्ता	त्वं (तुवं)	तुम्हे
कर्म	तं (त्वं, तुवं)	तुम्हे (तुम्हाकं)
करण, अपा०	तया (त्वया)	तुम्हेहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	तव, तुम्हं (तवं, तुम्हं)	तुम्हाकं (तुम्हं)
अधिकरण	तयि (त्वयि)	तुम्हेसु
अनुदात्त—करण, सम्प्र०, सम्बन्ध (Enclitic)	ते	कर्म, करण, सम्प्र० वो

टिप्पणी

1. ऊपर जो रूप प्रकोष्ठक से बाहर हैं, वे आगमोत्तर गद्य में नियमित हैं। इनमें कर्ता 'त्वम्' और कर्म 'तं' का स्पष्ट भेद है। ये रूप भाषा के प्राचीनतम युग में प्रयुक्त होते रहे हैं। प्रकोष्ठक वाले रूप अप्रयुक्त अथवा अल्प-प्रयुक्त हैं।

अस्मद् शब्द के उदाहरण :

कर्म ए०व० ममं (जातक 3. 55, संयुत्त० 1. 88, 219)
सम्बन्ध ,, ममं (सुत्त० 604, दीघ० 2. 90, अंगु० 2. 1)
अम्हं (थेर० 1045)

यह रूप सम्प्र०, सम्बन्ध के बहुवचन में भी मिलता है।

कर्ता ब० व० अम्हे (संयुत्त० 1. 118, धम्म० टी० 3. 56)
कर्म ब० व० अस्मे (जातक 3 359, टीका : अम्हे)
कर्म ब० व० अम्हाकं (जातक-टीका 1. 221)
सम्प्र०, सम्बन्ध अस्माकं (सुत्त० पृ० 102)
अम्हं (थेरी० 287, जात० 3. 300, 5. 509, महावंस 5, 200)

युष्मद् शब्द के उदाहरण

कर्ता ए०व० तुवं (सुत्त० 377, पेतवत्थु 2. 3. 2, विमान० 64. 23)
कर्म ,, त्वं (महावंस 10. 50)
तुवं (सुत्त० 377, विमान० 3, जातक-टीका 3. 19)

2. संस्कृत में कर्ता बहुवचन 'वयम्' होता है। पालि में एकवचन 'मं', 'मया' आदि के अनुकरण पर व के स्थान में म हो गया। इसी प्रकार बहुवचन में संस्कृत 'युष्माकं' के स्थान में 'तुम्हाकं' हो गया। यहाँ भी एकवचन का 'तु' ले लिया गया।

3. कर्ता और कर्म बहुवचन के 'अम्हे (अस्मे)' तथा 'तुम्हें' रूप वैदिक 'अस्मे' और 'युष्मे' से मिलते हैं। पाणिनि के सूत्र 7. 1. 39 के अनुसार इनका प्रयोग बहुवचन में होता है।

4. बहुवचन में संस्कृत रूप अस्माभिः, अस्मासु, युष्माभिः, युष्मासु होते हैं, किन्तु पालि में 'तेहि' 'तेसु' आदि के समान आ का ए हो गया है।

§ 105. तृतीय पुरुष सर्वनाम

'तं' शब्द (विमान० 84. 44)

'तद्' शब्द (तदेहि) (महावस्तु 5. 43), तप्पच्चय (थेर 719 आदि)

	पुंल्लिग	
कर्ता	सो (स)	ते
कर्म	तं	ते
करण	तेन	तेहि
अपादान	तम्हा, तस्मा	तेहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	तस्स	तेसं (तेसानं)
अधिकरण	तम्हि, तस्मिं	तेसु
	स्त्रीलिंग	
कर्ता	सा	ता (तायो)
कर्म	तं	ता (तायो)
करण	ताय	ताहि
अपादान	ताय	ताहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	तस्सा	तासं
	तिस्सा (तिस्साय)	तासानं
	ताय	
अधि०	तम्हि, तस्मि	तासु

नपुंसकलिंग में कर्ता, कर्म एकवचन 'तं' स्वर-संधि में 'तत्' होता है। और इनका बहुवचन 'तानि'। अन्यत्र पुंल्लिग के समान रूप होते हैं।

टिप्पणी

1. ऊपर जो रूप अपेक्षाकृत अप्रयुक्त या अल्प-प्रयुक्त हैं वे प्रकोष्ठक में दिए गए हैं। शेष रूप भाषा के सभी युगों में मिलते हैं और आगमोत्तर गद्य में नियमित बन गए हैं।

उदाहरण—

स्त्रीलिंग सम्बन्ध—ए०व० तिस्साय, तु०—एतिस्साय (विमान० टी० 106)

स्त्रीलिंग अधिकरण—ए०व० तासं (मि०प० 136), तिस्सं (मज्झिम० 2. 55), तायं (वेलायं) (विनय० 1. 2, उदान 1, संयुत्त० 1. 5)

सम्बन्ध बहुवचन 'तेसानं' 'तासानं' में दो प्रत्यय लगे हुए हैं। इसी प्रकार 'एसानं' (मज्झिम० 2. 154) रूप भी मिलता है, जहां सा और नं दो प्रत्यय हैं। इसी प्रकार—

सब्बेसानं (मज्झिम० 3. 60), कतमेसानं (विनय० 3. 7)।

पुंल्लिग कर्ता एकवचन 'स', 'सो' की अपेक्षा अल्प-प्रयुक्त है। सुत्तनिपात में 'स' चालीस बार आया है और 'सो' एक सौ चौबीस बार। प्रथम 500 थेरगाथाओं में 'स' चार बार आया है, उसमें भी दो बार 'स वे' आदि प्रचलित प्रयोगों में है।

'सो' का प्रयोग सैंतीस बार है। उत्तरकालीन साहित्य में 'स' सर्वथा अप्रयुक्त है।

2. नपुंसकलिंग में कर्ता-कर्म एकवचन 'तं' के स्थान में बहुत बार मागधी का रूप 'से' भी आता है। (दीघ० 2. 278, 379, मज्झिम० 2. 254, 255)

'सेय्यथा' (से यथा—जैसे कि), 'सेय्यथीदं' (से यथा इदं—वह इस प्रकार है) में भी वही मागधी का रूप है। मि. प. 1 में इसके स्थान पर 'तं यथा' आया है। थेरगाथा 412 में 'स यथा'। 'स वे' संस्कृत 'स वै' से आया है। इस प्रकार 'स यदी', 'स यथा' इत्यादि।

3. दोहरी विभक्ति वाला 'तदं' (सुत्त० पृ० 143) रूप भी मिलता है। किंतु यत् शब्द का 'यं' ही रहता है, 'यदं' नहीं आता।

4. कर्ता बहुवचन का 'ते' कर्म में भी आया है। इसी प्रकार दूसरे सर्वनाम शब्दों में भी आता है।

§ 106. उल्लेखनीय है कि **सर्वनाम सो, सा,** तं का उपयोग दूसरे सर्वनामों को दृढ़ करने के लिए किया गया है। पालि के प्राचीनतम युगों में यह तथ्य विशेष रूप से दिखाई देता है।

(क) युष्मद् और अस्मद् से पहले इसका प्रयोग मिलता है : सो अहं (सुत्त० 190), स्वाहं (सन्धि) (जातक-टीका 1. 298), तं तं (तं त्वं) (जातक 6. 516), तेसं वो (अंगु० 5. 86)।

नीचे लिखे अनुसार 'तेसं वो' भी मिलता है :

तेसं वो, भिक्खवे, तुम्हाकं (इतिवुत्तक 32)
तेसं नो, अम्हाकं (मज्झिम 3. 194)।

सर्वनाम 'सो' तृतीयपुरुष वाचक होने पर भी कहीं-कहीं सामान्यवाचक हो जाता है और क्रिया में आए हुए पुरुष को प्रकट करता है—

सो करोहि (त्वं कुरु) (धम्म० 336)।

सो ततो चुतो अमुत्र उदपादि (अहं ततश्च्युत: अमुत्र उदपद्ये) (दीघ० 1. 13)।

(ख) सम्बन्धवाचक सर्वनाम के पश्चात् भी इसका प्रयोग होता है। उससे उसका अर्थ 'जो सो' हो जाता है—

या सा सीमा···तं सीमं (विनय० 1. 109)

ये ते धम्मा···तथा रूपास्स धम्मा (मज्झिम० 3. 11)

यो सो मम सहायको (धम्म० टी० 4. 128)।

(ग) यह निर्देशवाचक सर्वनाम के पहले और पीछे भी आता है: अयं; तयिदं (=तं इदं) (दीघ० 1. 91, मज्झिम० 2. 230)।

स्वायं (सो अयं) (विनय० 1. 29), अयं सो (जातक-टीका 2. 16)।

2. द्विरावृत्ति होने पर 'सो', 'यह और वह' अथवा 'कोई' आदि अनेक प्रकार के अर्थों को प्रकट करता है—तासु तासु दिसासु, तेसु तेसु जनपदेसु (विनय० 1. 21)। अथवा यह अनिश्चित सम्बन्धवाचक सर्वनाम 'यो यो' के साथ भी आता है (थेर० 144, जातक-टीका 1. 417)।

§ 107. एतद् शब्द

एतद् शब्द के रूप भी 'तद्' के समान हैं। पुंल्लिग कर्ता एकवचन में 'एसो' और 'एस' दोनों रूप प्रचलित हैं और इनका प्रयोग विशेष्य तथा विशेषण दोनों रूपों में होता है:

एस (जातक-टीका 2=6), एसो (जातक-टीका 2. 7) : विशेष्य के रूप में।

एस (जातक-टीका 2. 10), एसो (सुत्त० पृ० 102) : विशेषण के रूप में।

मूल शब्द 'एतं' के रूप में माना जाता है : एतं कारणा (एतत्कारणात्) (विनय० 1. 57)।

'सो' के समान 'एसो' का भी दूसरे सर्वनामों के साथ प्रयोग होता है—

एसाहं (एष अहं) (दीघ० 1. 110), अयं एसो (महावंस 1. 42), यानि एतानि (यानानि) (धम्म० टी० 4. 6.)।

2. 'एनं' (सं० एनद्) का प्रयोग एनं और एनेन के रूप में ही होता है—

पुंल्लिग कर्म ए० व०—'एनं' (सुत्त० 981, 1114, मज्झिम० 3. 5 आदि)।

स्त्रीलिंग कर्म—'एन' (जातक 3. 305), यहां छन्दोनुरोध से उसे लघु कर किया गया है।

नपुंसकलिंग कर्म—'एनं' (सुत्त० 583, धम्म० 118. 313), 'तमेनं' (मज्झिम० 2. 248, 3. 5, जातक-टीका 1. 350, विमान० 21. 4) में यह स्त्रीलिंग के रूप में है।

सन्धि में 'एन' का 'न' रह जाता है और यह प्रयोग बहुत पाया जाता है। इसी प्रकार कर्ता-कर्म तीनों लिंगों में 'नं' मिलता है। सम्प्रदान-सम्बन्ध—'नस्स' (जातक 5. 203), कर्म ब० व० 'ने' (विनय० 1. 42, संयुत्त० 1. 241, जातक-टीका 1. 99, 201)।

सम्प्रदान-सम्बन्ध बहुवचन –'नेसं' (सुत्त० 293, थेर० 130, थेरी० 277, जातक-टीका 1. 153 आदि)।

3. पालि में 'त्यद्' शब्द का रूप भी मिलता है : त्यम्हि (जातक 6. 292)। टीका में 'त्यम्हि' की व्याख्या 'तम्हि' द्वारा की गई है। किन्तु इसमें पाठ का भ्रम भी हो सकता है।

4. तृतीय पुरुषवाचक सर्वनाम 'तुम' शब्द भी उल्लेखनीय है। भाषा के पुरातन दो युगों में इसका प्रयोग मिलता है। इसका वैदिक 'त्मन्' के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। इसके नीचे लिखे रूप मिलते हैं :

कर्ता ए० व० तुमो (सुत्त० 890, विनय० 2. 186, अंगु० 3. 124. 125)।
सम्बन्ध ए० व० तुमस्स (सुत्त० 908)।

§ 108. **इदं शब्द के रूप**

पुंल्लिंग

कर्ता	अयं	इमे
कर्म	इमं	इमे
करण	इमिना (अनेन)	इमेहि (एहि)
अपादान	इमस्मा, इमम्हा (अस्मा)	इमेहि (एहि)
सम्प्र०, सम्बन्ध	इमस्स, अस्स	इमेसं, इमेसानं (एसं, एसानं)
अधि०	इमस्मिं, इमम्हि (अस्मि)	इमेसु (एसु)

स्त्रीलिंग

कर्ता	अयं	इमा (इमायो)
कर्म	इमं	इमा (इमायो)
करण	इमया	इमाहि
अपादान	इमाय	इमाहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	इमिस्सा (इमिस्साय) (इमाय) अस्सा, (अस्साय)	इयासं (इमासानं) (आसं)
अधिकरण	इमिस्सं, इमिस्सा इमायं, (अस्सं)	इमासु

नपुंसक-लिंग

नपुंसकलिंग में कर्ता, कर्म	एकवचन—इदं, इमं
	बहुवचन—इमानि

शेष पुंलिंग के समान

टिप्पणी

1. जैसे-जैसे भाषा का विकास होता गया 'अ' या 'अन' के स्थान में 'इम' आता गया। नपुंसकलिंग में भी इसका प्रवेश हो गया। परिणाम-स्वरूप नपुंसक-लिंग में भी कर्ता और कर्म में 'इमं' रूप मिलता है—कर्ता (मि०प० 46), कर्म (संयुत्त० 4, 125, जातक-टीका 1, 307, धम्म० टी० 2. 29, 31, महावंश 5. 157)।

'अ' तथा 'अन' के उदाहरण

करण	ए० व०	अनेन (महावंस 5. 55)
अपादान	ए० व०	अस्मा (धम्म० 220 थेर० 237)
अधिकरण	ए० व०	अस्मि (धम्म० 168. पृष्ठ 242, सुत्त० 634, 990)
पुं० सम्बन्ध	ब० व०	एसं (मज्झिम० 2. 86 एसानं (मज्झिम० 2. 154, 3. 259)
स्त्री०सम्बन्ध	ब० व०	आसं (जातक 1. 302) (टीका : एतासं)

अस्स और अस्सा क्रमशः पुंल्लिग और स्त्रीलिंग में सम्बन्ध एकवचन के रूप बनते हैं। इनका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है और आगमोत्तर साहित्य में भी अनुदात्त (enclitic) रूप प्रयोग होता रहा है।

इम शब्द के अल्प-प्रयुक्त रूप

इमायो—कर्ता ब० व० स्त्री० (सुत्त० 1122)
कर्म ब० व० स्त्री० (महावंस 15. 20)।

पुं० सम्बन्ध एकवचन में 'इमस्स' के स्थान पर 'इमिस्स' भी आता है (जा० टी० 1. 333)। यह स्त्रीलिंग रूप 'इमिस्सा का सादृश्य है। समास 'तदमिना' में इमिना के स्थान पर अमिना है (संयुत्त० 1. 88, मज्झिम० 2. 939, दीघ० 3. 83)। इसके साथ तदमिना (मज्झिम० 2. 239, 240) भी है।

2. 'अयं' सर्वनाम का प्रयोग दूसरे सर्वनामों के साथ भी होता है—

(क) सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम के साथ :

यायं (या अयं) (थेर० 124), यायं (यो अयं) (धम्म० 56), यमिदं कम्मं···तं (मज्झिम० 2. 220), यान् इमानि अलापूनि (धम्म० 149)।

(ख) प्रश्नवाचक सर्वनाम के साथ :

को नु खो अयं भासति (अंगु० 4. 307),
'सो' के साथ सम्बन्ध के लिए दे० § 106।

3. 'अयं च अयं च' इस प्रकार द्विरावृत्ति होने पर इसका अर्थ है—यह या वह। यह अनिश्चित वस्तु या व्यक्ति के लिए आता है—

अयं च अयं च अम्हाकं रञ्ञो सीलाचारो (जातक-टीका 2. 3),
इदञ्च इदञ्च कातुं वट्टति (जातक-टीका 2. 4)।

§ 109. अमु (अदस्) शब्द के रूप :

पुंल्लिग

कर्ता	असु, अमु	अमू
कर्म	अमुं	अमू
करण	अमुना	अमूहि
अपादान	अमुस्मा, अमुम्हा	अमूहि
सम्प्र०, सम्बन्ध	अमुस्स	अमूसं (अमूसानं)
अधिकरण	अमुस्मि, अमुम्हि	अमूसु

स्त्रीलिंग

कर्ता	असु	अमू (अमुयो)
कर्म	अमुं	अमू (अमुयो)
करण	अमुया	अमूहि
अपादान	अमुया	अमूहि
सम्प्रदान, सम्बन्ध	अमुस्सा (अमुया)	अमूसं (अमूसानं)
अधिकरण	अमुस्सं (अमुयं)	अमूसु

नपुंसकलिंग कर्ता-कर्म एकवचन 'अदुं' है, और बहुवचन अमू, अमूनि। शेष पुंल्लिग के समान।

1. टिप्पणी

अमु शब्द का प्रयोग पुंल्लिग कर्ता एकवचन में भी होने लगा।
अमु (मज्झिम० 2. 206, 223, महावंस-टीका 118)
असु (मज्झिम० 3. 275, संयुत्त० 4. 315, 398).

यह पुंल्लिग एवं नपुंसकलिंग कर्ता, करण, अपादान, सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण बहुवचन में भी आता है। संस्कृत में 'अमी' आदि ई वाले रूप हैं। ऊ वाले रूप स्त्रीलिंगमें ही आते हैं। पालि में पुंल्लिग तथा नपुंसकलिंग के रूप स्त्रीलिंग के समान बदल गए हैं। नपुंसक० 'अदुं' का प्रयोग (संयुत्त० 315, जातक 1. 500, जातक-टीका 1. 500 में) मिलता है।

नपुंसक-लिंग

नपुंसकलिंग में कर्ता, कर्म एकवचन—इदं, इमं
बहुवचन—इमानि

शेष पुंल्लिग के समान

टिप्पणी

1. जैसे-जैसे भाषा का विकास होता गया 'अ' या 'अन' के स्थान में 'इम' आता गया। नपुंसकलिंग में भी इसका प्रवेश हो गया। परिणाम-स्वरूप नपुंसक-लिंग में भी कर्ता और कर्म में 'इमं' रूप मिलता है—कर्ता (मि०प० 46), कर्म (संयुत्त० 4, 125, जातक-टीका 1. 307, धम्म० टी० 2. 29, 31, महावंश 5. 157)।

'अ' तथा 'अन' के उदाहरण

करण ए० व० अनेन (महावंस 5. 55)
अपादान ए० व० अस्मा (धम्म० 220 थेर० 237)
अधिकरण ए० व० अस्मि (धम्म० 168. पृष्ठ 242, सुत्त० 634, 990).
पुं० सम्बन्ध ब० व० एसं (मज्झिम० 2. 86
एसानं (मज्झिम० 2. 154, 3. 259)
स्त्री०सम्बन्ध ब० व० आसं (जातक 1. 302) (टीका : एतासं)

अस्स और अस्सा क्रमशः पुंल्लिग और स्त्रीलिंग में सम्बन्ध एकवचन के रूप बनते हैं। इनका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है और आगमोत्तर साहित्य में भी अनुदात्त (enclitic) रूप प्रयोग होता रहा है।

इम शब्द के अल्प-प्रयुक्त रूप

इमायो—कर्ता ब० व० स्त्री० (सुत्त० 1122)
कर्म ब० व० स्त्री० (महावंस 15. 20)।

पुं० सम्बन्ध एकवचन में 'इमस्स' के स्थान पर 'इमिस्स' भी आता है (जा० टी० 1. 333)। यह स्त्रीलिंग रूप 'इमिस्सा का सादृश्य है। समास 'तदमिना' में इमिना के स्थान पर अमिना है (संयुत्त० 1. 88, मज्झिम० 2. 939, दीघ० 3. 83)। इसके साथ तदमिना (मज्झिम० 2. 239, 240) भी है।

2. 'अयं' सर्वनाम का प्रयोग दूसरे सर्वनामों के साथ भी होता है—

(क) सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम के साथ :

यायं (या अयं) (थेर० 124), यायं (यो अयं) (धम्म० 56), यमिदं कम्मं···तं (मज्झिम० 2. 220), यान् इमानि अलापूनि (धम्म० 149)।

§ 111. प्रश्नवाचक सर्वनाम किम् शब्द

1. 'किम्' शब्द का नपुंसक० कर्ता-कर्म एकवचन में 'किं' रूप बनता है। मूल शब्द के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। किनामो (किन्नामा) (विनय० 1. 93)। अन्य सभी रूप यद् के समान हैं।

अपादान, सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण एकवचन में 'कि' शब्द से बने रूप भी मिलते हैं—

किस्मा (संयुत्त० 1. 37)। इसी प्रकार सामान्य रूप 'कस्मा' भी मिलता है। किस्स (उदान 79 गाथा, विमान० 22.3. पेत० 2. 1.3, दीघ० 2. 185)। इसी प्रकार कस्स (सुत्त० 1040, मि०प० 27, महावंस 5. 191)। किम्हि (विनय० 1.28, दीघ० 2. 57) । किस्मि (दीघ० 2. 277, संयुत्त० 4. 85)। इसी प्रकार कम्हि, कस्मि। किस्स हेतु (कस्य हेतोः) का प्रयोग भी बार-बार मिलता है (दीघ० 1. 14,15, मज्झिम० 1. 1 आदि)। 'किस्स' का अकेला प्रयोग (विनय० 1.73, जातक-टीका 1. 477)। जातक 5. 141 में 'किस्स' का प्रयोग नपुंसक० के लिए और कस्स का प्रयोग पुल्लिग के लिए मिलता है। दीघनिकाय 3. 24 में 'को' के स्थान में 'के' का प्रयोग मिलता है। यह मागधी का प्रभाव है।

प्रश्नवाचक सर्वनाम को दृढतर करने के लिए उसके साथ सु, स्सु, सि अथवा सि को जोड़ा जाता है :

कंसु (संयुत्त० 1. 45), केनस्सु (संयुत्त० 1. 39), किस्सस्सु (संयुत्त० 1. 39. 161)। कंसि (धम्म० टी० 1. 91)।

कोचि, काचि, किंचि रूप 'क' के साथ 'चि' या 'चिद्' जोड़ने से बनते हैं— कोचिदेव पुरिसो (मि०प० 40)।

जब इसका प्रयोग 'न' के साथ आता है तो इसका अर्थ कोई नहीं हो जाता है— नत्थि कोचि भवो निच्चो (नास्ति कोऽपि भवो नित्यः) (थेर० 121)।

न···कंचिनं (थेर० 879) प्रयोग उल्लेखनीय है। यहां कंचि शब्द को इन्नन्त बनाकर उसके साथ प्रत्यय जोड़ा गया है।

2. कतम (कौनसा) शब्द के रूप भी 'क' के समान होते हैं :

कर्ता	पुं० कतमो (मि०प० 26)
	नपुं० कतमं (दीघ० 1. 99)
करण	कतमेन (विनय० 1. 30)
अधिकरण	स्त्री० कतमस्सं (मज्झिम० 2. 160)
कर्ता	ब०व० कतमे (विनय० 1. 3)
सम्बन्ध	ब०व० कतमस्सानं (विनय० 3. 7)

2. द्विरावृत्ति होने पर इसका अर्थ 'एक दूसरा' होता है (दीघ० 2. 200)।

इसका प्रयोग सम्बन्धवाचक सर्वनाम 'यद्' के साथ भी होता है : 'यं वा अदुं खेत्तं अग्गं' वह खेत जो मूल्यवान् है। (संयुत्त० 4. 215)।

3. अमुक और असुक शब्द अमु और असु से बने हैं और अनिश्चित व्यक्ति या वस्तु के लिए प्रयुक्त होते हैं।

अमुकस्मि गामे (दीघ० 1. 193, तु०—संयुत्त० 4. 46)

असुकस्मि काले (जा० टी० 2. 29, तु०—जा० टी० 1. 122)

द्विरावृत्त होने पर भी 'अमुक' का इसी अर्थ में प्रयोग होता है (अंगु० 4. 302)। अमुक (मज्झिम० 3. 169 में) अमुक अर्थ में प्रयुक्त है।

§ 110. सम्बन्धवाचक सर्वनाम यं, यद् (सं०यद्) शब्द

यंविपाको (दीघ० 2. 209), यदत्तो (थेर० 60)

	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
कर्ता	यो	या	ये	या, (यायो)
कर्म	यं	यं	ये	या, (यायो)
करण	येन	याय	येहि	याहि
अपादान	यस्या, यम्हा	याय	येहि	याहि
सम्प्र०, सम्ब०	यस्स	यस्मा (याय)	येसं (येसानं)	यासं, (यासानं)
अधिकरण	यस्मि, यम्हि	यस्सं (यायं)	येसु	यासु

नपुंसक लिंग

कर्ता	ए० व०	यं	ब० व०	यानि
कर्म	ए० व०	यं	ब० व०	यानि

शेष पुल्लिंग के समान।

टिप्पणी

1. इसके सन्धि होने से जो रूप बनते हैं उसके लिए (दे० § 71, 72)

2. दीघनिकाय 2. 278 में मागधी के प्रभाव के कारण 'से' के साथ ये रूप मिलता है। (तु०—§ 105)

3. यद् के दूसरे सर्वनामों के साथ प्रयोगों के लिए दे० § 106. 1, 107. 1, 108. 2, 109. 2

4. द्विरावृत्ति होने पर यद् शब्द अनिश्चित वस्तु या व्यक्ति को प्रकट करता है : यं यं (जो जो) :

"यस्सं यस्सं दिसायं विहरति, सकस्मि येव निजिते विहरति" ("यस्यां यस्यां दिशायां विहरति, स्वस्मिन् एवं विजिते विहरति")। (अंगु० 3. 151)

यो कोचि (यः कश्चित्), या काचि (या काचित्), यं किंचि (यत्किंचित्)

§ 111. प्रश्नवाचक सर्वनाम किम् शब्द

1. 'किम्' शब्द का नपुंसक० कर्ता-कर्म एकवचन में 'किं' रूप बनता है। मूल शब्द के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। किनामो (किन्नामा) (विनय० 1. 93)। अन्य सभी रूप यद् के समान हैं।

अपादान, सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण एकवचन में 'कि' शब्द से बने रूप भी मिलते हैं—

किस्मा (संयुत्त० 1. 37)। इसी प्रकार सामान्य रूप 'कस्मा' भी मिलता है। किस्स (उदान 79 गाथा, विमान० 22.3. पेत० 2. 1.3, दीघ० 2. 185)। इसी प्रकार कस्स (सुत्त० 1040, मि०प० 27, महावंस 5. 191)। किम्हि (विनय० 1.28, दीघ० 2. 57)। किस्मि (दीघ० 2. 277, संयुत्त० 4. 85)। इसी प्रकार कम्हि, कस्मि। किस्स हेतु (कस्य हेतोः) का प्रयोग भी बार-बार मिलता है (दीघ० 1. 14,15, मज्झिम० 1. 1 आदि)। 'किस्स' का अकेला प्रयोग (विनय० 1.73, जातक-टीका 1. 477)। जातक 5. 141 में 'किस्स' का प्रयोग नपुंसक० के लिए और कस्स का प्रयोग पुल्लिग के लिए मिलता है। दीघनिकाय 3. 24 में 'को' के स्थान में 'के' का प्रयोग मिलता है। यह मागधी का प्रभाव है।

प्रश्नवाचक सर्वनाम को दृढतर करने के लिए उसके साथ सु, स्सु, सि अथवा सि को जोड़ा जाता है :

कंसु (संयुत्त० 1. 45), केनस्सु (संयुत्त० 1. 39), किस्सस्सु (संयुत्त० 1. 39. 161)। कंसि (धम्म० टी० 1. 91)।

कोचि, काचि, किंचि रूप 'क' के साथ 'चि' या 'चिद्' जोड़ने से बनते हैं—कोचिदेव पुरिसो (मि०प० 40)।

जब इसका प्रयोग 'न' के साथ आता है तो इसका अर्थ कोई नहीं हो जाता है—नत्थि कोचि अवो निच्चो (नास्ति कोऽपि भवो नित्यः) (थेर० 121)।

न···कंचिनं (थेर० 879) प्रयोग उल्लेखनीय है। यहां कंचि शब्द को इन्नन्त बनाकर उसके साथ प्रत्यय जोड़ा गया है।

2. कतम (कौनसा) शब्द के रूप भी 'क' के समान होते हैं :

कर्ता	पुं० कतमो (मि०प० 26)
	नपुं० कतमं (दीघ० 1. 99)
करण	कतमेन (विनय० 1. 30)
अधिकरण	स्त्री० कतमस्सं (मज्झिम० 2. 160)
कर्ता	ब०व० कतमे (विनय० 1. 3)
सम्बन्ध	ब०व० कतमस्सानं (विनय० 3. 7)

3. कतर शब्द 'दो में से कौन' अर्थ को सूचित करता है। सामान्य रूप से 'कौन' या 'क्या' अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है :

पुं० कर्ता ए०व० कतरो (जातक-टीका 1. 352)

सम्बन्ध ए०व० कतरिस्स (घम्म० टीका 1 215)

4. **कति (कितने) शब्द :**

पुं० कर्ता ए०व० कति (समणा) (सुत्त० 83),

कति (उपोस्था) (विनय० 1.111)

नपुं० कर्ता ए०व० कति (कम्माणि) (मज्झिम० 1. 372)

करण कतिहि (संयुत्त० 4. 240, दीघ० 1. 119, घम्म० टी० 1. 9)

कति से बने हुए शब्द :

कतिपया, कतिचि (कतीहिचि जातक-टीका 1. 464)

कतिपाहं ('कतिपय' से), (कुछ दिन) (जातक-टीका 11. 38)

कतिपाहेन (कुछ दिनों में) (महावंस 17. 41)

कतिखत्तुं (कति कृत्वा) (कितनी बार) (मज्झिम० 3. 125)

5. कीव, कीवं (क्रियाविशेषण : कैसे, कितना) वैदिक 'कीवत्' से, § 46

कीव-दूर (कितनी दूर) मज्झिम० 2. 119)

कीव-चिरं (कितनी देर) (विमान० 24.14)

याव-कीवं (विनय० 1. 11, संयुत्त० 4. 8, अंगु० 4. 304)

इसी से कीवतिका (कितने) विनय० 1. 117)

6. कित्तक (कितना, कितना बड़ा) कित्तकं अद्धानं (कितनी देर) (विमान० टीका 117) (कीवचिरं की व्याख्या के रूप में)

इसी सरीखे रूप हैं—'एत्तक' (इतना)(मि०प० 316, घम्म०टी० 2. 15)और 'तत्तक' (घम्म० टी० 2. 16 आदि।) इसी शब्द से 'कित्तावता' (कहां तक) (विनय० 1. 3, मज्झिम० 1. 14, संयुत्त० 4. 38) बना है।

§ 112. स (स्व) शब्द

1. स शब्द तीनों पुरुषों में आत्मा या आत्मीय अर्थ को प्रकट करता है :

करण—सेन (जातक 2. 52), व० व० सानि (मज्झिम० 1. 366), सक (सं० स्वक)। करण—ए०व० सकेन दारेन (विमान० 83, 20), अपादान—सकम्हा गामा (दीघ० 1.81), कर्म ब० व० सके (जातक 6. 505) आदि।

उत्तम पुरुष में आत्मीयार्थक सर्वनाम मदीय है। चाइल्डर ने इसके रूप दिए है, किन्तु उदाहण नहीं मिलते।

विशेषण 'मामक' (स्त्रीलिंग मामिका) स्नेहयोग्य या मूल्यवान् अर्थ को प्रकट करता है (इतिवुत्तक 112)। समास के अंत में यह स्नेही या पुजारी अर्थ को प्रकट करता है (जातक-टी० 3 182, 183)।

2. अत्तन् (आत्मन्) शब्द के कुछ रूप 'स्वयम्' अर्थ में आते हैं—'अत्तानं दमयन्ती सुब्बता' (थेर० 19), अत्तानं नासेसि (जातक-टीका 1. 510), अत्तनकतं पापं (धम्म० 161), अत्तदुतिय (आत्मा द्वितीय) (दीघ० 2. 147), अत्तसत्तम (आत्मसप्तम) (समन्त० 320), अत्तट्ठम (आत्माष्टम) (विमान० टी० 149 आदि)।

3. **सर्वनामों से बने अन्य शब्द**

यावन्त् (कितना या कितना बड़ा)—
यावन्त एत्थ समागता (दीघ० 337);

'याव' अथवा 'यावं' तथा 'यावता' में यह सम्बन्धवाचक अव्यय के रूप में प्रयुक्त है। इसके प्रतिसम्बद्ध अव्यय हैं—ताव और तावता।

यावतक—कितना बड़ा, कितना।

नपुं० कर्ता एकवचन, यावतकं (संयुत्त० 4. 320, 321)
पुं० कर्म व० व० यावतके (विनय० 1. 83)
तावतक—इतना, बड़ा इतना।
नपुं० कर्ता० ए० व० तावतकं (संयुत्त० 4. 320, 321)
करण तावतकेन (धम्म० टी० 3. 61, मिलिन्द० 312)
पुं० कर्म व० व० तावतके (विनय० 1. 83)।

इसी प्रकार दि, दिस, रिस, दिक्ख, रिक्ख, (सं० दृश्, दृश, दृक्ष) के साथ भी रूप बनते हैं—

मादिस, मारिस (मादृश)। स्त्री०—मदिसियो, (धम्म० टी० 2. 17)।

अम्हादिस (अस्मादृश), पु० कर्म० बहु०व० अम्हारिसे (महावंस 5 128)।

तादिस (त्वादृश) (जा० टी० 1. 445)। तुम्हादिस (युष्मादृश) धम्म० टी० 2. 39, 3. 235)।

यादिसक (यादृशक)। तादि (तादृक)। तादिसक (तादृशक)।

एतादिसक (एतादृशक) (सुत्त० 522, संयुत्त० 1. 227 गाथा, दीघ० 2, 109, धम्म० टी० 2. 16, पेत० टी० 10 गाथा थेर० 201, विमान० 84, 54, दीघ० 2. 157 गाथा, संयुत्त० 1. 202 गाथा।

ईदि (ईदृक्), ईदिसक (ईदृशक), ईदिक्ख (ईदृक्ष), ईरिस (ईदृश) महावंस 10. 54, 14. 13, जातक-टीका 1. 60. गाथा)।

एदिसक, ऐरिस (सुत्त० 313, विनय० 1. 195)।

कीदि (कीदृक्) कीदिस (कीदृश) कीरिस (सुत्त० 836. 1088), जातक-टीका 1. 496. 2. 3), किदिस (कीदृश) संयुत्त० 1. 34, गाथा), यादिस-कीदिस (यादृश-कीदृश) (जातक 1. 420)।

§ 113. विशेषण सर्वनाम

1. सब्ब (सर्व) (सभी या प्रत्येक)। इसके रूप सम्बन्धवाचक सर्वनाम के समान चलते हैं—

पुं० कर्ता ब० व० सब्बे (सुत्त० 179, मज्झिम० 3. 61, जा० टी० 1. 280)।

पुं० सम्बन्ध ब० व० सब्बेसं (सुत्त० 1030, मज्झिम० 2. 201, जा० टी० 352), सब्बेसानं (मज्झिम० 3. 60)।

स्त्री० सम्बन्ध ब० व० सब्बासं (संयुत्त० 1. 17)।

स्त्री० अधि० ए० व० सब्बाय (विनय० 1. 165)।

2. विस्स (विश्व) इसका प्रयोग बहुत कम है—

पुं० कर्म ए०व० विस्सं धम्मं (धम्म० 266)। टीका : विस्सं=विसमं।

3. अञ्ञ (अन्य) के रूप सब्ब के समान हैं—

पुं० कर्ता ब० व० अञ्ञे, (सुत्त० 201) आदि।

सम्बन्ध ब० व० अञ्ञेसं (सुत्त० 213, जा० टी० 1. 254 आदि)।

किन्तु स्त्रीलिंग सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण एकवचन में 'इ' आ जाता है :

सम्प्र०, सम्बन्ध—अञ्ञिस्सा (विनय० 1. 15)।

अधिकरण—अञ्ञिस्सा (गुहाय) (जातक-टीका 2. 27)।

द्विरावृत्ति होने पर 'अञ्ञो…अञ्ञो' 'एक…अन्य एक' अर्थ को प्रकट करता है (जातक-टीका 1. 456)। 'अञ्ञमञ्ञ' में केवल अंतिम शब्द के साथ प्रत्यय लगते हैं : अञ्ञमञ्ञस्स (दीघ० 1. 56) अञ्ञमञ्ञम्हि (दीघ० 1. 20), अञ्ञमञ्ञेहि (सुत्त० 936, थेर० 1. 933)।

4. अञ्ञतर (अन्यतर : दो में से एक) (दीघ० 1. 228, मज्झिम० 1. 62), अथवा कोई (विनय० 1. 23, दीघ० 1. 62)। स्त्री० सम्बन्ध ए०व० 'अञ्ञतरिस्सा' (संयुत्त० 1. 140)।

5. अञ्ञतम (अन्यतम : कोई) (महावंस 38. 14)।

6. इतर के रूप भी सब्ब के समान हैं :

पुं० कर्ता ब० व० इतरे (धम्म० टी० 4. 40)। स्त्री० सम्प्र०, सम्बन्ध इतरासं (जा०टी० 2. 27)। एको…इतरो (विमान० टी० 149) (एक दूसरा), अथवा इतरो …इतरो (महावंस 25. 62)। इतरीतर का अर्थ है एक और दूसरा, प्रत्येक कोई (थेर० 230, जातक 1. 467 (टीका : यस्स कस्सचि), मज्झिम० 2. 6. अंगु० 5. 91)। इतरीतरेन (एक दूसरे से) विमान० 84, इतरेतरेहि अत्तनागलुन्स 10.5।

7. पर तथा अपर भी सब्ब के समान है :

पुं० कर्ता ब०व० परे (सुत्त० 762, विनय 1. 5, दीघ० 1. 2), अपरे (जा०-टी० 3. 51)।

सम्प्र०, सम्बन्ध परेसं (थेर० 743, 942, विमान० 80.6, दीघ० 1. 3)। परो···परो (पहला···दूसरा) (दीघ० 1. 224)।

'परं' परे या पीछे अर्थ में क्रिया-विशेषण और उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त होता है अपरापरं क्रिया-वि० (एक ओर से दूसरी ओर तक, इधर-उधर, ऊपर-नीचे)।

8. पुब्ब (पूर्व) उत्तर, अधर शब्द सब्ब के समान हैं :

पुब्ब शब्द का अधिकरण ए० व० में पुब्बे रूप स्वतंत्र मिलता है। दूसरे रूप समास के अन्तिम शब्द के रूप में मिलते हैं।

उत्तर शब्द का स्त्रीलिंग अधिकरण ए०व० उत्तराय (दिसाय) (दीघ० 1. 74) तथा 'उत्तरस्सं दिसायं' (संयुत्त०1. 148 गाथा)।

क्रिया-विशेषण—उत्तरेण (उत्तर को), उत्तरतो (उत्तर से)।

9. एकच्च (एक, कोई एक) (विशेषण विनय० 1. 183, विशेष्य : संयुत्त० 3. 243)।

कर्ता ब० व० एकच्चे (कुछ) (संयुत्त० 4. 102, सुत्त० पृ० 101, जा० टी० 3. 126)।

सम्प्र०, सम्बन्ध—एकच्चानं (विनय० 1. 45, 3. 20), एकच्चो···एकच्चो (संयुत्त० 4. 305, विनय० 1. 88, धम्म० टी० 2. 12), एकच्चं···एकच्चं (दीघ० 1. 17)।

इससे बना हुआ रूप है—एकच्चिय (वैयक्तिक रूप से) :

पुं० कर्ता, ए० व० एकच्चियो (जातक 1. 326, विनय० 1. 290)।

कर्म० एकच्चियं (विनय० 1. 289।

स्त्री० कर्ता० एकच्चिया (तित्थी) (संयुत्त० 1. 86 गाथा)।

पुं० कर्ता एकवचन एकच्चिया (जातक 1. 326, टी० एकच्चे), (संयुत्त० 1. 199, गाथा)।

3. संख्यावाची शब्द

(1) गणना-वाची

§ 114. 1. 'एक' शब्द के रूप अञ्ञ के समान हैं (§ 113.3)

पुं० सम्प्र०, सम्बन्ध—ए०व० एकस्स (सुत्त० 397, धम्म० टी० 2. 23)

स्त्री० सम्प्र०, सम्बन्ध—ए०व० एकिस्सा (विनय० 2. 38, जा० टी० 1. 151)

पुं० अधिकरण—ए० व० एकस्मि

स्त्री० अधिकरण—एकिस्सा (मज्झिम० 3. 65, जा० टी० 6. 32), एकस्सिं (धम्म० टी० 346)।

'एके' का अर्थ है कुछ (दीघ० 1. 12)। 'एको···एको' द्विरावृत्ति होने पर इसका अर्थ है—एक···अन्य (दीघ० 1. 181, महावंस 5. 103)।

§ 113. विशेषण सर्वनाम

1. सब्ब (सर्व) (सभी या प्रत्येक)। इसके रूप सम्बन्धवाचक सर्वनाम के समान चलते हैं—

पुं० कर्ता ब० व० सब्बे (सुत्त० 179, मज्झिम० 3. 61, जा० टी० 1. 280)।

पुं० सम्बन्ध ब० व० सब्बेसं (सुत्त० 1030, मज्झिम० 2. 201, जा० टी० 352), सब्बेसानं (मज्झिम० 3. 60)।

स्त्री० सम्बन्ध ब० व० सब्बासं (संयुत्त० 1. 17)।

स्त्री० अधि० ए० व० सब्बाय (विनय० 1. 165)।

2. विस्स (विश्व) इसका प्रयोग बहुत कम है—

पुं० कर्म ए०व० विस्सं धम्मं (धम्म० 266)। टीका : विस्सं=विसमं।

3. अञ्ञ (अन्य) के रूप सब्ब के समान हैं—

पुं० कर्ता ब० व० अञ्ञे, (सुत्त० 201) आदि।

सम्बन्ध ब० व० अञ्ञेसं (सुत्त० 213, जा० टी० 1. 254 आदि)।

किन्तु स्त्रीलिंग सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण एकवचन में 'इ' आ जाता है :

सम्प्र०, सम्बन्ध—अञ्ञिस्सा (विनय० 1. 15)।

अधिकरण—अञ्ञिस्सा (गुहाय) (जातक-टीका 2. 27)।

द्विरावृत्ति होने पर 'अञ्ञो···अञ्ञो' 'एक···अन्य एक' अर्थ को प्रकट करता है (जातक-टीका 1. 456)। 'अञ्ञमञ्ञ' में केवल अंतिम शब्द के साथ प्रत्यय लगते हैं : अञ्ञमञ्ञस्स (दीघ० 1. 56) अञ्ञमञ्ञम्हि (दीघ० 1. 20), अञ्ञमञ्ञेहि (सुत्त० 936, थेर० 1. 933)।

4. अञ्ञतर (अन्यतर : दो में से एक) (दीघ० 1. 228, मज्झिम० 1. 62), अथवा कोई (विनय० 1. 23, दीघ० 1. 62)। स्त्री० सम्बन्ध ए०व० 'अञ्ञतरिस्सा' (संयुत्त० 1. 140)।

5. अञ्ञतम (अन्यतम : कोई) (महावंस 38. 14)।

6. इतर के रूप भी सब्ब के समान हैं :

पुं० कर्ता ब० व० इतरे (धम्म० टी० 4. 40)। स्त्री० सम्प्र०, सम्बन्ध इतरासं (जा०टी० 2. 27)। एको···इतरो (विमान० टी० 149) (एक दूसरा), अथवा इतरो ···इतरो (महावंस 25. 62)। इतरीतर का अर्थ है एक और दूसरा, प्रत्येक कोई (थेर० 230, जातक 1. 467 (टीका : यस्स कस्सचि), मज्झिम० 2. 6. अंगु० 5. 91)। इतरीतरेन (एक दूसरे से) विमान० 84, इतरेतरेहि अत्तनागलुम्स 10.5।

7. पर तथा अपर भी सब्ब के समान हैं :

पुं० कर्ता ब०व० परे (सुत्त० 762, विनय 1. 5, दीघ० 1. 2), अपरे (जा०-टी० 3. 51)।

सम्प्र०, सम्बन्ध परेसं (थेर० 743, 942, विमान० 80.6, दीघ० 1. 3)। परो…परो (पहला…दूसरा) (दीघ० 1. 224)।

'परं' परे या पीछे अर्थ में क्रिया-विशेषण और उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त होता है अपरापरं क्रिया-वि० (एक ओर से दूसरी ओर तक, इधर-उधर, ऊपर-नीचे)।

8. पुब्ब (पूर्व) उत्तर, अधर शब्द सब्ब के समान हैं :

पुब्ब शब्द का अधिकरण ए० व० में पुब्बे रूप स्वतंत्र मिलता है। दूसरे रूप समास के अन्तिम शब्द के रूप में मिलते हैं।

उत्तर शब्द का स्त्रीलिंग अधिकरण ए०व० उत्तराय (दिसाय) (दीघ० 1. 74) तथा 'उत्तरस्सं दिसायं' (संयुत्त०1. 148 गाथा)।

क्रिया-विशेषण—उत्तरेण (उत्तर को), उत्तरतो (उत्तर से)।

9. एकच्च (एक, कोई एक) (विशेषण विनय० 1. 183, विशेष्य : संयुत्त० 3. 243)।

कर्ता ब० व० एकच्चे (कुछ)(संयुत्त० 4. 102, सुत्त० पृ० 101, जा० टी० 3. 126)।

सम्प्र०, सम्बन्ध—एकच्चानं (विनय० 1. 45, 3. 20), एकच्चो…एकच्चो (संयुत्त० 4. 305, विनय० 1. 88, धम्म० टी० 2. 12), एकच्चं…एकच्चं (दीघ० 1. 17)।

इससे बना हुआ रूप है—एकच्चिय (वैयक्तिक रूप से) :
पुं० कर्ता, ए० व० एकच्चियो (जातक 1. 326, विनय० 1. 290)।
कर्म० एकच्चियं (विनय० 1. 289।
स्त्री० कर्ता० एकच्चिया (तित्थी) (संयुत्त० 1. 86 गाथा)।

पुं० कर्ता एकवचन एकच्चिया (जातक 1. 326, टी० एकच्चे), (संयुत्त० 1. 199, गाथा)।

3. संख्यावाची शब्द

(1) गणना-वाची

§ 114. 1. 'एक' शब्द के रूप अञ्ञ के समान हैं (§ 113.3)
पुं० सम्प्र०, सम्बन्ध—ए०व० एकस्स (सुत्त० 397, धम्म० टी० 2. 23)
स्त्री० सम्प्र०, सम्बन्ध—ए०व० एकिस्सा (विनय० 2. 38, जा० टी० 1. 151)
पुं० अधिकरण—ए० व० एकस्मि

स्त्री० अधिकरण—एकिस्सा (मज्झिम० 3. 65, जा० टी० 6. 32), एकिस्सं (धम्म० टी० 346)।

'एके' का अर्थ है कुछ (दीघ० 1. 12)। 'एको…एको' द्विरावृत्ति होने पर इसका अर्थ है—एक…अन्य (दीघ० 1. 181, महावंस 5. 103)।

एकमेको (प्रत्येक भिन्न-भिन्न वैयक्तिक रूप से)(दीघ० 2. 171, महावंस 4. 52)।

एकच्च, एकच्चिय के लिए दे० § 113.9)।

2. 'द्वि' समास में 'दि' भी बनता है। उदाहरण—दिगुण इसके तीनों लिंगों में नीचे लिखे रूप हैं—

कर्ता द्वे (पुं०) धम्म० टी० 2. 9, जातक-टीका 1. 151।
(स्त्री०) सुत्त० पृ० 102, (नपुं०) जातक-टीका 4. 137।
दुवे (पुं०) (थेर० 245), (स्त्री०) (सुत्त० पृ० 100 1)

कर्म द्वे० (पुं०) (जा० टी० 2. 27, ध० टी० 2. 4), (स्त्री०) (ध०-टी० 2. 42)
दुवे (पुं०) महावंस 5. 213, (नपुं०) (महावंस 10. 47)

करण द्वीहि (पुं०) (जा० टी० 1. 338, 2. 153)
(स्त्री०) (मज्झिम० 1. 78, 2. 162)

सम्प्र०, सम्बन्ध द्विन्नं (पुं०) (महावंस 24. 19. जा० टी० 2. 154, धम्म० टी० 2. 12, (स्त्री०) (मज्झिम० 1. 65, जा० टी० 2. 27) तथा दुविन्नं।

अधि० द्वीसु (पु०) (महावंस 6. 25) (नपुं०) (जा० टी० 1. 338 धम्म० टी० 2. 8)

'उभो' शब्द के रूप भी इसी तरह हैं—

कर्ता, कर्म उभो (धम्म० 74, सुत्त० 582, जा० टी० 1. 510, विनय० 1. 10 आदि) (और उभे)।

करण, अपादान उभोहि (दीघ० 2. 176, जा० टी० 4. 142) (तथा उभेहि)।

सम्प्र०, सम्बन्ध उभिन्नं(जातक 1. 353, जा०टी० 1. 338, महावंस 2. 25)

अधिकरण उभोसु (सुत्त० 778, जा० टी० 1. 264, विमान० टी० 275) (तथा उभेसु)।
सन्धिरूप 'वुभो' (जा० 6. 509) में मिलता है।

उभय शब्द एक वचन तथा बहुवचन दोनों में आता है। उदा० "पुञ्ञे च पापे च उभये" (सुत्त० 547)

उभयेन संयमेन (पेत० टी० 2)

गिहीहि च अनागारेहि च उभयेहि (धम्म० टी० 4. 174)

चंदिमसुरिया उभय् एत्थ (=या एत्थ) दिस्सरे (विमान० 83, 4, धम्म० टी० 1. 29 गाथा)।

सम्बोधन—उभयो निसामेथ (थेरी० 449)

उभयं (दोनों) (धम्म० 404)

गाथाओं में 'दुभय' शब्द का प्रयोग दिया गया है। सम्भवतया यह 'द्वि उभयं' बना है। दुभयं ओतुपपातं (दोनों उत्पात और अवपात) (सुत्त० 51)। दुभयानि पण्डरानि (सुत्त० 526)। तोदेय्यकप्पा दुभयो (सुत्त० 1007, 1125)।

कर्म—दुभयं लोकं (जातक 3. 442), दुमतो (जातक 6. 497), टीका में "उभतो' के द्वारा व्याख्या की गई है।

§ 115. तीन से दस तक के संख्यावाची

3. 'ति' (तीन) समास में भी 'ति' के रूप में मिलता है। उदा० तिगुण (तीन बार), तिपिटक (त्रिपिटक) :

पुंल्लिग :

कर्ता, कर्म तयो (सुत्त० 311, जा०टी० 3. 51, धम्म०टी० 2. 4 आदि), (तयस्सु सुत्त० 231)।

करण, अपा० तीहि (धम्म० 391. संयुत्त० 4. 175)

सम्प्र०, सम्ब० तिण्णं (थेर०, 127. संयुत्त० 4. 86, धम्म० टी० 2. 46)

उत्तरकालीन रूप—तिण्णन्नं (मिलिन्द० 309, महावंस 15. 34)

अधिकरण तीसु (धम्म० टी० 2. 27)

स्त्रीलिंग :

कर्ता, कर्म तिस्सो (थेर० 24, जा० टी० 2. 33)

करण, अपादान तीहि (थेरी० 11, संयुत्त० 1. 166 गाथा, सुत्त० 656)

सम्प्र०, सम्ब० तिस्सन्नं (दीघ० 2. 66, संयुत्त० 4. 234)

अधिकरण तीसु (सुत्त० 842, धम्म० टी० 2. 25)

नपुंसक-लिंग :

कर्ता-कर्म तीणि (थेरी० 134, महावंस 6. 25)। शेष पुंल्लिग के समान।

6. 'चतु' (चार) समास में चतु, चतुर

उदा०—चतुकण्ण (चतुष्कर्ण) (अंगु० 1. 14. गाथा)

चतुरस्स (चतुरस्र) (जातक 6. 518)

चतुग्गुण (चतुर्गुण) (जा० टी० 1. 422)

पुंल्लिग :

कर्ता, कर्म चत्तारो (दीघ० 1. 91, धम्म० टी० 2. 9, जा०टी० 4. 139)

चतुरो (कर्ता) (सुत्त० 84, (कर्म) सुत्त० 969)

करण, अपादान चतूहि (सुत्त० 231, धम्म० टी० 2. 3)

चतुहि (जा०टी० 1. 279)

चतुब्भि (अल्प-प्रयुक्त) (सुत्त० 229, जा० 3. 207)

चतुब्भि ठानेसु (विमान० 32. 7)

सम्प्र०, सम्बन्ध चतुन्नं (दीघ० 1. 91, धम्म० टी० 2, 15)

अधिकरण चतूसु (धम्म० टी० 2. 42, 4. 56); चतुसु (जा० टी० 1. 262)

स्त्रीलिंग :

कर्ता, कर्म	चतस्सो (विमान० 78. 6, संयुत्त० 3. 240 जा०-टी० 1. 262), कर्म : चतुरो दिसा (विमान० 6. 10)
करण, अपादान	चतूहि (जातक-टीका 1. 339), चतुहि (दीघ० 1. 102)
सम्प्र०, सम्बन्ध	चतुन्नं (दीघ० 1. 116), चतस्सन्नं
अधिकरण	चतूसु, चतुसु (जा० टी० 3. 46)

नपुंसक-लिंग :

कर्ता-कर्म	चत्तारि (सुत्त० 227, थेरी० 171, धम्म० टी० 2. 24), शेष पुल्लिंग के समान।

5. पञ्च, छ, सत्त, अट्ठ, नव तथा दस के रूप तीनों लिंगों में :

कर्ता, कर्म	पञ्च, छ आदि।
करण, अपादान	पञ्चहि, छहि (धम्म० टी० 2. 28 आदि) अट्ठाहि में 'आ' दीर्घ हो गया (जातक 3. 207), दसभि (अल्पप्रयुक्त) (विनय० 1. 38 गाथा)
सम्प्र०, सम्बन्ध	पञ्चन्नं (संयुत्त० 4. 173) छन्नं (सुत्त० 169, अंगु० 1. 22 आदि) सत्तानं, सत्तन्नं (मज्झिम० 3. 81)
अधिकरण	पञ्चसु, छसु तथा छस्सु (सुत्त० 169), सत्तसु (उदान० 65 आदि)

समास में उपर्युक्त शब्द पञ्च, छ आदि रूपों में रहते हैं। छ का छल् भी मिलता है। (दे० § 67, 72)

§116. बीस, तीस आदि सौ तक की संख्याएं

बीस—वीस, वीसं, वीसा, विसति (सं० विंशति)

तीस—तिस, तिसं तिसा, तिसति (सं० त्रिंशत्)

चालीस—चत्तारीस, चत्तारीसं, चत्तारीसा
चत्तालीस, चत्तालीसं, चत्तालीसा
तालीस, तालीसं, तालीसा (सं० चत्वारिंशत्)

पचास—पञ्ञास, पञ्ञासं, पञ्ञासा, पण्णास (सं० पञ्चाशत्)

साठ—सट्ठि (षष्टि)

सत्तर—सत्तति, सत्तरि (सप्तति)

अस्सी—असीति (अशीति)

नव्वे—नवति (नवति)

सौ—सत (शत)

दो सौ—द्वे सतानि या द्विसत

तीन सौ—तीणि सतानि या तिसत आदि
हज़ार—सहस्स (सहस्र)
दो हज़ार—द्वे सहस्सानि आदि
लाख—लक्ख
करोड़—कोटि
करोड़ से अब्बुद (अरब) आदि संख्याएं कोश में देखनी चाहिएं।

बीच की संख्याएं

ग्यारह—एकादस, एकारस (एकादश)
बारह—द्वादस, बारस (द्वादश)
तेरह—तेरस, तेलस (त्रयोदश)
चौदह—चतुद्दस, चुद्दस (चतुर्दश)
पन्द्रह—पञ्चदस, पन्नरस, पण्णरस (पञ्चदश)
सोलह—सोळस, सोरस (षोडश)
सत्रह—सत्तदस, सत्तरस (सप्तदश)
अठारह—अट्ठादस, अट्ठारस (अष्टादश)
उन्नीस—एकूनवीस, एकूनवीसति (एकोनविंशति)
बाईस—द्वावीस, द्वावीसति, बावीस, वावीसति
तेईस—तेवीस
चौबीस—चतुवीस
पच्चीस—पञ्चवीस, पण्णवीसति, पण्णुवीस आदि
बत्तीस—द्वत्तिंस, बत्तिस
छत्तीस—छत्तिस
उनचास—एकूनपञ्ञास
पचपन—पञ्चपञ्ञास
छप्पन—छप्पञ्ञास आदि।

§117. संख्यावाची शब्दों का प्रयोग

संख्यावाची शब्दों का प्रयोग कई प्रकार से होता है—

1. एक से अठारह तक की संख्याएं विशेषण हैं—

द्वे वा तीणि वा रत्तिन्दिवानि (दीघ० 327), चतुन्नं मासानं अच्चयेन (सुत्त० पृ० 99), सोळसन्नं पुग्गलानं (मिलिन्द० 310)।

दस के साथ सादृश्य के कारण दस के साथ समस्त संख्यावाचियों के साथ भी अनुस्वार लग जाता है और उनका प्रयोग संज्ञा के समान होता है—नव सत्त द्वादसं च···पञ्चवीसं द्वादसं च, द्वादसं च नवापि च (महावंस 2. 9)।

2. दस से गुणित संख्याओं में जो आकारान्त हैं वे स्त्रीलिंग संज्ञाएं हैं। करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध में उनका 'आय्' रूप मिलता है—'एकस्स पि ददामि, द्विन्नं पि ददामि···दसन्नं पि ददामि, वीसाय पि ददामि, तिंसाय पि ददामि, चत्तारीसाय पि ददामि पञ्ञासाय पि ददामि, सतस्स पि ददामि।' (सुत्त॰ पृ॰ 86)

दस से गुणित अकारान्त शब्दों के रूप चलते हैं किन्तु वे प्रायः बिना प्रत्यय के छोड़ दिये जाते हैं।

जिन के अन्त में 'अ' है वे कर्ता एवं कर्म में प्रयुक्त होते हैं।

जिनके अन्त में ति है वे स्त्रीलिंग की संज्ञाएं हैं उनके रूप इकारान्त स्त्रीलिंग (दे॰ § 86) के समान चलते हैं या बिना प्रत्यय के छोड़ दिए जाते हैं। सत (शत) और सहस्स (सहस्र) शब्द नपुंसक-लिंग में आते हैं।

3. (क) बीस से लेकर ऊपर के संख्यावाची शब्द जब विशेष्य के साथ आते हैं तो उनके साथ विभक्ति विशेष्य के समान आती है। उदा॰—

अधिकरण—वीसतिया योजनेसु तिंसाय योजनेसु (मिलिन्द॰ 2. 162)

करण—द्वत्तिसाय महापुरिसलक्खणेहि असीतिया अनुव्यञ्जनेहि (विमान॰ टी॰ 323), एकूनपञ्ञासाय कण्डेहि (जा॰ टी॰ 3. 220), छत्तिंसतिया सोतेहि (धम्म॰ टी॰ 4. 48)।

कर्म—वीसतिं पि भिक्खू तिंसं पि भिक्खू चत्तारिंसं पि भिक्खू (मज्झिम॰ 3. 79), वीसंपि जातियो, तिंसं पि जातियो चत्तालीसं पि जातियो पञ्ञासं पि जातियो (इतिवुत्तक 99), अट्ठचत्तारीसं वस्सानि (सुत्त॰ 289)।

सम्बन्ध—इमेसं तेवीसतिया बुद्धानं सन्तिके (धम्म॰ टी॰ 1. 84)

निम्नोक्त उदाहरणों में दस से गुणित संख्याएं परिवर्तित नहीं होती—

कर्ता—तिंस रत्तियो (दीघ॰ 2. 327)
पञ्चपञ्ञास वस्सानि (थेर॰ 904)

कर्म—एकूनपञ्ञास जने (जा॰ टी॰ 3. 220),
सत्तसत्तरि ञाणवत्थूनि (संयुत्त॰ 2. 59)

करण—द्वत्तिस महापुरिसलक्खणेहि (मज्झिम॰ 2. 135)

3. (ख) सत, सहस्स और उनके समास से बनी हुई संख्याएं भी विशेष्य के अनुसार प्रयुक्त होती हैं—

कर्ता—गन्धब्भा च सहस्सानि (थेर॰ 164), भिक्खुनियो सहस्सं (महावंस 5.187)

कर्म—पञ्चसतानि चण्डालपुरिसे (महावंस 10.91), गाथा सतं (धम्म० 102)।
करण—पञ्चसतेहि थेरेहि (दीपवंस 4.6)
इस प्रकार के सन्दर्भों में विशेष्य एकवचन में भी आते हैं—
कर्म—अट्ठसतं भत्तं (मिलिन्द० 88) (भत्तानि के स्थान पर)
कर्ता में संख्यावाची का विशेषण के रूप में प्रयोग—
पञ्चसता वाणिजा। स्त्रीलिंग—पञ्चसता यक्खिनियो
कर्म—पञ्चसते वाणिजे (जा०टी० 2.128)।

4. संख्यावाची एकवचन में भाववाचक संज्ञा के समान भी प्रयुक्त होते हैं और विशेष्य उन के साथ षष्ठी विभक्ति के द्वारा जोड़ा जाता है—

परो-सहस्सं भिक्खूनं (थेर० 1238), परो-सहस्सं पुत्ता (यहां विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं) (दीघ० 1. 89) सहस्सं पि अत्थानं (संयुत्त० 1. 229), विहारानं पञ्चसतं (महावंस 12.33.), सत्थि अरहतं अका (महावंस० 1. 14)

5. संख्यावाची और विशेष्यों का परस्पर समास भी हो जाता है—

अट्ठवस्सं सत्तमासं राजा रज्जं अकारयि (महावंस 35. 46)
'वस्ससतं' समास भी इसी प्रकार का है। इसका प्रयोग बहुत है।
नीचे लिखे समास भी प्रायः देखे जाते हैं :

सत्त मनुस्ससतानि (जातक-टीका 4. 142.), द्विसु वस्ससतेसु (अतिक्कन्तेसु), (महावंस 33.88), पञ्च इत्थिसतेहि (महावंस 14.57 आदि)।

पूर्ण संख्याएँ

§ 118. (1) एक से लेकर दस तक की पूर्ण संख्याएँ संस्कृत के समान है :—

पठम सं० प्रथम, दुतिय सं० द्वितीय, ततिय सं० तृतीय., चतुत्थ सं० चतुर्थ, पञ्चम सं० पञ्चम, छट्ठ, (छट्ठम सुत्त० 101), सट्ठ सं० षष्ठ, सत्तम सं० सप्तम, स्त्री० सत्तमी (थेरी० 41), अट्ठम सं० अष्टम स्त्री० अट्ठमी (तिथि) (थेरी० 31), नवम सं० नवम, दसम सं० दशम, दसमी (तिथि) (महावंस 19.33)।

(2) दस से गुणित अन्य संख्याओं में भी यही नियम है। अन्तर इतना ही है कि संस्कृत में जहां 'तम' है वहाँ पालि में 'म' आता है। षष्टि और अशीति में 'तम' आता है—

वीसतिम सं० विंशतितम, वीस सं० विंश, तिंसतिम सं० त्रिंशत्तम, तिंस सं० त्रिंश। चत्तारीसतिम सं० चत्वारिंशत्तम, चत्तारीस सं० चत्वारिंश। पञ्ञासतिम सं० पञ्चाशत्तम। सट्ठितम सं० षष्टितम। सत्ततिम सं० सप्ततितम। असीतितम सं० अशीतितम। नवुतिम सं० नवतितम। सतम सं० शततम।

(3) मध्यवर्ती संख्याएं :—

बीच की ग्यारह से उन्नीस तक की पूरण संख्याएं एक ओर संस्कृत से मिलती हैं और दूसरी ओर प्राकृत से :

एकादसम, स्त्री० एकादसमी (मज्झिम० 3. 255), सं० एकादशम

एकारसम, स्त्री० एकादसमी (तिथि)

अर्धमागधी : एकारसम या एकादस, स्त्री० एकादसी (तिथि)

द्वादसम, स्त्री० द्वादसमी (मज्झिम० 3. 255), अ० मा० दुवालसम अथवा द्वादस, स्त्री० द्वादसी (तिथि), सं० द्वादश

तेरसम, स्त्री० तेरसमी (मज्झिम० 3. 255), मागधी—तेरसम अथवा तेरस (महावंस 16.2) सं० त्रयोदश

चुद्दसम, स्त्री० चुद्दसमी (मज्झिम० 3. 255), प्रा०—चोद्दसम अथवा चुद्दस, स्त्री० चुद्दसी तिथि (महावंस 19.39)

चतुद्दस (विनय० 1. 87. 132) चतुद्दसि (थेरी० 31), सं० चतुर्दश

पञ्चदसम (धम्म०टी० 3. 27)

पण्णरसम=अ० मा० पन्नरसम या पण्णरस (दीघ० 2. 207), अधिकतर प्रयुक्त : पन्नरस (थेर० 1234, दीघ० 1. 47, विनय० 1. 87), सं० पञ्चदश, स्त्री० पञ्चद्दसी (तिथि) (थेरी० 31)

सोळसम, अ०मा० सोळसम; तथा सोळस, स्त्री० सोळसी (धम्म० 70, विमान० 43. 8, अंगु० 4. 252), सं० षोडष ।

सत्तरसम स० सप्तदश । अट्ठारसम सं० अष्टादश : मा० अट्ठारसम । एकूनवीसतिम, अ० मा० एगूणवीसईम । एकवीसतिम । बावीसतिम । तेवीसतिम । चतुवीसतिम । पञ्चमीसतिम, छब्बीसतिम आदि । तेत्तिंसतिम । छत्तिंसतिम आदि ।

(8) कुछ फुटकर उदाहरणों में पूरण संख्याएं सामान्य संख्या के अर्थ को प्रकट करती हैं—

पञ्चमेहि बन्धनेहि (पांच बन्धनों से) (संयुत्त० 4. 201, 202)

'अत्तन्' शब्द के साथ समास विशेष-रूप से ध्यान देने योग्य हैं—उदा० अत्त-दुतिय (एक साथी वाला) (दीघ० 2. 147 आदि), (तु० § 112) ।

119. विभाजक संख्याएं

1. शुद्ध या पूरण संख्याओं की द्विरावृत्ति करने पर वे विभाजक बन जाती हैं—

अड्ढ थेरे मच्चे च पेसयि (महावंस 5. 249, उदा० धम्म० टी० 1. 89)

अद्ध, अड्ढ (आधा सं० अर्ध, प्रा० अद्ध, अड्ढ। इसका उत्तर-संख्या के साथ समास हो जाता है।

अड्ढतिय, अड्ढतेय्य (जा०टी० 1. 450, 2. 93) (अढ़ाई)

अड्ढुड्ढ (विनय० 1. 34, धम्म० टी० 1. 87)

प्रा० अद्धुट्ठ=अद्ध+*तुर्थ

सं० अर्द्धचतुर्थ (साढ़े तीन)

उदा० सद्धिं अड्ढतेलसेहि भिक्खुसतेहि (साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के साथ) (सुत्त० पृ० 100, दीघ० 1. 43)

अड्ढनवमसहस्सानि (महावंस 15. 201) (साढ़े आठ हजार)

यदि अद्ध या अड्ढ संख्यावाची शब्द के पश्चात् है तो यह उस संख्या के आधे को प्रकट करता है—दसद्ध (दशार्द्ध=पांच) (थेर० 2244), इसी प्रकार—

पुरिसानं दसद्धेहि सतेहि परिवारितो (महावंस 5. 122)।

संख्यावाची क्रियाविशेषण

सकिं, सकि (सकृत्-एक बार), स्वर से पहले संधि में सकिद् या सकद् (§ 69, 72). अथवा 'एकदा' (अप्पेकदा: एक बार) मज्झिम० 2.7) (अंगु० 5.83)।

संख्या के साथ 'खत्तुं' (सं० 'कृत्वसं') लगाकर भी क्रिया विशेषण बनते हैं—

तिक्खत्तुं (तीन बार) (विनय० 1.104), चतुक्खत्तुं (चार बार), (थेरी० 37.169), छक्खत्तुं (छ बार), (दीघ० 2.198, धम्म० टी० 3.196), सतक्खत्तुं (सौ बार), (थेरी० 519 आदि), कतिक्खत्तुं (कितनी बार) (मज्झिम० 3.125)।

कर्म एकवचन या बहुवचन 'वारं' अथवा 'वारे' भी बार को प्रकट करते हैं—एकवारं (एक बार) (जा० टी० 3.150). द्वे वारे (धम्म० टी० 1. 47), तयो वारे (धम्म० टी० 1. 48), नव वारे (महावंस 30. 52), बहुवारे (जा० टी० 2. 88), दिसु वारेसु (महावंस 6. 26), पठमं (पहली बार), दुतियं (दूसरी बार), एकसो (एकशः) (वैयक्तिक रूप से)।

संस्कृत में बार को प्रकट करने वाले क्रियाविशेषण, संख्या के साथ 'धा' जोड़ने पर बनते हैं। प्राकृत में 'धा' का 'हा' हो जाता है।

सत्तहा (सप्तधा) (सात बार, सात भागों में या सात अंशों में) (दीघ० 1. 94, 2. 234)। इसी प्रकार 'सतधा' 'सहस्सधा' भी होते हैं।

17. कुछ विशिष्ट स्थलों में भविष्यत् या कर्मवाच्य को मूल धातु बनाकर उससे नए रूप बनाए गए हैं।

2. वर्तमान काल

(क) लट् लकार

§ 121. 'लभ्' धातु : (परस्मैपद)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	लभति	लभन्ति
मध्यम पुरुष	लभसि	लभथ
उत्तम पुरुष	लभामि	लभाम

आत्मनेपद

प्र० पु०	लभते	लभन्ते, लभरे
म० पु०	लभसे	(लभव्हे)
उ० पु०	लभे	(लभम्हे)

§ 122. **टिप्पणी**

परस्मैपद :

1. उत्तम पुरुष में एकवचन में 'आमि' के स्थान पर गाथा में 'अम्' भी मिलता है :—तस्साहं सन्ति के गच्छं (थेरी० 306)। शेष रूप संस्कृत के साथ मिलते हैं। 'म', 'मस्' से 'स्' का लोभ होने पर बना है।

2. आत्मनेपद : इसके उदाहरण अधिकतर गाथा या कृत्रिम कविता में मिलते हैं—

उ० पु० ए० व० रमे (संयुत्त० 1.18 गाथा) : कुप्पे (जातक 3. 120)।

आगमोत्तर गद्य में कहीं-कहीं आत्मनेपद मिलता हैं—मन्ने (जा० टी० 249)।

मध्यम पु० ए० अनुपुच्छसे (विमान० 17. 5) लभते (जा० 5. 220), (जा० टी० लभसि)।

अन्य पु० ए० व० लभते (थेर० 35), सोभते (थेरी० 255), रोचते (थेरी० 415), भासते (सुत्त० 452)।

अ० पु० व० व० लब्भन्ते (थेरी० 265), हञ्ञन्ते (थेरी० 451)।

अन्य पुरुष बहुवचन में 'अरे' पर्याप्त रूप आता है—लभरे (सं० 1. 110 गाथा), खादरे (जा० 2. 223), (जा० टी० खादन्ति), जायरे (संयुत्त० 1. 3'4)

सोचरे (सुत्त० 445), सोचन्ति (सुत्त० 333), ओभासरे (विमान० 9. 3), ए० व० ओभासते, जीयरे (जा० 6. 528) (सं० जीयन्ते), मिय्यरे—ये सभी रूप वैदिक वर्तमान काल से संबंध रखते हैं : उदाहरण—शेरे, इशिरे। प्राकृत में भी 'इरे' वाले रूप मिलते हैं।

आत्मनेपद उत्तम पुरुष का बहुवचन विशेष ध्यान देने योग्य है। कात्यायन(3. 1. 2 तथा, 18 सेनार्ट पृ० 423, 429) ने 'म्हे' प्रत्यय दिया है जो कि सम्भवतया 'महे' से शब्दाकुंचन के कारण बना है। भवामहे(महावंस 1. 60)पूरा रूप मिलता है। इसके साथ-साथ 'मसे' और 'म्हसे' प्रत्यय भी मिलते हैं। इन प्रत्ययों द्वारा जो रूप मिलते हैं उनका लेट् अर्थ नहीं होता (दे० § 126)। उदाहरण के रूप में (न) तप्पामसे दस्सनेन तं (न तृप्यामहे दर्शनेन तव) (विमान० 17. 4), यहां 'तप्पामसे' सामान्य वर्तमान है। इसी प्रकार—

अभिनन्दामसे (विमान० 17. 7), सरेम्हसे (स्मरामः) (थेरी० 383)। 'मसे' वैदिक प्रत्यय 'मसि' का आत्मनेपद प्रतिरूप है, और 'म्हसे', 'म्हे' और 'मसे' का सम्मिश्रण प्रतीत होता है।

(ख) लेट्

123. लेट् के लिए कोई रूपावली निश्चित नहीं की जा सकती। गाथा में विविध प्रकार के फुटकर रूप मिलते हैं। लेट् में धातु का स्वर दीर्घ मिलता है। यही एक विशेषता उसे लट् से पृथक् करती है। फिर भी निश्चित रूप से उन्हीं को लेट् का रूप माना जा सकता है जिनमें उसका अर्थ स्पष्ट रूप से विद्यमान है और जहां छन्द के कारण दीर्घ होने की संभावना नहीं है। पिशल के दो उद्धरणों में से एक इस प्रकार का है—'नो वितरासि भोत्तुं' (जातक 2. 14)।

टीका में व्याख्या इस प्रकार है—'मा नागमंसखादको अहोसि।'

अन्य उदाहरण—

'अत्तानं येव गरहासि एत्थ।' (जातक 4. 248), टीका : अत्तानं एव गरहेय्यासि।'

'कामयासि' और 'चजासि' (जातक 5. 220) भी लेट् के उदाहरण हैं। वे क्रमशः 'सचे' और 'चे' पर आश्रित हैं।

पिशल का दूसरा उदाहरण संदिग्ध है—'आतापिनो संवेगिनो भवाथ' (धम्म० 144), यह रूप साधारण विध्यर्थ (लिङ्) का हो सकता है, जिसमें छन्द के लिये 'अ' को दीर्घ कर दिया गया है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

अधिमनसा भवाथ (सुत्त० 692), तं च (धम्मं) धराथ सब्बे (सुत्त० 385), पापानि कम्मानि विवज्जयाथ, धम्मानुयोगञ्ञ अधिट्ठहाथ ([illegible]). अभिनिब्भज्जियाथ नं (सुत्त० 281) (वर्ज् धातु से)।

17. कुछ विशिष्ट स्थलों में भविष्यत् या कर्मवाच्य को मूल धातु बनाकर उससे नए रूप बनाए गए हैं।

2. वर्तमान काल

(क) लट् लकार

§ 121. 'लभ्' धातु : (परस्मैपद)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	लभति	लभन्ति
मध्यम पुरुष	लभसि	लभथ
उत्तम पुरुष	लभामि	लभाम

आत्मनेपद

प्र० पु०	लभते	लभन्ते, लभरे
म० पु०	लभसे	(लभव्हे)
उ० पु०	लभे	(लभम्हे)

§ 122. **टिप्पणी**

परस्मैपद :

1. उत्तम पुरुष में एकवचन में 'आमि' के स्थान पर गाथा में 'अम्' भी मिलता है :—तस्साहं सन्नि के गच्छं (थेरी० 306)। शेष रूप संस्कृत के साथ मिलते हैं। 'म', 'मस्' से 'स्' का लोप होने पर बना है।

2. आत्मनेपद : इसके उदाहरण अधिकतर गाथा या कृत्रिम कविता में मिलते हैं—

उ० पु० ए० व० रमे (संयुत्त० 1.18 गाथा) : कुप्पे (जातक 3. 120)।

आगमोत्तर गद्य में कहीं-कहीं आत्मनेपद मिलता हैं—मन्ने (जा० टी० 249)।

मध्यम पु० ए० अनुपुच्छसे (विमान० 17. 5) लभते (जा० 5. 220), (जा० टी० लभसि)।

अन्य पु० ए० व० लभते (थेर० 35), सोभते (थेरी० 255), रोचते (थेरी० 415), भासते (सुत्त० 452)।

म० पु० व० व० लब्भन्ते (थेरी० 265), हञ्ञन्ते (थेरी० 451)।

अन्य पुरुष बहुवचन में 'अरे' पर्याप्त रूप आता है—लभरे (सं० 1. 110 गाथा), खादरे (जा० 2. 223), (जा० टी० खादन्ति), जायरे (संयुत्त० 1. 3'4)

सोचरे (सुत्त० 445), सोचन्ति (सुत्त० 333), ओभासरे (विमान० 9. 3), ए० व० ओभासते, जीयरे (जा० 6. 528) (सं० जीयंन्ते), मिय्यरे—ये सभी रूप वैदिक वर्तमान काल से संबंध रखते हैं : उदाहरण—शेरे, इशिरे। प्राकृत में भी 'इरे' वाले रूप मिलते हैं।

आत्मनेपद उत्तम पुरुष का बहुवचन विशेष ध्यान देने योग्य है। कात्यायन (3. 1. 2 तथा, 18 सेनार्ट पृ० 423, 429) ने 'म्हे' प्रत्यय दिया है जो कि सम्भवतया 'महे' से शब्दाकुंचन के कारण बना है। भवामहे (महावंस 1. 60) पूरा रूप मिलता है। इसके साथ-साथ 'मसे' और 'म्हसे' प्रत्यय भी मिलते हैं। इन प्रत्ययों द्वारा जो रूप मिलते हैं उनका लेट् अर्थ नहीं होता (दे० § 126)। उदाहरण के रूप में (न) तप्पामसे दंस्सनेन तं (न तृप्यामहे दर्शनेन तव) (विमान० 17. 4), यहां 'तप्पामसे' सामान्य वर्तमान है। इसी प्रकार—

अभिनन्दामसे (विमान० 17. 7), सरेम्हसे (स्मरामः) (थेरी० 383)। 'मसे' वैदिक प्रत्यय 'मसि' का आत्मनेपद प्रतिरूप है, और 'म्हसे', 'म्हे' और 'मसे' का सम्मिश्रण प्रतीत होता है।

(ख) लेट्

123. लेट् के लिए कोई रूपावली निश्चित नहीं की जा सकती। गाथा में विविध प्रकार के फुटकर रूप मिलते हैं। लेट् में धातु का स्वर दीर्घ मिलता है। यही एक विशेषता उसे लट् से पृथक् करती है। फिर भी निश्चित रूप से उन्हीं को लेट् का रूप माना जा सकता है जिनमें उसका अर्थ स्पष्ट रूप से विद्यमान है और जहां छन्द के कारण दीर्घ होने की संभावना नहीं है। पिशल के दो उद्धरणों में से एक इस प्रकार का है—'नो वितरासि भोत्तुं' (जातक 2. 14)।

टीका में व्याख्या इस प्रकार हैं—'मा नागमंसखादको अहोसि।'

अन्य उदाहरण—

'अत्तानं येव गरहासि एत्थ।' (जातक 4. 248), टीका : अत्तानं एव गरहेय्यासि।'

'कामयासि' और 'वजासि' (जातक 5. 220) भी लेट् के उदाहरण हैं। वे क्रमशः 'सचे' और 'चे' पर आश्रित हैं।

पिशल का दूसरा उदाहरण संदिग्ध है—'आतापिनो संवेगिनो भवाथ' (धम्म० 144), यह रूप साधारण विध्यर्थ (लिङ्) का हो सकता है, जिसमें छन्द के लिये 'अ' को दीर्घ कर दिया गया है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

अधिमनसा भवाथ (सुत्त० 692), तं च (धम्मं) धराथ सब्बे (सुत्त० 385), पापानि कम्मानि विवज्जयाथ, धम्मानुयोगञ्ञ अधिट्ठहाथ (विमान० 84, 38), अभिनिब्भज्जियाथ नं (सुत्त० 281) (वर्ज् धातु से)।

ई. मुल्लर ने तीन उदाहरण दिये हैं। उनमें से दहासि तथा दहाति (सुत्त० 441. 888) लेट् के रूप नहीं हैं। वे 'दधासि' और दधाति के रूपान्तर हैं। सद्दहासि (जातक० 1. 426) भी ऐसा ही है। टीका में उसकी व्याख्या 'सद्दहसि' के रूप में की है। तीसरा उदाहरण 'को तं पटिभणाति मे' (जातक 3. 404) संदिग्ध है, क्योंकि वहीं पटिभणामि और 'पटिभणासि' का उल्लेख है (गाथा 404 और 405) जो कि निश्चित रूप से लेट् के प्रयोग नहीं हैं। 'आवहाति' (थेर० 303, सुत्त० 181, 182, संयुत्त० 1. 42, 214) भी उसे व्यक्त नहीं करता, क्योंकि उसी के समकक्ष उद्धरण में 'रक्खति' आता है। 'हनासि' (जातक 3. 199, टी० 'पहरसि' 5. 460), तथा 'हनाति' (जातक 5. 461) में भी लेट् नहीं है।

(ग) आज्ञार्थ

§ 124. **परस्मैपद**

प्र०पु०	लभतु	लभन्तु
म०पु०	लभ, लभाहि	लभथ
उ०पु०	लभामि	लभाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	लभतं	लभन्तं
म०पु०	लभस्सु	लभव्हो
उ०पु०	लभे	लभामसे

टिप्पणी

§ 125. 1. परस्मैपद उत्तम पुरुष एकवचन एवं बहुवचन वर्तमानकाल के रूपों का ही आज्ञार्थ में प्रयोग है—

वन्दाम (दीघ० 107 गाथा), धुनाम (थेर० 1147), कस्स नं० देम (जा० टी० 2. 196), हण्ड करोमि (मज्झिम० 3. 179), हण्ड करोम (विनय० 2. 295), दालेमु (मु प्रत्यय के लिए दे० § 127,) सं० दालयाम : धुनाम के समान)।

मध्यमपुरुष में 'लभ' संस्कृत सविकरण धातुओं के समान है। अतः पिव (जा०टी० 3. 110) सं० पिब, सिञ्च (धम्म० 396) सं० सिञ्च), निपज्ज (बैठो) (जा० टी० 2. 223) सं० निपद्यते से बना, कर (जा० टी० 4.1), यद्यपि संस्कृत में 'कुरु' होता है किंतु यह वैदिक 'कर' का ऐतिहासिक रूप प्रतीत होता है।

जिन गणों में 'अ' या अकारान्त विकरण नहीं हैं वे भी कालक्रम से 'अ' विकरण वाले हो गये और उनके रूप 'लभ' के समान बनने लगे।

उदाहरण

गण्ह (सं० गृहाण), (जा०टी० 2. 159) गण्हति से ,

पटिग्गह (प्रतिगृहाण), (जा० 1. 233),

सद्दह (श्रद्दधीहि), (जा० टी० 4.52) सद्दहति से ।

दूसरा रूप 'लभहि' 'अ' विकरणी गणों से भिन्न गुण की धातुओं का सादृश्य है। नीचे लिखे रूप ऐतिहासिक हैं :

अक्खाहि (आख्याहि), (जा० 3. 279), ब्रूहि (ब्रूहि) (सुत्त० 76),

देहि (देहि), (जा० टी० 1. 223) ।

इन शब्दों के सादृश्य पर दूसरे रूप भी बनाए गए—

उग्गण्हाहि (मज्झिम० 3. 192) उग्गण्हाति (सं० उद्गृहणाति) से, सावेहि (श्रावय) (जा० टी० 1. 344), आनेहि (आनय) (जा० टी०), विस्सज्जेहि (विसर्जय) (जा० टी० 1. 223), करोहि (कुरु) : (जा० टी० 3.188 आदि) ।

इसी प्रकार 'अ' वाली धातुओं से—

जीवाहि (जीव) (सुत्त० 1029), सराहि (स्मर), (मिलिन्द० 79), 'सर रूप भी (थेर० 445), पक्कोसाहि (धम्म० 4. 28), तुस्साहि(जा० टी० 1.494 आदि) ।

अन्य पुरुष में ('तु' और 'न्तु' प्राय: मिलते हैं :—

पस्सतु (पश्यतु) सुत्त ० 909), एतु (एतु) । (दीघ० 1. 179),

इज्झतु (ऋध्यताम्) (थेरी० 329), हनन्तु (घ्नन्तु) जा० 4. 42), विनस्सन्तु, (विनश्यन्तु) (जा० टी० 4.2) ।

मध्यम पुरुष बहुवचन 'थ' संस्कृत के वर्तमान 'थ' का स्वीकरण है। लोट् लकार के संस्कृत-प्रत्यय 'त' से यह भिन्न है । प्राकृत में भी 'थ' ही मिलता है—

आहरथ (जा० टी० 1. 266), अनुरक्खथ (धम्म० 327), विजानाथ (सुत्त० 720), गण्हथ (जा० टी० 3. 126), करोथ, (थेरी० 13 जा० टी० 2,196), वोरोपेथ) (व्यवरोपयत) (दीघ० 2. 336) ।

§ 126. आत्मनेपद—उत्तमपुरुष एकवचन वर्तमान (लट्) का स्थानांतरण है। मध्यमपुरुष एकवचन 'स्सु' संस्कृत 'स्व' का बना है। यह रूप बहुत अधिक पाया जाता है ।

गाथा में

लभस्सु (थेरी० 432) (सं० लभस्व), पुच्छस्सु (सुत्त० 189) (सं० पृच्छ), जहस्सु (सुत्त० 1121) सं० जहाहि) । दूसरे साहित्य में यह बार-बार आता है। निवसस्सु (थेर० 1118 में) एक 'स' छन्द के कारण है।

आगमिक गद्य में

भासस्सु (मज्झिम० 2. 199) (सं० भाषस्व), सिक्खस्सु (अंगु० 5.79) (सं० शिक्षस्व) पयिरुपासस्सु (मज्झिम० 2. 196) (सं० पर्युपासस्व), निवत्तस्सु (विनय० 2. 182), पातु-भवस्सु (विनय० 2. 185)।

आगमोत्तर गद्य में

भासस्सु (मिलिन्द० 27), तिकिच्चस्सु (जा० टी० 2. 213), नच्चस्सु (जा० टी० 1. 292)।

अर्थ की दृष्टि से परस्मैपद और आत्मनेपद प्रत्ययों में कोई अंतर नहीं रहा। परस्मैपदी धातुओं से भी आत्मनेपद प्रत्यय आने लगे। उदाहरण के रूप में नत् (सं० नृत्) परस्मैपदी है किंतु उससे आत्मनेपद प्रत्यय लगाए गए है।

अन्यपुरुष एकवचन में 'तं' प्रत्यय संस्कृत 'तां' का रूपांतर है। उदाहरण—अच्छतं (जा० 6. 506, टी० अच्छतु), लभतं (दीर्घ० 2.150)। संधि में दीर्घ आ भी मिलता है : वड्ढताम्—एव (जा० 3. 209)। लेट् का मौलिक रूप उत्तमपुरुष वहुवचन में 'मसे' एव 'म्हसे' में मिलता है। संभवतया 'मस' प्रत्यय 'मसै' से वना है। जिस प्रकार 'महे' संस्कृत 'महै' से बना है। पालि में दोनो रूप मिश्रित हो गए हैं।

विधि या भविष्य अर्थ को प्रकट करने वाले "लेट्" के रूप भी गाथा-साहित्य में पर्याप्त रूप से मिलते हैं :

लभामसे (लभेमहि) : (जा० 2.26), रमामसे (रमेमहि) (थेरी० 370), भणामसे (भणेम) (संयुत्त० 1. 209)।

इनके साथ सिक्खेम, (मुच्चेम आदि वैकल्पिक परस्मैपद के रूप भी मिलते हैं।

चरामसे (चरेम) (सुत्त० 32), भवामसे (भवेम) (सुत्त० 32),

करोमसे (कुर्वीमहि) (दीर्घ० 2. 288) गाथा, वदामसे (वदेम) (§ 129),

म हमसे (महेम)।

नीचे लिखे रूपों में "म्हसे" प्रत्यय मिलता है :

लभम्हसे (लभेमहि), (पेत० 3.2, 24, 29)। यह 'यथा' के साथ प्रयुक्त होता है। टीका में 185 में 'लभेय्याम' के रूप में व्याख्या है। 'मा पमदम्हसे' (मा प्रमादेम) (जा० 3. 131) आदि।

मध्यमपुरुष वहुवचन में 'व्हो' प्रत्यय आता हैं। संस्कृत में इसके स्थान में 'ध्वम्' है। 'व्हो' का मूल जानना कठिन है। इसके उदाहरण :

पस्सव्हो (पश्यत) (सुत्त० 998), भजव्हो (भजत) (जा० 1. 472, टी० भजथ, गच्छथ), पुच्छव्हो (पृच्छत) (सुत्त० 1030), कप्हयव्हो (कल्पयत) (सुत्त० 283)।

आगमिक गद्य में भी ये रूप आते हैं :

मन्तव्हो (दी० 1. 122), जातक 2. 107 में मन्तयव्हो और मन्तव्हो दोनों रूप मिलते हैं। पमोदथव्हो (प्रमोदयध्वम्) (जा० 4. 162), यहाँ 'थ' और 'व्हो' एक परस्मैपद और दूसरा आत्मनेपद—दोनों प्रत्यय लगे हुए हैं। गाइगर को इस पाठ की शुद्धि में संदेह है।

अन्य पुरुष एकवचन का एक विचित्र उदाहरण 'विसीयरुं', (विशीयन्ताम्) मिलता है (थेर० 312), संस्कृत 'श्या', 'शीयते' से। टीका में 'विशीयन्तु' इतो च, 'इतो विद्धंसन्तु' के रूप में व्याख्या है। 'रुं' प्रत्यय वैदिक 'राम्' का विकार प्रतीत होता है।

(घ) विध्यर्थ लिङ्

§ 127. लभ् धातु

	परस्मैपद	
	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पु० लभेय्य	लभेय्याति, लभे	लभेय्युं, लभेय्य
म० पु० लभे, लभेय्य	लभेय्यासि	लभेथ, लभेय्याथ
उ० पु० लभे, लभेय्युं	लभेय्यामि	लभेम, लभेमु, लभेय्याम
	आत्मनेपद	
प्र० पु०	लभेथ	(लभेरं)
म० पु०	लभेथो	(लभेय्यव्हो)
उ० पु०	(लभेय्युं)	(लभेय्यम्हे) लभेमसे

§ 128. परस्मैपद : दो प्रकार के प्रयोग एक साथ मिलते हैं। जो रूप पहले दिए गए हैं, अर्थात् लभेय्युं, लभे, लभेम, लभेथ और लभेय्युं संस्कृत-रूपों के स्वाभाविक परिवर्तन हैं। केवल मध्यम पुरुष बहुवचन में 'थ' वर्तमान काल से लिया गया है। विधिलिङ्, संस्कृत प्रत्यय 'त' है। जिस प्रकार अनद्यत भूत लङ् में प्र० पु० ए० व० 'अपठत्', और मध्यम पु० ए०व० 'अपठः' रूप होते हैं और उनके स्थान पर विधिलिङ् में क्रमशः 'पठेत्' और 'पठे' रूप मिलते हैं। उसी प्रकार पालि में उन दोनों के लिए 'पठे' या 'लभे' रूप बनाया गया। उसी सादृश्य पर उत्तम पुरुष एकवचन में 'अपठम्' के स्थान पर 'पठेम' की कल्पना करके पालि में 'पठे' या 'लभे' रूप बन गया।

दूसरी प्रकार के रूप

'लभेय्य' आदि रूप उत्तमपुरुष 'लभेयं' के सादृश्य के आधार पर बनाए गए हैं। वर्तमान काल में 'पठामि' और 'पठामः' मिलते-जुलते हैं। उन्हीं के सादृश्य पर पालि में 'लभेय्य' के साथ भी 'ति', 'सि', 'भि' और 'म' जोड़ दिए गए। संस्कृत में 'इ' का दीर्घ केवल उत्तमपुरुष में होता है किंतु पालि में 'ति' और 'सि' में भी दीर्घ कर दिया गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार दिया जाए तो इन रूपों को नीचे लिखे अनुसार उपस्थित किया जा सकता है :

प्राचीन रूप गाथा में मिलते हैं : उ० पु० एकवचन 'निसुम्भेय्यं (थेरी० 302), करेयामि (जा० 5. 308)।

नए एकारान्त रूप भी गाथा में मिलते हैं :

पस्से, सुणे (टी० सुणेय्यं), संवसे (जातक 4. 240), आनये (टी० आनेय्यं) (जा० 1. 308) जीवे (सुत्त० 440)

म०पु० ए० व० यजेय्य (जा० 3. 515)

प्र० ए० व० इच्छे (वह इच्छा करे) (थेर० 228), हने (हन्यात्) (सुत्त० 394), वजे (व्रजेत), पमुञ्चेय्य (प्रमुञ्चेत्) (जा० 2. 247) इच्छेय्य (इच्छेत्) (सुत्त० 148), रक्खेय्य (रक्षेत्) (सुत्त० 702)।

उत्तम पुरुप वहुवचन—सिक्खेम (सुत्त० 898), वसेमु ('मु', प्रत्यय के साथ) (टी० वसेय्याम), जानेमु (जा० 3, 259), विहरेमु (जा० 2. 33)।

मध्यम पुरुष बहुवचन—भुञ्जेथ (महावंस 25. 112)।

अन्य पुरुष बहुवचन—सहेय्युं (सुत्त० 20), पजहेय्यु (सुत्त० 1058)।

आगमिक और आगमोत्तर गद्य में पुराने रूप 'लभे' आदि छोड़ दिए गए हैं।

अदन्त विकरणेतर धातुओं के कुछ फुटकर प्रयोगों को, जो भापा में सुरक्षित रह गए (दे० नीचे), छोड़ कर शेष भाषा में नीचे लिखे प्रत्यय सामान्य रूप से प्रयुक्त होने लगे :

	ए० व०	व० व०
उ० पु०	एय्यं० एय्यामि	एय्याम
म० पु०	एय्यसि	एय्याथ
प्र० पु०	एय्य, एय्यति	एय्यं

यह तथ्य इस बात से भी सिद्ध होता है कि शब्दों की व्याख्या में प्राचीन रूपों के स्थान में उपर्युक्त प्रत्ययों वाले रूप दिए गए हैं। उदाहरण :

'भजे' की व्याख्या भजेय्य (जा० टी० 2. 205), अदव्वहे की व्याख्या उदव्वहेय्य (जा० टी० 2. 223)। ऊपर के उदाहरण भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं। उदाहरण हैं :

उ०पु० एकवचन—पब्बजेय्यं (विनय० 2. 180), पुच्छेय्यामि (दीघ० 1. 51)।

म० पु० एकवचन—करेय्यासि (विनय० 2. 290), आगच्छेय्यासि (जा० टी० 2. 212)।

प्र० पु० एकवचन—भासेय्य (विनय० 2. 189), ददेय्य (जा० टी० 2. 251), जनेय्याति (विनय० 2.190)।

उ० पु० बहुवचन—आरोचेय्याम (विनय० 2, 186), वदेय्याम (जा० टी० 2. 254)।

म० पु० बहुवचन—आनेय्याथ (संयुत्त० 1. 221), गच्छेय्याथ (जा० टी० 2. 249)।

प्र० पु० बहुवचन—खादेय्युं (विनय० 2. 197), विस्सज्जेयुं (जा० टी० 2. 241)।

§ 129. आत्मनेपद :

म० पु० एकवचन—लभेथो (सुत्त० 833)। 'थो' प्रत्यय संस्कृत 'थास्' से मिलता है।

अ० पु० एकवचन में अधिकतर 'एथ' आता है। परस्मैपदी धातुओं के साथ भी इसका प्रयोग होता है—

रक्खेथ (धम्म० 36), लब्भेथ (सुत्त० 45) सेवेथ (सुत्त० 72, विनय० 2. 203 गाथा), जायेथ (धम्म० 58), नमेथ (सुत्त० 806), संकेथ (जा० 2. 53), अत्मञ्जेथ (सुत्त०, 148), सद्दहेथ (जा० 3. 192), झायेथ (सुत्त० 709) कुब्बेथ (सुत्त० 702, 719, 917 आदि। (आसेथ : 'सुखं मनुस्सा आसेथ' (जा० 5. 222, टी० आसेय्यं) में 'आसेथ' बहुवचन है।

आगमोत्तर गद्य में :

जहेथ (जा० टी० 2, 206)—संस्कृत में 'त' के स्थान पर यहाँ 'थ' उल्लेखनीय है। यह अन्य पुरुष एकवचन में क्रियातिपत्ति (लृङ्) और सामान्य भूत (लुङ्) में भी मिलता है। (157, 159, 5)।

साधयेमसे (जा० 2. 236) उत्तमपुरुष बहुवचन का रूप है। टीका में इसकी व्याख्या 'साधेय्याम' की गयी हैं। 'एमसे' के अन्य रूप भी हैं—

वदेमसे (दीघ० 3. 197), महेमसे (टी० महामसे) (विमान० 47. 11), समाचरेमसे (टी० पटिपज्जामसे) (विमान० 63.7), विहरेमसि (टी० वसाम) (थेरी० 375)।

प्रत्येक उदाहरण में यह निश्चय करना कठिन है कि वह उत्तमपुरुष 'ए' प्रत्यय वाला एकवचन आज्ञार्थ लोट् है या विधिलिङ्। अन्य उदाहरण—सरेम्हसे। § 122

(ङ) पालि में धातुओं का गण-विभाजन

1. अदन्त विकरणी गण

§ 130. वर्तमान काल भ्वादिगण (अ विकरण),

1. ह्रस्वोपध धातु—पतति, पचति, वसति, एदति संस्कृत के समान है। वजति (सं० व्रजति) कमति (सं० क्रमते) क्रामति, भमति (सं० भ्रमति), खमति (क्षमते) आदि।
2. दीर्घोपध धातु—खादति, जीवति, निन्दति संस्कृत के समान हैं। वन्दति (सं० वन्दते), सन्दति (सं० स्यन्दते), धोवति (सं० धावति) (तु० §34) (विनय० 1. 28, सुत्त० पृ० 101), अर्द्धमागधी धोवइ (सं० धोवति) आदि।
3. उकारान्त धातु—सवति (सं० स्रवति) आदि।
4. रकारान्त धातु—सरति, चरति संस्कृत के समान है। सरति (स्मरति) (सुमरति : धम्म० 324,) अनुस्सरति (दीघ० 1. 13) आदि।
5. 'इगुपध' धातु—लेहति (जा० टी० 2. 44) (सं० लेढि), जोतति (जा० टी० 1. 53) (सं० द्योतते), वस्सति (सं० वर्षति), वत्तति (सं० वर्तते), घंसति (सं० घर्षति)(§6.3), कंसति (विनय० 3.8)(सं० हर्षति), कड्ढति (सं०कर्षति, कर्पति का वैकल्पिक रूप) आदि।

6. 'धात्वादेश' के रूप में भी वर्तमान काल में 'लभ्' के समान हैं।

'य' विकरण वाले भावकर्म तथा 'अय' विकरण वाले प्रेरणार्थक एवं नाम-धातुओं के लिए दे० § 136. 4, 138, 139।

इच्छार्थक सनन्त के लिए दे० § 184।

क्रियासमभिहारार्थ यङन्त के लिए दे० § 185।

अकारान्त नामधातुओं के लिए दे० § 118. 1। उदाहरण :

वर्तमान उ०पु० ए०व० जुगुच्छामि (विनय० 3.3)
अ०पु० ए०व० दन्घति (जा० 3. 141)
अ०पु० ब०व० सुस्सूसन्ति (अंगु० 4. 393)।

आत्मनेपद— अ० पु० ब०व० दिच्छरे (संयुत्त० 1. 18), सिसरे (विमान० 64.7)।

आज्ञार्थ (लोट्)

म०पु० ए०व० तिकिञ्जा (संयुत्त० 1, 238) तथा तिकिच्छाहि (विनय० 1. 71)

आत्मनेपद ; म०पु० ए०व० सिक्खस्सु (थेरी० 4) ब०व० वीमंसथ (जा० 6. 367)।

विध्यर्थ लिङ्

उ०पु० ए०व० वीमंसेय्यं (मज्झिम० 1. 125), अ०पु० ए०व० जिगुच्छेय्य (थेरी० 441 आदि)।

§ 131. 1. भ्वादिगण के विषय में नीचे लिखी बातें उत्लेखनीय हैं :—

(1) इकारान्त धातुओं के रूप दो प्रकार होते हैं। एक संस्कृत के समान गुण वाले और दूसरे संकुचित।
संकुचित रूपों के उदाहरण : जेमि (सं० जयामि), जेसि (सं० जयसि), नेमि (सं० नयामि) नेसि (सं० नयसि) आदि।

भाषा के प्राचीनतम युग में भाषा के दोनों रूप एक-साथ मिलते हैं :
आनेन्ति (जा० 6. 507), विनयन्ति (थेर० 3)।
उत्तरकाल में संकुचित रूपों का प्रयोग अधिक होने लगा :
आनेमि (जा० टी० 6. 334), आनेम (जा० टी० 6. 334)।

लोट् म०पु० ए०व० नेहि (जा० टी० 2. 160), विनय (सुत्त० 1025) के साथ विनयस्स (सुत्त० 559)। बहुवचन म०पु० आनेथ (महावंस 5. 253)।

विधिलिङ् में 'जयेय्यं', नयेय्यं के स्थान पर जेय्यं, नेय्यं है। उ० पु० ए० व० अपनेय्यं (जा० टी० 3. 26), अ० पु० ए० पु० विजेय्य (सुत्त० 1002), विनेय्य (मज्झिम० 1. 56)।

प्राचीन रूप 'नये' (धम्म० 256) (सं० नयेत्) भी मिलता है। निस्स्येय (नि+सृ धातु से) (सुत्त० 798)।

जेति के समान डेति (डयति) भी होता है (दीघ० 1. 71, मज्झिम० 1. 268., 3. 34)।

वदेमसे (दीघ० 3. 197), महेमसे (टी० महामसे) (विमान० 47. 11), समाचरेमसे (टी० पटिपज्जामसे) (विमान० 63.7), विहरेमसि (टी० वसाम) (थेरी० 375)।

प्रत्येक उदाहरण में यह निश्चय करना कठिन है कि वह उत्तमपुरुष 'ए' प्रत्यय वाला एकवचन आज्ञार्थ लोट् है या विधिलिङ्। अन्य उदाहरण—सरेम्हसे। § 122

(ङ) पालि में धातुओं का गण-विभाजन

1. अदन्त विकरणी गण

§ 130. वर्तमान काल भ्वादिगण (अ विकरण),

1. ह्रस्वोपध धातु—पतति, पचति, वसति, एदति संस्कृत के समान है। वजति (सं० व्रजति) कमति (सं० क्रमते) क्रामति, भमति (सं० भ्रमति), खमति (क्षमते) आदि।
2. दीर्घोपध धातु—खादति, जीवति, निन्दति संस्कृत के समान हैं। वन्दति (सं० वन्दते), सन्दति (सं० स्यन्दते), धोवति (सं० धावति) (तु० §34) (विनय० 1. 28, सुत्त० पृ० 101), अर्द्धमागधी धोवइ (सं० धोवति) आदि।
3. उकारान्त धातु—सवति (सं० स्रवति) आदि।
4. रकारान्त धातु—सरति, चरति संस्कृत के समान है। सरति (स्मरति) (सुमरति : धम्म० 324,) अनुस्सरति (दीघ० 1. 13) आदि।
5. 'इगुपध' धातु—लेहति (जा० टी० 2. 44) (सं० लेढि), जोतति (जा० टी० 1. 53) (सं० द्योतते), वस्सति (सं० वर्षति), वत्तति (सं० वर्तते), घंसति (सं० घर्षति)(§6.3), कंसति (विनय० 3.8)(सं० हर्षति), कड्ढति (सं०कर्षति, कर्षति का वैकल्पिक रूप) आदि।
6. 'धात्वादेश' के रूप में भी वर्तमान काल में 'लभ्' के समान हैं।

'य' विकरण वाले भावकर्म तथा 'अय' विकरण वाले प्रेरणार्थक एवं नाम-धातुओं के लिए दे० § 136. 4, 138, 139।

इच्छार्थक सनन्त के लिए दे० § 184।

क्रियासमभिहारार्थ यङन्त के लिए दे० § 185।

अकारान्त नामधातुओं के लिए दे० § 118. 1। उदाहरण :

वर्तमान उ०पु० ए०व० जुगुच्छामि (विनय० 3.3)
अ०पु० ए०व० दच्चति (जा० 3. 141)
अ०पु० ब०व० सुस्सूसन्ति (अंगु० 4. 393)।

आत्मनेपद— अ० पु० व०व० दिच्छरे (संयुत्त० 1. 18), सिसरे (विमान० 64.7)।

आज्ञार्थ (लोट्)

म०पु० ए०व० तिकिञ्जा (संयुत्त० 1, 238) तथा तिकिच्छाहि (विनय० 1. 71)

आत्मनेपद ; म०पु० ए०व० सिक्खस्सु (थेरी० 4) व०व० वीमंसथ (जा० 6. 367)।

विध्यर्थ लिङ्

उ०पु० ए०व० वीमंसेय्यं (मज्झिम० 1. 125), अ०पु० ए०व० जिगुच्छेय्य (थेरी० 441 आदि)।

§ 131. 1. भ्वादिगण के विषय में नीचे लिखी बातें उल्लेखनीय हैं :—

(1) इकारान्त धातुओं के रूप दो प्रकार होते हैं। एक संस्कृत के समान गुण वाले और दूसरे संकुचित।
संकुचित रूपों के उदाहरण : जेमि (सं० जयामि), जेसि (सं० जयसि) नेमि (सं० नयामि) नेसि (सं० नयसि) आदि।

भाषा के प्राचीनतम युग में भाषा के दोनों रूप एक-साथ मिलते हैं :
आनेन्ति (जा० 6. 507), विनयन्ति (थेर० 3)।
उत्तरकाल में संकुचित रूपों का प्रयोग अधिक होने लगा :
आनेमि (जा० टी० 6. 334), आनेम (जा० टी० 6. 334)।

लोट् म०पु० ए०व० नेहि (जा० टी० 2. 160), विनय (सुत्त० 1025) के साथ विनयस्स (सुत्त० 559)। बहुवचन म०पु० आनेथ (महावंस 5. 253)।

विधिलिङ् में 'जयेय्यं', नयेय्यं के स्थान पर जेय्यं, नेय्यं है। उ० पु० ए० व० अपनेय्यं (जा० टी० 3. 26), अ० पु० ए० पु० विजेय्य (सुत्त० 1002), विनेय्य (मज्झिम० 1. 56)।

प्राचीन रूप 'नये' (धम्म० 256) (सं० नयेत्) भी मिलता है। निस्सयेय (नि+सृ धातु से) (सुत्त० 798)।

जेति के समान डेति (डयति) भी होता है (दीघ० 1. 71, मज्झिम० 1. 268., 3. 34)।

'चि' धातु स्वादिगण की है, फिर भी इस से संकुचित रूप बनता है—

उ० पु० ए० व० अभिसंचेय्यं (टी०चिनेय्यं) (विमान० 47. 6)

अ० पु० ए० व० निच्छेय्यं (निस्+चि) (सुत्त० 785, 801), विनिच्छेय्य (धम्म० टी० 3. 381)।

'हि' धातु—वर्तमान—पाहेति, पाहिणति (§ 147. 2)।

'जि' धातु के वैदिक रूप 'जिनाति' के सादृश्य से क्रयादिगण के समान भी रूप होते हैं—

वर्तमान	म० पु० ए० व०	जिनासि	(दीघ० 2. 348)
	अ० पु० ए० व०	जिनाति	(सुत्त० 439)
आज्ञार्थ	म० पु० ए० व०	जिनाहि	(थेर० 415), अभिविजिन (मज्झिम० 2. 71)
विध्यर्थ	अ० पु० ए० व०	जिने	(धम्म० 103),
	ब० व०	जिनेय्यं	(सुत्त० 1. 221)।

2. 'भू' धातु के भी वर्तमान और आज्ञार्थ के गुणित और संकुचित दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। संकुचित रूप :

वर्तमान

एकवचन	बहुवचन
होमि	होम
होसि (विमान० 84.20, म० 3. 140)	होथ (जा० टी० 1. 307)
होति	होन्ति

आज्ञार्थ

होहि (सुत्त० 31, मज्झिम० 3. 134, जा० टी० 1. 32)	होथ (धम्म० 243, दीघ० 2. 141, जा० टी० 2. 102)
हेहि (बुद्ध० जा० टी० 2. 10)	होन्तु (सुत्त० 145. जा०टी० 2.4)
अ० पु० होतु (सुत्त० 224, जा० टी० 3.150)	

इनके अतिरिक्त 'भवामि' आदि पुरातन अप्रयुक्त रूप भी हैं :

आज्ञार्थ म० पु० ए० व० भव (थेरी 8, सुत्त० 701), भवाहि (सुत्त० 510)

आत्मनेपद उ० पु० व० व० भवामसे (थेर० 1128, सुत्त० 32. 2)

म० पु० भवथ, (जा०टी० 2. 218), भवाथ (सुत्त० 602, धम्म० 144)

अ० पु० भवन्तु (सुत्त० 145)।

विध्यर्थ

उ० पु० ए० व० भवेय्यं (जा० टी० 6. 364)
म० पु० ए० व० भवेय्यासि (उदान 91, पेत० टी० 11)
अ० पु० ए० व० भवे (सुत्त० 716), भवेय्य (जा० टी० 2. 159)
म० पु० व० व० भवेथ (सुत्त० 1073)
अ० पु० ए० व० भवेय्यं (सुत्त० 906)

अन्य पुरुष एकवचन में बोलचाल का रूप "हुपेय्य" भी मिलता है। यह पैशाची "हुवेय्य" का रूप है।

सोपसर्ग रूप

वर्तमान

उ० पु० ए० व०	अनुभोमि (विमान० 15. 10)
म० पु० ए० व०	अनुभोसि (विमान० 40. 3)
अ० पु० ए० व०	विभोति (सुत्त० 873), संभोति (सुत्त० 743), (दीघ० 2. 232), अनुभोति (जा० टी० 2. 202, 252), संभवति (मिलिन्द० 210), अनुभवति (जा० टी० 2. 202)
उ० पु० व० व०	अभिसंभोम (जा० 4. 140)
अ० पु० ए० व०	अनुभोन्ति (थेरी० 217)

सोपसर्ग "भू" धातु के वर्तमान काल में रूप नवें क्रयादि गण के समान "ना" विकरण वाले भी मिलते हैं :

संभुणाति (विनय० 1. 256), अभिसंभुणाति (विनय० टी०, रंगून संस्करण 1.2 आदि (तु० § 190, 191) ।

§ 132. प्रथम गण के धात्वादेश

पिवति (दे० पिवामि) (मज्झिम० 1. 77), पिवसि (जा० टी० 417), पिव (जा० टी० 3. 110), पिवथ (जा० टी० 2. 128), पिवेय्य (दीघ० 1. 123) तथा पिपति (वर्तमान कृदन्त चतुर्थी, षष्ठी का बहुवचन—पिपतं (सुत्त० 398) । ये सभी रूप संस्कृत 'पिवति' से मिलते हैं, पा धातु। सीदति (दे० 'निसीद' (थेर० 411), 'निसीदथ' थेरी० 13), सं० सीदति, सद् धातु ।

घ्रा धातु से पालि रूप 'घायति' (दीघ० 2. 338) बनता है। संस्कृत 'जिघ्रति' के समान यहाँ आदेश नहीं होता। 'स्था' धातु के वर्तमान रूप अनेक प्रकार के हैं :

(1) संस्कृत 'तिष्ठ' से पालि में 'तिठ्ठ' हो जाता है और उसके ये रूप बनते हैं—

		ए० व०	ब० व०
वर्तमान	उ० पु०	तिट्ठामि	तिट्ठाम
	म० पु०	तिट्ठसि	तिट्ठथ
	अ० पु०	तिट्ठति	तिट्ठन्ति

आज्ञार्थ एकवचन : म०पु० तिट्ठ (महावंस 7.13) तथा तिट्ठाहि (थेर० 461, ध० टी० 3. 194)। अ० पु० तिट्ठतु (दीघ० 1. 94)।

विध्यर्थ	म० पु० ए० व०	तिट्ठेय्यासि	(मज्झिम० 3. 129)
	अ० पु०	तिट्ठेय्य	(सुत्त० 918)
		तिट्ठेय्य	(सुत्त० 929, मिलिन्द० 28)

सोपसर्ग रूप : वर्तमान उ० पु० ए० व० संतिट्ठामि (अंगु० 4. 302)

विध्यर्थ अ० पु० ए० व० उत्तिट्टे (धम्म० 168) आदि।

(2) ठा—द्वितीय अदादिगण की 'या' (पालि 'याति') आदि आकारांत धातुओं के सादृश्य से 'ठा' (सं० स्था) के रूप भी बनते हैं—

वर्तमान : अ० पु० ए० व०	उट्ठाति	दीप० 1. 53
	संठाति	पुग्ग० 31, अंगु० 1.197
	अधिट्ठाति	अंगु० 2.45
आज्ञार्थ : म० पु० ए० व०	उट्ठाहि	थेर० 411, सं० 1. 233
अ० पु० ए० व०	उट्ठातु	जा० 3. 297

(3) 'ठाय'—चौथे दिवादि गण की 'ध्यायति' आदि धातुओं के समान इसके 'ठायति' आदि रूप भी बनते हैं।

वर्तमान : उ०पु० ए० व० ठायामि (थेर० 888)

(4) ठह—जिस प्रकार 'धा' का 'दह' हो जाता है उसी प्रकार 'स्था' का 'ठह' भी बनता है :

वर्तमान : उ० पु० ब० व०	उपट्ठहाम	(जा० 3. 120)
अ० पु० ब० व०	वुट्ठहन्ति	(महावंस 5. 124)

आज्ञार्थ : म० पु० ए० व०	अढिट्ठह	(विनय० 3. 183),
	वुट्ठह	(विनय० 1. 128),
	उपट्ठहस्सु	(संयुत्त० 1. 167 गाथा),
म० पु० व० व०	उट्ठहथ	(सुत्त० 331)
विध्यर्थ : अ० पु० ए० व०	समुट्ठहे	(जा० 3. 156),
	संमुट्ठहेय्य	(संयुत्त० 5. 329),
	अधिट्ठहेय	(विनय० 1. 125),
म० पु० व० व०	उट्ठेहेय्याथ (संयुत्त० 1. 217)	

(5) ठे—वर्तमान (तथा आज्ञार्थ) उ० पु० व० व० अधिट्ठेम (विनय० 4. 23)। आज्ञार्थ म० पु० ए० व० उट्ठेहि के (देहसिदृश) (संयुत्त० 1. 198 गाथा), उदान 52, विनय 1. 6, जा० टी० 1. 151), म० पु० व० व० उट्ठेत्थ (जा० 6. 444)

§ 133. (1) गम् धातु—"गम्" धातु से संस्कृत के समान प्राकृत में भी—"गच्छति" रूप बनता है :

वर्तमान : उ० पु० ए० व०	गच्छामि	(मिलिन्द० 26)
म० पु० ए० व०	गच्छसि	इत्यादि।
आज्ञार्थ : म० पु० ए० व०	गच्छ	(जा० 2. 160),
	गच्छाहि	(संयुत्त० 1. 217 गाथा),
	गच्छस्सु	(थेर० 82),
म० पु० ब० व०	गच्छथ	विनय० 2. 191, जा० टी० 1. 222)
विध्यर्थ : उ० पु० ए० व०	गच्छेय्यं	(दीघ० 2. 340),
अ० पु० ए० व०	गच्छे	(थेर० 11)
	गच्छेय्य	(सुत्त० पृ० 14)
अ० पु० व० व०	गच्छेय्यं	(मिलिन्द० 47, आदि।

यम् धातु—संस्कृत के समान 'यम्' का यच्छ नहीं होता किंतु 'यम्' के रूप चलते हैं :

आत्मने० वर्तमान : उ० पु० व० व० संयमामसे (संयुत्त० 1. 209)

(2) दंस् धातु—पालि में भी संस्कृत के समान 'दशति' होता है।

(2) उदुपध धातु के सोपसर्ग होने पर तीन रूप होते हैं। या तो 'उ' का 'आ' हो जाता है, या दीर्घ अथवा ह्रस्व 'उ' ही रह जाता है। उदाहरण—आरोहति, आरूहति, आरुहति, विरूहति (जा० टी० 3. 12), ओरुहति ओरुहति।

इस प्रकार 'रुह्' के तुदादि और भ्वादि दोनों के समान रूप होते हैं।

तीसरा रूप 'गुह' से 'गूहति' के समान दीर्घ 'ऊ' का है—गुह् धातु : गूहति, निगूहति (जा० टी० 1. 286, 3. 392)।

आज्ञार्थ : म० पु० ए० व० आत्मनेपद : उपगूहस्सु (जा० टी० 3. 437)।

§ 134. तुदादि गण

वर्तमान

कस् धातु :

कसति (सं० कृषति), भ्वादिगणी कर्षति के आधार पर 'कस्सति' रूप भी होता है (तु० आज्ञार्थ—म० पु० ब० व० अपकस्सथ सुत्त० 281)।

इसी प्रकार—

खिपति (सं० क्षिपति), तुदति (जा० 1. 500)

दिसति (सं० दिशति),

नुदति (सं० नुदति), (सुत्त० 480, 928, धम्म० 383)

पुच्छति (सं० पृच्छति),

फुसति (सं० स्पृशति), फुसामि (सं० स्पृशामि, धम्म० 272)

आज्ञार्थ : म० ए० फुस्साहि (स्पृश्) (थेर० 212)

विध्यर्थ : अ० ब० फुस्सेय्यु (धम्म० 133), अ० ए० फस्से (भ्वादि के समान रूप) (सुत्त० 967)

आज्ञार्थ : म० ए० फुस्सेहि (थेरी० 6) (एकारान्त रूप)।

रुदति (वै० रुदति), विदति (सं० विदति), विसति (सं० विशति),

आत्मनेपद : आकिरते (धम्म० 313), म०ए० आकिरसि (सुत्त० 665)।

विध्यर्थ

अ० व० परिकिरेय्युं (थेर० 1. 210) (सं० किरति, कृ-विक्षेपे)

गिरति (जा० टी० 150), गिलति।

आज्ञार्थ : म० व० गिल (जा० 1. 38), गिलाहि (जा० टी० 1. 380)

विध्यर्थ : अ० ए० गिलेय्य (जा० टी० 1. 508), (सं० गिरति, गृ धातु)

सुत्ति० 110 जा० टी० 3101)

सुपति (सुत्त० 110, जा० टी० 3. 101) (सं० स्वपिति), स्वप् धातु के भी तुदादिगण के समान रूप बनते हैं।

आज्ञार्थ : म० ए० सुप (विनय० 3. 110) तथा सुपाहि (थेरी० 1)
(दे० § 136.2)

§ 135 (1) इष्—संस्कृत के समान पालि में भी इच्छति रूप होता है।

वर्तमान : उ० ए० इच्छामि (थेर० 186, दीघ० 1. 193)
आत्मने० इच्छे (थेरी० 332, धम्म० 3. 199 (गाथा)

विध्यर्थ : उ० ए० इच्छेय्यामि (उदान 17)
म० ए० इच्छेय्यासि (उदान 17)
म० व० इच्छेय्याथ (मज्झिम० 2. 79 आदि)।

(2) गाइगर के मतानुसार जिस प्रकार इष् से इच्छ् बन गया है उसी प्रकार 'आस्' से 'अच्छ्' बना प्रतीत होता है :

वर्तमान	म० ए०	अच्छसि	(विमान० 11.2, 12.1)
	अ० ए०	अच्छति	(दीघ० 1. 101)
	अ० ब०	अच्छन्ति	(विनय० 3. 195, थेरी० टी० 60)
	आत्मने०	अच्छरे	(थेरी० 54), समच्छरे (जा० 2. 67)

आज्ञार्थ : अ० ए० अच्छतु (जा० 6. 506) म० ए० अच्छस्सु० (जा० 6. 516),
आत्मने० अच्छतं (जा० 6. 506)

(3) संस्कृत में जिन धातुओं की 'उपधा' में अनुनासिक जाता है पालि में भी वहाँ 'न्' रहता है :

मुञ्चति, लिम्पति, लुम्पति, विन्दति, (निब्विन्दति), सिञ्चति
(संस्कृत में भी ऐसे ही रूप हैं)
कन्तति (सं० कृन्तति), सुम्भति (§ 60)
संभावना अर्थ में : उ० ए० निसुम्भेय्यं (थेरी० 302)

§ 136. दिवादि गण

1. स्वरान्त धातु

ली—आल्लियति (जा० टी० 1. 433, 502, 3. 65), (ओलीयति इति० 43), निलीयति (जा० टी० 1. 292) (सं० आलीयते)।

व्यंजनांत धातु

व्यंजनांत धातुओं में विकरण का 'य' पूर्ववर्ती व्यंजन में मिल जाता है :
इज्झति (सं० ऋध्यति), कुज्झति (सं० क्रुध्यति), कुप्पति (सं० कुप्यति),

गिज्झति (सं० गृध्यति), नच्चति (सं० नृत्यति), नस्सति (सं० नश्यति),
संनय्हति (सं० संनह्यति), आपज्जति (सं० आपद्यते), बुज्झति (सं० बुध्यते),
मज्ञति (सं० मन्यते), युज्झति (सं० युध्यते), सुस्सति (सं० शुष्यति),
सिनिय्हति (सं० स्निह्यति) (§ 49. 1) (धम्म० सं० टी० 192),
मज्जति (सं० माद्यति) (जा० 2. 97, अंगु० 4. 294)
विध्यर्थ : अ० ए० (मज्जेय्य जा० 3.87) धातु मद्

सम्मति, (सं० शाम्यति) धातु शम्, भस्सति (भ्रश्यति) (जा० 6. 530) धातु भ्रंश्, रज्जति (रज्यति) (संयुत्त० 4. 74 गाथा, धम्म० टी० 3 233) धातु रञ्ज विज्झति (विध्यति) धातु व्यध्।

'क्रम्' धातु से संस्कृत रूप क्राम्यति के समान पालि में 'कम्म' हो जाएगा। आज्ञार्थ म० ए० में 'पटिकम्म' (संयुत्त० 1. 226 गाथा)।

संस्कृत 'मिद्' धातु 'मेघ' के समान पालि में 'मेज्ज', (धम्म० सं० टी० 192), और 'मिज्ज' मिलते हैं।

(2) लग् धातु संस्कृत में भ्वादिगणी है, किंतु पालि में उनके रूप दिवादि में के समान हो जाते हैं—लग्गति। आज्ञार्थ : लग्गतु (धम्म० टी० : 1. 131)।

इसी प्रकार 'रुच्' संस्कृत में तुदादिगणी है, किंतु पालि में 'रुच्चति' रूप बनता है (विमान० 63. 8, धम्म० टी० 1. 13) (सं० रोचते)।

इसी प्रकार स्वप् से सुपति के अतिरिक्त सुप्पति रूप भी बनता है। (संयुत्त० 1. 107 गाथा)

(3) संस्कृत में 'दृश' का 'पश्यति' बनता है। पालि में उसका 'पस्सति' रूप मिलता है। उदाहरण :

वर्तमान, उ० ए० पस्सामि (सुत्त० 776, विनय० 1. 126)
म० ए० पस्ससि, आदि
आज्ञा० म० ए० पस्स (सुत्त० 435, जा० टी० 2. 159)
अ० ए० पस्सतु (सुत्त० 909)
म० ब० पस्सथ (सुत्त० 176, जा० टी० 3. 126)
आत्मनेपद : पस्सव्हो (सुत्त० 998)
विध्यर्थ : उ० ए० पस्से (जा० 4. 240), पस्सेय्यं (जा० टी० 1. 356)
म० ए० पस्सेय्यासि (मज्झिम० 3. 131, जा० टी० 1. 137)
अ० ए० पस्से (धम्म० 76), पस्सेय्यं (जा० टी० 3. 55, आदि)।

पालि में एक नई धातु 'दक्ख' का प्रयोग मिलता है। संभवतया यह दृश के भविष्यत् 'द्रक्ष्य' से बनी है। विध्यर्थ : उ० ए० 'दक्खेम' या 'दक्खेमु' (धम्म० टी० 3. 217, 218 गाथा)

(4) भावकर्म एवं 'य' वाले नाम धातु पालि में दिवादिगण के साथ मिल गए हैं :

वर्तमान : उ० ए० ञायामि (मैं जाना जा रहा हूं)(ज्ञाये) (मिलिन्द० 25),
वेदियामि (विनय० 3. 37) (वेद्ये),
नमस्सामि (सुत्त० (1058)
अट्टियामि (दीघ० 1. 213)

म० ए० वेदियसि (मज्झिम० 2. 70)

अ० ए० सूयति, सुय्यति (श्रूयते) (जा० 4. 141, जा०टी० 1. 72), खीयति (क्षीयते (थेर० 145)

उ० व० जिय्याम (जीयामहे)(जा० 2. 75) पोसियामसे (पुष्यसे) (जा० 2. 289)

अ० व० सूयन्ति (श्रूयन्ते) (मज्झिम० 1.30), सूयरे (श्रूयन्ते) : (जा० 6. 528),
वुच्चन्ति (उच्यन्ते) (दीघ० 1. 245)

आज्ञा : म० ए० समादिय (बुद्ध० 2. 118), समादियाहि (थेरी० 249), आत्मनेपद : समादियस्सु (समादीयस्व) : (विमान० 83. 16), मुञ्चस्सु (मुञ्चस्व) (थेरी० 2)

अ० ए० भिज्जतु (भिद्यताम्) (थेर० 312)

म० व० नमस्सथ (नमस्यध्वम्) (महावंस० 1. 69)

विध्यर्थ उ० ए० वेदियेय्यं (वेद्येय) : (मज्झिम 2. 70)

अ० ए० उपादिये (उपादियेत) (सुत्त० 400), मुच्चेय्य (मुच्येत) (दीघ० 1. 72)
नमस्सेय्य (नमस्येत) (धम्म० 392), हायेथ (हीयेत) (दीघ० 1. 118), नीयेथ (नीयेत), निय्येथ (सुत्त० 327, 193)

अ० व० पलुज्जेय्युं (मज्झिम० 1. 488), हायेय्युं (हीयेरन्) (दी० 1. 118)।

§ 137. जॄ जीर्ण होना,

संस्कृत में 'जॄ' धातु के 'जीर्यति' आदि रूप होते हैं। किंतु पालि में इसके निम्न प्रकार के रूप मिलते हैं :

(क) स्वरभक्ति वाला––वर्तमान : जिरियति (मज्झिम० 1. 188)

(ख) 'जीर्य' में 'य' का लोप होने पर––जीरति (जा० 3. 38), जीरन्ति (धम्म० 151)। आज्ञार्थ : अ० ए० जीरतु (महावंस 22. 76)

(ग) 'जीर्य' में 'र' का लोप होने पर दो रूप होते हैं—

(1) दीर्घ 'ई' और एक 'य' वाला, (2) ह्रस्व 'इ' और दो 'य' वाला—
जीयति, जीयन्ति (मज्झिम० 3. 168)
आत्मने० जीयरे (जा० 6. 528)। आत्मने० विध्यर्थ अ० ए० जीवेथ (दीघ० 2. 63)

(घ) जिय्यति मज्झिम० 3. 246), परिजिय्यति (थेर० 1215) (§ 52.5)

श्रृ विशरणे (सं० शीर्यते, ते)

वर्तमान म० ए० सेय्यसि (सिय्यसि नहीं होता, § 10) (जा० 1. 174)

टीका—विसिञ्ञफलो होति।

मृङ् मृतौ, सं० म्रियटे, पालि मीयति, मियर्यति तथा मरति

वर्तमान : अ० ब० मीयन्ति (धम्म० 21, मज्झिम० 3. 168)

आत्मनेपद विध्यर्थ : अ० ए० मीयेथ (दीघ० 2. 63)

मिय्यति (सुत्त० 804)

आत्मने० वर्तमान : अ० ब० मिय्यरे (सुत्त० 575)

विध्यर्थ : उ० ए० मिय्ये, मिय्याहं (म्रियेऽहम) (जा० 6. 490)

मरति (वैदिक के समान) (महावंस 5. 27 के पश्चात् फुटकर गाथाएँ)।

विध्यर्थ : उ० ए० मरेय्यं (जा० टी० 6. 498),

म० ए० मरेय्यासि (जा० टी० 3. 276)।

§ 138 जन्, सं० जायते : पालि 'जायति'

ह्वे, सं० ह्वयति पालि अह्वयति तथा अह्वेति (§ 49. 1)

वर्तमान उ० ब० अव्हयाम (दीघ० 1. 224) अ० ब० अव्हयन्ति (जा० 6. 529)।

विध्यर्थ अ० ए० अव्हेय्य (दीघ० 1. 244)

आकारान्त धातु

जिन धातुओं के अंत में 'आ' है उनके रूप वर्तमान काल में 'जायति' के समान होते हैं। वे अंशत: संस्कृत की ऐकारान्त धातुओं के साथ मिलते हैं और अंशत: उन से भिन्न हैं। उदाहरण—

वा धातु वायति, वाति (सं० वाति),
वायन्ति (जा० 6, 530) (विनय० 1. 48 दीघ० 2. 107),
निब्बायति (जा० टी० 1. 61)

विधि० अ० ए० निब्बायेय्य (मज्झिम० 1. 487) ।
परिनिब्बन्ति (धम्म० 126)
परिनिब्बातु (दीघ० 2. 105)

या धातु यायति, याति (सं० याति),
वर्तमान० अ० ब० यायन्ति (विनय० 1. 191)
विधि, अ० ब० यायेय्य (विनय० 1. 191),
√गै गायति (सं० गायति),
√म्लै मिलायति (संयुत्त० 1. 126) (सं० म्लायति),
√ध्यै झायति (सं० ध्यायति),
√क्षि, झायति (सं० क्षायति), (§ 56.2),
√विध्यै, विज्झायति (विनय० 1. 31) (विध्यायति) .

स्ना धातु नहायति, (सं० स्नायति, स्नाति)
ख्या धातु खायति (सं० ख्यायते)
पक्खायन्ति (दीघ० 2.90), पक्खन्ति (थेर० 1034)
त्रै धातु (दीघ० टी० 18), त्राति (सं० त्रायते)

आत्मने० आज्ञा० म० ए० तायस्सु० (धम्म० टी० 1. 218 गाथा)
(टिप्पणी : संस्कृत में 'ताय्' औ 'त्रै' दोनों धातु हैं।)
अन्तरधायति (दीघ० 1. 109, अंगु० 4. 30) सं० अन्तर्धायते ।

भी धातु : भायति, भायामि (थेर० 21, सुत्त० पृ० 47)
म० ए० भायसि (थेरी० 248, सुत्त० पृ० 47)
उ० ब० भायाम (जा० टी० 2.21)
अ० ब० भायन्ति (धम्म० 125)

आज्ञा० म० ब० भायथ (उदान 51, जा० टी० 3.4)
विधि० अ० ब० भाये (सुत्त० 964) भायेय्य (मिलिन्द० 208),
अ० ब० भायेय्युं (मिलिन्द० 208)
पलायति (सं० पलायते)

आज्ञा० म० ए० पलायस्सु० (धम्म० टी० 3. 334)
म० ब० पलायथ (महावंस 7.66)
अ० ब० पलायन्तु (जा० टी० 2.90)

(क) स्वरभक्ति वाला--वर्तमान : जिरियति (मज्झिम० 1. 188)

(ख) 'जीर्य' में 'य' का लोप होने पर--जीरति (जा० 3. 38), जीरन्ति (धम्म० 151)। आज्ञार्थ : अ० ए० जीरतु (महावंस 22. 76)

(ग) 'जीर्य' में 'र' का लोप होने पर दो रूप होते हैं—

(1) दीर्घ 'ई' और एक 'य' वाला, (2) ह्रस्व 'इ' और दो 'य' वाला—
जीयति, जीयन्ति (मज्झिम० 3. 168)
आत्मने० जीयरे (जा० 6. 528)। आत्मने० विध्यर्थ अ० ए० जीयेथ (दीघ० 2. 63)

(घ) जिय्यति मज्झिम० 3. 246), परिजिय्यति (थेर० 1215) (§ 52.5)

श्रृ विशरणे (सं० शीर्यते, ते)

वर्तमान म० ए० सेय्यसि (सिय्यसि नहीं होता, § 10) (जा० 1. 174)

टीका—विसिञ्ञफलो होति।

मृङ् मृतौ, सं० म्रियटे, पालि मीयति, मियय्ति तथा मरति
वर्तमान : अ० ब० मीयन्ति (धम्म० 21, मज्झिम० 3. 168)

आत्मनेपद विध्यर्थ : अ० ए० मीयेथ (दीघ० 2. 63)

मिय्यति (सुत्त० 804)

आत्मने० वर्तमान : अ० ब० मिय्यरे (सुत्त० 575)

विध्यर्थ : उ० ए० मिय्ये, मिय्याहं (म्रियेऽहम) (जा० 6. 490)

मरति (वैदिक के समान) (महावंस 5. 27 के पश्चात् फुटकर गाथाएँ)।

विध्यर्थ : उ० ए० मरेय्यं (जा० टी० 6. 498),
म० ए० मरेय्यासि (जा० टी० 3. 276)।

§ 138 जन्, सं० जायते : पालि 'जायति'

ह्वे, सं० ह्वयति पालि अह्वयति तथा अह्वेति (§ 49. 1)

वर्तमान उ० ब० अव्हयाम (दीघ० 1. 224) अ० ब० अव्हयन्ति (जा० 6. 529)।

विध्यर्थ अ० ए० अव्हेय्य (दीघ० 1. 244)

आकारान्त धातु

जिन धातुओं के अंत में 'आ' है उनके रूप वर्तमान काल में 'जायति' के समान होते हैं। वे अंशतः संस्कृत की ऐकारान्त धातुओं के साथ मिलते हैं और अंशतः उन से भिन्न हैं। उदाहरण—

वा धातु वायति, वाति (सं० वाति),
वायन्ति (जा० 6, 530) (विनय० 1. 48 दीघ० 2. 107),
निब्बायति (जा० टी० 1. 61)
विधि० अ० ए० निब्बायेय्य (मज्झिम० 1. 487) ।
परिनिब्बन्ति (धम्म० 126)
परिनिब्बातु (दीघ० 2. 105)
या धातु यायति, याति (सं० याति),
वर्तमान० अ० ब० यायन्ति (विनय० 1. 191)
विधि, अ० ब० यायेय्य (विनय० 1. 191),
√गै गायति (सं० गायति),
√म्लै मिलायति (संयुत्त० 1. 126) (सं० म्लायति),
√ध्यै झायति (सं० ध्यायति),
√क्षि, झायति (सं० क्षायति), (§ 56.2),
√विध्यै, विज्झायति (विनय० 1. 31) (विध्यायति) .
स्ना धातु नहायति, (सं० स्नायति, स्नाति)
ख्या धातु खायति (सं० ख्यायते)
पक्खायन्ति (दीघ० 2.90), पक्खन्ति (थेर० 1034)
त्रै धातु (दीघ० टी० 18), त्राति (सं० त्रायते)
आत्मने० आज्ञा० म० ए० तायस्सु० (धम्म० टी० 1. 218 गाथा)
(टिप्पणी : संस्कृत में 'ताय्' औ 'त्रे' दोनों धातु हैं।)
अन्तरधायति (दीघ० 1. 109, अंगु० 4. 30) सं० अन्तर्धायते ।
भी धातु : भायति, भायामि (थेर० 21, सुत्त० पृ० 47)
म० ए० भायसि (थेरी० 248, सुत्त० पृ० 47)
उ० ब० भायाम (जा० टी० 2.21)
अ० ब० भायन्ति (धम्म० 125)
आज्ञा० म० ब० भायथ (उदान 51, जा० टी० 3.4)
विधि० अ० ब० भाये (सुत्त० 964) भायेय्य (मिलिन्द० 208),
अ० ब० भायेय्युं (मिलिन्द० 208)
पलायति (सं० पलायते)
आज्ञा० म० ए० पलायस्सु० (धम्म० टी० 3. 334)
म० ब० पलायथ (महावंस 7.66)
अ० ब० पलायन्तु (जा० टी० 2.90)

नीचे लिखे प्रकार के नामधातु भी इसी स्थान पर उल्लेखनीय हैं :

चिरायति, धूपायति, सज्झायति। इसी प्रकार—गहायति, फुसायति, संकसायति आदि रूप भी दिवादिगणी धातुओं के समान है (§ 186)।

§ 139. 1. चुरादि गण—चुरादि गण का 'अय' पालि में 'ए' हो जाता है—

चिन्तेति (सुत्त० 717, जा० टी० 1. 221) (सं० चिन्तयति)
पूजेति (सं० पूजयति)

अदन्त धातु—कथेति (सं० कथयति), गणेति (सं० गणयति), पथेति (सं० प्रार्थयति)

प्रेरणार्थक णिजन्त धातुओं में भी 'अय' का 'ए' हो जाता है। इसी प्रकार 'भेमि' (विभेमि), (संयुत्त० 1. 111 गाथा), साथ ही भायामि। पलेति (धम्म० 49 सुत्त० 1034) और पलायति (§ 138) :

गाथा-साहित्य में संकुचित और असंकुचित दोनों रूप मिलते हैं। उदाहरण-स्वरूप यदि गद्य भाग को छोड़ दिया जाए तो दोनों बराबर-बराबर हैं। किंतु आगमिक गद्य में संकुचित रूप नियमत : पाया जाता है। किंतु कभी-कभी, उत्तरवर्ती साहित्य में भी तप्पयति (मिलिन्द० 227) पिहयामि, पत्थयामि (थेरी० टी० 239), मन्यथ (जा० टी० 2. 107) आदि रूप मिलते हैं।

नीचे लिखे उदाहरण दोनों रूपों को स्पष्ट करते हैं।

प्राचीन रूप :

वर्तमान : उ० ए० सावयामि (सुत्त० 385) आमन्तयामि (दीघ० 2. 156), आत्मने० पत्थये (थेरी० 341), (पत्थे : थेरी० 32)

म० ए० पत्थयसि (सुत्त० 18), मग्गयसि (थेरी० 384)

अ० ए० पत्थयति (सुत्त० 114)
आत्मने० कारयते (जा० 6. 360)

उ० ब० ठपयाम (दीघ० 1. 120), आत्मने० उज्झापयामसे (सुत्त० 1. 209 गाथा)

म० ब० भमयथ (सुत्त० 680)

अ० ब० दस्सयन्ति (धम्म० 83), वादयन्ति (सुत्त० 682), रमयन्ति (थेर० 13)

आज्ञार्थ : म० ए० सावय (जा० 3. 437), नीयादयाहि (थेरी० 323), आत्मने० परिवज्जयस्सु (विमान० 53. 1.5)

आत्मने० म० ब० कप्पयव्हो (सुत्त० 283),
अ० ब० पालयन्तु (जा० 2. 34)
विधि० उ० ए० पपोथयेय्यं (जा० 3. 175)
अ० ए० पूजये, (धम्म० 106), कारये (मिलिन्द 211 गाथा)
फस्सये (सुत्त० 54, कथयेय्य) (सुत्त० 930)
आत्मने० उ० ए० साधयेमसे (जा० 2. 236)

उत्तरकालीन रूप :

वर्तमान० उ० ए० कथेमि (पेत० टी० 2), वत्तेमि (सुत्त० 554)
म० ए० कथेसि (जा० टी० 1. 291),
अ० ए० कथेति (जा० टी० 1. 292)
दस्सेति (जा० टी० 3. 82), वड्ढेति (सुत्त० 2. 75)
उ० ब० पवेदेम (मज्झिम० 2. 200). निसामेम (विनय० 1 103),
म० ब० सोभेथ (जा० टी० 1. 56)
अ० ब० गमेन्ति, (सुत्त० 390), पञ्ञापेन्ति (दीर्घ० 1. 13), पूजेन्ति (दीर्घ० 1.91), कथेन्ति (जा० टी० 2. 133)
आज्ञा० म० ए० करेहि (जा० 3. 394), कथेहि (जा० टी० 3. 279). पलेहि (सुत्त० 831)
अ० ए० देसेतु (मज्झिम० 2. 207), धारेतु (सुत्त० पृ० 25)
म० ब० भावेथ (थेर० 980), पलेथ (विमान० 84. 36)
अ० ब० आगमेन्तु (सुत्त० पृ० 103), पालेन्तु (जा० टी० 2. 34)
विधि० उ० ए० मन्तेय्यं (सुत्त० पृ० 103)
म० ए० आरोचेय्यासि (मज्झिम० 2. 210), धारेय्यासि (मिलिन्द० 47)
अ० ए० जालेय्य (मज्झिम० 2. 203), दस्सेय्य (मिलिन्द० 47)
उ० ब० संवेजेय्याम (संयुत्त० 1. 146). साधेय्याम (जा० टी० 2. 236)
म० ब० कथेय्याथ (उदान 2), पातेय्याथ (धम्म० टी० 3. 201)
अ० ब० वाचेय्युं (दीघ० 1. 97), तासेय्युं (मिलिन्द० 209)

2. 'ए' विकरण का सभी ओर विस्तार हुआ है। जो धातु चुरादिगण के नहीं हैं उनके साथ भी—'ए' लगता है। उदाहरण के रूप में वद् धातु से केवल 'वदति' नहीं किन्तु 'वदेति' भी बनता है। (प्रेरणार्थक रूप 'वादेति' : सुत्त० 825, दीघ० 1. 36, विनय० 2. 1 जा०टी० 1. 294), भजेहि (जा० 3. 148), साधारण रूप हैं भज, भजाहि (टी० भजेय्यासि), संस्कृत 'उपहृदति' के समान पालि में 'ऊहदेति' है। 'मञ्ञेसि', इसी प्रकार मञ्ञति। गहेति (बिना किसी प्रेरणार्थ के) गण्हाति के साथ-साथ आता है। अक्खाहि के समान अक्खेहि भी होता है (जा० 6, 318 आदि।

2. अतन्तेतर विकरणीगण

§ 140. (1) जिन गणों में विकरण प्रत्यय अदन्त नहीं हैं उनमें एक रूप भ्वादिगण के समान होता है और दूसरा अपने-अपने गण के अनुसार। दूसरे गण में विकरण नहीं आता। उसके फुटकर रूप मिलते हैं :

हन्ति, (सुत्त० 118, 125, धम्म० 72, 355, संयुत्त० 1. 154 गाथा मिलिन्द० 214),

हनति, (जा० 1. 432 मिलिन्द० 220)।

म० ब० हनथ, (जा० टी० 1. 263),

विधि० अ० ए० हनेय्य (सुत्त० 705 आदि)।

वेति (थेर० 497) सं० वेत्ति (जानता है)

दूसरे गण के अन्य उदाहरणों में 'अ' विकरण आ गया है :

आसति (सं, आस्ते, वैदिक आसते), (धम्म० 61)।

विधि० उ०ब० आसेय्याम (जा० टी० 1. 509)

घसति (खाता है), लेहति, रोदति, रवति, आभित्थवति (संयुत्त० 1. 190), (सं० स्तौति, वैदिक स्तवते)' आदि।

(2) आकारान्त धातुओं का प्रयोग भी दो प्रकार से होता है—चतुर्थ गण के समान 'य' विकरण के साथ और द्वितीय गण के समान बिना विकरण के। इसके कुछ उदाहरण § 138 में दिये जा चुके हैं :

वर्तमान म० ए० यासि (जा० टी० 1. 291),
अ० ए० याति (सुत्त० 720, धम्म० 29),
उ० ए० आयाम (दीघ० 2. 81),
अ० ब० आयन्ति, (थेरी० 337)।

या धातु आज्ञा० म० ए० याहि (महावंस 13. 15),
म० व० याथ (महावंस 14. 29)।

इसी प्रकार वा धातु, वर्तमान म० ए० वासि (जा० 2. 11), अ०व० पवन्ति (थेरी० 2. 371).

आ+ख्या वर्तमान० उ० ए० अक्खामि (सुत्त० 172)।

आज्ञा० म० ए० अक्खाहि (थेर० 168)

म० ए० सिनाहि (मज्झिम० 1. 39 गाथा, नहाहि (जा० टी० 6. 32), न्हाय (विनय० 3. 110)।

भा धातु वर्तमान० अ० व० आभन्ति (विमान० 6.10), पतिभान्ति (जा० टी० 2. 100)।

(3) इण् गतौ—'इ' धातु के दोनों स्थितियों में 'एति' एसि, एभि, एम, एथ, एन्ति, रूप बनते हैं। 'एति', 'समेति' आदि रूपों के आधार पर 'इ' धातु के समस्त वर्तमान रूप 'नी', 'जि' या एकारान्त धातुओं के समान हो गए हैं :

वर्तमान : उ० ए० पच्चेमि (दीघ० 1. 186),
म० ए० पच्चेसि (दीघ० 1. 185)
अ० ए० पच्चेति (धम्म० 125),
उ० ब० पच्चेम (मिलिन्द० 313),
अ० ब० अच्चेन्ति (थेर० 231)।

आज्ञा० म० ए० एहि० (थेर० 175, जा० टी० 2. 195),
अ० ए० एतु (दीघ० 1. 179)
म० व० एथ (दीघ० 2. 98),
म० ब० अपेथ (धम्म० टी० 3. 201)।

विधि० म० ए० उपेय्यासि (जा० 4. 241),
अ० ए० पच्चेय्य (ने० प्र० 93),
उपेय्य (मज्झिम० 3. 173)

एकारान्त धातुओं के साथ सादृश्य के कारण नीचे लिखे रूप बन गए :
वर्तमान० अ० ब० अच्चयन्ति (थेर० 145, संयुत्त० 1. 109 गाथा)।
विधि० अ० ए० अच्चयेय्य (सुत्त० 781)।

(4) "शी" धातु के रूप दो प्रकार से होते हैं :

(क) **इकारान्त धातुओं के समान :**

वर्तमान म० ए० सेसि (जा० 3. 34, संयुत्त० 1. 110 गाथा),
अ० ए० सेति (धम्म० 79, जा० 1. 141),
अ० ब० सेन्ति (सुत्त० 668)।

(ख) **अय वाले रूप :**

वर्तमान० सयामि (थेर० 888, संयुत्त० 1. 110 गाथा), सयति (विनय० 1. 57, जा० 2. 53)।

आज्ञा० म० ए० सय (जा० टी० 3. 24),
विधि अ०ब० सये (इति० 120 गाथा)।

आत्मनेपदी रूप : सयेथ (थेर० 501)।

§ 141. (1) "अस्" भुवि के रूप

	ए० व०	ब० व०
वर्तमान० उ० पु०	अस्मि	अस्मा (अस्मसे : सुत्त० 595)
	अम्हि	अम्हा (अम्हसे जा० 3. 309) दीघ० 2. 275 गाथा)
म० पु०	असि	अत्थ
अ० पु०	अत्थि	सन्ति (सन्ते सुत्त० 868)
आज्ञा० अ० पु०	अत्थु	
विधि० उ० पु०	सिय, अस्सं	अस्साम (मज्झिम० 3. 250)
म० पु०	अस्स	अस्सथ (दीघ० 1.3)
अ० पु०	सिया, अस्स	सियं, अस्सु

गाथा-साहित्य में आत्मनेपदी रूप भी मिलते हैं, वे 'लभ्' का अनुकरण प्रतीत होते हैं।

विधि० सियं, सिया, सियुं (ये रूप संस्कृत स्याम, स्यात् और स्युः से मिलते हैं।)

विधिलिङ् में सियंसु (मज्झिम० 239) रूप उल्लेखनीय है। सियं के स्थान पर यह नया रूप हैं। 'अस्स' आदि रूप सशक्त धातु से बने हैं। वे गाथा-साहित्य में मिलते हैं। आगमोत्तर गद्य में 'अत्थि' के रूप अधिकतर 'स्म' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किंतु उनके स्थान पर उत्तरोत्तर 'भवति, 'होति' का प्रयोग होने लगा। कर्त्ता के बहुवचन होने पर भी 'अत्थि' का प्रयोग होता है, क्योंकि यह वर्तमान 'अत्थि' का सादृश्य है (धम्म० टी० 1. 41, जा० टी० 3. 126, आदि)।

(2) ब्रू धातु—वर्तमान के रूप संस्कृत ब्रू धातु के समान बनते हैं :

वर्त० उ० ए० ब्रूमि (सुत्त० 458, धम्म० 385, थेर० 214),
प्रब्रूमि (सुत्त० 870),
म० ए० ब्रूसि (सुत्त० 457), अ० ए० ब्रूति (सुत्त० 122),
अ० ब० पब्रुन्ति (सुत्त० 649)।

आज्ञा० : म० ए० ब्रूहि (सुत्त० 76) पब्रूहि (सुत्त० 599)।

आज्ञा० अ० ए० का रूप विचित्र है :—ब्रूमेत—(दीघ० 1.95), किंतु यह रूप सन्दिग्ध भी है। इसके रूप अप्रयुक्त से हैं, यद्यपि आगमोत्तर गद्य (उदाहरणार्थ, मिलिन्द० 327) में इसका प्रयोग मिलता है। यही कारण है कि 'ब्रूमि' की व्याख्या पेत० टी० 85 में 'कथेमि' के रूप में की गई है।

§ 142. जुहोत्यादिगण

(1) ओहाक् त्यागे—'हा' धातु का वर्तमान काल में 'जह' अथवा 'जहा' बन जाता है और उसके साथ प्रत्यय लगते हैं :

वर्तमान अ० ब० जहन्ति (धम्म० 91)।

आज्ञा० म० ए० जह (थेर० 83), जहि (थेरी० 508)। आत्मने० जहस्सु (सुत्त० 1121, थेर 1219), म० ब० पजहथ (संयुत्त० 4. 81)।

विधि० उ० ए० जहेय्यं (जा० टी० 1. 153)। म० ए० पजहेय्यासि (संयुत्त० 4. 350)। आत्मने० अ० ए० जहेथ आदि § 129।

'जहा' के रूप—वर्तमान अ० ए० जहति (सुत्त० 1. 506, 589), पजहाति (सुत्त० 789)।

(2) डुधाञ् धारणे—'धा' धातु का 'दह' हो जाता है—सद्दहति० (सं० श्रद्धधाति)। 'दहाति' तथा 'दहासि' रूप (§ 123) पुरातन हैं।

दह के रूप :

वर्तमान उ० ए० समादहामि (मज्झिम० 1. 116)। म० ए० सद्दहसि (संयुत्त० 4. 298) । जा० टी० 1. 426), अ० ए० संदहति (मिलिन्द० 40)। उ० ब० सद्दहास दीघ० 2. 323)। म० ब० सद्दहथ (जा० टी० 1. 222)। अ० ब० दहन्ति (सुत्त० 882, दीघ० 1. 92)।

आज्ञा० म० ए० सद्दह (जा० टी० 4. 52)।

आत्मनेपद आज्ञा० म० ए० ओदहस्सु० (सुत्त० 461), म० ब० पिदहथ (थूपवंस 76)।

विधि० : म० ए० निदहेय्यासि (जा० 6. 494)। अ० ए० विदहे (सुत्त० 927), पदहेय्य (मज्झिम० 2. 174)। आत्मने० सद्दहेथ (जा० 3. 192)। उ० ए० सद्दहेय्याम (मिलिन्द० 330)। अ० ब० सद्दहेय्यं (संयुत्त० 2. 255) आदि।

'धा' धातु से, विशेषतया गाथा में, 'ए' भी आता है :

वर्तमान : उ० ए० समाधेमि (थेर० 50, 114)। अ० ब० ओधेन्ति (थेर० 1233=संयुत्त० 1. 190)।

आज्ञा० : म० ए० पणिधेहि (थेरी० 197, संयुत्त० 4. 302)।

विधि० : अ० ए० सद्धेय्य (जा० 2. 446 टी० सद्दहेय्य आदि)।

(3) हु, जुहोति (हवन करना)

'हू' धातु से 'जुह' रूप बन जाता है :

वर्तमान : उ० ए० जुहामि (थेर० 343)। अ० ए० जुहति (संयुत्त० 1. 167) सुत्त० पृ० 79)।

(4) जागृ निद्राक्षये

(सं० जागर्ति) 'जागृ' का पालि में 'जागर' बन जाता है या 'जागर' में से 'अ' का लोप हो जाता है, परिणामस्वरूप, 'ग्र' का 'गा' और 'जा' का 'आ' ह्रस्व हो जाता है (§ 20), इस प्रकार जग्ग बन जाता है।

(क) जागर से—

आत्मने० आज्ञा० म० ए० जागरस्सु (थेर० 411)। वर्तमान कृदन्त 'जागरन्त' (धम्म० 39, विनय० 3.31)। जागरमाण (धम्म० 226)।

(ख) जग्ग से—

वर्तमान उ० ए० पटिजग्गामि (जा० टी० 1. 438)। अ० ए० जग्गति (अंगु० 3. 156) अ० ब० जग्गन्ति (अंगु० 3. 156)। विधि० अ० ए० पटिजग्गेय्य, (धम्म० 157)।

§ 143. दा धातु—दा धातु के वर्तमान में कई प्रकार के रूप बनते हैं :

(क) 'ददा' या 'दद' के रूप

वर्तमान : उ० ए० ददामि (सुत्त० 421, थेरी० 245)।
म० ए० ददासि (महावंस 10. 50)। अ० ए० ददाति (दीघ० 1. 103, सुत्त० पृ० 86)।

उ० व० ददाम (थेर० 475, जा० टी० 3. 47)। आत्मने० ददम्हसे (जा० 3. 47)।

अ० व० ददन्ति (विमान० 44. 25)।

आज्ञा० म० ए० दद (जा० 3. 412), ददाहि (जा० तथा जा० टी० 3. 109)।

आत्मने० उ० व० ददामसे (जा० 3. 131)। म० व० ददाथ (विमान० 44. 19)।

विधि० उ० ए० ददेय्यं (विनय० 1. 39, संयुत्त० 1. 97, जा० टी० 1. 254)।

म० ए० ददेय्यासि (जा० टी० 3. 276)।

अ० ए० ददे (विमान० 62. 5)। ददेय्यं (विनय० 1. 49, मिलिन्द० 28) आत्मने० ददेथ (सयुत्त० 1. 32 गाथा)।

उ० ब० ददेमु (जा० 6. 317), ददेय्याम (मज्झिम० 2. 116, (संयुत्त० 1. 58)।

म० ब० ददेय्याथ (जा० टी० 3. 171, 4. 230)। अ० व० ददेय्युं।

(ख) "दे" रूप जो कि 'देहि' से लिया गया हैं :

वर्त० उ० ए० देमि (जा० टी० 1. 307, धम्म० टी० 1. 42)।

म० ए० देसि (दीघ० 1. 50, जा० टी० 1. 279)।

अ० ए० देति (सुत्त० 130, संयुत्त० 3. 245, जा० टी० 2. 154)।

उ० ब० देय (जा० टी० 3. 127)।

म० व० देथ (जा० टी० 3. 226)।

अ० व० देन्ति (सुत्त० 244, जा० टी० 2. 104)।

आज्ञा० म० ए० देहि (थेरी० 49, जा० टी० 1, 254, धम्म० टी० 1. 33)।

अ० ए० देतु (जा० टी० 2. 104)।

म० व० देथ (जा० टी० 2. 103)।

अ० व० देन्तु (महावंस 5. 179)।

विधि० उ० ए० देय्यं (महावंस 7. 31)।

गाथा-साहित्य में 'देमि' आदि रूप वर्तमान और आज्ञार्थ में प्रायः मिलते हैं। उनके साथ विधि का 'ददेय्यं' आदि रूप भी मिलते हैं। आगमिक तथा आगमोत्तर गद्य में यह रूप नियमित कहा जा सकता है।

(ख) 'जान' के रूप

वर्तमान अ० ए० अवजानति (सुत्त० 132, 438 : छंद के कारण)।

आत्मने० अ० ब० जानरे (सुत्त० 601)।

आज्ञा० अ० ए० जान (सं० 4. 374), विजान (सुत्त० 1091),
विजानहि (छंद के अनुरोध से) (जा० टी०3. 32)।

म० ब० जानथ (धम्म० टी0 3. 438),
विक्किणथ (जा० टी० 1. 121)

(संस्कृत 'क्रीणाति' में 'आ' के स्थान में 'इ' के लिए दे § 21)।

जिनति के लिए दे० § 131।

(ग) 'जिन' का विध्यर्थं में नियमित प्रयोग होता है :

उ० ए० जानेय्यं (मज्झिम० 1. 487, सुत्त० पृ० 21)।

म० ए० जानेय्यासि (मज्झिम० 1. 487, धम्म० टी० 1. 125)।

अ० ए० जानेय्य (महावंस 23. 31)।

उ० ब० जानेय्याम (मिलिन्द० 330), जानेमु (संयुत्त० 1. 34, गाथा, सुत्त० 75, विमान० 62. 2. 2)

जानेय्याथ (मज्झिम० 2. 215, जा० टी० 2. 133)।

अ० ए० जानेय्यं (जा० 1. 168)।

पालि के प्राचीनतम काल में एक दूसरा रूप भी मिलता है :

उ० ए० विजञ्ञं (सुत्त० 482)।

अ० ए० जञ्ञा (धम्म० 157, थेर० 10, सुत्त० 116)। जा० 2.62 की टीका में 'जञ्ञा' की व्याख्या 'जानेय्य' के रूप में की गई है। यह रूप 'ददामि' से ''दज्जं'' के सादृश्य पर हैं।

सुत्त० 873 में 'जानियाम' रूप है जो कि संस्कृत 'जानीयाम' का ऐतिहासिक परिवर्तन है।

§ 146. गृह ग्रहणे (सं० गृह्णाति), पालि में इसके 'गण्हा' और 'गण्ह' दो रूप मिलते हैं :

(क) गण्हा :

वर्तमान० म० ए० गण्हासि (धम्म० टी० 3. 57)।
अ० ए० गण्हाति (जा० टी० 3. 28)।

आज्ञा० अ० ए० गण्हातु (धम्म० टी० 3. 200), पटिगण्हातु (सुत्त० 479, विनय० 2. 192), पटिग्गहातु (छन्दोनुरोध से) (जा० 1. 495)।

(ख) गण्ह :

वर्तमान० अ० ए० गण्हाति (जा० टी० 1. 303)

आज्ञा० म० ए० गण्ह (जा० टी० 2. 159), गण्हाहि (दीघ० 2. 102, जा० टी० 1. 279)। आत्मने० गण्हस्सु (धम्म० टी० 3. 302)।

अ० ए० गण्हतु (जा० टी० 1. 207)।

अ० ब० गण्हथ (जा० टी० 1. 111, 3. 126) अथवा गण्हाथ (मज्झिम० 1. 459)।

विधि० गण्हेय्यं (जा० 1. 255) आदि।

'गहायति' के लिए दे० § 186।

भूत, भविष्यत्, तुमुन्नन्त, क्त्वांत रूप 'गहे' से बनते हैं (दे० § 139. 2)।

(3) 'मा' माने (सं० माति, मिमीते)—'मा' धातु का सार्वधातुक रूप 'मिना' बन जाता है। उदाहरण :

विधि० उ० ब० अभिनिम्मिनेयाम (संयुत्त० 1. 124)।

(4) बन्ध् बन्धने—बध्नातित—बन्ध् धातु का सार्वधातुक रूप 'बन्ध' मिलता है और उसके रूप प्राकृत के समान § 144 के अनुसार बनते हैं :

आज्ञा० म० ए० बन्ध (दीघ० 2. 350)। अ० ब० बन्धन्तु (जा० टी० 1. 153)।

विधि० अ० ब० बन्धेटयुं (विनय० 3. 45 आदि)।

§ 147. (1) स्वादिगण—स्वादिगण के सार्वधातुक रूप क्र्यादिगण के समान होते हैं। 'नु' या 'नो' विकरण प्रायः लुप्त हो गया है और उसके स्थान पर 'ना' का प्रयोग मिलता है :

√चि चियने (सं० चिनोति)

वर्तमान म० ए० चिनासि (जा० 3. 23)।

अ० ए० विचिनाति (सुत्त० 658, संयुत्त० 1. 149 गाथा)।

अ० ब० विचिनन्ति (विनय० 1. 133)।

आज्ञा० म० ए० विचिन जा० टी० 1. 453), विचिनाहि (जा० टी० 3. 91)।

म० ब० विचिनाथ (समन्त० 328)।

'जि' धातु से 'जेति' के सादृश्य पर 'चि' धातु से भी 'चेति' आदि एकारान्त रूप बन गए। (दे० § 131)

(2) *हि प्रेषणे (सं० हिनोति)—सोपसर्ग 'हि' के रूप 'ना' विकरण के* साथ होते है :

वर्तमान अ० ब० पहिणन्ति (दीघ० 2. 321, 323)।

आज्ञा० अ० ए० पहिणतु (धम्म० टी० 3. 34)।

विधि० म० व० पहिणेय्यथ (धम्म० टी० 3. 318)।

(3) **धूञ् कम्पने** (सं० धूनोति),—धुनाति, धून् धातु से 'धूना' या 'धून' बन जाता है :

वर्तमान० अ० ब० धुनन्ति (थेरी० 276) ओ-सं-निद्-धुनन्ति (दीघ० 2. 336)।

आज्ञा० म० ए० निद्धुनाहि (थेर० 416)।

उ० ब० धुनाम (थेर० 1147)।

म० ब० धुनाथ (सुत्त० 682, थेर० 256) ओ-सं-निद्-धुनाथ, (दीघ० 2. 336)।

वर्तमान० अ० ए० विधूनति (जा० टी० 2. 90)।

आज्ञा० म० व० विनधूथ (जा० टी० 1. 335)।

(4) **श्रू श्रवणे** (शृणेति)—'श्रु' धातु से 'सुणो' और 'सुणा' दो रूप बनते हैं। दोनों गाथा-साहित्य में समान रूप से मिलते हैं। उत्तरकाल में 'सुणो' के रूप कहीं-कहीं मिलते हैं और 'सुणा' के बाहुल्य से मिलते हैं। विधि० में केवल 'सुण' के प्रयोग मिलते हैं :

(क) सुणो

वर्तमान० उ० ए० सुणोमि (जा० 4. 443)।

उ० व० सुणोम (सुत्त० 350, 1110, विमान० 84. 12)।

आज्ञा० म० ए० सुणोहि (सुत्त० 273, दी० 1. 62, मिलिन्द० 315)।

म० व० सुणोथ (सुत्त० 997, विमान० 84.1, मिलिन्द० 1, गाथा)।

(ख) सुणा

वर्तमान० उ० ए० सुणामि (धम्म० टी० 3. 172)।

म० ए० सुणसि (सुत्त० 696)।

अ० ए० सुणाति (दीघ० 1. 62, अंगु० 3. 162, मिलिन्द० 5)।

अ० ब० सुणन्ति (संयुत्त० 1. 144, जा० टीका 2. 24)।

आज्ञा० म० ए० सुण (थेरी० 404.8, 3. 121, जा० टी० 3. 231)।
तथा सुणाहि (सुत्त० 1. 21, जा० टी० 4.1)।

अ० ए० सुणातु (विनय० 1. 56)।

उ० ब० सुणाम (सुत्त० 354)।

म० ब० सुणाथ (इति० 41 गाथा, विमान० 84, 1. दीघ० 2. 2)

अ० ब० सुणन्तु (सुत्त० 222, दीघ० 2. 166, गाथा, मिलिन्द० 25)।

विधि० उ० ए० सुणेय्यं (उदान 48)।

अ० ए० सुणे (जा० 4. 240), सुणेय्य (सुत्त० 325, विनय० 1. 7)।

उ० ब० सुणेम (विमान० 58.23), सुणेय्याम (मज्झिम० 2. 90)।

§ 148. (1) शक् (सं० शक्नोति)—शक् धातु के रूप तीन प्रकार के हैं :

(क) 'सक्को' यह रूप शक्नोति से बना है। अपित्सार्वधातुक के 'नु' का इसने पूर्णतया अपलाप कर दिया। इसका प्रयोग भाषा के प्रत्येक युग में हुआ है :

वर्तमान० उ० ए० सक्कोमि (महावंस 32.17)।

म० ए० सक्कोसि (जा० टी० 1. 433, 2. 214)।

अ० ए० सक्कोति 1। उ० ब० सक्कोम (सुत्त० 597, विनय० 1. 31, जा० टी० 1. 437, धम्म० टी० 1. 90)।

म० ब० सक्कोथ (जा० टी० 2. 405)।

अ० ब० सक्कोन्ति (विनय० 1. 31, धम्म० टी० 1. 23)।

(ख) सक्कुणा—यह रूप क्र्यादिगण के सादृश्य पर स्वरभक्ति से बना है :

विधि० म० ए० सक्कुणेय्यासि (जा० टी० 3. 301, महावंस 12. 18)।

अ० ए० सक्कुणेय्य (जा० टी० 1. 361)।

उ० ब० सक्कुनेमु (जा० 5. 24), सक्कुनेय्याम (मज्झिम० 1. 457)।

(ग) सक्क

वर्तमान० उ० ए० सक्कामि, म० ए० सक्कासि (जा० टी० 1. 290)।

अ० ए० सक्काति (थेर० 533) (सं० शक्यति) दिवादिगणी।

भाववाच्य सक्कते (नेत्ति० 23) : (सं० शक्यते)।

(2) आप् धातु 'प्र' उपसर्ग के साथ (सं० प्राप्नोति) :

(क) पप्पो-(प्राप्नो-) वर्तमान अ० ए० पप्पोति (धम्म० 27, सुत्त० 584, थेर० 35. 292, दीघ० 2. 231 गाथा) उ० ब० पप्पोम (जा० 5.57)। अ० ब० पप्पोन्ति (जा० 3. 256)। आज्ञा० अ० ब० पप्पोन्तु, (थेर० 603।

उपर्युक्त सभी उदाहरण गाथा-साहित्य के हैं।

विधि० अ० पु० ए० व० में 'प्राप्नु' के रूप मिलते हैं :

अ० ए० पप्पुय्य (थेर० 364 आदि) (सं० प्राप्नुयात्)।

(ख) उपर्युक्त रूप के अतिरिक्त प्राचीन काल से 'पापुणा' रूप भी मिलता है। यह स्वरभक्ति के द्वारा क्रयादिगण के सादृश्य पर बनाया गया है। उत्तरकाल में यही एक रूप मिलता है :

वर्तमान० अ० ए० पापुणति (मिलिन्द० 337)।

अ० ब० पापुणन्ति (मिलिन्द० 314, जा० टी० 1. 150)।

आज्ञा० म० ए० पापुण थेरी० 432)।

अ० ए० पापुणातु (जा० टी० 1. 150)।

विधि० अ० ए० पापुणे (सुत्त० 324, धम्म० 138), पापुणेय्य (संयुत्त० 1. 126, मिलिन्द 307)।

म० ब० पापुणेथ (जा० 5. 208)।

परि उपसर्ग के साथ आप् धातु

आज्ञा० म० ब० परियापुणाथ (सीखो) (संयुत्त० 1. 50)।

149. तनादिगण—तनादिगण के रूप भी प्राय: क्र्यादिगण के समान हो गए हैं। इसका एक संभावित रूप है मुनाति (धम्म० 269), किंतु यह रूप स्वयं 'मुनोति' के स्थान पर आया है। संस्कृत में 'मन्' धातु आत्मनेपदी है। उसका परस्मैपद् 'मनोति' हो सकता है।

'थुनाति' (√स्तन्) रूप भी इसी प्रकार बनाया जा सकता है। यहां 'तनादि' एवं 'क्र्यादि' गण के समान रूप बनाया जाएगा। इसके अतिरिक्त

'अभित्थनति' और 'अभित्थनयन्ति' (दे० § 52.2) (जा० टी० 1.330) रूप भी मिलते है—संस्कृत 'स्तनति' और—'स्तनयन्ति'। संस्कृत में 'स्तन्' धातु चुरादिगणी है। 'मन्' का भी 'मुनाति' के अतिरिक्त दिवादिगण के आधार पर मञ्ञति रूप बनता है। अन्य रूप :

वर्तमान अ० ए० अनुत्थुनाति (सुत्त० 827)।
अ० व० थुनन्ति (सुत्त० 884, विमान० 52.3), (सुत्त० 901),
नित्थुनन्ति (विमान० टी० 224)।

वर्तमान कृदन्त कर्ता ए० व० अनुत्थुनं (जा० 3. 114) टीका में इसकी व्याख्या 'नित्थुनन्तो' द्वारा की गई है।

डुकृञ करणे धातु के रूप अनेक प्रकार के होते हैं :

(क) वर्तमान और आज्ञा में 'करो' रूप मिलता है, जो कि 'करोति' से लिया गया है। इसके रूप पालि के प्रत्येक युग में मिलते हैं। आगमिक और आगमोत्तर गद्य में नियमित रूप माने जा सकते हैं :

वर्तमान० उ० ए० करोमि (सुत्त० 78)। म० ए० करोसि (मज्झिम० 3. 140, व्याकरोसि, (धम्म० टी० 1. 45)। अ० ए० करोति (सुत्त० 216, मज्झिम० 3. 247, जा० टी० 1. 278)। उ० व० करोम (जा० टी० 1.221, धम्म० टी० 1.53)। म० ब० करोथ (उदान 52)।

आज्ञा० म० ए० करोहि (सुत्त० 1062, मिलिन्द 330, जा० टी० 2. 223, धम्म टी० 1·52)। अ० ए० करोनु (महा० (5. 237)
म० ब० करोथ (चेरी० 13, जा० टी० 1. 253, महा० 4.44)।
अ० ब० करोन्तु (जा० टी० 1. 153)।

(ख) कुब्ब—'कुब्बन्ति' (संस्कृत : कुर्वन्ति) इसके रूप :

वर्तमान० अ० ब० कुब्बन्ति (सुत्त० 794), जा० टी० 3. 118)
म० ए० कुब्बसि (संयुत्त० 1. 181 गाथा)
अ० ए० कुब्बति (सुत्त० 168, जा० 3. 118)।

विधि० अ० ए० विकुब्बेय्य (दीप० 1. 40)।
आत्मने० कुब्बेथ (दे० पृ० 166 टिप्पणी) (सुत्त० 702, 109)।
कुब्बेये (चुरादिगण के सदृश सुत्त० 943)।

'कुब्ब' से बने हुए रूप गाथा और कृत्रिम कविता-साहित्य में मिलते हैं।

(ग) सक्क

वर्तमान० उ० ए० सक्कामि, म० ए० सक्कासि (जा० टी० 1. 290)।

अ० ए० सक्काति (थेर० 533) (स० शक्यति) दिवादिगणी।

भाववाच्य सक्कते (नेत्ति० 23) : (सं० शक्यते)।

(2) आप् धातु 'प्र' उपसर्ग के साथ (सं० प्राप्नोति) :

(क) पप्पो-(प्राप्नो-) वर्तमान अ० ए० पप्पोति (धम्म० 27, सुत्त० 584, थेर० 35. 292, दीघ० 2. 231 गाथा) उ० ब० पप्पोम (जा० 5.57)। अ० ब० पप्पोन्ति (जा० 3. 256)। आज्ञा० अ० ब० पप्पोन्तु, (थेर० 603।

उपर्युक्त सभी उदाहरण गाथा-साहित्य के हैं।

विधि० अ० पु० ए० व० में 'प्राप्नु' के रूप मिलते हैं :

अ० ए० पप्पुय्य (थेर० 364 आदि) (सं० प्राप्नुयात्)।

(ख) उपर्युक्त रूप के अतिरिक्त प्राचीन काल से 'पापुणा' रूप भी मिलता है। यह स्वरभक्ति के द्वारा क्रयादिगण के सादृश्य पर बनाया गया है। उत्तरकाल में यही एक रूप मिलता है :

वर्तमान० अ० ए० पापुणति (मिलिन्द० 337)।

अ० ब० पापुणन्ति (मिलिन्द० 314, जा० टी० 1. 150)।

आज्ञा० म० ए० पापुण थेरी० 432)।

अ० ए० पापुणातु (जा० टी० 1. 150)।

विधि० अ० ए० पापुणे (सुत्त० 324, धम्म० 138), पापुणेय्य (संयुत्त० 1. 126, मिलिन्द 307)।

म० ब० पापुणेथ (जा० 5. 208)।

परि उपसर्ग के साथ आप् धातु

आज्ञा० म० ब० परियापुणाथ (सीखो) (संयुत्त० 1. 50)।

149. तनादिगण—तनादिगण के रूप भी प्राय: क्रयादिगण के समान हो गए हैं। इसका एक संभावित रूप है मुनाति (धम्म० 269), किंतु यह रूप स्वयं 'मुनोति' के स्थान पर आया है। संस्कृत में 'मन्' धातु आत्मनेपदी है। उसका परस्मैपद् 'मनोति' हो सकता है।

'थुनाति' (√स्तन्) रूप भी इसी प्रकार बनाया जा सकता है। यहां 'तनादि' एवं 'क्रयादि' गण के समान रूप बनाया जाएगा। इसके अतिरिक्त

उदाहरण के के रूप में दस्सामि (स्वरान्त धातु) (सं० दास्यामि) और लच्छामि (व्यंजनात धातु) (सं० लप्स्यामि) को उपस्थित किया जा सकता है, और सेट् धातुओं के लिए करिस्सामि (सं० करिष्यामि) को :

	(क-1) √दा अनिट् स्वरान्त	(क-2) √इष् व्यंजनांत अनिट्	(ख) √कृ सेट्
उ० ए०	दस्सामि, दस्सं	इच्छमि, इच्छं	करिस्सामि, करिस्सं
म० ए०	दस्ससि	इच्छसि	करिस्ससि
अ० ए०	दस्सति	इच्छति	करिस्सति
उ० ब०	दस्साम	इच्छाम	करिस्साम
म० ब०	दस्सथ	इच्छत	करिस्सथ
अ० ब०	दस्सन्ति	इच्छन्ति	करिस्सन्ति

आत्मनेपद के उदाहरण :

म० ए० गमिस्ससे (थेर 359), अ० ए० हेस्सते (महा० 25.97)।

उ० ब० सिक्खिस्सामसे (सुत्त० 814), लच्छामसे (विमान० 32.9)।

अ० ब० करिस्सरे (महा० 30.55), वसिस्सरे (थेर० 962) भविस्सरे (जा० 3. 207)।

गाथा साहित्य में, विशेषतया मध्यम एवं अन्य पुरुष के एकवचन तथा अन्य पुरुष के बहुवचन में, 'स्स' का 'ह' भी हो जाता है।

उदाहरण : पदाहिसि (थेरी 303) 'दस्ससि' के स्थान पर (सं० दास्यसि), पर परिनिब्बाहिसि (थेर० 415), (परिनिर्वास्यसि), हाहसि (जा० 3. 172), (हास्यसि), विहाहिसि (जा० 1. 298) (विहास्यसि), पलेहिति (थेर० 307), पलाय्' से (सं० पलायिष्यति), एहिसि (धम्म० 236) (सं० एष्यसि), एहिति (जा० 2. 158) (सं० एष्यति), करिहिति (थेरी० 424), (सं० करिष्यति) आदि। अन्य उदाहरणों के लिए दे० § 151, तथा 153 .1।

'ह' के पश्चात् 'इ' के लिए दे० § 19.।

§ 151. (1) आकारान्त धातु—

दा दाने—उ० ए० दस्सामि (जा० टी० 3. 53, धम्म० 3. 109)।
म० ए० दस्ससि (जा० टी० 2. 160)।
अ० ब० दस्साम (धम्म० टी० 3. 194)।
म० ब० दस्सथ (दीघ० 2.96) आदि।

(ग) 'कर'—यह रूप वैदिक करति से मिलता है। भाषा के सभी युगों में इसका प्रयोग हुआ है। द्वितीय और तृतीय युग में विध्यर्थ नियमित रूप से इसी से बना है :

आत्मने० वर्त० उ० ए० करे (जा० 2. 138)

आज्ञा० म० ए० कर (जा० टी० 4. 1, दीप० 1. 56, आत्मने० करस्स (थेर० 46, संयुत्त० 1. 120 गाथा, जा० 3. 74)।

विधि० उ० ए० करेय्यं (मज्झिम० 1. 487), (व्याकरेय्यं)।

म० ए० करेय्यासि मज्झिम० 1. 487) व्याकरेय्यासि, जा० टी० 2. 102)

अ० ए० करे (धम्म० 42), करेय्य (सुत्त० 920, 923, विमान० 84. धम्म० टी० 1. 38 40)।

उ० ब० करेय्याम (संयुत्त० 1. 58)। म० ब० करेययाथ (सुत्त० पृ० 101)। अ० ब० करेय्यं (जा० टी० 1. 168, 3. 300)।

(घ) √कर वैदिक (कार्षि)—यह रूप गाथा-साहित्य के विध्यर्थ में ईषत्प्रयुक्त है—

अ० ए० करिया (* कार्या से, दे० § 47. 2) (धम्म० 42, सुत्त० 728, थेर० 152), करिया (छन्दोनुरोधात्—(जा० 4. 127)।

म० ब० करियाथ (धम्म० 25, उदान 92 गाथा, संयुत्त० 1. 2 गाथा)।

(ङ) कुरु—आत्मनेपद 'कुरुते' या 'कुरु' से लिया गया रूप—कुरुते (धम्म० 48), कुरु, (महा० 4. 40), कुरुत (जा० 4. 396)।

(च) कुछ फुटकर रूप :

वर्तमान० उ० ए० कुम्मि (जा० 2. 435, 6. 499, टी० करोमि)। यह रूप 'कुर्मः' से बना प्रतीत होता है।

3. भविष्यत्काल

§ 150. पालि में दो प्रकार का भविष्यत् होता है :

(क) संस्कृत स्य या इष्य से बना हुआ है। इसके प्रत्यय संस्कृत के समान हैं। किंतु उत्तम पुरुष एकवचन में 'आमि' के अतिरिक्त 'अ' भी आता है। उ० ब० में 'मस्' के स्थान पर 'म' है। अनिट् धातु के

उदाहरण के के रूप में दस्सामि (स्वरान्त धातु) (सं० दास्यामि) और लच्छामि (व्यंजनात धातु) (सं० लप्स्यामि) को उपस्थित किया जा सकता है, और सेट् धातुओं के लिए करिस्सामि (सं० करिष्यामि) को :

	(क-1)	(क-2)	(ख)
	√दा अनिट् स्वरान्त	√इष् व्यंजनांत अनिट्	√कृ सेट्
उ० ए०	दस्सामि, दस्सं	इच्छमि, इच्छं	करिस्सामि, करिस्सं
म० ए०	दस्ससि	इच्छसि	करिस्ससि
अ० ए०	दस्सति	इच्छति	करिस्सति
उ० ब०	दस्साम	इच्छाम	करिस्साम
म० ब०	दस्सथ	इच्छत	करिस्सथ
अ० ब०	दस्सन्ति	इच्छन्ति	करिस्सन्ति

आत्मनेपद के उदाहरण :

म० ए० गमिस्ससे (थेर 359), अ० ए० हेस्सते (महा० 25.97)।

उ० ब० सिक्खिस्सामसे (सुत्त० 814), लच्छामसे (विमान० 32.9)।

अ० ब० करिस्सरे (महा० 30.55), वसिस्सरे (थेर० 962) भविस्सरे (जा० 3. 207)।

गाथा साहित्य में, विशेषतया मध्यम एवं अन्य पुरुष के एकवचन तथा अन्य पुरुष के बहुवचन में, 'स्स' का 'ह' भी हो जाता है।

उदाहरण : पदाहिसि (थेरी 303) 'दस्ससि' के स्थान पर (सं० दास्यसि), पर परिनिब्बाहिसि (थेर० 415), (परिनिर्वास्यसि), हाहसि (जा० 3. 172), (हास्यसि), विहाहिसि (जा० 1. 298) (विहास्यसि), पलेहिति (थेर० 307), पलाय्' से (सं० पलायिष्यति), एहिसि (धम्म० 236) (सं० एष्यसि), एहिति (जा० 2. 158) (सं० एष्यति), करिहिति (थेरी० 424), (सं० करिष्यति) आदि। अन्य उदाहरणों के लिए दे० § 151, तथा 153 .1।

'ह' के पश्चात् 'इ' के लिए दे० § 19.।

§ 151. (1) आकारान्त धातु—

दा दाने—उ० ए० दस्सामि (जा० टी० 3. 53, धम्म० 3. 109)।
म० ए० दस्ससि (जा० टी० 2. 160)।
अ० ब० दस्साम (धम्म० टी० 3. 194)।
म० ब० दस्सथ (दीघ० 2.96) आदि।

स्था अ० ए० ठस्सति (दीघ० 1.46) (सं० स्थास्यति)।
अ० ब० ठस्सन्ति (दीघ० 2.75 आदि)।

हस् उ० ए० हस्सामि (जा० 4. 420) (सं० हास्यामि)।
पहास्सं (मज्झिम० 2. 100 गाथा)।
म० ब० पहस्सथ (धम्म० 114)।

पा पाने अ० ए० पास्सति (जा० 6. 527) (सं० पास्यति)।

प्राचीनतम काल में 'आ' का बहुत वार 'इ' हो गया है :

पिस्सामि (जा० 3. 432)। पच्चुपदिस्सामि (जा० 5. 221)
उपञ्ञिस्सं (ज्ञा) (सुत्त० 701, 716)। ठिञ्ञस्सन्ति (थेर० 703)।
परिनिब्बिस्सं (वा) (थेर० 658)। अविस्सं (ख्या) (जा० 6. 523)।
व्यविखस्सं (ख्या + ख्या) (सुत्त० 600)। उपट्ठिस्सं (जा० 6. 523)।

कहीं-कहीं 'आ' का 'ए' भी मिलता है :

हेस्सामि, हेस्साम (हा) (जा० 4. 415, 6. 441)

(2) उकारान्त धातु: 'श्रु': सोस्सामि (संयुत्त० 1. 210 गाथा) (सं० श्रोष्यामि)।
म०ए० सोस्सि (सोस्ससि के स्थान : पर दे० § 65)।
अ०ए० सोस्सति (दीघ० 2. 131)। उ०ए० सुस्सं (सुत्त० 694) (दे० § 15)।

(3) इकारान्त धातु जेस्ससि (जि) (जा० 2. 252) (सं० जेष्यसि),
नेस्सामि (नी) (जा० टी० 1. 222, 2.159) (सं० नेष्यामि),
नेस्सथ (धम्म० 179),
पचेस्सति (चि), (धम्म० 44) (सं० चेष्यति)।
पचिस्सति (जा० 3. 22) (§ 15)।
एस्सामि (इ) (जा० टी० 6. 365), (सं० एष्यामि)।
एस्ससि (जा० टी० 6. 365)।
एस्सति (धम्म० 369, जा०टी० 6. 335)। एस्सन्ति (धम्म० 86।

सोपसर्ग—पच्चेस्सं (विनय० 1. 255) (सं० प्रत्येष्यामि)। समेस्सति (संयुत्त० 4. 370)। समेस्सन्ति (इति० 70)।

जो धातु सार्वधातुक में एकारान्त बन जाते हैं उनके रूप भी इसी प्रकार होते हैं—

निधेस्सामि (धे) दे० § 142. 2।
गहेस्सामि (गहे) (जा० टी० 1. 263) (सं० ग्रह् : गहे)।

सस्सं (सुत्त० 970)। सेस्सति (से) (संयुत्त 1. 83 धम्म० टी० 1. 320), (सं० शीङ्) (दे० § 140.4 सं० शयिष्यते)।

हेस्सति (दे० § 15५. 2)।

चुरादिगण, णिजन्त और नामधातुओं के संकुचित रूप पर्याप्त संख्या में मिलते हैं—

उ० ए० कथेस्सामि (जा० टी० 4.139), (सं० कथयिष्यामि),

संगामेस्सामि (जा० टी० 2.11), (सं० संगमयिष्यामि)

म० ए० कप्पेस्ससि (अंगु० 4. 301) (सं० कल्पयिष्यामि)।

अ० ए० पूजेस्सति (विनय० 1. 105), (पूजयिष्यति)

दमेस्सति (जा० टी० 1. 506)।

उ० ब० दस्सेस्साम (जा० टी० 1. 59) (सं० दर्शयिष्यामः)।

म० ब० वस्सापेस्सथ (जा० टी० 1. 253) (सं० वर्षापयिष्यथ)।

अ० ब० रोपेस्सन्ति (विनय० 2. 12), (सं० रोपयिष्यन्ति) आदि।

इसी प्रकार अनुभोति (§ 131. 2) से अनुभोस्सति (जा० 1. 500), इसमें 'स्स' का 'ह' नहीं हुआ)। अनुभोहिसि (थेरी० 510), अनुभोस्सासि (विमान० 52. 18)। सम्मोस्साम (महा० 5. 100), पहोस्सति-पहोति (प्रभवति) (धम्म० टी० 3. 254)। इसी प्रकार होति (§ 131. 2) से : होहिसि (थेर० 382) तथा होहिति (थेर० 1137, थेरी० 465)।

§ 152. क (2) व्यंजनान्त अनिट् धातु—व्यंजनान्त अनिट् धातुओं में अनेक गद्य में भी उन ऐतिहासिक रूप हैं जो कि प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। आगमोत्तर के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं :

शक्—अ० ए० सक्खति (सुत्त० 319) (सं० शक्ष्यति)।

अ० ब० सक्खन्ति (सुत्त० 28)।

म० ए० सक्खसि (अंगु० 1. 111) अथवा सक्खि (सक्खिसि के स्थान पर) (जा० 5. 116), सग्गसि रूप भी : मध्यवर्ती स्वर का सद्भाव (दे० § 61.1)।

वच्—उ० ए० वक्खामि (जा० टी० 1. 346) (सं० वक्ष्यामि)।

अ० ए० वक्खति (संयुत्त० 1. 142, जा० टी० 2. 40)।

उ० ब वक्खाम (संयुत्त० 4. 72, मज्झिम० 3. 207)।

अ०ब० वक्खन्ति (विनय० 2. 1)।

भुज्—उ० ए० भोक्खं (जा० 4. 127) सं० भोक्ष्यामि)।

छिद्—उ० ए० छेच्छं (जा० 3. 500) सं० छेत्स्यामि)।
अ० ए० छेच्छति (धम्म० 350, थेर० 761)।
भिद्—अ० ए० भेच्छति (अंगु० 1. 8 सं० भेत्स्यति।
लभ्—उ० ए० लच्छामि (मज्झिम० 2. 71, जा० टी० 1. 395) सं० लप्स्यामि।
म० ए० लच्छसि (विमान० 83, 5, मज्झिम० 2. 71), जा० टी० 1. 279)।
अ० ए० लच्छति (संयुत्त० 1. 114)।
उ० व० लच्छाम (जा० 4. 292)।
विश्—उ० ए० पवेक्खामि (जा० 3. 86, महा० 25. 42)।
वस्—उ० म० वच्छामि (जा० 6. 523) (सं० वत्स्यामि), वच्छं (थेरी० 414, 425) 1।
अ० ए० वच्छति(थेरी० 294)।
दृश—उ० ए० दक्खं (थेर० 1099) (सं० द्रक्ष्यामि)
म० ए० दक्खसि संयुत्त० 1. 116 गाथा), दक्खिसि (थेरी० 232, जा० 6. 497।
अ० ए० दक्खति (संयुत्त० 2. 255), दक्खिति (सुत्त० 909, दीघ० 1. 165, मज्झिम० 2. 202)।
अ० व० दक्खिन्ति (विनय० 1.16)।
मुच्—मोक्खसि (विनय० 1. 21 गाथा, संयुत्त० 1. 111 गाथा) (सं० मोक्ष्यसि)। मोक्खन्ति (धम्म० 37) (सं० मोक्ष्यन्ति)। इनका अर्थ कर्मवाच्य है।

उपर्युक्त भविष्यतकाल के रूप दीर्घ काल तक भविष्यत् के अर्थ को भी प्रकट करते रहे। इसी लिए मज्झिम० 3. 130 में ञास्सति, (ज्ञास्यति)और सच्छि करिष्यति (साक्षी-करिष्यति) के साथ-साथ 'दक्खति' रूप भी मिलता है।

किन्तु भविष्यत् का अर्थ प्राचीन काल में ही धुंधला पड़ गया था, यह बात दो बार लगाए गए भविष्यत्-प्रत्ययों से प्रतीत होती है।

उदाहरण :

उ० ए० दक्खिसं (थेरी० 84), (टी० 89 : पस्सिस्सं)।
म० ए० दक्खिस्ससि (मज्भिम० 3. 5)
उ० व० दक्खिस्साम (जा० 3. 90), (टी० दक्खिस्साम)।
म० व० दक्खिस्सथ (मज्जिम० 2. 60)।

उ० ए० सक्खिस्सामि (सं० शक्ष्यामि) (जा० टी० 1. 290)।

म० ए० सक्खिस्ससि (विनय० 3. 19, जा० टी० 1. 222)।

अ० ए० सक्खिस्सति (धम्म० टी० 3. 176)।

उ० ब० सक्खिस्साम (जा० टी० 2. 129)।

म० ब० सक्खिस्सथ (धम्म० टी० 3. 80)।

अ० ब० सक्खिस्सन्ति (जा० टी० 1. 255)।

उपर्युक्त उदाहरणों में 'सक्ख्' (√शक्) अपने-आप में भविष्यत् का रूप है। इसके साथ पुनः 'स्स' लगाया गया है।

§ 153. (1) 'कृ' करणे (सं० करिष्यामि)—पालि में 'कृ' धातु के रूप अनेक प्रकार के होते हैं :

(क) 'कर्'—उ० ए० कस्सं (थेर० 391), कस्सामि (थेर० 1138) इन रूपों से प्रतीत होता है कि 'कर्ष्यामि' रूप रहा होगा। उसी गाथा में 'करिस्सामि' रूप भी मिलता है।

(ख) 'का'—कासं (जा० 4. 287)।

(ग) 'इ' के साथ—काहामि (थेर० 103, जा० 2. 257, 3. 47, विमान० 52. 15), काहासि (धम्म० 154, थेर० 1134, 2. 57), काहति (जा० 2. 443) तथा काहिति (जा० 6. 497), काहाम (विमान० 84. 37), काहन्ति (जा० 6. 510), काहिन्ति (थेरी० 509)।

वि+हृ=विहर् (रहना या विहार करना) :

(क) उ० ए० विहस्सं (थेर० 1091) (सं० विहर्ष्यामि)।

अ० ए० विहस्सति (संयुत्त 1. 157 गाथा)।

(ख) 'ह' के साथ—म० ए० विहाहिसि (धम्म० 379)।

बिना उपसर्ग के : हाहिति (जा० 6. 500)।

धातु की उपधा में 'इ'—उ० ए० विहिस्सामि (थेरी० 181. 360)।

उ० व० विहिस्साम (थेरी० 121)। उ० ए० आहिस्सं (आ उपसर्ग)(जा० 6. 523, टी० आहरिस्सामि)।

'ए' के साथ—अ० ए० विहेस्सति (थेर० 257)।

ये समस्त रूप गाथा-साहित्य से सम्बद्ध हैं।

(2) 'हन्' हिंसायाम् (सं० हनिष्यति)—'हन्' धातु के गाथा तथा आगमिक गद्य में कई ऐसे रूप मिलते हैं जिनका मूल जानना कठिन है :

उ० ए० पतिहङ्खामि (संयुत्त० 4. 104) (* हङ्क्ष्यामि ?)।

अ० ए० हञ्छति (जा० 4. 102 : टी० हनिस्सति)।

विधि० हञ्छेम (जा० 2. 418 : टी० हनिस्साम)।

प्रतीत होता है कि 'हञ्च्' में भविष्य का अर्थ विलीनप्राय: हो गया था। आहञ्हि (आहनिष्यामि) (विनय० 1. 8 गाथा, दीघ० 2. 72)। 'आहञ्हम्' भी इसी का संकुचित रूप है।

§ 154. 'सेट्' धातु—'सेट्' धातुओं के भविष्यत् काल में बहुत रूप ऐतिहासिक हैं :

उ० ए० पक्कमिस्सं (थेरी० 294) (सं० पराक्रमिष्यामि)।
असिस्सामि (सुत्त० 970), (सं० अशिष्यामि)।
खादिस्सामि (जा० टी० 3. 52) (सं० खादिष्यामि)।

म० ए० करिस्ससि (जा० 3. 54) (सं० करिष्यसि)।
हरिस्ससि (जा० टी० 4. 364) (सं० हरिष्यसि)।

अ० ए० जयिस्सति, जेस्सति (जा० टी० 252) (सं० जयिष्यति जेष्यति)।
नयिस्सति (विनय० 1. 43 गाथा) (सं० नयिष्यति, नेष्यति);
हनिस्सति (जा० टी० 4. 102) (सं० हनिष्यति)।

उ० ब० याचिस्साम (विनय० 2. 196) (सं० याचिष्यामः),
वसिस्साम (महा० 14. 26) (सं० वसिष्यामः, वत्यामः)।

म० ब० लभिस्सथ (जा० टी० 3. 126) (सं० लभिष्यथ, लप्स्यथ),
पब्बजिस्सथ (महा० 5. 198) (सं० प्रव्रजिष्यथ)।

अ० ब० गमिस्सन्ति (सुत्त० 445) (सं० गमिष्यन्ति), समनुदिस्सन्ति (मज्झिम० 1. 398) (सं० मोदिष्यन्ते) आदि।

(2) उ० ए० भविस्सामि (भविष्यामि) रूप ऐतिहासिक हैं, और ये आगमिक और आगमोत्तर गद्य में सामान्य रूप से मिलते हैं, किन्तु इसके साथ-ही-साथ संकुचित रूप भी मिलते हैं (दे० § 2. 75) :

अ० ए० हेस्सं (थेर० 1100, जा० 3. 224), हेस्सामि (थेरी० 400)।

अ० ए० हेस्सति (जा० 3. 279)। आत्मने० हेस्सते (महा० 25. 97)।

म० व० हेस्सथ (संयुत्त० 4. 179)।

इन धातुओं के रूप एकारान्त अनिट् (क) धातुओं के समान हो गए हैं।

(3) चुरादिगणी, प्रेरणार्थक और नामधातुओं से जो 'ण्यन्त' रूप बनते हैं उनका भविष्यत् काल भी (ख) के समान होता है। ऐसी स्थिति में वे संकुचित नहीं होते और प्राय: संस्कृत के समान होते हैं :

बन्धयिस्सामि (महा० 24. 6) (सं० बन्धयिष्यामि),

पालयिस्सामि (जा० टी० 4. 129) (सं० पालयिष्यामि)।

(4) सन्नन्त (§ 184) और यङन्त (§ 185) धातुओं के रूप भी इसी प्रकार होते हैं :

उ० ए० तितिक्खिस्सं (धम्म० 320), वीमंसिस्सामि (जा० टी० 1. 390), चङ्कमिस्सामि (थेर० 540)।

उ० ब० सुस्सूसिस्साम (संयुत्त० 2. 267), सुस्सूसिस्सन्ति (संयुत्त० 2. 267)।

§ 155. उपर्युक्त (ख) प्रकार पालि में अत्यधिक फैल गया है। वर्तमान काल में गणविकरण के साथ जो रूप बनते हैं उन सबसे इस प्रकार का भविष्यत् काल बनाया जा सकता है :

(1) अदन्तविकरणी गणों के उदाहरण

भ्वादिगण (दे० § 132) :

उ० ए० पिविस्सामि (थेर० 313, जा० टी० 4.2), तिट्ठिस्सामि (मज्झिम० 3. 129), व्युट्ठहिस्सामि (महा० 36. 73)।

म० ए० पिविस्ससि (जा० टी० 6. 365, निसीदिस्ससि (अंगु० 4. 301)।

अ० ए० निसीदिस्सति (विनय० 1. 9), पतिट्ठहिस्सति (धम्म० टी० 3. 171)।

उ० ब० उपट्ठहिस्साम (धम्म० टी० 4. 7), पिविस्साम (जा० टी० 1. 99)।

म० ब० पिविस्सथ (विनय० 1. 78)

अ० ब० व्युट्ठहिस्सन्ति (दीघ० 2. 74)

उ० ए० गच्छिस्सामि (जा० टी० 3. 10) (दे० § 133), गच्छिस्सं थेर० 95, विमान० 63. 21)

म० ए० गच्छिसि (दे० § 65. 2)

अ० ए० आगच्छिस्ससि (जा० टी० 3. 53)

म० ब० गच्छिस्सथ (जा० टी० 2. 128), इत्यादि।

(2) तुदादिगण का भविष्यत्काल (दे० § 134) :

उ० ए० पविस्सामि (दे० § 65. 2), पविसिस्सामि (जा० टी० 3. 86), आदिसिस्सामि (थेरी० 308), पुच्छिस्सामि (सुत्त० पृ० 32, जा० 6. 364), फुसिस्सं (थेर० 386)।

उ० ब० पुच्छिस्साम (सुत्त० पृ० 112) आदि।

'पनुदहिस्सामि' (थेर० 27. 233) रूप ध्यान देने योग्य है।

अ० ब० अच्छिस्सन्ति (विनय० 2. 76) (§ 135)।

उ० ए० मुञ्चिस्सामि (जा० टी० 1. 434)

अ० ब० सिञ्चिस्सन्ति (विनय० 2. 12) आदि।

(3) दिवादिगण—भविष्यत्काल (दे० § 136)—

उ० ए० नच्चिस्सामि (जा० टी० 1. 292)।

म० ए० मञ्जिस्ससि (विनय० 1. 59)

अ० ए० इज्झिस्सति (जा० टी० 1. 15), विनस्सिस्सति (जा० टी० 1. 256), पुबुज्झिस्सति (जा० टी० 1. 62)।

उ० ब० नच्चिस्साम (धम्म० टी० 3. 102)

म० उ० आपज्जस्थ (मज्झिम० 124)। अ० ब० कुज्झिस्सन्ति (धम्म० टी० 3. 101), नच्चिस्सन्ति (विनय० 2. 12) (§ 136. 3)।

उ० ए० पस्सिसामि (विनय० 1.97, जा० टी० 1. 62)। म० ए० पस्सिस्ससि (विनय० 1. 97)। अ० ए० पस्सिस्सति (उदान 40)। उ० ब० पस्सिस्साम (जा० टी० 2. 213) आदि।

§ 136. 4 के अनुसार :

उ० ए० विहञ्ञिस्सं (थेर० 386), पञ्ञायिस्सति (जा० टी० 1. 484), निय्यिस्सति (अंगु० 5. 195), सूयिस्सति (संयुत्त० 4. 344), खीयिस्सति (जा० टी० 1. 200)।

उ० ब० मुच्चिस्साम (जा० टी० 1. 434)।

म० ब० मुच्चिस्सथ (धम्म० टी० 3. 242)।

§ 137 के अनुसार : अ० ए० जियिस्सति (मज्झिम० 3. 246), मियिस्सति (मज्झिम० 3. 246)।

§ 138 के अनुसार : उ० ब० नहायिस्यामि (जा० टी० 1. 265), निब्बायिस्सं (थेर० 162, 919), परिनिब्बायिस्सामि (दीघ० 2. 104),

तायिस्सामि (जा० टी० 2. 252)। अ० ए० अन्तर-धायिस्सति (विनय० 1. 43)।

अ० व० गायिस्सन्ति (विनय० 2. 12) आदि। उ० ए० पलाय-यिस्सामि (जा० टी० 2. 247), सज्झायिस्सामि (जा० टी० 2. 243), (§ 188. 1)।

§ 156. अदन्तेतरविकरणी गण

(1) जुहोत्यादिगण (§ 142) :

उ० ए० जहिस्सामि (जा० 4. 415, जा० टी० 4. 420),
सद्दहिस्सामि (मिलिन्द० 148), पटिजग्गिस्सामि (जा० टी० 2. 200), म० ए० जहिस्ससि (जा० टी० 3. 173)।

अ० ए० जहिस्ससि (जा० 3. 279)।

म० व० सद्दहिस्सथ (धम्म० टी० 1. 117), पटिजग्गिस्सथ (धम्म० टी० 4. 10) आदि।

(2) तनादिगण (§ 144) :

उ० ए० भञ्जिस्सं (थेर० 1095), (परि) भुञ्जिस्सामि (विनय० 1. 185, 2. 300, जा० टी० 4. 129)।

अ० ए० छिन्दिस्सति (जा० टी० 2. 252), भिन्दिस्सति (विनय० 2. 199)।

अ० व० समुच्छिन्दिस्सन्ति (दीघ० 2. 74), भुञ्जिस्सन्ति (विनय० 2. 196), रिञ्चिस्सन्ति (विनय० 1. 190)

क्रयादिगण (§ 145)

उ० व० जिनिस्सामि (जा० 3. 58), विक्किणिस्सामि (धम्म० टी० 3. 480), जिनिस्सामि (जा० टी० 3.5)।

म० ए० जिनिस्ससि (जा० टी० 2. 252)।

अ० ए० जानिस्सति (जा० टी० 6. 264)। जिनिस्सति (जा० टी० 3. 5)।

उ० व० अनुजानिस्साम (मज्झिम० 2. 57)।

अ० व० समनुजानिस्सन्ति (मज्झिम० 1. 398)।

§ 149 के अनुसार—

उ० ए० गण्हिस्सामि (जा० टी० 1. 222)

म० ए० गण्हिस्ससि (जा० टी० 1. 222)

अ० ए० गण्हिस्सति (जा० टी० 3. 280)।

उ० व० गण्हिस्साम (जा० टी० 2. 104)।

म० व० गण्हिस्सथ (जा० टी० 2. 197) आदि।

(2) तुदादिगण का भविष्यत्काल (दे० § 134) :

उ० ए० पविस्सामि (दे० § 65. 2), पविसिस्सामि (जा० टी० 3. 86), आदिसिस्सामि (थेरी० 308), पुच्छिस्सामि (सुत्त० पृ० 32, जा० 6. 364), फुसिस्सं (थेर० 386)।

उ० ब० पुच्छिस्साम (सुत्त० पृ० 112) आदि।

'पनुदहिस्सामि' (थेर० 27. 233) रूप ध्यान देने योग्य है।

अ० ब० अच्छिस्सन्ति (विनय० 2. 76) (§ 135)।

उ० ए० मुञ्चिस्सामि (जा० टी० 1. 434)

अ० ब० सिञ्चिस्सन्ति (विनय० 2. 12) आदि।

(3) दिवादिगण—भविष्यत्काल (दे० § 136)—

उ० ए० नच्चिस्सामि (जा० टी० 1. 292)।

म० ए० मञ्जिस्ससि (विनय० 1. 59)

अ० ए० इज्झिस्सति (जा० टी० 1. 15), विनस्सिस्सति (जा० टी० 1. 256), पुबुज्झिस्सति (जा० टी० 1. 62)।

उ० ब० नच्चिस्साम (धम्म० टी० 3. 102)

म० उ० आपज्जस्थ (मज्झिम० 124)। अ० ब० कुज्झिस्सन्ति (धम्म० टी० 3. 101), नच्चिस्सन्ति (विनय० 2. 12) (§ 136. 3)।

उ० ए० पस्सिसामि (विनय० 1.97, जा० टी० 1. 62)। म० ए० पस्सिस्ससि (विनय० 1. 97)। अ० ए० पस्सिस्सति (उदान 40)। उ० ब० पस्सिस्साम (जा० टी० 2. 213) आदि।

§ 136. 4 के अनुसार :

उ० ए० विहञ्ञिस्सं (थेर० 386), पञ्ञायिस्सति (जा० टी० 1. 484), निय्यिस्सति (अंगु० 5. 195), सूयिस्सति (संयुत्त० 4. 344), खीयिस्सति (जा० टी० 1. 200)।

उ० ब० मुच्चिस्साम (जा० टी० 1. 434)।

म० ब० मुच्चिस्सथ (धम्म० टी० 3. 242)।

§ 137 के अनुसार : अ० ए० जियिस्सति (मज्झिम० 3. 246), मियिस्सति (मज्झिम० 3. 246)।

§ 138 के अनुसार : उ० ब० नहायिष्यामि (जा० टी० 1. 265), निब्बायिस्सं (थेर० 162, 919), परिनिब्बायिस्सामि (दीघ० 2. 104),

तायिस्सामि (जा० टी० 2. [252) । अ० ए० अन्तर-घायिस्सति (विनय० 1. 43) ।

अ० ब० गायिस्सन्ति (विनय० 2. 12) आदि। उ० ए० पलाय-यिस्सामि (जा० टी० 2. 247), सज्झायिस्सामि (जा० टी० 2. 243), (§ 188. 1) ।

§ 156. अदन्तेतरविकरणी गण

(1) जुहोत्यादिगण (§ 142) :

उ० ए० जहिस्सामि (जा० 4. 415, जा० टी० 4. 420), सद्दहिस्सामि (मिलिन्द० 148), पटिजग्गिस्सामि(जा० टी० 2. 200), म० ए० जहिस्ससि (जा० टी० 3. 173)।

अ० ए० जहिस्ससि (जा० 3. 279) ।

म० ब० सद्दहिस्सथ (धम्म० टी० 1. 117), पटिजग्गिस्सथ (धम्म० टी० 4. 10) आदि ।

(2) तनादिगण (§ 144) :

उ० ए० भञ्जिस्सं (थेर० 1095), (परि) भुञ्जिस्सामि (विनय० 1. 185, 2. 300, जा० टी० 4. 129) ।

अ० ए० छिन्दिस्सति (जा० टी० 2. 252), भिन्दिस्सति (विनय० 2. 199) ।

अ० ब० समुच्छिन्दिस्सन्ति (दीघ० 2. 74), भुञ्जिस्सन्ति (विनय० 2. 196), रिञ्चिस्सन्ति (विनय० 1. 190)

क्यादिगण (§ 145)

उ० ब० जिनिस्सामि (जा० 3. 58), विक्किणिस्सामि (धम्म० टी० 3. 480), जिनिस्सामि (जा० टी० 3.5) ।

म० ए० जिनिस्ससि (जा० टी० 2. 252) ।

अ० ए० जानिस्सति (जा० टी० 6. 264) । जिनिस्सति (जा० टी० 3. 5) ।

उ० ब० अनुजानिस्साम (मज्झिम० 2. 57) ।

अ० ब० समनुजानिस्सन्ति (मज्झिम० 1. 398)।

§ 149 के अनुसार—

उ० ए० गण्हिस्सामि (जा० टी० 1. 222)

म० ए० गण्हिस्ससि (जा० टी० 1. 222)

अ० ए० गण्हिस्सति (जा० टी० 3. 280)।

उ० ब० गण्हिस्साम (जा० टी० 2. 104) ।

म० ब० गण्हिस्सथ (जा० टी० 2. 197) आदि ।

(3) स्वादि तथा क्र्यादि गण (§ 147)—

उ० ए० सुणिस्सामि (धम्म० टी० 3. 195)

म० ए० सुणिस्ससि (धम्म० टी० 3. 195)।

उ० ब० सक्कुणिस्साम (जा० टी० 2. 415)।

म० ब० सुणिस्सथ जा० टी० 1. 97), पापुणिस्सथ (जा० टी० 1. 253)।

अ० ब० पापुणिस्सन्ति (जा० टी० 1. 256) आदि।

क्रियातिपत्ति (लृङ्)

157. संस्कृत के समान क्रियातिपत्ति भविष्यत् का अतीत है। यह भूत और वर्तमान में कार्य की असंभावना को प्रकट करता है। सोपसर्ग अवस्था के अतिरिक्त धातु के आदि में 'अ' या 'आ' अवश्य आते हैं। प्रत्यय संस्कृत के समान हैं, केवल अन्य पुरुष बहुवचन में 'अंसु' प्रत्यय आता है जो कि सामान्यभूत (लृङ्) से लिया गया है। (§ 159. 3) उदाहरण :

उ० ए० अभविस्सं (जा० टी० 1. 470) (सं० अभविष्यम्), अदस्सं (जा० टी० 3. 30) (सं० अदास्यम्), अपापेस्सं (प्र+आप् प्रेरणा) (जा० टी० 2. 11) (सं० प्राप्स्यम्), ओलोकेस्सं (जा० टी० 1. 470) (सं० आवलोकयिष्यम्)।

म० ए० अभविस्स (जा० टी० 2. 11, 3. 30) (सं० अभविष्यः), आपज्जिस्स (धम्म० टी० 3. 137)।

अ० ए० अभविस्स (विनय० 1. 13, दीघ० 2. 57, मज्झिम० 3. 163, उदान० 80, जा० टी० 2. 112, 5. 264) सं० अभविष्यत्), अनस्सिस्स (जा० टी० 2. 112), अदस्स (जा० टी० 5. 264), उप्पज्जिस्स (धम्म० टी० 3. 137), पयोजयिस्स, पब्बज्जिस्स, पापुणिस्स, पतिट्ठहिस्स (धम्म० टी० 3. 131), अकरिस्स (धम्म० टी० 1. 147), असक्खिस्स (धम्म० टी० 1. 147, 3. 3), अलभिस्स (धम्म० टी० 3. 4)।

उ० ब० अलभिस्साम, आगमिस्साम (जा० टी० 3. 35)।

अ० ब० अभविस्संसु (विनय० 1. 13)।

आत्मनेपद के रूप (दीघ० 2. 63)—अ० ए० ओक्कमिस्सथ, (सं० अवाक्रमिष्यत्), समुच्छिस्सथ (सं० समुत्सविष्यत), निब्बत्तिस्सथ (सं० न्यवर्तिष्यत), आपज्जिस्सथ (सं० आपत्स्यत), अलभिस्सथ (सं० आलप्स्यत)।

संस्कृत के 'त' के स्थान पर पालि में 'थ' प्रत्यय आता है, जैसा कि विधि (दे० § 129) में तथा सामान्य भूत (159.2) में आता है।

4. सामान्य भूत (लुङ्)

§ 158. पालि का सामान्य भूत संस्कृत लङ् (अनद्यतनभूत) और लुङ् (सामान्य भूत) से मिल कर बना है। प्रत्ययों के अतिरिक्त 'अट्' या 'आट्' का आगम भी इसकी विशेषता है, किंतु यह प्राय: छोड़ दिया जाता है। वाकरनेजल (Wackernagel) ने निश्चित नियम बनाए हैं कि यह आगम कहाँ विद्यमान रहता है और कहाँ नहीं :

(1) जहाँ धातु का रूप एकाच् हो वहाँ अट् विद्यमान रहता है : अदं (सं० अदाम्), अगा (सं० अगात्), अच्च-अगा (सं० अत्यगात्), समज्झगम् (सं० समध्यगाम्)। इसी प्रकार अधि-गं (थेरी० 122)।

(2) जो द्व्यच् रूप लङ्, लुङ् (सिज्लोपी एवं स् (अनिट सिच् वाला) से बने हैं उनमें भी अट् विद्यमान रहता है : अगमा (सं० अगमत्), अदासि (सं० अदासीत्), अकासि (सं० अकार्षीत्), अवोचुम् (सं० अवोचन्)। इसी प्रकार अज्झ-अगमा (सं० अध्यगमत्), पच्च-अस्सोसि (सं० प्रत्यश्रौषीत्), पायासि।

(3) जो द्व्यच् रूप 'इष्' (सेट् सिच्) के साथ बनते हैं, भाषा के प्रथम दो युगों में उनके साथ अट् का आगम ऐच्छिक है : अलभि (सं० अलप्से), लभि (सं० अलब्ध)।

आगमोत्तर साहित्य में 'अट्' का सर्वत्र लोप पाया जाता है : खादि (सं० अखादीत्), भिन्दि (सं० अभेत्सीत्)।

(4) नीचे लिखे त्र्यच् रूपों में अट् सदा विद्यमान रहता है :

(क) § 165 के अनुसार जो रूप विकसित हो गए हैं—अगमासी (सं० अगमत्), अद्दासिं (सं० अद्राक्षम्)।

(ख) जो रूप अदन्त-विकरणी लङ् या लुङ् से बनाए गए हैं—अभासथ (सं० अभाषत)।

(5) इनके अतिरिक्त त्र्यच् या चतुरच् रूपों में अट् का लोप सबसे पहले मिलता है। पहले-पहल यह यादृच्छिक रहा, किंतु आगमोत्तर गद्य में नियमित हो गया। गाथा-साहित्य में 'अपुच्छिसु' और 'पुच्छिसु' दोनों रूप मिलते हैं। किंतु उत्तरकाल में बिना 'अट्' के रूप अधिक प्रयुक्त होने लगे और क्रमश: सार्वत्रिक बन गए : देसेसिं (सं० अदेक्षम्), खादिम्ह (सं० अखादिष्म), कथयिंसु (सं० अचकथयन्त)।

§ 159. लुङ् को मौलिक संस्कृत के आधार पर नीचे लिखे प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है :

प्रथम प्रकार के उदाहरण : दा धातु—

प्र० ए० अदं (जा० 3.411)।

म० ए० अदो (अदा) (जा० 4. 240, (5. 161)।

अ० ए० अदा (सुत्त० 303, महा० 7.70)।

प्र० ब० (अदम्ह) (जा० 2. 71, विमान० 68.4.5)।

म० ब० (अदत्थ) जा० टी० 2. 166)। अ० ब० अदू, अदुं।

उपर्युक्त रूप संस्कृत अदाम्, अदाः, अदात् एवं अदुः के समान हैं। बहुवचन उत्तम तथा मध्यम पुरुष के रूप तृतीय प्रकार से लिए गए हैं। संस्कृत में क्रमशः अदाम और अदात होता है।

द्वितीय प्रकार के उदाहरण : गम् धातु—

उ० ए० अगमं (थेर० 258)।

म० ए० अगमा (सुत्त० 834)।

अ० ए० अगमा (सुत्त० 408, महा० 5. 42)।

उ० ब० अगमास अगमम्ह (सुत्त० 349)।

म० ब० अगमथ (अगमत्थ)।

अ० ब० अगमुं (सुत्त० 290, महा० 4. 36)।

यह प्रकार उन रूपों पर आश्रित है संस्कृत में जिनके लुङ् में 'अ' विवरण आता है। सं० असिचम्, असिचः, असिचत्···असिचन्, अथवा अदन्तविकरणी लङ् के आधार पर असिञ्चम् आदि। यहाँ पर बहुवचन के 'अम्ह' और 'अत्थ' प्रत्यय तृतीय प्रकार से लिए गए हैं। यहाँ 'आम' और 'अथ' प्रत्यय भी आते हैं :

अकराम, अद्दसाम, अद्दसथ (दे० § 162.1, 3)।

आत्मनेपद में भी इस प्रकार के रूप होते हैं :

अ० ए० (थ) अभासथ (सुत्त० 30), विन्दथ (थेरी० 420)।

उ० ब० (म्हसे) अकरम्हसे (जा० 3. 26)।

अ० ब० (रे, रुं) अबज्झरे (जा० 1. 428); अमञ्ञरुं (जा० 3. 488)।

यहाँ पर 'थ' प्रत्यय महाप्राण है 'त' नहीं। (दे० § 129, 157)। 'अम्हसे' तृतीय प्रकार से आया है (दे० § 126) 'रे' और 'रुं' वैदिक प्रत्यय 'रे' और 'रन्' या 'रम्' से मिलते हैं।

तृतीय प्रकार के उदाहरण : 'श्रु' एवं 'कृ' धातु—

√श्रु उ० ए० अस्सोसि (थेर० 131)।

म० ए० अस्सोसि।

अ० ए० अस्सोसि (दी० 1. 87, सुत्त० पृ० 99)।

उ० ब० अस्सुम्ह संयुत्त० 1. 157, जा० टी० 3. 278)।

म० ब० अस्सुत्थ (दीघ० 2. 272, संयुत्त० 1. 157)।

अ० ब० अस्सोसुं (दीघ० 1. 111, विनय० 1. 18)।

√कृ उ० ए० अकासिं (थेरी० 74, विमान० 1. 5)।
म० ए० अकासि (विमान० 1. 3, थेर० 1207)।
अ० ए० अकासि (जा० टी० 3. 188, धम्म० टी० 1. 39)।
उ० व० अकम्ह (जा० 3. 47)।
म० व० अकत्थ (विमान० 84, 38, महा० 12. 22)।
अ० व० अकासुं (महा० 31.99 पाठान्तर), अकंसु (सुत्त० 882, जा० टी० 1. 262)।

यह प्रकार संस्कृत 'सिच्' वाले रूपों से लिया गया है :

अश्रौषम्, अश्रौषीः, अश्रौषीत्। अश्रौष्म, अश्रौष्ट, अश्रौषुः।

अकार्षम्, अकार्षीः, अकार्षीत्। अकार्ष्म, अकार्ष्ट, अकार्षुः।

अस्सुम्ह और अस्सुत्थ में उकार के लिए दे० § 15।

'म्ह' प्रत्यय के लिए दे० § 50.4 एवं 58.2।

'ष्ट' के स्थान में 'ट्ठ' न होकर 'त्थ' हो जाना उल्लेखनीय है।

आत्मनेपद : अ० ए० (थ) उदपत्थ, (√पत्) (जा० 5. 255), पापत्थ (जा० 5.255)।

उ० ए० में पापत्थ के आधार पर नया रूप पापत्थं मिलता है (जा० 6. 16); मा लद्धा (जा० 3. 138) (सं० अलब्ध), अलत्थ रूप भी (जा० 4. 310, मज्झिम 2. 49, संयुत्त० 4. 302, सुत्त० पृ० 107)।

इन सभी रूपों में संस्कृत के समान 'स्' का लोप हो गया है।

चतुर्थ प्रकार के उदाहरण : गम् धातु—

उ० ए० अगमिस्सं, अगमिं (थेर० 9)।
म० ए० अगमि (सुत्त० 399, जा० टी० 4.2)।
अ० ए० अगमि (दीघ० 2. 264, जा० 264, जा० टी० 6. 366)।
उ० ब० अगमिम्ह (संयुत्त० 1. 202 गाथा)।
म० ब० अगमित्थ (जा० टी० 1. 263, धम्म० टी० 3. 22)।
अ० व० अगमिसुं, अगमिंसु (जा० टी० 2. 416)।

उपर्युक्त प्रकार संस्कृत की सेट् सिच् वाली धातुओं से लिया गया है :

अबोधिषं, अबोधीः, अबोधीत्। अबोधिष्म, अबोधिष्ट, अबोधिषुः।

अगमिं रूप वैदिक अक्रमीं, अवधीम् आदि रूपों का संकोचन है।

उ० ए० में 'इसं' के स्थान पर 'इस्सं' भी मिलता है। प्राकृत में भी ऐसा ही है। (दे० पिशल 516) : अधिगच्छिस्सं (सुत्त० 446), नन्दिस्सं (संयुत्त० 1. 176 गाथा)।

अ० ब० में 'इसुं', 'इंसु', के अतिरिक्त 'उं' भी मिलता है। यह द्वितीय प्रकार से लिया गया है।

अनद्यतन भूत (लङ्) म० ए० तथा अ० ए० में संस्कृत 'ई' इस प्रकार के निर्माण में सहायक है—अब्रवी (सुत्त० 355, थेर० 430), अब्रुवी (जा० 3, 62), (सं० अब्रवीत्)। इसी प्रकार उ० ए० अब्रविं (च० पि० 2. 6. 8)। अ० ब० अब्रवुं (जा० 5. 112)। आसी (सुत्त० 286, महा० 2. 1), सं० आसीत्। उ० ए० आसिं, आसि (थेर० 157, पेत० 1. 2. 2, च० पि० 3. 7. 1, 1 उ० ब० आसुं (थेरी० 224), अ० ब० आसुं (सुत्त० 284, महा० 1. 32)।

आत्मनेपद :

म० ए० 'इट्ठ' (सं० 'इष्ठाः') : मा पटिसेवित्थो) (जा० 4. 222), पुच्छित्थो (दीघ० 2. 284), अमञ्ञित्थो (थेर० 280, मज्झिम० 3. 247, जा० 2. 29), विहञ्ञित्थो (थेर० 385)।

अ० ए० 'इत्थ' (सं० 'इष्ट') : पुच्छित्थ (महा० 17. 33), मा जीयित्थ (जा० 1. 468), सन्दित्थ, (√स्यन्द्) (दीघ० 2. 129) : मा वो आवुसो एवं रुच्चित्थ, (धम्म० टी० 1. 13)।

भावकर्म :

सूवित्थ, (धम्म० टी० 1. 16), आदिस्सित्थ, (थेर० 170), दीयित्थ (संयुत्त० 1. 58)। इन रूपों में भी जहां मूर्धन्य होना चाहिए वहां दन्त्य का प्रयोग है।

प्रथम प्रकार

§ 160. गाथा-साहित्य में प्रथम प्रकार के रूप अधिकतम भाग में पाए जाते हैं। आगमिक और आगमोत्तर गद्य में भी ये रूप फुटकर रूप में मिलते हैं। अधिकतर स्वरान्त धातुओं के ये रूप होते हैं। उदाहरण :

1. **√गा गतौ**—उ० ए० अज्झगं, (थेर० 405, थेरी० 67.), अघिगं (थेरी० 122), समज्झगं (सयुत्त० 1. 103)।

म० ए० अज्झगा (विमान० 34. 7)।

अ० ए० अगा (सुत्त० 538), अज्झगा (दीघ० 1. 223)।

अ० ब० अज्झगा (जा० 1. 256, सुत्त० 330), उपच्चगं (अंगु० 1. 142 गाथा)।

उ० ब० आगम्हा (सुत्त० 597)। यद्यपि यह रूप तृतीय प्रकार का है किंतु उन्हीं रूपों के साथ सम्बद्ध है।

2. √स्था—अ० ए० अट्ठा (सुत्त० 429) (सं० अस्थात्)।

3. √भू—उ० ए० अहुं (जा० 3. 411, थेर० 316) (सं० अभूवम्), यह रूप 'अदं' के सादृश्य पर बना है।

म० ए० अहु (थेरी० 57, 190, पेत० टी० 11 गाथा) सं० अभूः।

अ० ए० अहू (धम्म० 228, सुत्त० 139, मज्झिम० 1. 487), अहुदेव (सुत्त० 4. 350) (सं० अभूत् एव)।

अ० ब० अहू, अहुं (दीघ० 2. 256 गाथा, महा० 2. 25) (सं० अभूवन्), यह रूप 'अदुं' के सादृश्य पर बना है।

उ० ब० अहुं (थेरी० 225)। अहुम्ह (दे० § 163. 3)।

4. अका (जा० 5. 29, टी० अकासि) वैदिक रूप 'आकर्' भी ऐतिहासिक है। उ० ए० अदा : अदं के सादृश्य पर—अका : अकं (जा० 5. 160, टी० अकरि)।

इसी प्रकार—उ० ए० अस्सुं (जा० 3. 542) (सं० अश्रौषम्)।

म० ए० अस्सु (जा० 3. 541, टी० अस्सोसि, अस्सोसि)।

अ० ए० अस्सु, रूप की भी कल्पना भी जा सकती है वैदिक, रूप अश्रोत्।

नीचे लिखे रूप भी ऐतिहासिक हैं :

अ० ए० अद्दा (सं० अद्राक्षीत्) (थेर० 1244)(वैदिक अद्राक्)।

अ० ब० आगु (आ+√गा) (दीघ० 2. 258) (सं० आगुः)।

अ० ए० आग (दीघ० 2. 258) (आहुः आहुः के सादृश्य पर नया रूप), और पावा (सुत्त० 782, 888) संभवतः प्र+√वच् से।

द्वितीय प्रकार

§ 161. (1) प्रथम प्रकार के समान द्वितीय प्रकार भी गाथा-साहित्य में बाहुल्य से मिलता है और उसके फुटकर रूप आगमिग और आगमोत्तर गद्य में भी मिलते हैं। उदाहरण :

(क) लङ् (अनद्यतनभूत) से बने हुए रूप :

उ० ए० कत्तं (सं० अकृत्रम्), पवपं (थेरी० 1112) (सं० प्रावपम्), पापतं (जा० 5. 70) (सं० प्रापतम्), अमञ्ञं (जा० 5. 215), (सं० अमन्ये), अददं (विमान० 34. 8) (सं अददम्)।

म० ए० अपुच्छसि (मूल प्रत्ययों के साथ) (सुत्त० 1050) (सं० अपृच्छः)।

अ० ए० पपता (वि० 3. 17) (सं० प्रापतत्)।
असरा (जा० 6. 199) (सं० असरत्)।
अमरा (जा० 3. 389) (सं० अम्रियत), वैदिक मरति (दे० § 137)।
म० ब० अमञ्ञथ (थेरी० 143) (सं० अमन्यथाः)।

आत्मनेपद :

अ० ए० अजायथ (दीप० 5. 40) (सं० अजायत), समपज्जथ (जा० 5. 71) (सं० समपद्यत)। उपज्जथ (थेर० 30) (सं० उदपद्यत)। अभस्सथ (सुत्त० 449) (सं० अभ्रश्यत्)। समकम्पथ (जा० 5. 570 आदि) (सं० समकम्पत)।

(ख) म० ए० में ओकारान्त रूप लुङ् से बने हैं :

मा पमादो (धम्म० 371, थेर० 119, संयुत्त० 4. 263, 264)। असदो (जा० 1. 414, विनय० 2. 195 गाथा), (सं० आसत्सीः)।

अ० ए० अभिद (जा० 3. 29, दीघ० 2. 107 गाथा) (सं० अभिदत्)। अभिदा (जा० 1. 247) (सं० अभिदत्), अछिदा (सुत्त० 357) (सं० अच्छिदत्)। आसदा (थेर० 774) (आसीदत्)।
अ० ब० अच्छिदुं (संयुत्त० (1. 35) (सं० अच्छिदन्)।

(2) आत्मनेपद-रूपों में एक नवीनता आ गई। तृतीय प्रकार के रूपों से 'थ' आदि प्रत्यय इसमें भी आ गए (दे० § 159. 3)— अलत्थ, पापत्थ, (सं० प्राप्सीत्)। ये रूप 'अभिद' आदि के समान माने जाने लगे। परिणामस्वरूप उन से उ० ए० आदि के रूप भी बनने लगे—

उ० ए० अलत्थं (विमान० 81. 22, थेर० 747, दीघ० 2. 268, जा० टी० 1. 141, धम्म० टी० 1. 51)।
म० ए० अलत्थ (संयुत्त० 1. 114)।
उ० ब० अलत्थम्ह (मज्झिम० 2. 63)।
अ० ब० अलत्थुं (दीघ० 2. 274 गाथा)।
तृतीय प्रकार के आधार पर : अलत्थंसु (संयुत्त० 1. 48)।
इसी प्रकार असयित्थ (चतुर्थ प्रकार) (§ 169.1) से—
उ० ए० असयित्थं (अंगु० 1. 136), अलभित्थं (थेर० 217) (* अलभित्थ)।

§ 162. (1) कर् (सं० √कृ) धातु का लुङ् वैदिक लङ् 'अकरम्' आदि से बना है :

उ० ए० अकरं (जा० 3. 209, 5. 70)।
म० ए० अकर (जा० 3. 135, 5. 69)।
अ० ए० अकरा (जा० 2. 230)।

उ० व० अकराम (मज्झिम० 2. 214), अकरम्ह (मज्झिम 2. 214)।

अ० ब० अकरुं (दीघ० 2. 266 गाथा, महा० 3. 33)।

(2) भू धातु के नीचे लिखे रूप तुदादि लङ् (हुवति) से बनाए गए हैं (दे० § 131. 2 टिप्पण) :

उ० ए० अहुवा (संयुत्त० 1. 36 गाथा)।

म० ए० अहुवा (संयुत्त० 1. 36 गाथा)।

अ० ए० अहुवा (जा० 2. 106, 3.131, विमान० 81.24)।

उ० व० अहुवाम (मज्झिम० 1. 93. 2. 214), अहुवम्ह (मज्झिम० 1.93, 2. 214)।

म० व० अहुवत्थ (संयुत्त० 4. 112, मज्झिम० 1. 445, धम्म० टी० 1. 57)।

(3) लुङ् में √द्रश् का दर्श हो जाता है :

उ० ए० अद्दसं (सुत्त० 837 थेरी० 48, जा० 3. 380, मज्झिम० 1. 79, जा० टी० 3. 380)। अद्दसामि (मूल प्रत्यय) (थेर० 1253, थेरी० 135, संयुत्त० 1. 168, विमान 50.12)।

म० ए० अद्दस (संयुत्त० 1. 115)।

अ० ए० अद्दस (विनय० 2. 192, जा० टी० 1. 222)।

उ० व० अद्दसाम (सुत्त० 31, जा० 2. 355, संयुत्त० 1. 196 गाथा, जा० टी० 3. 304)।

म० व० अद्दसथ (मज्झिम० 2. 108, जा० टी० 3. 304), अद्दसाथ (छन्दोनुरोधात्) (जा० 5. 55)।

अ० ब० अद्दसुं (दीघ० 2. 256 गाथा)।

(4) वच् धातु के लुङ् में दो प्रकार के रूप होते हैं :

(क) अवचं और (ख) अवोचं—

उ० ए० अवचं (जा० टी० 3. 280, धम्म० टी० 3. 194), अवोचं (थेरी० 124, विमान० 79.7, संयुत्त० 1. 10, धम्म० टी० 3. 285)।

म० ए० अवच (थेरी० 415), (अ)वोच (धम्म० 133)।

अ० ए० अवच (जा० टी० 1. 294), अवोच (थेरी० 494, संयुत्त० 1. 150, जा० टी० 2. 160)।

उ० व० अवचुम्ह, अवोचुम्ह (मज्झिम० 2. 91, 3. 15)।

म० व० अवचुत्थ (विनय० 2. 297, धम्म० टी० 1. 73), अवोचुत्थ।

अ० व० अवचुं (जा० 5. 260), अवोचुं (मज्झिम 2. 147)।

तृतीय प्रकार

§ 163. भाषा के सभी युगों में इस प्रकार के रूप पर्याप्त संख्या में मिलते हैं :

(1) **आकारान्त धातु**

√ज्ञा : (अज्ञासीत्), उ० ए० अब्भञ्ञासिं (विनय० 3. 5)।
अ० ए० अञ्ञासि (सुत्त० 540, विनय० 1. 18, जा० टी० 6.366)।
अ० ब० अब्भञ्ञासुं (सुत्त० 4.11) अथवा अब्भञ्ञंसु (दीघ० 2. 150) अञ्ञिंसु जा० टी० 3. 303 ('घ' प्रकार के प्रभाव से)।

प्र+√या : (अयासीत्), अ० ए० पायासि (दीघ० 2. 73, जा० टी० 1. 223)।
अ० ब० अभियंसु (संयुत्त० 216), पायिंसु (दीघ० 2. 96, धम्म० टी० 3. 257, जा० टी० 1. 254)।

प्र+√हा : (अहासीत्), पहासि (सुत्त० 1057)।

√दा : उ० ए० अदासिं (जा० टी० 1. 167, धम्म० टी० 1. 19)।
म० ए० अदासि।
अ० ए० अदासि (जा० टी० 1. 279)।
उ० ब० अदम्ह (विमान० 65.4, जा० 2.71), अदासिम्ह (थेरी० 518, जा० 120 (चतुर्थ प्रकार)।
म० ब० अदत्थ (जा० टी० 166)।
अ० ब० अदंसु (जा० टी 1. 222)।

√स्था : उ० ए० अट्ठासिं (थेरी० 73)।
अ० ए० अट्ठासि (विनय० 2. 195), (जा० टी० 2. 19)।
अ० ब० अट्ठंसु (सिच्) (दीघ० 2. 84, जा० टी० 2.96 आदि)।

√पा : अ० ब० अपंसु (उदान 78)।

√मा : अ० ब० पामिंसु (थेर० 469)।

(2) **इकारान्त धातु**

√नी : (अनैषीत्), अ० ए० नेसि (जा० टी० 5. 281)।
अ० ए० आनेसुं (जा० टी० 4. 137, महा० 5. 24 आदि)।

√जि : (अजैषीत्), अ० ए० अजेसि (विनय० 2. 1)।

√हि : (अहैषीत्), अ० ए० पाहेसि (थेर० 564, विनय० 1. 92, जा०टी० 2. 90)।
अ० ब० पाहेसुं महा० 25. 104)।

आकारान्त एवं इकारान्त धातुओं के बहुवचन रूपों के उदाहरण नहीं मिलते। लुङ् में असंकुचित रूपों के लिए दे § 167.1।

(3) **उकारान्त धातु**

√श्रु : (दे० § 159.3)।

√घू : (अघौषीत्), अ० ए० अघोसि, (सुत्त० 787)।

√भू : उक्त 'अघोसि' रूप के सादृश्य पर √भू का 'अभोसि' बन गया, जो उत्तरकाल में प्रमुख हो गया।

उ० ए० अहोसिं, (थेर० 620, जा० टी० 1. 106)।
म० ए० अहोसि (जा० टी० 1. 107)।
अ० ए० अहोसि (सुत्त० 835, विनय० 1. 23, जा० टी 1. 279) अनुभोसि (जा० टी० 3. 112), अधिमोसि (संयुत्त० 4. 185)।
उ० व० अहुम्ह (जा० 1. 362, धम्म० टी० 1. 57)।
अ० व० अहेसुं (विमान 74. 4, दीघ० 2. 5, जा० टी० 1. 149)।
अ० व० अधिभंसु (संयुत्त० 4. 185)। यह रूप 'अदंसु' के सादृश्य पर बना है। अन्यथा एकवचन में 'अधिमोसि' है।

(4) ऋकारान्त धातु

√कर् : दे० § 159.3
√हर् : (अहार्षीत्), उ० ए० पहासिं (थेरी० 99), विहासिं (थेर० 513 उदान 42, विनय० 3, 4)।
अ० ए० अहासि (धम्म० 3)। पहासि (जा० 3. 85, विमान० 29)।
अ० व० अहंसु, (जा० 5. 200), विहिंसु (थेर० 925)।

§ 164 व्यंजनान्त धातुओं का लुङ् : स्पर्श और ऊष्मान्त

जो धातु स्पर्शान्त अथवा ऊष्मान्त है उनमें भी ऐतिहासक रूप विद्यमान हैं :
अ० ए० अच्छेच्छि (अच्छेत्सीत्) (सुत्त० 355, थेर० 1275, मज्झिम० 1. 12 अंगु० 1. 134)। सक्खि (अशक्षीत्) (दीघ० 1. 96, विनय० 1. 10, मिलिन्द० 5)।
उ० ए० (अ) सक्खिं (थेर० 88, महा० 32. 43)।
म० ए० असक्खि (धम्म० टी० 1. 16)।
√क्रुश् : अवकोच्छि (धम्म० 3, जा० 3. 212) (* अक्रौशीत्)।
√विश् : पावेक्खि (जा० 3. 460) (*प्रावैक्षीत्)।
√दृश् : (दर्श्) के प्राचीन रूप अद्राक्षम्, अद्राक्षीः, अद्राक्षित्, अद्राक्षुः पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं :

उ० ए० (अद्) दक्खिं (सुत्त० 938, थेर० 510, थेरी० 147, विमान० 83-14)
म० ए० अद्दक्खि (जा० 3. 198)।
अ० ए० अद्दक्खि (सुत्त० 208, थेर० 986, संयुत्त० 1. 117 गाथा, विनय० 2. 195)।
अ० व० अद्दक्खुं (दीघ० 2. 256 गाथा), अद्दा (थेर० 986, 1244)। यह रूप भी अति प्राचीन है। यह वैदिक 'अद्राक' से बना है। अद्दा : अदं

के सादृश्य पर उ० ए० अद्दं (जा० 3. 380) रूप भी बनता है टीका में इस की व्याख्या 'अद्दसं' है।

§ 165. (1) अका, अकासि, अदा, अदासि आदि वैकल्पिक रूपों से नए प्रकार के रूप बनने लगे। ये रूप द्वितीय प्रकार पर आश्रित हैं, किंतु प्रत्ययों की विशेषता के कारण तृतीय में परिवर्तित हो जाते हैं :

इस 'अद्दसा' (§ 162. 3) से अद्दासि (थेरी० 309, जा० 5. 158, टी० अद्दस) बना लिया गया :

उ० ए० अद्दासिं (थेर० 287, जा० 2. 256)

अ० व० अद्दासुं (मज्झिम० 2. 98, विनय० 2. 190) तथा अद्दसंसु (मज्झिम० 179, विनय० 1. 8)।

इसी प्रकार अगमासि अगमा: के अतिरिक्त (थेर० 490, जा० टी० 1. 113, 2. 160, महा० 4. 44)।

अ० व० अगमंसु (विमान० 80. 6, जा० टी० 1. 143, 4. 3, धम्म० टी० 1. 64)।

उ० ए० अहुवासि (सिं) (विमान० 82. 6), अहुवा (दे० § 162. 2)।

म० ए० अवचासि (विमान० 35. 7, 53. 9)।

अ० ए० अवचासि (जा० 6. 525), अवच।

उ० ए० पिवासिं (उदान० 42) अ० ए० विरमासि (थेरी० 397 आदि)।

(2) तृतीय प्रकार के अधिक विस्तार का कारण यह कि जो धातु णिजन्त होने या अन्य किसी कारण से एकारान्त बन गए हैं उन के रूप 'जि', 'नी' आदि धातुओं (अजेसि, अनेसि) के समान होते हैं (दे० § 163. 2)। इसी प्रकार आकारान्त तथा ओकारान्त धातुओं के रूप भी तृतीय प्रकार (अकासि, अस्सोसि) के अनुरूप होते हैं। कुछ उदाहरण :

उ० ए० सेसिं (जा० 5. 70), (√'सेति' § 140)। वदेसिं (धम्म० टी० 3. 174), (§ 139. 2)। कथेसिं (जा० टी० 3. 369), (§ 139. 1), चिन्तेसि (सिं) (जा० 6. 570, चर्या० 1. 8. 1.), कारेसिं (जा० टी० 3. 12)।

म० ए० वदेसि (धम्म० टी० 3. 173), पच्चेसि (मज्झिम० 1. 445) ('एति' से, दे० § 140. 3)।

अ० ए० पूजेसि (जा० टी० 1. 422), कथेसि (विनय० 1. 15, जा० टी० 2. 154), पिधसि (महावंस 24. 52), (पि+√धा से) दे० § 142. 2),

अग्गहेसि (जा० टी० 1. 52), कारेसि, कारापेसि (जा० टी० 1. 63, 143 आदि), संगामेसि (§ 187. 1), जा० टी० 5. 417) ।

अ० व० समेसुं (जा० टी० 30), पूजेसुं (दीप० 16. 31), कथेसुं (जा० टी० 2. 256), अग्गहेसुं (सुत्त० 847), कारेसुं (जा० टी० 3. 9 आदि)।

प्र० तथा म० बहुवचन के उदाहरण नहीं मिलते। असंकुचित धातुओं के लुङ् रूपों के लिए दे० § 168. 4।

चतुर्थ प्रकार

§ 166. चतुर्थ प्रकार के रूप अधिकतर आगमिक और आगमोत्तर गद्य में मिलते हैं उन में से बहुत से रूपों को ऐतिहासिक माना जा सकता है :

√खाद् : अ० ए० खादि (महा० 6. 21) (सं० अखादीत्)।

√ग्रह् : उ० ए० अग्गहिं (थेर० 97), वैदिक अग्रहीम्।

अ० ए० अग्गहि (जा० 91) (सं० अग्रहीत्)।

√क्रम् : (अक्रमिषम्, अक्रमीत्), जिस प्रकार संस्कृत में अदुपध धातुओं का 'अ' दीर्घ हो जाता है इसी प्रकार यहां भी दीर्घ हो गया :

उ० ए० पक्कामिं (थेर० 34.)। अ० ए० पक्कामि (विनय० 1. 8, जा० टी० 2. 110), पक्कमि (महा० 19. 56)।

उ० ए० उपसंकमिंह (संयुत्त० 4. 97)।

अ० व० पक्कामुं (सुत्त० 1010), पक्कमिंसु (जा० टी० 1. 150)।

√त्रस् उद्वेगे : म० ए० मा वित्थासि (विनय० 1. 94)।

√पद् के सोपसर्ग रूप :

उ० ए० उदपादिं (दीघ० 1. 13)।

अ० ए० उदपादि (जा० 3. 29, दीघ० 1. 235)।

अ० व० आपादु (दीघ० 2. 273 गाथा)।

जिन धातुओं में 'अर्' आता है उन के दीर्घोपध रूप ऐतिहासिक हैं :

√चर् : (सं० अचरिषम्), उ० ए० (अ)चारि(म्) (थेर० 423 थेरी० 79)।

अ० ए० अचारि (धम्म० 326, सुत्त० 354)।

अ० ब० अचारिसुं (सुत्त० 284)।

√तर् : अ० ए० अतारि (सुत्त० 355) (वैदिक अतारीत्)।

अ० व० अतारु(म्) (सुत्त० 1045)।

इन के अतिरिक्त ह्रस्व उपधावाले रूप भी हैं। वे § 167 के अनुसार बनेंगे :

उ० ए० (अ)चरिं (थेरी० 107, जा० 5. 10)।

अ० ए० अचरि (सुत्त० 344), अतरि (जा० 3. 453), ओतरि (जा० टी० 2. 154)।

उ० ब० विचरिम्ह (थेरी० 305)।

अ० ब० अचरिंसु (सुत्त० 809), विचरिंसु (जा० टी० 2. 96), अतरिंसु (सुत्त० 1046)।

√कर् : उ० ए० करिं (जा० टी० 3. 393)।

म० ए० करि (थेरी० 432, जा० टी० 2. 22, 3. 276)।

अ० ए० अकरी (दीघ० 2. 157 गाथा)।

म० ब० करित्थ (जा० टी० 1. 263, 492. धम्म० टी० 1. 64)।

अ० ब० करिंसु (जा० टी० 2. 352)।

नीचे लिखी धातुओं का भी कुछ भाग ऐतिहासिक है :

उ० ए० (अ)लभिं (थेर० 218, थेरी० 78), उदिक्खिसं (थेर० 268), पच्चवेक्खिसं (थेर० 395) (सं० ऐक्षिष्ट), नन्दिस्सं (संयुत्त० 1. 176)(सं० अनन्दीत्), अदस्सिं (चर्या० 1. 2. 2), संधाविस्सं (थेर० 78), असेविस्सं (जा० 4. 178), (सं० असेविष्ट)।

म० ए० मा वदि (जा० टी० 2. 133)।

अ० ए० वेदि (धम्म० 419, 423), (अवेदीत्), वन्दि (सुत्त० 252, वसि। सुत्त० 977, जा० टी० 2. 158), पब्बजि (दीघ० 2. 29), (सं० प्राव्राजीत्), पावस्सि (सुत्त० 30), (सं० प्रावर्षीत्)।

उ० ब० पटिक्कोसिम्ह (मज्झिम० 1. 85), लभिम्हा (दीघ० 2. 147) आवसिम्हा (विमान० 65. 4)।

अ० ब० खादिंसु (जा० टी० 2. 129), अवत्तिंसु (सुत्त० 298) वड्ढिसु (जा० टी० 2. 105) (सं० अवर्धिष्ट), पटिक्कोसिंसु (मज्झिम० 1. 84) आदि।

भावकर्म, प्रेरणा और नामधातु को छोड़कर (§ 168. 3. 4) सन्नन्त (§ 184) एवं यङन्त (§ 185) के लुङ् में रूप चतुर्थ प्रकार के होते हैं :

उ० ए० अभिसिसिं (विमान० 81. 18), चंकमिं (थेर० 272)।

अ० ब० सुस्सुसिंसु (विनय० 1. 10)।

§ 167 (1) चतुर्थ प्रकार बहुत अधिक फैल गया। इसका कारण यह है कि दीर्घोपध को छोड़ कर इस प्रकार के रूप सभी धातुओं के वर्तमान रूप से बनाए गए हैं (दे० § 163. 2) और उनका प्रयोग भाषा के सभी युगों में हुआ है। उदाहरण :

अदन्त विकरणी गण

(क) **भ्वादि गण** (§ 130. 4) : परिलेहिस्सं (विमान० 82. 21, विमान० टी० 316)।

§ 131 के अनुसार—इकारान्त धातुओं में असंकुचित रूप से चतुर्थ लुङ् बनता है और संकुचित रूप से तृतीय लुङ् (दे० 165. 2)।

अ० ए० आनयि, (महा० 1. 30), तथा आनेसि।

उ० ब० आनयिम्ह (जा० टी० 3. 127)

अ० ब० आनयिसु (जा० टी० 4. 138) तथा आनेसुं।

√भू : अ० ब० भविंसु (धम्म० टी० 4. 15) (सं० अभाविषुः)। अहेसुं (संभवतया संकुचित रूप से)

§ 132 के अनुसार :

उ० ए० निसीदं (थेरी० 44), पतिट्ठहिं (चर्या० 3. 7. 3)।

अ० ए० अपिवि (महा० 6. 21), निसीदि (विनय० 1. 1.), उट्ठहि (जा० टी० 3. 104), अधिट्ठहि (थेर० 1131)।

अ० ब० निसीदिसुं (महा० 7. 40), निसीदिसु (दीघ० 1. 118), उट्ठहिंसु (जा० टी० 1. 202, धम्म० टी० 1. 201)

§ 133 के अनुसार :

उ० ए० अगच्छिसं (थेर० 258), अधिगच्छिस्सं (सुत्त० 446), उपागच्छिं (थेरी० 69)।

अ० ए० आगच्छि (सुत्त० 379), समागच्छि (विनय० 1. 96)।

म० ब० उपगच्छित्थ (महा० 5. 101)।

अ० ब० उपगच्छिंसु (विनय० 1. 92)।

कई रूपों में, विशेषतया लंका के प्रतियों में, च्छ के स्थान पर ञ्छ मिलता है :

अ० ए० आगञ्छि (सुत्त० 979, जा० टी० 3. 190), उपगञ्छि (चर्या० 2. 6. 9; दीघ० 1. 1, 2. 99)।

अ० ब० उपगञ्छुं (दीघ० 2. 99)।

§ 133. 3. के अनुसार :

अ० ए० आरुहि (महा० 35. 26)।

अ० ब० आरुहुं (महा० 11. 8)।

(2) **दिवादिगणी धातु :**

§ 134 के अनुसार :

उ० ए० पाविसिं (थेर० 60), अपुच्छिं (चर्या० 2. 6.5), अपुच्छिस्सं (सुत्त० 1116)।

म० ए० मागिली (धम्म० 371)।

अ० ए० फुसि (संयुत्त० 1. 120), (अ)पुच्छि (सुत्त० 698, जा० टी० 2. 133, 3. 401), आकिरि (महा० 15. 25), सुपि (मिलिन्द० 89)।

उ० ब० अपुच्छिम्ह (सुत्त० 875, मज्झिम० 2. 132, 176)।

अ० ब० पविसिंसु (महा० 18. 56), पुच्छिसु (जा० टी० 1. 221), पुच्छिसुं (महा० 10. 2), सुपिंसु (विनय० 2. 78)।

म० ए० अब्बुहि (थेरी 52) (पाठान्तर : अब्बही : धम्म० टी० 1. 30) आ+बर्ह् (बृहति)।

§ 135. 1 के अनुसार :

उ० ए० इच्छि (जा० 1. 267), इच्छिसं (संयुत्त० 1. 176 गाथा)।

अ० ए० इच्छि (जा० टी० 1. 492, 6. 367)।

§ 135. 2 के अनुसार :

उ० ए० अच्छिसं (थेर० 487)।

§ 135. 3 के अनुसार :

उ० ए० निब्बिन्द अहं (थेरी० 26) (सं० 'विन्दति' से)

अ० ए० ओसिञ्चि (विमान० 83. 8)।

अ० ब० मुञ्चिमु (जा० टी० 4. 142), अभिसिञ्चिसु (महा० 11. 41)।

§ 168. (3) **दिवादि गण**

§ 136. 1 के अनुसार :

अ० ए० निलीयि (जा० टी० 2. 208)।

अ० ब० निलीयिसु (जा० टी० 2. 200), अल्लीयिसु (जा० टी० 1. 347)।

उ० ए० अमञ्ञिस्सं (दीघ० 2. 352, मज्झिम० 3. 247)।

म० ए० आपज्जि (जा० 3. 83), पामज्जि (महा० 17. 10)।

अ० ए० कुप्पि (जा० टी० 1. 437), निपज्जि (जा० टी० 1. 279),

विज्झ (जा० टी० 2. 18), रुच्चि (विनय० 2. 188)।

उ० व० उपपज्जिम्ह (थेरी० 519)।

अ० व० नच्चिंसु (जा० टी० 1. 362), अनच्चुं (थेर० 164), निपज्जिसुं (महा० 7. 29) अथवा निपज्जिंसु (जा० टी० 1. 61), अमञ्ञिसुं (सुत्त० 286)।

§ 136. 3 के अनुसार :

उ० ए० अपस्सि (थेरी० टी० 52), अ० ए० पस्सि (जा० टी० 2. 66)।

उ० ए० पस्सिम्ह (जा० टी० 3. 278), अ० ए० पस्सिंसु (जा० टी० 4.141)।

§ 136. 4 के अनुसार : भावकर्म और नामधातु।

अ० ए० छिज्जि (जा० टी० 1. 329)।

आत्मनेपद प्रत्यय के साथ : अ० ए० भिज्जित्थ (जा० टी० 1. 468), इच्छित्थ (जा० टी० 1. 215), खीयि (जा० टी० 1. 489), खीयित्थ (विनय० 1. 57), संपूरि (जा० टी० 4. 458)।

अ० व० मुञ्चिसु (जा० टी० 2. 66), हञ्ञिसु (दीघ० 1. 142 आदि)।

उ० ए० नमस्सि (थेरी० 87)।

अ० ब० नमस्सिसु (सुत्त० 287, थेर० 628)।

§ 137 के अनुसार : अ० ए० जीयित्थ (जा० 1. 468)।

§ 138 के अनुसार :

उ० ए० भायि (धम्म० टी० 3. 187)।

म० ए० भायि (थेर० 764 जा० टी० 1. 222, धम्म० टी० 3. 187)।

अ० ए० जायि (जा० टी० 3. 391)।

आत्मनेपद : अ० ए० अजायित्थ (दीप० 5. 16), अनुपरियायि (धम्म० टी० 3. 202), वायि (संयुत्त० 4. 290), परिनिब्बायि (दीघ० 2. 156, जा० टी० 2. 113), समादीयि (जा० टी० 219)।

म० व० भायित्थ (विनय० 2. 1, जा० टी० 1. 253)।

अ० व० जायिंसु (महा० 28. 40), अजायिसुं (महा० 4. 45), गायिंसु (जा० टी० 1. 362)।

इसी प्रकार म० ए० पलायि (जा० टी० 2. 26)।

अ० ए० पलायि (जा० टी० 3. 72)।

आत्मनेपद : अ० ए० पलायित्थ (विनय० 1. 23, जा० टी० 3. 76)।

अ० व० पलायिंसु (महा० 24. 20) (सं० अपलायिष्ट)।

अ० ए० धूपायि (दे० § 186.2) (जा० टी० 1. 347 आदि)।

(4) चुरादिगण

§ 139 के अनुसार :

चुरादिगणी, णिजन्त तथा अयान्त नामधातु जब अपने असंकुचित रूप में होते हैं तो उन का लुङ् चतुर्थ प्रकार के समान होता है :

उ० ए० कम्पयिं (थेर० 1164), पञ्ञापयिं (थेरी० 428)।

म० ए० मा चिन्तयि (धम्म० टी० 1. 16)।

अ० ए० पकासयि (सुत्त० 251), अदेसयि (सुत्त०233), पूजयि (मिलिन्द० 222)।

आत्मनेपद : अ० ए० अमोहयित्थ (सुत्त० 332), अरोचयित्थ (सुत्त० 252)।

उ० ब० पापयिम्ह (धम्म० टी० 3. 39)।

म० ब० मा वड्ढयित्थ (धम्म० टी० 1. 93), मा दस्सयित्थ (धम्म० टी० 3. 201)।

अ० ब० पातयिंसु (थेर० 252), अकप्पयिंसु (सुत्त० 458), अकप्पयुं (सुत्त० 295), परिवारयिंसु (जा० टी० 2. 253), कथयिंसु (जा० टी० 2. 216 आदि।

संकुचित रूपों से तृतीय प्रकार के लुङ् के लिए दे § 165. 2। गाथाओं में संकुचित या असंकुचित रूप का चुनाव छंद के अनुरोध से होता है।

§ 169. अदन्तविकरणेतर गण :

(1) अदादिगण :

§ 140. 1 के अनुसार :

अ० ए० हनि (महा० 25. 42), रवि (जा० टी० 2. 110; 3. 102), अरवि महा० 32. 79) अरावि (ऐतिहासिक) (महा० 10. 69)।

अ० ब० हनिंसु (सुत्त० 295, विनय० 1. 88), रविंसु (जा० टी० 1. 202)।

सम+√इ (समेति), अ० ब० समिंसु (संयुत्त० 2. 154)।

§ 140. 4 के अनुसार :

अ० ए० असयित्थ (अंगु० 1. 136), ('सयति' से), सेत्थ (सुत्त० 970) ('सेति' से)।

(2) जुहुत्यादिगण : § 142 के अनुसार :

उ० ए० पजहिं (मज्झिम० 3. 160), जुहिं (थेर० 341)।

अ० ए० विजहि (जा० टी० 1. 489), सद्दहि (जा० टी० 2. 38)।

आत्मनेपद : अ० ए० सद्दहित्थ (धम्म० टी० 1. 117)। अ० ब० जहिंसु (जा० टी० 3. 19) तथा जहुं (जा० 3. 19), पिदहिंसु (महा० 31. 119), पाटिजग्गिंसु (जा० टी० 3. 127)।

§ 143 के अनुसार : म० ब० ददित्थ (जा० टी० 3. 171)।

(3) रुधादिगण

§ 144 के अनुसार :

उ० ए० मञ्जिं (मिलिन्द० 47, अनुयुञ्जिसं) (थेर० 157)।

अ० ए० अच्छिन्दि (महा० 5. 240), (अ)भिन्दि (अंगु० 4. 312 गाथा, जा० टी० 1. 467)। रुन्धि (जा० टी० 1. 409)।

उ० ब० पजहिम्हा (मज्झिम० 1. 448)।

म० ब० अनुयुञ्जित्थ (थेर० 414)।

अ० ब० अच्छिन्दिसु (विनय० 1. 88), भिंदिसु (दीप० 7. 54), अभुञ्जिंसु (थेर० 922), अभुञ्जिसुं (महा० 7. 25)।

(4) क्रयादि तथा स्वादिगण

§ 145 के अनुसार :

उ० ए० पटिजानिं (धम्म० टी० 1. 21), अभिजानिस्सं (थेर० 915),

अ० ए० अजानि (सुत्त० 536), संजानि (दीघ० टी० 1. 261)। अजिनि जा० 3. 212)।

अ० ब० जानिंसु (जा० टी० 2. 105), किनिंसु (सुत्त० 290)।

§ 146 के अनुसार :

म० ए० गण्हि (जा० टी० 6. 337), अ० ए० गण्हि (जा० टी० 6. 337)।

म० ब० गण्हित्थ (जा० टी 1. 254, 3. 127)।

अ० ब० गण्हिंसु (जा० टी० 3. 127)।

'बन्धति' से : उ० ए० अनुबन्धिं (सुत्त० 446), अनुबन्धिस्सं (जा० 6. 508)।

§ 147 1, 2 के अनुसार :

अ० ए० पहिणि (जा० टी० 1. 290)।

अ० ब० पहिणिंसु (जा० टी० 2. 21)। विनिच्छिनिंसु (जा० टी० 2. 2)।

§ 148 के अनुसार :

उ० ए० पापुणिं (थेर० 865, जा० टी० 1. 167)।

अ० ए० सक्कुणि (महा० 7.14), पापुणि (जा० टी० 1. 151)।

अ० ब० पापुणिंसु (जा० टी० 2. 111)।

§ 149 के अनुसार : अ० ब० अनुत्थुनिंसु (दीघ० 3. 86, 88)।

§ 170 फुटकर रूप : अब हमें कुछ फुटकर रूपों पर विचार करना है, जिनकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की जा सकती है :

दक्खिसं (थेरी० टी० 85 : अपदान से उद्धृत गाथा)। दक्ख् (='द्राक्ष') रूप तृतीय प्रकार (दे० § 164) में मिलता है। उसके आगे 'इसं' जोड़कर चतुर्थ प्रकार

बना लिया गया। संभवतया चौथे प्रकार के में 'इसं' और 'इं' दोनों रूप मिलने के कारण 'अदक्खि' के साथ भी 'अदक्खिसं' नया रूप बना लिया गया।

इसी प्रकार (अ)सक्खिस्सं (मज्झिम० 3. 179, अंगु० 1. 139)। उ० ब० सक्खिम्ह (दीघ० 2. 155)। अ० ब० सक्खिसु (महा० 8. 23), सक्खिसुं (महा० 23. 11)।

यह भी संभव है कि दृश और शक् के भविष्यत् से उपर्युक्त रूप बने हों। क्योंकि दक्खति और सक्खति कालक्रम से भविष्यवाचक नहीं रहे। उनसे वर्तमान का का बोध होने लगा (दे० § 136.3), उन्हें मूल रूप समझकर लुङ् बनाया गया—अदासिम्हा (थेरी० 518), टी० 295 'अदम्हा')। उपर्युक्त रूप का आधार तृतीय प्रकार है। इसी प्रकार अहेसुम्ह (मज्झिम० 1. 265) में भी वही आधार है।

उपर्युक्त सभी रूपों में दो प्रत्यय हैं। प्रतीत होता है उनमें 'ग' और 'घ' प्रकारों का परस्पर सम्मिश्रण हो गया है। इन्हें संस्कृत 'सिष्' वाले रूप मानने की अपेक्षा उपर्युक्त कल्पना अधिक संगत प्रतीत होती है।

पमादस्सं (मज्झिम० 3. 179, अंगु० 1. 139)। यह रूप पमादं द्वितीय प्रकार (§ 161) का चतुर्थ प्रकार में विस्तार है। इसके पहले 'सक्खिस्सं' रूप है। संभवतया उसी के प्रभाव के कारण यहां भी लगा दिया गया।

5. परोक्ष भूत

§ 171 भूतकाल के कुछ रूपों को छोड़कर परोक्षभूत (लिट्) का पालि से सर्वथा लोप हो गया है। बुबोध, सुसोच, जगाम (जा० 203) आदि रूप कृत्रिम काव्य में मिलते हैं। वे केवल पाण्डित्य के अवशेष हैं। इसलिए परोक्षभूत की रूपावली देना अनावश्यक है। परोक्षभूत के अंतिम अवशेष निम्नांकित हैं :

अ० ए० आह (सं० आह), (सुत्त० 790, विनय० 1. 40 गाथा, मज्झिम० 1. 14, जा० टी० 1. 121)।

अ० ब० आहु (सं० आहुः) (थेर० 188, धम्म० 345, जा० टी० 1. 59, महा० 1. 27)। आहंसु (इनके साथ नया रूप जोड़ दिया गया) (जा० टी० 1. 121, 122 आदि), विदु (विदुः) (सुत्त० 758, थेर० 497), विदुं (महा० 23. 78)। इस का समानार्थक रूप है 'वेदि' (§ 166) जो कि संभवतया संस्कृत 'अवेदीत्' से बना है।

6. अनद्यतन भविष्यत् (लुट्)

§ 172. संस्कृत के समान पालि में भी लुट् का प्रयोग मिलता है :

"आगन्तारो पुनब्भवं" (सुत्त० 754, मज्झिम० 2. 130) ।

"....इति चे, भिक्खवे, पुच्छितारो अस्सु" (सुत्त० 135) ।

"भवन्ति वत्तारो" : मज्झिम० 1. 469) ।

"भवन्ति उपसंकमितारो" (मज्झिम० 3. 111) ।

"तस्स कुम्भे पातितामि" (जा० टी० 3. 113) । इस वाक्य में या तो 'पतिता-'म्हि' पढ़ा जाएगा या सामान्य भविष्यत् 'पतिस्सामि' का विकृत रूप माना जाएगा ।

§ 173. (1) **पूर्ण वर्तमान** : भूतकृदन्त तथा वर्तमान अस् या भू के मेल से पूर्ण वर्तमान बनता है। अन्य पुरुष में अत्थि (अस्ति) या होति (भवति) का प्रयोग नहीं होता । पालि के प्रत्येक काल में इस के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं :

अकर्मक क्रियाएं : उ० ए०—पब्बजितो म्हि (थेर० 72) सं० प्रव्रजितोऽस्मि । ओतिण्णो म्हि (मज्झिम० 1. 192) सं० अवतीर्णोऽस्मि । सीतिभूतोस्मि (थेर० 79), स्त्रीलिंग : सीतिभूत'अम्हि (=-ताम्हि) (थेरी० 15), आगतो'म्हि (जा० टी० 2. 20) ।

म० ए० थितो'सि (जा० 3. 53) । स्त्रीलिंग : सीतिभूतासि (थेरी० 16), गतासि (जा० टी० 2. 416) ।

अ० ए० उप्पन्नं (होति) (मज्झिम० 1. 130), नहातो (जा० टी० 1. 184) ।

उ० ब० वुत्थम्ह (=वुत्था अम्ह) (जा० टी० 4. 243), सीतिभूतम्ह (स्त्रीलिंग) (थेरी० 66), आगत्'अम्हासे (दीघ० 2. 275 गाथा) ।

म० ब० आगतत्थ (जा० टी० 1. 20), जातत्थ (धम्म० टी० 3. 59) ।

अ० ब० आगता (महावंस 14.12) ।

(2) **सकर्मक क्रियाएं** : सकर्मक क्रियाओं में पूर्ण वर्तमान कर्मवाच्य है—

उ० ए० स्त्री० मुत्तम्हि (=मुत्ता अम्हि) (थेरी० 11), वञ्चितम्मि (सिच्) (वञ्चिता अम्हि, स्त्री०) (जा० टी० 1. 287), निमन्तितम्ह, निमन्तितत्थ (विनय० 3. 10. 11) ।

इन रूपों में कर्ता तृतीया या षष्ठी-चतुर्थी में आता है। उदाहरण :

"महाकच्चानो सत्थु चेव संवण्णितो संभावितो" महाकात्यायनः शास्तुरेव संवर्णितः (संभावितः) (मज्झिम० 3. 194 संयुत्त० 4. 93) । पत्तो मे आसवक्खयो (थेर० 116) ।

कुछ सकर्मक क्रियाओं में पूर्ण वर्तमान कर्तृवाच्य भी होता है :

पत्तोति निब्बानं (धम्म० 134, विमान० 53. 29, महावंस 4. 65 आदि)।

भूतकृदन्त के साथ सहायक क्रियाएं लगा कर अन्य कालों एवं भावों को भी प्रकट किया जा सकता है :

पत्तो अभविस्सं (पूर्ण भूत) (जा० टी० 1. 470)। गतो भविस्सति (भविष्यत्) (जा० टी० 2. 214 आदि)।

§ 174. **अपूर्ण वर्तमान या भूत :** जब वर्तमान अथवा भूतकाल में क्रिया का जारी रहना प्रकट करना हो तब भी कृदन्त के द्वारा प्रयोग बनते हैं। वे रूप वर्तमान कृदन्त तथा अस्ति या सामान्यार्थक क्रियाओं के मेल से बनते हैं :

(1) **वर्तमान कृदन्त 'अस्ति' के साथ**—सयानो म्हि (मज्झिम० 1. 57)। ठितो म्हि। निसिन्नो म्हि। उपर्युक्त धातुओं में 'क्त' प्रत्यय वर्तमानार्थक है।

(2) **वर्तमान कृदन्त 'तिट्ठति' के साथ :** "ते अञ्ञं-अञ्ञं पत्वा सरीरानि लेहन्ता अट्ठंसु" (जा० टी० 2. 31) ('वे अभी तक एक-दूसरे के शरीर को चाट रहे थे', किन्तु धम्म० टी० 93 से यह अर्थ प्रकट होता है—वे वहां चाटते हुए ठहरे थे···)।

(3) **ल्यबन्त और तिट्ठति :** "मूलं पि तेसं पलिक्खञ्ञ तिट्ठे" (सुत्त० 968)। "महन्तं फण करित्वा अट्ठासी" (विनय० 1. 3)। "हत्थिलण्डं···एकस्मिं गुम्बे लग्गित्वा अट्ठासि" (एक झाड़ी से लटका रहा)(दे० संयुत्त० 4. 60, थेर० 98, मज्झिम० 1. 247 आदि)।

(4) **वर्तमान कृदन्त चरति या विचरित के साथ :** "नाञ्ञेसं पिहयं चरे" (धम्म० 365)। "बोधिसत्तो एकं उपमं उपधारेन्तो विचरति" (जा० टी० 3. 102), दे० दीघ० 1. 26, जा० टी० 3. 16, दीघ० 2. 287, जा० टी० 1. 503 आदि)।

(5) **ल्यबन्त विरहति के साथ :** "पठमज्झानं उपसंपज्ज विहरति" (दीघ० 1. 37), (दे० मज्झिम० 1. 33, सुत्त० पृ० 15 आदि)

(6) **ल्यबन्त वत्तति के साथ :** "गोतमो इमे धम्मे अनवसेसं समादाय वत्तति" (दीघ० 1. 164, दे० दीघ० 1. 230 आदि)

(7) **ल्यबन्त वोहरति के साथ :** "सो तदेव अभिनिवस्स वोहरति" (मज्झिम० 3. 210, दे० मज्झिम० 1. 410)

7. भावकर्म

§ 175. (1) भावकर्म बनाने के लिए दो प्रकार हैं :—(क) 'य' लगाकर और (ख) 'इय' लगाकर :

(क) जो भावकर्म 'य' लगाकर बनाया जाता है वह दिवादिगण के साथ मिश्रित हो गया है। (दे० § 136. 4)। स्वर के पश्चात् 'य' में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु व्यंजनान्त धातुओं में पूर्ववर्ती व्यंजन में विलीन हो जाता है (दे० ध्वनिनियम)।

(क) स्वरान्त धातु :

(1) आकारान्त —ज्ञा : ञायति (ज्ञायते) (मिलिन्द० 25), पञ्ञायति (प्रज्ञायते) (दीघ० 1. 93, जा० टी० 1. 435)।

दा और धा : दीयति (दिय्यति) (थेरी० 467, दीघ० 1. 114), धीयति (धिय्यति) (दीघ० 1. 73, मज्झिम० 1. 37, मिलिन्द० 289) (सं० दीयते, धीयते)। आदियति, समादियति, उपादियति (दे० § 136. 4)। इन रूपों में भावकर्म 'आत्मनेपद' अर्थात् कर्तृगामी-क्रियाफल को प्रकट करता है (तु० सं० आदत्ते तथा § 176. 1)।

हा–हीयते : हीयति तथा हिय्यति (थेर० 114), निहीयति (थेर० 555), पहिय्यति (संयुत्त० 4. 31), हायति (जा० 1. 181, धम्म० टी० 1. 11 गाथा, दीघ० 2. 208, जा० टी० 1. 279)।

श्या : सीयति (थेर० 312, विमान० 335) (सं० शीयते)।

इकारान्त, उकारान्त धातु : जीयति (जिय्यति) (धम्म० 179, जा० 2. 75, मज्झिम० 3. 170), पराजीयति (जा० टी० 1. 290)।

नी : नीयति (निय्यति) (सुत्त 580, मज्झिम० 1. 371) (सं० नीयते)।

क्षि : परिक्खीयन्ति (थेरी० 347) (सं० क्षीयते)।

भू : अनुभुय्यति (विमान० टी० 181)।

श्रु : सूयति (सुय्यति) (जा० 4. 141, 6. 528, मज्झिम० 1. 30, जा० टी० 1. 72, मिलिन्द० 152) (सं० श्रूयते)।

(2) ऋकारान्त धातु : कृ–कर् : कयिरति (§ 47. 2) (धम्म० 202 संयुत्त० 1. 180 गाथा, विनय० 2. 289) (* कर्यते)।

पृ–पर् : पूरति (धम्म० 121, जा० 1. 498, जा० टी० 1. 460) (सं० पूर्यते)।

हृ–हर् : परिहीरति (थेर० 453, सुत्त० 205), संहीरति (मज्झिम० 3. 188, 189) (सं० ह्रियते)।

भृ–भर् : अनुभीरति (मज्झिम० 123)।

(3) व्यंजनांत धातु : वच् (उच्यते), वुच्चति (धम्म० 63 दीघ० 1. 168), पच् (पच्यते), पच्चति, रुज् (रुज्यते) लुज्जति (दे० § 44), कथ् (कथ्यते) कच्छति (मज्झिम० 2. 253), विद् (विद्यते) विज्जति (थेर० 132, सुत्त० 21, दीघ० 1. 18), बन्ध् (बध्यते) वज्झति (थेर० 137, जा० टी० 1. 428), भण् (भण्यते) भञ्ञति (विनय० 1. 2. जा० टी० 1. 444), हन् (हन्यते) हञ्ञति, तन् (तायते) पतायन्ति (दीघ० 3. 201 गाथा, जा० 3. 288), वप् (उप्यते) वुप्पति (थेर० 530), दृश् (दृश्यते) दिस्सति (थेर० 44 विनय० 1. 16), कृष् (कृष्यते) कस्सते (थेर० 530),

गृह् (गृह्यते, गय्हते (§ 49) (विनय० 1. 88), दह् (दह्यते) दय्हति (सुत्त० 63, विनय० 1. 109, मज्झिम० 3. 184), विळरहसे (जा० 2. 220), वि+वह् व्युह्यते) वुय्हति (थेर० 98, विनय० 1. 100), निब्बुय्हति (निर्व्युह्यते) (थेरी० 468) ।

§ 176. (ख) 'इय' भावकर्म: 'इय' वाला रूप प्रेरणार्थक णिजन्त तथा तत्सदृश धातुओं में अधिकतर पाया जाता है:

भाजियति (भाज्यते) (उदान 48), परिचारियति (परिचार्यते) (विनय० 1. 15, दीघ० 2. 325), दस्सियति (दर्श्यते) (दीघ० 2. 124), अद्दियति (थेरी० 140) अर्द्यते, पञ्ञापियति ('पञ्ञापेति' से) (धम्म० सं० टी० 113) (प्रज्ञाप्यते), वेसियति ('वेसेति' से) (मज्झिम० 1. 88), वेश्यते, सोधीयति 'सोधेति' से (बुद्ध० 2. 40), शोध्यते, पासियति ('पोसेति' से) (जा० 3. 289) (पोष्यते) ।

इसी प्रकार सारियति (स्मार्यते) मारियति (मार्यते), चोदियति (चोद्यते), पूजयिति 'पूजेति' से (पूज्यते) (महावंस 17. 17) ।

कभी-कभी इन कर्मवाच्यों में प्रेरणा का अर्थ नहीं प्रतीत होता । उदाहरण:

वेदियति (वेद्यते,) (अर्थ: वेत्ति), (मज्झिम० 1. 59, अंगु 1. 141), वादियति (वाद्यते, अर्थ: वदति) (सुत्त० 824, 832), सादियति (अपने-आप स्वाद लेता है: यहां कर्म का अर्थ कर्तृगामी क्रियाफल है।) (विनय० 2. 294, 3. 29, दीघ० 1. 166), (सं० स्वाद्यते) ।

(2) सार्वधातुक रूपों से इय लगाकर भी कर्मवाच्य बनाया जाता है:

(क) उन धातुओं से जिनका सार्वधातुक रूप मूल धातु के समान है:

याचियति (महावंस 7. 14) √याच्, पुच्छियति (धम्म० टी० 1. 10), √पृच्छ्, समनुगाहियमान (समनुगाह्यमाण) (अंगु० 5. 156 आदि) √गाह् ।

उपर्युक्त शब्दों में संस्कृत और पालि रूपों में परस्पर केवल स्वरभक्ति का अंतर है। उदाहरणार्थ: सं० याच्यते, पृच्छ्यते, गाह्यते । किन्तु हरियति ('हरति' से) (मज्झिम० 3. 148), सं० ह्रियते, युञ्जियति ('युञ्जति' से)—समनुयुञ्जियमान, (अंगु० 5. 156) सं० युज्यते (§ 144) ।

(3) कर्मवाच्य 'य' से 'इय' लगाकर नया कर्मवाच्य बनता है, जिसमें दो प्रत्यय आते हैं (दे० § 175. 3):

परिच्छिज्जियमान ('छिज्जति' से) (धम्म० टी० 1. 22, 35), (सं० छिद्यते, √छिद्), अनुपलब्भियमान ('उपलभति' से) (संयुत्त० 3. 112, अंगु० 1. 174), (सं० उपलभ्यते) ।

§ 177. भावकर्म में प्रत्यय दिवादिगण के समान होते हैं। दे० वर्तमान के लिए § 136, भविष्यत् के लिए § 155, भूत (लुङ्) के लिए 168. 3 ।

इकारान्त धातुओं के अ० ए० लुङ् के रूप फुटकर रूप में मिलते हैं : अभेदि (सं० अभेदि), निरोधि (उदान 93 गाथा), (सं० अरोधि), समतानि (दीघ० 3. 85) (सम्+अतानि)।

8. प्रेरणार्थक (णिजन्त)

§ 178. णिजन्त के अधिक रूप ऐतिहासिक हैं। केवल संस्कृत का 'अय्' ए में बदल जाता है :

(1) अपरिवर्तित धातु—पापेति (जा० टी० 1. 223, 2. 11) (प्र+आप् : प्रापयति), संसन्देति (जा० टी० 1. 403), (सम्+स्यन्द् : संस्यन्दयति)।

इसी प्रकार **रोपध अथवा लोपध धातु**—दस्सेति (थेर० 86, धम्म० 83, जा० टी० 3. 276) (दर्शयति), कप्पेति (सुत्त० 295, जा० टी० 1. 140) (कल्पयति), (छर्दयति), वट्टेति (वर्त्तयति), वड्ढेति (वर्द्धयति), विस्सज्जेति, (विसर्जयति), हंसेति (हर्ष-छड्डेति यति)।

(2) **अकारोपध धातु** —

(क) संस्कृत के समान अ दीर्घ हो जाता है—वादेति (सुत्त० 1010, जा० 1. 293, जा० टी० 2. 110), (वादयति) उब्भाहेति (दीघ० 2. 347) (उद्वाहयति) हासेति (विनय० 3. 84), हासयति।

इसी प्रकार गाहेति=ग्राहयति। तापेति=तापयति, पातेति=-पातयति, -पादेति=-पादयति, यादेति (§ 38. 3)=यातयति, वासेति=वासयति, सादेति=सादयति, सामेति=शमयति, लाभेति, लब्भेति (विनय० 4. 5 गाथा, जा० टी० 1. 193, धम्म० टी० 3. 213)=लम्भयति।

रकारान्त धातु—कारेति (जा० 3. 394, जा० टी० 1. 107)=कारयति, पूरेति (सुत्त० 30. 305, जा० टी० 2. 1 आदि)=पूरयति।

इसी प्रकार तारेति=तारयति, थारेति=स्तारयति, धारेति=धारयति, मारेति=मारयति, वारेति=वारयति, सारेति=सारयति, सारेति=स्मारयति।

(ख) संस्कृत के समान बहुत सी धातुओं में 'अ' ह्रस्व रह जाता है—गमेति (मज्झिम० 3. 166, अंगु० 1. 141), आगमेति (विनय० 1. 78, जा० टी० 2. 21)=गमयति।

इसी प्रकार जनेति-जनति, दमेति-दमयति, यमेति (धम्म० 37. 380) =यमयति, भमेति=भ्रामयति (महावंस 23. 80)।

(ग) उपधा का 'अ' कहीं ह्रस्व मिलता है और कहीं दीर्घ—जालेति (ह्रस्व : मिलिन्द० 47), (दीर्घ : जा० टी० 2. 44, 104)=ज्वालयति, नमयन्ति (धम्म०

80, थेर० 19), किन्तु पणामेति (जा० टी० 2. 28, विनय० 1. 5, 2. 303 आदि)=सं० केवल 'नमयति', निक्खामेति (ह्रस्व : जा० टी० 2. 112, दीर्घ : विनय० 1. 187, 188, जा० टी० 3. 99)=सं० क्रमयति, निष्क्रामयति।

§ 179. (3) **उपधा में इ, उ वाले धातु**

छेदेति (छेदयति) (जा० 3. 179, महावंस 21. 18) √छिद्, देसेति (देशयति) (सुत्त० 722, विनय० 15, दीघ० 1. 195, जा०टी० 2. 12) √दिश्, पवेसेति (प्रवेशयति) (विनय० 3. 29, मज्झिम० 3. 169 जा०टी० 1. 419), चोदेति (चोदयति) (धम्म० 379, विनय० 1. 114, अंगु 5. 79, √चुद्, सोधेति (सोधयति) (धम्म० 141, मज्झिम० 1. 39 गाथा, विनय० 1. 47, जा०टी० 1. 291)।

इसी प्रकार पेसेति=प्रेषयति प्र √इष्, चेतेति=चेतयति (विमान० 84. 40, दीघ० 1. 184, विनय० 3. 19) √चित्, वेदेति=वेदयति, सिनेहेति=स्नेहयति (मिलिन्द० 172), पोसेति=पोषयति, आरोचेति=आरोचयति, भोजेति=भोजयति, योजेति=योजयति, पलोभेति=प्रलोभयति, सोचेति=शोचयति।

(4) **इकारान्त, उकारान्त धातु**

भाययते (जा० 3. 99)=√भी भाययति, चावेति (सुत्त० 442, विनय० 1. 120)=√च्यु च्यावयति, भावेति (थेर० 83. 166, जा० 2. 22, दीघ० 2. 79, जा० टी० 1. 415)=भावयति, सावेति (जा० 3. 437, विनय० 1. 36, जा० टी० 1. 344, महावंस 5. 238)=√श्रु श्रावयति।

इसी प्रकार नायेति=√नि नावयति, ओपिलापेति (§39. 6)=√प्लु प्लावयति, हापेति (§39. 6)=हावयति।

(5) **मिश्रित धातु** : संस्कृत के समान—

दुस्सति (विनय० 1. 188) से प्रेरणार्थ दूसेति (जा० 1. 454), (विनय० 1. 85, जा० टी 1. 358) सं० दूषयति, पदोसेति (सुत्त० 659, संयुत्त० 4. 70 गाथा, मज्झिम० 1. 186) पदूसेति (मज्झिम० 1. 129), √हन् घातेति (सुत्त० 629, धम्म० 129, संयुत्त० 1. 116), जा० टी० 1. 255, महावंस 6.41) सं० घातयति, √प्री पीणेति (दीघ० 1.51, महावंस 36. 77, रसवाहिनी 2.96) सं० प्रीणयति।

नच्चेति (दीघ० 1. 135, धम्म० टी० 3. 231) यहां प्रेरणा रूप √नृत् (नृत्य) 'नच्चति' पर आश्रित है (§ 136), लग्गेति (जा० टी० 3. 107, धम्म०टी० 1. 138 'लग्गति' से. (§ 136)।

§ 180. **आकारान्त धातु**—संस्कृत के समान कुछ आकारान्त धातुओं से प्रेरणा में 'अय्' के स्थान में 'पय्' आता है। उस का पालि में 'पे' हो जाता है। कुछ धातुओं में संस्कृत के समान 'आ' ह्रस्व हो जाता है। इसी प्रकार कुछ धातुओं में 'अ'

ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों प्रकार का आता है। जिन धातुओं का 'आ' संस्कृत में ह्रस्व नहीं होता उनके भी पालि में दोनों रूप मिलते हैं :

(1) दापेति (विनय॰ 1. 55, जा॰ टी॰ 4. 138)=दापयति, समादपेति, (यहां ह्रस्व है), निधापेति (महावंस 20. 12)=निधापयति, निद्धापेति (जा॰ 4. 41)=निर्ध्यापयति), विज्झापेति (विनय॰ 1. 31) (√क्षा, § 56. 2) ञापेति (विनय॰ 1. 56, जा॰ 2. 133)=ज्ञापयति, पञ्ञापेति=प्रज्ञापयति, आणापेति=आज्ञापयति (दे॰ § 63. 2), मापेति=मापयति, निम्मापेति=निर्मापयति, यापेति=यापयति (जा॰ 6. 532), दीघ॰ 1. 166, जा॰ टी॰ 3. 67, निब्बापेति=निर्वापयति (दीघ॰ 2. 164, जा॰ टी॰ 1. 472), ठपेति=स्थापयति (ह्रस्व अ : धम्म॰ 40, थेर॰38, दीघ॰ 1. 120, जा॰ टी॰ 1. 223), (दीर्घ आ : सुत्त॰ 112, अंगु॰ 2. 46 गाथा), नहापेति=स्नापयति (दीघ॰ 1. 93. 2.19, जा॰ टी॰ 1. 166), हापेति=हापयति (ज॰ पा॰ टै॰ सो॰ 1906-7, पृ॰ 163)।

(2) संस्कृत के समान 'पय कुछ ऐसी धातुओं के साथ भी आता है जो आकारान्त नहीं हैं :

रोपेति (सुत्त॰ 208, विनय 2. 2, जा॰टी॰ 2. 37), आरोपेति, (वि)आरोपेति=सं॰ रोपयति, रोहयति √रुह्, उस्सापेति (§58. 3)=उच्छ्रापयति (उद्+श्रि), जापेति (संयुत्त॰ 1. 116, मज्झिम॰ 1. 231)=जापयति √जि, आनापेति (विनय॰ 1. 116, जा॰ टी॰ 3. 391, महावंस 9. 25) आ पूर्वक नी धातु, संस्कृत में 'आनाययति' होता है।

(3) पायेति (विनय 2. 289, दीघ॰ 2. 19, जा॰ टी॰ 3. 98, 6. 336), सं॰ पाययति।

§ 181. आकारान्त धातुओं के प्रेरणार्थक रूप के आधार पर अनेक नए रूप भी बने। 'आपय' से पालि-रूप 'आपे' ने दो कार्य किए—(क) सार्वधातुक सभी रूपों से 'आपे' जोड़ कर प्रेरणार्थक बनाया जाने लगा, तथा (ख) प्राचीन प्रेरणार्थक रूपों से 'आपे' जोड़ कर दो प्रत्ययों वाला नया प्रेरणार्थक रूप बनने लगा। इस प्रकार के नए रूप गाथा-साहित्य में प्रचलित नहीं हैं। किंतु आगमिक गद्य में मिलते हैं और उत्तरवर्ती काल में असाधारण रूप से बढ़ गए हैं—

(1) सार्वधातुक रूपों से प्रेरणार्थक रूप

§ 130 के अनुसार : वसापेति (जा॰ टी॰ 1. 290 : 2. 27), पच्चापेति (जा॰ टी॰ 2. 15), खमापेति (विनय॰ 1. 54, जा॰ टी॰ 2. 29 महावंस 4. 40), सन्दापेति (मिलिन्द॰ 122), हरापेति (जा॰ टी॰ 2. 38, 106), उद्धरापेति (विनय॰ 4.39), सरापेति (विनय॰ 3. 44)।

§ 132 के अनुसार : निसीदापेति (जा॰ टी॰ 3. 292, 6. 367)।

80, थेर० 19), किन्तु पणामेति (जा० टी० 2. 28, विनय० 1. 5, 2. 303 आदि)=सं० केवल 'नमयति', निक्खामेति (ह्रस्व : जा० टी० 2. 112, दीर्घ : विनय० 1. 187, 188, जा० टी० 3. 99)=सं० क्रमयति, निष्क्रामयति।

§ 179. (3) **उपधा में इ, उ वाले धातु**

छेदेति (छेदयति) (जा० 3. 179, महावंस 21. 18) √छिद्, देसेति (देशयति) (सुत्त० 722, विनय० 15, दीघ० 1. 195, जा०टी० 2. 12) √दिश्, पवेसेति (प्रवेशयति) (विनय० 3. 29, मज्झिम० 3. 169 जा०टी० 1. 419), चोदेति (चोदयति) (धम्म० 379, विनय० 1. 114, अंगु 5. 79, √चुद्, सोधेति (सोधयति) (धम्म० 141, मज्झिम० 1. 39 गाथा, विनय० 1. 47, जा०टी० 1. 291)।

इसी प्रकार पेसेति=प्रेषयति प्र √इष्, चेतेति=चेतयति (विमान० 84. 40, दीघ० 1. 184, विनय० 3. 19) √चित्, वेदेति=वेदयति, सिनेहेति=स्नेहयति (मिलिन्द० 172), पोसेति=पोषयति, आरोचेति=आरोचयति, भोजेति=भोजयति, योजेति=योजयति, पलोभेति=प्रलोभयति, सोचेति=शोचयति।

(4) **इकारान्त, उकारान्त धातु**

भाययते (जा० 3. 99)=√भी भाययति, चावेति (सुत्त० 442, विनय० 1. 120)=√च्यु च्यावयति, भावेति (थेर० 83. 166, जा० 2. 22, दीघ० 2. 79, जा० टी० 1. 415)=भावयति, सावेति (जा० 3. 437, विनय० 1. 36, जा० टी० 1. 344, महावंस 5. 238)=√श्रु श्रावयति।

इसी प्रकार नायेति=√नि नावयति, ओपिलापेति (§39. 6)=√प्लु प्लावयति, हापेति (§39. 6)=हावयति।

(5) **मिश्रित धातु** : संस्कृत के समान—

दुस्सति (विनय० 1. 188) से प्रेरणार्थ दूसेति (जा० 1. 454), (विनय० 1. 85, जा० टी 1. 358) सं० दूषयति, पदोसेति (सुत्त० 659, संयुत्त० 4. 70 गाथा, मज्झिम० 1. 186) पदूसेति (मज्झिम० 1. 129), √हन् घातेति (सुत्त० 629, धम्म० 129, संयुत्त० 1. 116), जा० टी० 1. 255, महावंस 6.41) सं० घातयति, √प्री पीणेति (दीघ० 1.51, महावंस 36. 77, रसवाहिनी 2.96) सं० प्रीणयति।

नच्चेति (दीघ० 1. 135, धम्म० टी० 3. 231) यहां प्रेरणा रूप √नृत् (नृत्य) 'नच्चति' पर आश्रित है (§ 136), लग्गेति (जा० टी० 3. 107, धम्म०टी० 1. 138 'लग्गति' से (§ 136)।

§ 180. **आकारान्त धातु**—संस्कृत के समान कुछ आकारान्त धातुओं से प्रेरणा में 'अय्' के स्थान में 'पय्' आता है। उस का पालि में 'पे' हो जाता है। कुछ धातुओं में संस्कृत के समान 'आ' ह्रस्व हो जाता है। इसी प्रकार कुछ धातुओं में 'अ'

ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों प्रकार का आता है। जिन धातुओं का 'आ' संस्कृत में ह्रस्व नहीं होता उनके भी पालि में दोनों रूप मिलते हैं :

(1) दापेति (विनय० 1. 55, जा० टी० 4. 138)=दापयति, समादपेति, (यहां ह्रस्व है), निधापेति (महावंस 20. 12)=निधापयति, निद्धापेति (जा० 4. 41)=निर्ध्यापयति), विज्झापेति (विनय० 1. 31) (√क्षा, § 56. 2) ञापेति (विनय० 1. 56, जा० 2. 133)=ज्ञापयति, पञ्ञापेति=प्रज्ञापयति, आणापेति=आज्ञापयति (दे० § 63. 2), मापेति=मापयति, निम्मापेति=निर्मापयति, यापेति=यापयति (जा० 6. 532), दीघ० 1. 166, जा० टी० 3. 67, निब्बापेति=निर्वापयति (दीघ० 2. 164, जा० टी० 1. 472), ठपेति=स्थापयति (ह्रस्व अ : धम्म० 40, थेर०38, दीघ० 1. 120, जा० टी० 1. 223), (दीर्घ आ : सुत्त० 112, अंगु० 2. 46 गाथा), नहापेति=स्नापयति (दीघ० 1. 93. 2.19, जा० टी० 1. 166), हापेति=हापयति (ज० पा० टे० सो० 1906-7, पृ० 163)।

(2) संस्कृत के समान 'पय कुछ ऐसी धातुओं के साथ भी आता है जो आकारान्त नहीं हैं :

रोपेति (सुत्त० 208, विनय 2. 2, जा०टी० 2. 37), आरोपेति, (वि)आरोपेति=सं० रोपयति, रोहयति √रुह्, उस्सापेति (§58. 3)=उच्छ्रापयति (उद्+श्रि), जापेति (संयुत्त० 1. 116, मज्झिम० 1. 231)=जापयति √जि, आनापेति (विनय० 1. 116, जा० टी० 3. 391, महावंस 9. 25) आ पूर्वक नी धातु, संस्कृत में 'आनाययति' होता है।

(3) पायेति (विनय 2. 289, दीघ० 2. 19, जा० टी० 3. 98, 6. 336), सं० पाययति।

§ 181. आकारान्त धातुओं के प्रेरणार्थक रूप के आधार पर अनेक नए रूप भी बने। 'आपय' से पालि-रूप 'आपे' ने दो कार्य किए—(क) सार्वधातुक सभी रूपों से 'आपे' जोड़ कर प्रेरणार्थक बनाया जाने लगा, तथा (ख) प्राचीन प्रेरणार्थक रूपों से 'आपे' जोड़ कर दो प्रत्ययों वाला नया प्रेरणार्थक रूप बनने लगा। इस प्रकार के नए रूप गाथा-साहित्य में प्रचलित नहीं हैं। किंतु आगमिक गद्य में मिलते हैं और उत्तरवर्ती काल में असाधारण रूप से बढ़ गए हैं—

(1) सार्वधातुक रूपों से प्रेरणार्थक रूप

§ 130 के अनुसार : वसापेति (जा० टी० 1. 290 : 2. 27), पच्चापेति (जा० टी० 2. 15), खमापेति (विनय० 1. 54, जा० टी० 2. 29 महावंस 4. 40), सन्दापेति (मिलिन्द० 122), हरापेति (जा० टी० 2. 38, 106), उद्धरापेति (विनय० 4.39), सरापेति (विनय० 3. 44)।

§ 132 के अनुसार : निसीदापेति (जा० टी० 3. 292, 6. 367)।

§ 133 के अनुसार : उसापेति (जा० टी० 2. 31)।

§ 134 के अनुसार : खिपापेति (जा० टी० 2. 36, महावंस 20. 35), पुच्छापेति (महावंस 10. 70), ओकिरापेति (स० पा० 339, महावंस, 34. 44)।

§ 135 के अनुसार : इच्छापेति, मुञ्चापेति (दीघ० 1. 148), विलिम्पापेति (जा० टी० 1. 254), सिञ्चापेति (जा० टी० 2. 20, 104)।

§ 136 के अनुसार : निपज्जापेति (जा० टी० 1. 492, 2. 21, महावंस 9. 25), बुज्झापेति (जा०टी० 1. 407), विज्झापेति (महावंस 25. 70), छेज्जपेस्सामि (मिलिन्द० 90), यह रूप सन्दिग्ध है। प्रतीत होता है कर्मवाच्य से बनाया गया है। वास्तव में 'छिज्जापेस्सामि' रूप होना चाहिए।

§ 137 के अनुसार : जीरापेति (जा०टी० 1. 419)।

§ 138 के अनुसार : गायापेति (धम्म० टी० 3. 231), दायापेति (धम्म० टी० 3. 285) √दो : द्यति से, पलापेति (जा० टी० 2. 69, धम्म०टी० 3. 97)।

§ 140 के अनुसार : हनापेति (जा० टी० 1. 262), सयापेति (जा० टी० 1. 245, 5. 461, महावंस 31. 55)।

§ 142. 2 के अनुसार : निदहापेति (जा० टी० 2. 38), सद्दहापेति (जा० टी० 1. 294, 6. 575)।

§ 144 के अनुसार : छिन्दापेति (जा० टी० 1. 438, 2. 104, 3. 179), भिन्दापेति (जा० टी० 1. 290), हिंसापेति (पेत० टी० 123)।

§ 145 के अनुसार : जानापेति (जा० टी० 1. 452, 2. 21)।

§ 146 के अनुसार : गण्हापेति (जा० टी० 1. 264, 2. 105)।

§ 147 के अनुसार : सुणापेति (धम्म० टी० 1. 206)।

सन्नन्त 'तिकिच्छति' (§ 183) से 'तिकिच्छापेहि' (धम्म० टी० 1. 25) बना।

§ 182. (2) दो प्रेरणा-प्रत्यय वाले रूप :

दो प्रेरणा-प्रत्यय वाले रूपों की संख्या भी अत्यधिक है।

§ 178. 1, 2 के अनुसार : कप्पापेति (दीघ० 1. 49, 2. 189, जा० टी० 2. 96), छड्डापेति (जा० टी० 1. 357), वड्ढापेति (जा० टी० 1. 455), विसज्जापेति (जा० टी० 1. 294, 2. 31, महावंस 6. 43), गाहापेति (जा० टी० 1. 166, 2. 37), पटियादापेति (दीघ० 2. 88, 127, जा० टी० 1. 453), अधिवासापेति (जा० टी० 1. 254), कारापेति (विनय० 1. 89), ओहारापेति (विनय० 1. 22), मारापेति (जा० टी० 2. 417, महावंस 22. 19), पूरापेति (महावंस 35. 7)।

§ 179 के अनुसार : छेदापेति (दीघ० 1. 52, महावंस 35. 42), सोघापेति (जा० टी० 1. 305, 2. 19, महावंस 25. 5), योजापेति (दीघ० 2. 95, 96)। पोसापेति (जा० टी० 1. 290), आरोचापेति (दीघ० 2. 127, जा० टी० 1, 153), घातापेति (विनय० 1. 277), लग्गापेति (महावंस 33, 11)।

§ 180 के अनुसार : ठपापेति (जा० टी० 2. 20, महावंस 36. 104), रोपापेति (दीघ० 2. 179, स० पा० 341, महावंस 34. 40)।

चेतापेति : यह रूप ध्यान देने योग्य है। रूप की दृष्टि से यह दो प्रत्यय वाला चेतेति (चेतयति) से बना है। किंतु अर्थ की दृष्टि से 'चि' को प्रकट करता है।

उपर्युक्त रूपों में दो प्रेरणाओं का अर्थ प्राय: लुप्त हो गया। किंतु किसी-किसी उदाहरण में स्पष्ट है। उदाहरणार्थ :

(1) (विनय० 1. 49 में) 'विनोदेति' के साथ 'विनोदापेति' आता है। ऐसी दशा में वह अपने अर्थ—दो प्रेरणाओं—को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

(2) अथवा, अब अकर्मक धातु से सामान्य प्रेरक रूप बनाया जाता है और पुन: प्रेरक प्रत्यय लगाकर उसे द्विकर्मक बना दिया जाता है। जैसे ठपेति और ठपापेति।

§ 183. प्रेरक रूपों से आने वाले प्रत्यय

सार्वधातुक के लिए दे० § 139, भविष्यत् के लिए दे० § 151 तथा 155, लुङ् के लिए दे० § 165. 2 तथा 168. 4, प्रेरक का कर्मवाच्य के लिए दे० § 176. 1।

9. इच्छार्थक सन्नन्त

§ 184. पालि के इच्छार्थक रूप भाषा के प्राचीन काल से लिए गए हैं। वे भाषा में प्रचलित नहीं हैं। उदाहरण :

जिगुच्छति (जुगुप्सते० √गुप्) (सुत्त 215. 95, थेरी 469, 471, दीघ० 1. 213, विनय० 1. 87, 88, जा० टी० 1. 422), जिघच्छति (जिघित्सति √घस्) (दीघ० 2. 266, गाथा) (जिघच्छा : धम्म० 203), विचिकिच्छति (विचिकित्सति √चित्) (दीघ० 1. 106; संयुत्त० 2. 17), तिकिच्छति (चिकित्सति) (विनय 1. 71, जा० टी० 1. 485), तिकिच्छा (चिकित्सा), तेकिच्छ (चिकित्स्य) (§ 41. 2), जिगिसति-जिगीसति, (सुत्त० 700, थेर० 743, 1110)=सं० जिगीषति √जि, तितिक्खति (धम्म० 321, 399, जा० 3. 38, संयुत्त० 1. 221 गाथा)=सं० तितिक्षति √त्यज्, पिवासमि (कच्चा० 3. 2. 3, सेनार्त पृ० 434)=सं० पिपासति √पा, बुभुक्खति (कच्चा० 3. 2. 3)=सं० बुभुक्षते √भुज्, विमंसति (मज्झिम० 1. 125, जा० टी० 1. 279, महावंस 5. 258, 14. 16)=सं० मीमांसति (§ 46. 1) √मन्, ववक्खति (दीघ० 2. 256 गाथा)=सं० विवक्षति √वच्, सुस्सूसति (दीघ० 1. 230, मज्झिम० 3. 133, अंगु० 4. 393)=सं० शुश्रूषते √श्रु।

दुर्बल तथा संकुचित रूप भी संस्कृत के समान मिलते हैं :

दिच्छति (संयुत्त० 1. 18 गाथा)=सं० दित्सति, अ० ब० दिच्छरे (संयुत्त० 1. 18) √दा, सिक्खति (ज० पा० टे० सो० 1909, पृ० 157) =सं० शिक्षते √शक्, सिसति (विमान० 64. 7, 81. 18), सं० (सि) सीर्षति √सर्।

संस्कृत के इच्छति और ईप्सति पालि में मिलकर इच्छति हो गए हैं।

प्रत्ययों के लिए दे० § 130. 6, 154. 4, 166 (अन्त), 181. 1 (अन्त)।

10. भृशार्थक (यङन्त एवं यङ्लुगन्त)

§ 185. पालि में भृशार्थक भी संस्कृत-रूपों से बने हैं। अधिकतर नीचे लिखे रूप मिलते हैं :

चंकमति (विनय० 1. 15, 87, दीघ० 1.89, सुत्त० पृ० 101, 112)=सं० चंक्रमते √क्रम्, दद्दल्लति (संयुत्त० 1. 127 गाथा, दीघ० 2. 258 गाथा)=सं० जाज्वल्यते (§ 41.2) √ज्वल् लालप्पति (सुत्त० 580, जा० 3. 217, महावंस 32. 68), लालप्पित (जा० 6. 498)=सं० लालप्यते √लप्, लोलुप्प (जा० 1. 429, जा०टी० 1. 340)=सं० लालुप √लुप्, काकच्छति (नींद में बोलता है) (जा० टी० 1. 61, 160, 318, मिलिन्द० 85) संभवतया सं० 'कथयति' से।

कई बार संस्कृत यकारान्त के स्थान पर पालि रूप अकारान्त मिलता है :

जंगमति=सं० जंगम्यते √गम्, चंचलति=सं० चञ्चल्यते √चल्, मोमुहति (सुत्त० 841), विशेषण : (मोमुह § 37)=सं० मोमुह्यते √मुह्, जागरति, जग्गति=सं० जागर्ति (दे० § 142. 4)।

भृशार्थक प्रत्ययों के लिए दे० § 130. 6, 154. 4 (अंत)।

11. नामधातु

§ 186. आय् लगाकर बने हुए नामधातुओं की संख्या बहुत अधिक है :

(1) अकारान्त विशेषणों से बने हुए

चिरायति (जा० टी० 1. 426, 3. 498, 6. 521)=सं० चिरायति, ते, दन्धायति (जा० टी० 3. 141) √दन्घ् (पृ० 84 पा० टि० 1), पियायति (थेरी० 285, जा० टी० 2. 27 133)=सं० प्रिय, मच्छरायति (जा० टी० 3. 158, 6. 334)=सं० मत्सर, सुखायति (जा० टी० 2. 31)=सं० सुखायते।

(2) अकारान्त संज्ञाओं से बने हुए

कुक्कुच्चायति (विनय० 1. 191, जा० टी० 2. 15) 'कुकुच्च' से। धूपायति (विनय० 1. 180, संयुत्त० 1. 169, धम्म० टी० 3. 244)=सं० धूपायति, धूमायति मज्झिम० 3. 184, दीप० 15. 67)=सं० धूमायति-ते, महायति (जा० 4. 236)=

सं० मह, रहायति (मज्झिम० 2. 119)=सं० रहस्, वेरायति (दीप० 15. 67), सद्दायति (उदान 61, मिलिन्द० 258, 259, जा० टी० 3. 288)=सं० शब्दायते, सारज्जायति (संयुत्त० 3. 92) 'सारज्ज' से, पब्बतायति 'पब्बत' से (कच्चा० 3. 2. 4 सेनर्ट पृ० 434), समुद्दायति 'समुद्द' से (कच्चा० 3. 2. 24 सेनर्ट पृ० 442)।

इसी प्रकार हरायति (लज्जित होता है) (विनय० 1. 87, 88, दीघ० 1. 213), हिरी= √ह्री से। यहां ह्री का 'हर्' प्रिय के 'प्र' आदि के सादृश्य पर है।

(3) सर्वनाम-रूपों से बने हुए :

ममायति (थेर० 1150, धम्म० टी० 1. 11 गाथा) महावंस 20. 4)=सं० ममायते।

(4) ध्वनियों के अनुकरणों (Onomatopoeic) से बने हुए रूप पर्याप्त संख्या में हैं :

किणकिणायति (जा० 3. 315, टी० किणिकिणयति) गग्गरायति (मिलिन्द० 3)=सं० गर्गर, गळगळायति (थेर० 189, दीघ० 2. 131, संयुत्त० 1. 106), घुरुघुरायति (जा० टी० 3. 538), सं० घुर्घुरायते, चिच्चिटायति अथवा चिटिचिटायति (§ 20), तटतटायति (जा० टी० 1. 347, विमान० टी० 121), तिन्तिणायति (जा० टी० 1. 244, 3.225), दद्दभायति (जा० 3. 77), धमधमायति (मिलिन्द० 117)।

(5) नीचे लिखे रूप भृशार्थक हैं :

उग्गहायन्ति (सुत्त० 791), वैदिक गृभायति, फुसायति (फुसति) (संयुत्त० 1. 104, 106), पचलायति (नींद में सिर हिलाता है) थेर० 200, जा० टी० 1. 381), ओच्चिनायति (जा० 6. 4), पतायन्ति (जा० 3. 283 ; टी० निक्खमन्ति), संभवतः संकसायति भी (संयुत्त० 1. 202, अंगु० 1. 69), (संकासायति : संयुत्त० 2. 277)।

§ 187. 'अय' (संकुचित : ए) एवं आपय (संकुचित : आप) वाले नाम-धातु, प्रेरणार्थक रूपों के समान हैं :

(1) अय (ए) के साथ :

गोपयति, गोपेति (धम्म० 315, धम्म० टी० 3. 488)=सं० गोपयति—ते, विजटेति (मिलिन्द० 3) 'जटा' से, (तीरेति उदान 13, विनय० 3. 12, दीघ० 2. 341, जा० टी० 3. 292)=सं० तीरयति, थेनेति (जा० टी० 2. 410, 3. 18)=सं० स्तेनयति, थोमेति (विनय० टी० 102),=सं० स्तोमयति, धूमयति (स० पा० 315) तथा धूमयति, पत्थेयति, पत्थेति (थेर० 51, थेरी० टी० 38)=सं० प्रार्थयते, (सं)पिण्डेति (जा० टी० 1. 230, धम्म० टी० 17, महावंस 36. 108)=सं० पिण्डयति, पिहयति-पिहेति (धम्म० 94, थेर० 62, आदि)=सं० स्पृहयति, वलेति

(जा० 3. 255) = सं० बलयति, भुसेति(जा० 5. 218, टी० भुसं करोति), वड्ढेति = सं० भृशायते, मग्गयति (थेरी० 384 'मग्ग' से) = सं० मार्गयते, मन्तयति, मन्तेति (अंगु० 1. 199 गाथा, विनय० 2. 299, महावंस 4. 20) सं० मन्त्रयति, आमन्तेति (थेर० 34, दीर्घ० 1. 88, 2. 209, विनय० 1. 55) = सं० आमन्त्रयति, यन्तेति (जा० टी० 1. 418) = सं० यन्त्रयति, संगामेति (इत्ति० 75, संयुत्त० 1. 83, जा० टी० 2. 11. 5, 417), समोधानेति (जा० टी० 1. 9. 106) 'समोधान' से, = सं० समवधानयति, साकच्छेति (ज० पा० टे० सो० 1909, पृ० 137) = सं० साकच्छा, सुखेति (दीर्घ० 1. 51) = सं० सुखयति।

(2) आपय (आपे) के साथ : उस्सुक्कापेति (थेरी० टी० 5, विमान० टी० 95), उस्सुक्कति (उस्सुक्क मुरमुरापेति) (ध्वनि-अनुकरण) (जा० टी० 3. 134) उस्सुक = सं० औत्सुक्यम्, ओपुञ्जापेति (विनय० 3. 16) 'पुञ्ज' से = सं० पुञ्जयति।

आमन्तापेति (दीघ० 1. 134), सुखापेति, दुक्खापेति (दीघ० 2. 202, मिलिन्द० 79)—उपर्युक्त तीन रूपों में प्रेरणा का अर्थ स्पष्ट है।

§ 188. **नाम धातु (1) अकारान्त शब्द :**

अत्रिच्छति (जा० 1. 414. 207) 'अत्रिच्छा' से, उसूयति, उसुय्यति 'उसूया' से (§ 16. 1) = सं० असूयति, उस्सुक्कति (दीघ० 1. 230), 'उस्सुका' से, परिपञ्हति (मज्झिम० 1. 223, अंगु० 5. 16), 'पञ्ह' से, विज्जोतलति (मज्झिम० 1. 86, 87), सज्झायति (मिलिन्द० 10, जा० टी० 1. 435) 'सज्झाय' (सं० 'स्वाध्याय)' से, सज्झापयति, सज्झापेति (जा० 3. 28, जा० टी० 3. 29), सज्झायापेति (मिलिन्द० 10)।

इसी प्रकार तिन्तिणति (जा० टी० 1. 243), तिन्तिणायति (§ 186. 4), दन्धति (जा० 3. 141), दन्धायति (§ 186. 1), धूपति (महावंस 12. 14), धूपायति (186. 2) सारज्जति (अंगु० 4. 359)। सारज्जायति (186.27)।

(2) **य वाले रूप :**

आकारान्त शब्दों से—करुणायति (विमान० टी० 100) 'करुणा' से (अथवा § 186. 1 के अनुसार 'करुण' शब्द से) = सं० करुणायते ; मेत्तायति (जा० टी० 1. 365) 'मेत्ता' से, अथवा 'मेत्त' विशेषण से।

इकारान्त संज्ञाओं से—व्याधीयति (अंगु० 2. 172)। उ के पश्चात् य का व हो जाता है :—

कण्डुवति (46. 1) = सं० कण्डूयति, तपस्सति (य् पूर्ववर्ती व्यंजन में विलीन हो गया) (धम्म० टी० 1. 53) = सं० तपस्यसि, नमस्सति = सं० नमस्यति।

(ख) इय अन्त वाले रूपों से—अत्तियति (संयुत्त० 1. 131 गाथा, विनय० 1. 86) 'अत्त' (सं० 'आर्त्त') से, पट्टिसेनियति (सुत्त० 390) पटिसेना-प्रतिसेना) से (से० बु० ई० 10.2, पृ० 64 तथा कच्चा० 3. 2. 5 (सेनर्त पृ० 435) पुत्तियति-पुत्तीयति, धनीयति ।

§ 189. नामधातु प्रत्ययों के लिए दे० :

(1) वर्तमान : § 136. 4, 138 (अन्त में), 139 ।

(2) भविष्यत् : § 151. 3, 154, 3. 155 (अंत में) ।

(3) लुङ् : § 165. 2. 168. 3 तथा 4 ।

12. कृदन्त प्रकरण

(1) कर्तृवाच्य वर्तमान और भविष्यत् कृदन्त

§ 190. वर्तमान कृदन्त 'न्त' (अ) (§ 97) विविध प्रकार के रूपों से बनते हैं :

(क) § 130 के अनुसार—वसन्त् (अ) (सुत्त० 43, जा० 3. 396, जा० टी० 3. 190), जीवन्त् (सुत्त० 427, थेर० 44), खादन्त (जा० टी० 3. 276), चरन्त् (अ) (धम्म० 61, सुत्त० 89, 1079, जा० टी० 1. 152. 2. 15) ।

(ख) इच्छार्थक रूपों से—जिगुच्छन्त (जा० टी० 1. 422), विचिकच्छन्त (नित्ति० 9. 11), तिकिच्छन्त (संयुत्त० 1. 162 गाथा) ।

(ग) भृशार्थक रूपों से—चङ्कमन्त (विनय० 1. 133) ।

§ 131 के अनुसार—जिनन्त (संयुत्त० 1. 116), भवन्त (§ 98. 3), पहोन्त (धम्म० टी० 3. 137), अभिसम्भोन्त (थेर० 351), असम्भुणन्त (सुत्त० 396) ।

§ 132 के अनुसार—पिवन्त (धम्म० 205, धम्म० टी० 3. 269, जा० टी० 1. 460), तिट्ठन्त (सुत्त० 151, 1092), ठहन्त (विनय० 1. 9) ।

§ 133 के अनुसार—गच्छन्त (सुत्त० 579, 960 जा० टी० 2. 39 आदि) ।

§ 134 के अनुसार—फुसन्त (इति० 68 गाथा), सुपन्त (विनय० 1. 15) ।

§ 135 के अनुसार—इच्छन्त (थेर० 167), मुञ्चन्त (सुत्त० 791), विलिम्पन्त (जा० टी० 3. 277) ।

§ 136 तथा 137 के अनुसार—नच्चन्त् (अ) (जा० 6. 497), सुस्सन्त (जा० टी० 1. 503, 2. 424), पस्सन्त (अ) (सुत्त० 837, मज्झिम० 1. 64, जा० टी० 1. 168) ।

भावकर्म अर्थ वाली भावकर्मात्मक क्रियाएं—मुच्चन्त (जा० टी० 1. 118),

(नलाटतो सेदे मुच्चन्ते), खज्जन्त् (थेर० 315), याचियन्त (महावंस 7. 14), वारियन्त (महावंस 34. 86)।

नामधातुओं से (§ 188. 2) नमस्सन्त (दीघ० 2. 208 गाथा)।

§ 138 के अनुसार—झायन्त्(अ) (थेर० 85, धम्म० 395, विनय० 1. 2 गाथा, मज्झिम० 2. 105 गाथा), उपवायन्त (थेर० 544)।

नासधातुओं से (§ 186, 1)—चिरायन्त (जा० टी० 6. 521), धूमायन्त (महावंस 25. 31)।

§ 139 के अनुसार—नन्दयन्त, सोचयन्त (मिलिन्द० 226), भावयन्त (थेर० 166), निवारयन्त (थेर० 730), विहेठयन्त (धम्म० 184), पाचेन्त (दीघ० 1. 52), कारेन्त (जा० टी० 1. 107), दापेन्त (दीघ० 1. 52), घातेन्त (दीघ० 1. 52)।

§ 140 के अनुसार—हनन्त् (अ) (जा० 2. 407, दीघ० 1. 52, जा० टी० 2. 407), पच्चक्खन्त् (कर्ता ए० व० पच्चक्खं) (थेर० 407) (ख्या धातु), एन्त (जा० टी० 6. 365) (इ धातु), सयन्त्(अ) (सुत्त० 193, जा० 6. 510)।

§ 141 के अनुसार—सन्त् (अ) दे० § 98. 2।

§ 142, 143 के अनुसार—समादहन्त् (संयुत्त० 5. 312), सद्दहन्त (जा० टी० 1. 212), जागरन्त् (धम्म० 39), जग्गन्त् (संयुत्त० 1. 111 गाथा), ददन्त् (सुत्त० 187, विमान० 67. 5, दीघ० 2. 136 गाथा), ददन्त(विमान० 83. 13, दीघ० 1. 52, विमान० टी० 294), देन्त (पेव० टी० 11, जा० टी० 1. 265)।

§ 144, 148 के अनुसार—भुञ्जन्त (जा० टी० 3. 277), भिन्दन्त (महावंस (5. 185), जानन्त् (सुत्त० 320, 508, धम्म० 384, मज्झिम० 1. 64, मिलिन्द० 48), जानन्त (जा० टी० 1. 223, 2. 128), गण्हन्त (जा० टी० 3. 52, 275), विचिनन्त (जा० टी० 3. 188), सुणन्त (सुत्त० 1023), सवन्त्: भ्वादिगण के अनुसार (जा० 3. 244), सक्कोन्त (मिलिन्द० 27, जा० टी० 2. 26), कुब्बन्त् (थेर० पृ० 323, धम्म० 51, जा० 3. 26)=सं० कुर्वन्त्, करोन्त् (षष्ठी ए० व० करोतो, षष्ठी ब० व० करोतं § 97. 1), करोन्त (जा० टी० 1. 98, 2. 109, 3. 188, धम्म० टी० 3. 123) (आगमोत्तर गद्य में यह रूप सर्वसामान्य है) तथा करन्त् (थेर० 146)।

§ 191 भाषा के प्रत्येक युग में वर्तमान कृदन्त मान, 'न्त' के साथ-साथ परस्मैपद धातुओं से भी बड़ी संख्या में आता रहा है :

§ 130 के अनुसार—वसमान (जा०टी० 1. 291), लभमान (सुत्त० 924, जा० 2. 106), जीवमान (जा० टी० 1. 307), चरमान (सुत्त० 413, दीघ० 1. 87)।

इच्छार्थक धातुओं से—सुस्सूसमान (सुत्त० 383)।

भृशार्थक धातुओं से—जागरमान(धम्म० 226), दद्दल्लमान (संयुत्त० 1. 127 गाथा)।

नामधातु से—(§ 188. 1) सारज्जमान (अंगु० 4. 359)।

§ 131-135 के अनुसार अनभिसंभुणमान (दीघ० 1. 101), तिट्ठमान (जा० टी० 1. 52), गच्छमान (जा० टी० 4. 3), संफुसमान (सुत्त० 671)।

§ 136 के अनुसार : अधिकतर भावकर्म से (तु० § 175)—दिय्यमान (धम्म० टी० 3. 191)=सं० दीयमान, हिय्यमान√हा) (थेर० 114), नोयमान (सुत्त० 1. 127 गाथा), कयिरमान (विनय० 2. 289, दीघ० 2. 103, अनुभीरमान(मज्झिम० 3. 133), वुच्चमान (विनय० 1. 60, 3. 221), विज्जमान (जा० टी० 1. 214, 3. 127), भञ्ञमान (विनय० 1. 11, 70, दीघ० 1. 46), तप्पमान (थेर० 32), गय्हमान (धम्म० सं० टीका 18)=सं० गृह्यमान, वुय्हमान (थेर० 88, विनय० 1. 33, संयुत्त० 4. 179), डय्हमान (थेर० 39, धम्म० 371), देसियमान (विनय० 1. 17), पोसियमान (जा० टी० 1. 492), सारियमान (विनय० 3. 221), वारियमान (जा० टी० 4. 2), दस्सियमान (दीघ० 2. 124), पूजियमान (म० वो० वं० 141), वुट्ठापियमान (अंगु० 1. 139), पुच्छियमान (धम्म० टी० 1. 10), याचियमान (जा० टी०) 4. 138। दोहरे कर्मवाच्य से भी—छिज्जियमान (§ 176. 2 अंत में)।

नामधातु से—(§ 188. 2. 3) अट्टियमान (विनय० 2. 292, जा० टी० 1. 292), नमस्समान (विनय० 1. 3)।

§ 137- 138 के अनुसार : जीरमान (थेर० 32), अथवा जिय्यमान (मज्झिम० 3. 246)=सं० जीर्यमाण, मिय्यमान (मज्झिम० 3. 246), ञायमान (उदान 93)।

नामधातु से (§ 186. 1)—सुखायमान (जा० टी० 2.31)।

§ 139 के अनुसार : केवल असंकुचित धातुओं से—सारयमान (जा० टी० 1. 50) कारयमान (जा० टी० 1. 149 आदि)।

नामधातु से (§ 187. 1)—पत्थयमान (जा० टी० 1. 279)।

§ 140 तथा 142 के अनुसार : सयमान (थेर० 95), सेमान (जा० 1. 180, दीघ० 2. 24, अंगु० 1. 139), संदहमान (धम्म० सं० टीका 113), ददमान (संयुत्त० 1. 19 गाथा, जा० टी० 2. 154) (वैदिक : ददमान)।

§ 144-148 के अनुसार : भुञ्जमान (थेर० 12, सुत्त० 240), जानमान (सुत्त० 1064, जा० टी० 1. 168), परिगण्हमान (जा० टी० 2. 2), अञ्हमान (सुत्त० 239) (* अञ्हान=अश्नान), सुणमान (जा० टी० 3. 215, धम्म० टी०

3. 156), कुब्बमान (सुत्त० 897) तथा कुरुमान (जा० टी० 1. 291, दीप० 9. 17)।

प्रयोग-बाहुल्य के कारण 'मान' भूतकृदन्त के साथ भी जोड़ दिया जाता है :

पदुट्ठमान (धम्म० टी० 1. 179=पदुट्ठ), विभातमान (धम्म० टी० 1. 165), विभात, अलद्धमान (रस० 1. 35) सं० अलब्ध। ये उत्तरकालीन प्रयोग हैं।

§ 192. 'आन' वाले वर्तमान कृदन्त अल्प हैं। ये प्रायः गाथा-साहित्य में मिलते हैं। कुछ प्रयोग आगमिक गद्य में भी मिलते हैं। उदाहरण :

एसान (धम्म० 131)=सं० एषमाण, अभिसंबुद्धान (धम्म० 46), अनुट्ठहान (धम्म० 280), अहेठ्ठयान (संयुत्त० 4. 179 गाथा), पत्थयान (सुत्त० 976, विमान० 84. 7), सयान (जा० 3. 95, दीघ० 1. 90)=सं० शयान, सद्दहान (संयुत्त० 1. 20 गाथा) तथा समादहान (संयुत्त० 1. 169 गाथा)=सं० दधान, कुब्बान (धम्म० 217) (सं० कुर्वाण) तथा असंखरान (संयुत्त० 1. 126 गाथा), पुरेक्खरान (सुत्त० 910)।

कर्मवाच्य ले—परिपुच्छियान (सुत्त० 696), आसीन (√आस् उपवेशने, सं० आसीन) (धम्म० 227, 386, जा० 1. 363, 390, 3. 95, दीघ० 2. 212 गाथा), किंतु यह रूप अल्पप्रयुक्त है।

193. भविष्यत् काल के रूपों में न्त् लगाकर भविष्यत् बहुत कम बनाया गया है। इसलिए कर्मकारक एकवचन में—(मरिस्सं (§ 97. 2) (जा० 3. 214), 'मरिस्सन्तं=मरिष्यन्तं, के स्थान पर (टी० यो इदानी मरिस्सति तं), पच्चेस्सं (विनय० 1. 255) (प्रति+√इ)।

(2) भूत कृदन्त

§ 194. सकर्मक क्रियाओं में भूत कृदन्त 'त' का प्रायः कर्मवाच्य अर्थ होता है और अकर्मक क्रियाओं में कर्तृवाच्य। इसके बहुसंख्यक ऐतिहासिक रूप हैं :

इकारान्त उकारान्त धातु—इत (इ गतौ) (समित, अतीत, पेत आदि), जित (जि), नीत (नी), सुत (सं० श्रुत), भूत (भूत), परियापुत (दीघ० 3. 203) : जिस प्रकार 'सुणति' से 'सुत' हो गया, इसी प्रकार 'परियापुणाति' से 'परियापुत' रूप बन गया।

आकारान्त धातु—ञात (सं० ज्ञात), सिनात (स्नात) जा० 5. 330, मज्झिम० 1. 39), गीत (दीघ० 1. 99, जा० टी० 3. 61) (संगीत), ठित (स्थित), हित (हित), ओहित (अवहित), पिहित (पिहित), विहित (विहित), अत्त (आत्त) (अत्तदंड : धम्म० 406) (आ+√दा)।

ऋकारान्त धातु—कत (कृत), भत (भृत), संसित (संसृत) (सुत्त० 730, दीघ० 2. 91 गाथा), संवुत (संवृत), निब्बुत (निर्वृत) (धम्म० 406, 414, थेर० 79, 96, विनय० 1. 8 गाथा), हूट (हृत), अट्ट (§ 64) (आर्त), (आ+ऋ), अत्यत (आस्तृत), संथत (संस्तृत) √स्तृ, वित्थत (विस्तृत)।

टि० : गाइगर ने संस्कृत-रूप 'स्तीर्ण' दिया है किंतु वह √स्तृ+क्रयादि से बनता है। √स्तृ स्वादि से स्तृत रूप बनता है। पालि-रूप के साथ वही ठीक बैठता है।

अनुनासिकान्त धातु—हत, मत, तत, नत, गत, निखात (सुत्त० 28, जातक 3. 24, दीघ० 2. 171) सन्त (शान्त) √शम्, सन्त (श्रान्त) √श्रम्, कन्त (कान्त), निक्खन्त (निष्क्रान्त), पक्कन्त-प्रक्रान्त, जात (जात) √जन्।

अल्पप्राण तथा ऊष्मान्त धातु—सित्त (थेर० 110, जा० टी० 3. 144) (सिक्त), वुत्त (उक्त)। दुरुत (दुरुक्त), भुत्त (भुक्त), युत्त (युक्त), पुठ (पृष्ट), यिट्ठ (इष्ट) (जा० 6. 522, मज्झिम० 1. 82, अंगु० 2. 44 गाथा) √यज्। संसट्ठ (सृष्ट) √सृज्, सुद्ध (शुद्ध), खित्त (क्षिप्त), वुत्त (उप्त) (जा० टी० 1. 340; 3. 12), सुत्त (सुप्त) (धम्म० 29, थेर० 22 आदि), वत्त, वट्ट (वृत्त) (दे० § 64. 1)।

महाप्राणान्त धातु—दुद्ध (दुग्ध) (सुत्त० 18), सिनिद्ध (स्निग्ध) (थेरी० टी० 139, जा० टी० 1. 89 गाथा, 481) (स्निग्ध), दड्ढ (§ 42. 3) (दग्ध), वुड्ढ, वुद्ध आदि (§ 64) (वृद्ध), लद्ध (लब्ध), लुद्ध (इति०1 गाथा) (लुब्ध)।

ऊष्मान्त धातु—दिट्ठ (दृष्ट), फुट्ठ (स्पृष्ट), नट्ठ (नष्ट), कट्ठ (संयुत्त० 1. 173 गाथा) कृष्ट, सत्थ (जा० 2. 298, 3. 3) (शास्त), संतत्त (जा० 3. 77) (संत्रस्त)।

हकारान्त धातु (इंडो ईरानी Zh)—वुळ्ह (§ 35)(ऊढ), मूळ्ह (इति० 2 गाथा) (मूढ), संयूळ्ह (संञ्जूळ्ह) (दीघ० 2. 267, मज्झिम० 1. 386, (सवुळ्ह : दीघ० टी० 1. 38) (समूढ) >ऊह्, अब्बूळ्ह (सुत्त० 593. 779, दीघ० 2. 283, मज्झिम० 1. 139) 'अब्बहति' ('आबृहति') से।

§ 195. 'इत्' वाले भूत कृदन्त भी बड़ी संख्या में संस्कृत से पालि में आए हैं। पतित, चरित, खादित, संधावित (दीघ० 2. 90 आदि), सयित (शयित) (दीघ० 2. 353, जा० टी० 1. 338, 3. 33), परितसित (परितृषित) (मिलिन्द० 253 √तृष्, वुसित (थेर० 258, दीघ० 2. 206 गाथा), वुत्थ (जा० 1. 183 आदि) (उषित) √वस्, गहित (गृहीत)।

प्रेरणार्थक-धातुओं से—दस्सित (दर्शित), पेसित (प्रेषित), कारित, चोदित, दापित संस्कृत के समान, अद्दित (अर्दित) (थेरी० 77. 328)।

इच्छार्थक सन्तन्त से—जिगसच्छत (मज्झिम 3. 186, धम्म० टी० 3. 263) (जिघुत्सित), जिगुच्छित (महावंस 6. 3) (जुगुप्सित)।

भृशार्थक रूपों से—चंककित (महावंस 15. 208) (चंक्रमित)।

नामधातु से (§ 186)—चिरायित (धम्म० टी० 3. 305), धूपायित (थेर० 448), ममायित (धम्म० टी० 1. 11 गाथा) संस्कृत के समान।

§ 187 के अनुसार : पत्थित (जा० टी० 1, 408, 11.35, धम्म० टी० 1. 112) (प्रार्थित), मन्तित (थेर० 9, मज्झिम० 2. 105, गाथा) (मन्त्रित), दुक्खित (थेरी० 29) (दुःखित)।

§ 196. इत वाला भूत कृदन्त बहुत फैल गया। सभी सार्वधातुक रूपों से इत लगाकर भूत कृदन्त बनाए जाने लगे। ऐसे रूप भाषा के प्रत्येक युग में मिलते हैं :

§ 130-133 के अनुसार—किलमित (जा० टी० 3. 36) तथा 'किलन्त' भी, (क्लान्त), सन्तसित (√त्रस्) (मिलिन्द० 92) तथा 'संतत्त' भी, वसित (महावंस 20. 14, 16) 'वुसित' और 'वुत्थ' भी (§ 195), आहरित (संयुत्त० 4. 59, 60) 'आहट' भी (§ 194), संसरित (थेरी० 496, दीघ० 2. 90) तथा 'संसित' भी (§ 194), जिनित (जा० टी० 2. 251) तथा 'जित' भी, गच्छित (थेरी० टी० 126) ('गत' की व्याख्या के रूप में)।

§ 134-135 के अनुसार—फुसित (थेरी० 158) तथा 'फुट्ठ' भी, पुच्छित (जा० टी० 2. 9, महावंस 20. 8) तथा 'पुट्ठ' भी, सुपित (सुत्त० 331, संयुत्त० 1. 198 गाथा) तथा 'सुत्त' भी, इच्छित (थेरी० 46, दीघ० 1. 120, धम्म० टी० 4. 5, महावंस 7. 22) तथा 'इट्ठ' भी, संपटिच्छित (धम्म० टी० 3, 439), पमुञ्चित (विमान० 53. 8 (अथवा पमुच्चित विमान० टी० 237 ?)।

§ 136, 138 के अनुसार—गिज्झित (थेरी० 152), समापज्जित (दीघ० 2. 109) 'समापन्न' भी, मञ्ञित (मज्झिम० 3. 246, संयुत्त० 4. 21, 22), छिज्जित (जा० 3. 389) : कर्मवाच्य के प्रातिपादिक 'छिज्ज' से निर्मित (टी० छिन्न), वायित (मज्झिम० 3. 253) तथा 'वात' भी, गायित (धम्म० टी० 3. 233) तथा 'गीत' भी।

§ 142-145 के अनुसार—जहित (जा० टी० 3. 32), सद्दहित (मज्झिम० 2. 170), पटिजग्गित (धम्म० 3. 138), 'संजानित' (भाववाचक संज्ञा 'संजानितत्त : धम्मसं० 4), खादयित (विनय० 1. 278) (खाद् का का प्रेरक रूप), पत्थयित (जा० 3. 218), (टी० पत्थित)।

§ 197. संस्कृत के समान बहुत से भूतकृदन्त रूप 'न' लगाकर भी बनाए जाते हैं :

दकारान्त धातु—छिन्न, भिन्न,-पन्न,-सन्न, (किन्तु निसिन्न=निषण्ण), पक्खन्न (थेर 95, 253, 342) (सं० प्रस्कन्न), तुन्न (थेरी० 162), नुन्न (अंगु० 2. 41, जा० टी० 6. 527, महावंस 34. 60) संस्कृत के समान, रुण्ण (जा० 6. 525, थेर० 554, अंगु० 1. 261, थेर० 555) तथा 'रोण्ण' भी=रुदित √रुद् ।

आ, ई तथा ऊकारात धातुओं से—हीन (ज० पा० टै० सो० 1907. 163) √हा, सीन (मज्झिम० 1. 79 गाथा, मिलिन्द० 117) (सं० शीन √श्या), लीन (अलीन अर्थात् अनासक्त (धम्म० 245, सुत्त० 62. 117), निलीन (विनय० 3. 35, जा० टी० 26), पतिसल्लीन (विनय० 1. 4 आदि) (सं० लीन √ली), विक्खीण (थेरी० 22)=(विक्षीण), लून (थेरी० 107) (सं० लून) ।

ऋकारान्त धातु—जिण्ण, तिण्ण, पुण्ण=जीर्ण, तीर्ण, पूर्ण । पत्थिण्ण (विनय० 1. 286) (सं० प्रस्तीर्ण) (तथा 'पत्थत' भी § 194), चिण्ण (सुत्त० 181, विनय० 2.39, जा० टी० 1.300) (आचिण्ण : मज्झिम० 1. 372 आदि, परिचिण्ण : थेर० 178, मज्झिम० 3. 264) तथा 'चरित' भी (सं० क्रमशः चीर्ण तथा चरित) ।

जकारान्त तथा गकारान्त धातु—(सं) भग्ग (धम्म० 154, थेर० 184, संयुत्त० 1. 123)=भग्न, निमुग्ग (§ 18) (विनय० 1. 6, दीघ० 1. 75, 2, 324, जा० टी० 3. 47) (सं० निमग्न √मज्ज), संविग्ग (दीघ० 1. 50, संयुत्त० 4. 290, जा० टी० 1. 59), उब्बिग (जा० 1. 486, जा०टी० 1. 503), (सं० विग्न √विज्), ओलग्ग (थेर० 356) (सं० अवलग्न) ।

दा धातु से—दिन्न, प्राकृत दिण्ण तथा दिन्न (सं० दत्त) (उदाहरण: दत्तू-पजीविन् : धम्म० टी० 4. 99) तथा 'ब्रह्मदत्त' आदि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भी, इसी प्रकार अत्त § 194), परिमुक्क (थेरी० 500, संयुत्त० 4. 91, 92), (उम्मुक्क : संयुत्त० 4. 92 के विपरीत) (सं० प्रतिमुक्त) ।

198. **भूतकृदन्त कर्तृवाच्य**—(1) भूतार्थक वस् 'के बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं । उनकी चर्चा § 100 में की जा चुकी है ।

(2) 'क्तवत्' प्रत्यय जोड़ कर बनाए भूत कृदन्तों की संख्या भी बड़ी नहीं है । इसलिए :

वुसितवन्त कर्त्ता ए०, वुंसितवा (सुत्त० 514, इति० 96, मज्झिम० 1. 4, दीघ० 1. 90) । सम्बन्ध० व० वुंसितवतं (दीघ० 2. 223, 229) । भुत्तवन्त्, सम्बन्ध० ए०—भुत्तवतो, (विमान० टी० 244) ।

हुत्वा (कच्चा० 4. 2. 6 : सेनर्त० पृ० 483), कर्ता एक०—आदिन्नवा (महावंस 7, 42) ।

(3) '-ताविन' वाले भूतकृदन्त (§ 95) पालि की विशेषता है :

भुत्ताविन्—कर्म० ए० भुताविं(दीघ० 1. 109, 227)। सम्बन्ध० ए० भुताविस्स (दीघ० 2. 195)।

विजिताविन्—कर्ता० ए० विजितावि (थेर० 5, संयुत्त० 1. 110 गाथा, दीघ० 1. 88), कर्म०ए० विजिताविनं (धम्म० 422), सम्बन्ध ब० विजितावीनं, अंगु० 3. 151)।

कतविन्—कर्ता० ए० कतावी (मज्झिम० 2. 69)।

कीळिताविन्—कर्ता० ए० अनिकीळितावी (संयुत्त० 1. 9), कर्ता० ब० कीळिताविनो (संयुत्त 4. 110)।

समिताविन्—कर्ता ए० समितावी (संयुत्त० 1, 188 गाथा)।

सुताविन्—कर्ता० ब० अस्सुताविनो (थेर० 955)।

(3) भविष्यत् कृदन्त भावकर्म.

§ 199. भविष्यत् कृदन्त में तब्ब (तव्य) वाले रूप बहुत अधिक संख्या में हैं :

(1) कुछ ऐतिहासिक रूप :

दातब्ब (विनय० 1. 46, जा०टी० 3. 52) (सं० दातव्य), पहातब्ब (सुत्त० 558, मज्झिम० 1. 7 (सं० हातव्य √ हा), सद्धातब्ब (जा०टी० 2. 37) (सं० श्रद्धातव्य), पच्चुट्ठातब्ब (मज्झिम० 3. 205) (सं०-स्थातव्य), नेतब्ब (नेतव्य), सोतब्ब (श्रोतव्य), गन्तब्ब (विनय० 1. 46) (गन्तव्य), वत्थब्ब (महावंस 312) (वस्तव्य √ वस्) दट्ठब्ब (पेत०टी० 10) (द्रष्टव्य √ दृश्), कतब्ब, (धम्म० 53, जा०टी० 1. 45. 3) (§ 6. 1) तथा कातब्ब (विनय० 1. 47, जा०टी० 2. 192) (कर्तव्य), बिहातब्ब ('विहरति' से) (मज्झिम० 3. 294) (हर्तव्य)।

सेट् रूप :

भवितब्ब (जा०टी० 1. 440) (भवितव्य), तिकिच्छितब्ब (धम्म० टी० 3. 264) (चिकित्सितव्य), रक्खितब्ब (जा०टी० 3. 52 आदि) (रक्षितव्य)।

(2) सार्वधातुक रूपों से भी इसी प्रकार 'इट्' वाले नए रूप बनते हैं :

§ 130-132 के अनुसार—वसितब्ब (सुत्त० 678) (सं० 'वसति' से), पचितब्ब (विनय० 1. 50) (सं० पचति से), (सं० पक्तव्य),-कमितब्ब (विनय० 1. 50, दीघ० 1. 179) (सं०-कमति से), उद्धरितब्ब (विनय० 1. 47) (सं० उद्धरति से), संहरितब्ब (विनय० 1. 46) (√ हृ), जिनितब्ब (धम्म० टी० 3. 313) (√ जि०), निशीदितब्ब (विनय० 1. 47) (√ सद्)।

§ 134-138 के अनुसार : -खिपितब्ब (विनय० 1. 46, 47) (सं० क्षेप्तव्य), पुच्छितब्ब (विनय० 1. 46) (सं० 'पुच्छति' से, प्रष्टव्य), -विसितब्ब (विनय० 1. 47), (सं० वेष्टव्य), आलिम्पितब्ब (विनय० 2. 267), √लिप्, आसिंचितब्ब (विनय० 1. 49) √ सिच्, -पज्जितब्ब (विनय० 1. 164, दीघ० 2. 141) (सं० पज्जति से) √पद्, पटिविज्झितब्ब (दीघ० टी० 1. 29) (सं० विज्झति से) √ व्यध् ।

भावकर्म — -भिज्जति, भिज्जितब्ब (जा०टी० 3, 56) (सं० भेतब्ब), 'जायति' से जायितब्ब (थेरी० 455) ।

§ 142, 144 के अनुसार : विजहितब्ब (विनय० 3, 200) √ हा, निदहिब्ब (विनय० 1. 46), सद्दहितब्ब (मिलिन्द० 310) (सं० 'दहति' से) √ धा, भञ्जितब्ब (विनय० 1. 74) √ भज्, भञ्ज्, भुञ्जितब्ब (महा० 5. 127) √ भुज् ।

§ 200 (क) भू धातु का भी 'भविष्यत् कृदन्त भाववाच्य' सार्वधातुक रूप से बनाया जा सकता है :

होतब्ब (विनय० 1. 46) 'होति' से, परिभोतब्ब (संयुत्त० 1. 69, सुत्त० पृ० 91) 'होति', -'भोति' से (§ 131. 2) ।

(ख) चुरादि, प्रेरणा तथा नामधातु के 'अय्' का 'ए' हो जाता है और प्रत्यय साक्षात् जोड़ दिये जाते हैं। उदाहरण विशाल संख्या में मिलते हैं :

चोदेतब्ब (विनय० 2. 2) (सं० चोदितव्य), सारेतब्ब (विनय० 2. 2) 'सारेति' से (सं० स्मर्तव्य √स्मृ), पूजेतब्ब (मज्झिम० 3. 205) √ पूजय्, लञ्छेतब्ब (विनय० 2. 267) 'लञ्छेति' से, ञापेतब्ब (विनय० 2. 2) 'ञापेति' से (ज्ञापितव्य √ ज्ञा), घंसापेतब्ब (विनय० 2. 266) 'घंसापेति' (घर्षयति) से √ घर्ष, कोट्टापेतब्ब (विनय० 2. 66) 'कोट्टापेति' से, पटिग्गहेतब्ब (विनय० 1. 46) 'गहति' से (§ 139.2) (प्रतिग्रहीतव्य) ।

इस प्रकार के रूपों की पूरी सूची विनय० 1. 46-50 में मिलती है : ओतापेतब्ब (अवतापयितव्य), पटियादेतब्ब √ यत्, ठपेतब्ब (स्थापयितव्य) √स्था, थकेतब्ब √ स्थग् (§ 39. 1) आदि। छेदातब्ब (विनय० 1. 50) (यहां छेदेतब्ब रूप होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त 'छेदापेतब्ब' रूप भी है।

§ 201. संस्कृत 'अनीय' के स्थान पर पालि में भविष्यत् भाववाच्य कृदन्त 'अनीय' और 'अनेय्य' मिलते हैं :

लभनीय (थेरी० 513), अलब्भनेय्य (जा० 3. 205) विकृत रूप 'लब्भ' के कारण, लब्भनीय, (पूजनीय : सुत्त० 259) (सं० पूजनीय), पूजनेय्य (थेर० 186), अनत्थनेय्य (अनर्थनीय) (थेर० 1073) (सं० 'अर्थम्' से), दस्सनीय (विनय० 1. 38, दीघ० 1. 47, जा०टी० 1. 509), दस्सनेय्य (दीघ० 15.39) (सं० दर्शनीय) ।

ये रूप बहुत बार संज्ञावाचक बन जाते हैं :

करणीय (अर्थात् कर्तव्य) (सं० करणीय), मोहनेय्य (जा० 3. 499) अर्थात् मोहनमन्त्र (सं० मोहनीय), यापनीय (आजीविका) (जा० 6. 224, विनय० 1. 59), भोजनीय (तरल भोज्य), खादनीय (ठोस भोज्य) (विनय० 1. 18, दीघ० 1. 108), खमनीय (अर्थात् सहनशीलता) (विनय० 1. 59, दीघ० 2. 99, जा०टी० 1. 408) (सं० क्षमनीय)।

§ 202. **य-प्रत्यायान्त भविष्यत् कृदन्त**

य-प्रत्यायान्त भविष्यत् कृदन्त पालि के दो प्राचीनतम युगों में ही पाए जाते हैं। अतएव 'हञ्ञ' की व्याख्या (जा० 4. 273 की टीका में) 'हनितब्ब' के रूप में की गई है, और 'सद्धेय्य' (जा० 3. 62) की 'सद्धातब्ब' के रूप में।

अजन्त धातु

नेय्य = नेय (सुत्त० 803), भब्ब = भव्य (विनय० 1. 17, अंगु० 3. 8) √भू, पमेय्य = प्रमेय (अंगु० 1. 266, पुग्गल० 35) √ मा, विञ्ञेय्य = विज्ञेय (विनय० 1. 184, दीघ० 1. 245), देय्य = देय (सुत्त० 982, विनय० 3. 2, दीघ० 1. 87), पेय्य = पेय (दीघ० 1. 244, 2.9, मिलिन्द० 2), सुप्पहाय = सुप्रहेय (सुत्त० 772) √ हा (विज्ञाय : ऋग्वेद 10. 103. 5 के समान)।

ऋकारान्त धातु

अकारिय = अकार्य (धम्म० 176) (स्वरभक्ति), किच्च-कृत्य (धम्म० 276, थेर० 167 आदि), असंहारिय = असंहार्य (संयुत्त 5. 219) (स्वरभक्ति)।

व्यञ्जनान्त धातु

खज्ज = खाद्य, भोज्ज = भोज्य (मिलिन्द० 2), वज्ज = वर्ज्य (धम्म० 252, दीघ० 1. 63 आदि), वज्झ = वध्य (जा० 6. 528, जा०टी० 1. 439), अभेज्ज = अभेद्य (जा०टी० 3. 51), लब्भ = लभ्य (दीघ० 2. 118, मज्झिम० 2. 220), सह्य = सह्य (सुत्त० 253), (लेय्य* 'लेह्य' के स्थान पर) = लेय्ह (मिलिन्द० 2) √ लिह (उसी के साथ प्रयुक्त 'पेय्य' के प्रभाव के कारण ह् का उच्चारण नहीं हुआ)। असाधिय = असाध्य (स्वरभक्ति) (महा० 5. 218), असुक्कुणेय्य (जा०टी० 1. 55), यह वर्तमान रूप 'सुक्कुणति' से बना है, जैसे 'ददाति' से 'देय्य' बना है।

§ 203. ताय, तय्य या तेय्य लगाकर 'भविष्यत् भावकर्म कृदन्त, बनाना पालि की विशेषता है। दो प्राचीनतम युगों के उदाहरण : ञातय्य = ज्ञातव्य, दट्ठय्य = द्रष्टव्य, पत्तय्य = प्रार्थ्य (संयुत्त० 4. 93), ञातेय्य √ ज्ञा, दट्ठेय √दर्श्, पत्तेय (प्र + √आप्) (संयुत्त० 1. 61), अतसिताय = अत्रसितव्य (संयुत्त० 3. 57)।

प्रेरक (णिजन्त) धातु से :

घातेताय=हन्तव्य, जापेताय=जपितव्य, पब्बाजेताय=प्रव्रजितव्य (√व्रज्) (मज्झिम० 1. 231. 2. 122), लज्जिताय=लज्जितव्य (धम्म० 316)।

(4) क्रियार्थक क्रिया

204. (1) तवे (वैदिक तवे या तवै) तथा ताये और तुये वाले रूप गाथा-साहित्य और कृत्रिम कविता तक सीमित हैं :

(क) 'तवे' वाले रूप : स्वरान्त धातु

नेतवे (धम्म० 180, संयुत्त० 1. 107 गाथा), सोतवे (कच्चा० 4. 2. 12, सेनार्ट 6. 445), दातवे (सुत्त० 286, जा० 1.190), यातवे (सुत्त० 834), हातवे (धम्म० 34, सुत्त० 817), निधेतवे (जा० 3. 17 टी० निधानत्थाय) √धा, रजेतवे (थेर० 1155) 'रजेति' (सं० रंजयति) से, लपेतवे (उदान 21 गाथा) ('लपेति' सं० लपयति) से।

व्यंजनान्त धातु

गन्तवे (थेरी० 332, जा० 4. 221 (वैदिक : गन्तवे) (टी० गन्तुं), वत्तवे (संयुत्त 1. 205 गाथा), (वैदिक : वक्तवे)।

(ख) 'तुये' वाले रूप

कातुये (थेरी० 418) √कृ (टी० कातुं), मरितुये (थेरी० 426), गणेतुये (बुद्ध० 4. 28), 'गणेति' (सं० गणयति) से, हेतुये (बुद्ध० 2. 10) 'होति' से।

(ग) 'ताये' वाले रूप

दक्खिताये (दीघ० 2. 254 गाथा, संयुत्त० 1, 26), 'दक्ख' रूप दृश् धातु के भविष्यत् 'द्रक्ष्य' से बनाया गया है। उससे 'तोये' प्रत्यय लगाया गया। जग्घिताये (जा० 3. 226, टी० हसित्वा या हसितेन), पुच्छिताये (जा० 5. 137, टी० पुच्छितुं), खादिताये (जा० 5. 33), इसके पश्चात् प्रायः 'अरहति' का प्रयोग मिलता है।

2. एतसे (थेरी० 291) (यह रूप अल्पप्रयुत है) (टी० एतुं, गन्तुं), इसका पूरक प्रयोग मिलता है—नासक्खिं।

3. तुमुन्नर्थ को प्रकट करने के लिए कृदन्त-रूपों का चतुर्थी में प्रयोग भी बाहुल्य से पाया जाता है :

सवनाय (पूरक : 'लब्भति') (दीघ० 3.80), दस्सनाय (पूरक : पहोति), (मज्झिम० 2. 131), करणाय (पूरक : अरहति) (जा० 3. 172), इधागमनाय (पूरक : परियायमकासि) (दीघ० 1. 179 आदि), विचक्खुकम्माय (संयुत्त० 1.112), लद्धुब्भाय (पूरक : सपस्सु) (संयुत्त० 1. 255) आदि।

§ 205. **तुम्**—पालि के प्रत्येक युग में 'तुम्' का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। ऐतिहासिक रूपों की संख्या बड़ी संख्या में है :

स्वरान्त धातु

दातु √दा, सद्धातु √धा, ञातुं √ज्ञा, निब्बातुं निर्+√वा (महावंस 5. 219), विनेतुं (जा०टी० 1. 504, 3. 103) √नी, एतुं (थेरी० टी 224) √इ, केतुं (जा० 3. 282) √क्री=क्रेतुं, विक्केतुं (जा०टी० 3. 283)=विक्रेतुं, ओचेतुं (थेर० 199)=अवचेतुं, सोतुं (सुत्त० 384, दीघ० 2.2)=श्रोतुं।

ऋकारान्त धातु

कातुं=कर्तुम्, उद्धातुं=उद्धर्तुम् (थेर० 88), आहत्तुं—आहर्तुम् √हृ (मज्झिम० 1. 395)।

अनुनासिकान्त धातु : गन्तुं।

स्पर्शान्त धातु

वत्तुं (सुत्त० 431, सं० 1. 129 गाथा)=वक्तुम्, पुट्ठुं (सुत्त० 91, संयुत्त 1. 15 गाथा)=प्रष्टुम्, अवभोत्तुं (जा० 3. 272)=अवभोक्तुंम् √भुज्, यट्ठुं (सुत्त० 461)=यष्टुम् √यज्, छेत्तुं (थेर० 188)=छेत्तुम्, पत्तुं (धम्म० टी० 3. 399)=प्राप्तुम्, सोत्तुं (संयुत्त० 1. 3 गाथा)=स्वप्तुम्, लद्धुं (जा०टी० 2. 352, धम्म० टी० 3. 117)=लब्धुम्।

ऊष्मान्त धातु

दट्ठुं=द्रष्टुम्। सेट् रूप भी विशाल संख्या में मिलते हैं : जीवितुं (जा०टी० 1. 263)=जीवितम्, कीळितुं (जा०टी० 3. 188)=क्रीडितुम्, भवितुं (जा०टी० 4. 137)=भवितुम्, उद्धरितुं (तथा उद्धातुं) (जा०टी० 1. 313)=हरितुम्, हर्तुम् √हृ।

सन्नन्त धातु

तिकिच्छितुं (जा०टी० 1. 485)—चिकित्सितुम्, वीमांसितं (महावंस 37. 234) (कोलम्बो सं० 184)—मीमांसितुम्।

प्रेरक रूप

धारयितुं—(अनागतवंस : ज०पा० टै० सो० 1886. 35)=धारयितुम्।

नामधातु

गोपयितुं (धम्म० टी० 3. 488)।

§ 206. सार्वधातुक रूप से भी सीधा तुमुन्नर्थक रूप बनाया गया है :

पोप्पोतुं (थेरी० 60, सयुत० 1. 129), ('पप्पोति' से), होतुं ('होति' से)।

प्रेरणार्थक आदि से बने हुए एकारान्त धातु :

सोधेतुं=शोधयितुं (विनय० 2. 34, जा०टी० 1. 292), भावेतुं=भावयितुम् (3. 171), वारेतुं=वारयितुम् (जा०टी० 4. 2), गहेतुं=ग्राहयितुम् (विनय० 1.92, जा० टी० 1.222, महावंस 8. 23) (§ 139. 2), गाहेतुं (महावंस 33. 48), गाहापेतुं (जा०टी० 1. 506), ठपेतुं (विनय० 2. 194, दीघ० 2. 177), कारापेतुं (महावंस 5. 80), तारयेतुं (सुत्त० 319), इस रूप में 'तारयितुं' और 'तारेतुं' का मिश्रण है। 'इतुं' वाला रूप बहुत फैल गया है। उत्तरकालीन साहित्य में इस ने ऐतिहासिक रूप 'तुं' का स्थान ग्रहण कर लिया हैं। उदाहरण के रूप में 'भोत्तु' की व्याख्या 'भुञ्जितुं' के रूप में की गई है (दे० § 205)।

नए रूपों के उदाहरण

§ 130-132 के अनुसार—चजितुं (जा०टी० 3. 69), (सं० त्यक्तुम √त्यज्), मरितुं (दीघ० 2. 330) (सं० मर्तुम्), अभिविजिनितुं (मज्झिम० 2. 71)√ जि, निसीदितुं (दीपवंस 1. 55), उट्ठहितुं (जा०टी० 2. 22), उपट्ठहितुं (धम्म० टी० 3. 269), ('ठहति' से)।

§ 134-45 के अनुसार—पुच्छितुं (सुत्त० 510, विनय० 1. 93), उक्खिपितुं (जा०टी० 1. 264), (सं० उत्क्षेप्तम्), फुसितुं (थेर० 945, धम्म० टी० 3. 199 गाथा) (सं० स्प्रष्टुम्), पविसितुं (जा०टी० 3. 26) (सं० वेष्टुम्), सुपितुं (थेर० 193) (सं० स्वप्तुम्), पटिच्छितुं (जा०टी० 4. 137) (सं० प्रतीच्छितुम्), मुञ्चितुं (दीघ० 1. 96), सिञ्चितुं (जा०टी० 6. 583), निब्बिन्दितुं (दीघ० 2. 198), (निर्+√विद्, विन्दति)।

§ 136-138 के अनुसार—नच्चितुं (धम्म० टी० 3. 102), -पज्जितुं (थेर० 1140, अंगु० 3. 8), पमज्जितुं (थेर० 452), विरज्जितुं (दीघ० 2. 198), विज्झितुं (महावंस 6. 28), पस्सितुं (जा०टी० 1. 222, महावंस 4. 21)।

भावकर्म रूपों से

पमुच्चितुं (थेर० 253), विमुच्चितुं (दीघ० 2. 198), सिनायितुं (मज्झिम० 1. 39), झायितुं (विनय० 2. 147 गाथा), पलायितुं (जा०टी० 2. 19), सज्झायितुं (§ 188. 1) (धम्म० टी० 3. 445)।

§ 142 के अनुसार—जहितुं (जा०टी० 1. 138, 3. 94), संविदहितुं (विनय० 1. 287) √धा पटिजग्गितुं (थेर० 193)।

§ 144-148 के अनुसार—भञ्जितुं (थेर० 488), भुञ्जितुं (दे० ऊपर), छिन्दितुं (विमान० टी० 119), किणितुं (जा०टी० 3. 282), विक्किणितुं (जा०टी० 3. 283), ('विक्केतुं' की व्याख्या में), बन्धितुं (थेरी० 299), गण्हितुं (जा०टी०

2. 159, 3. 26), सुणितुं (मिलिन्द० 91)। पापुणितुं (अंगु० 2. 49, मज्झिम० 3. 167, जा०टी० 4. 297)।

§ 207. संस्कृत के समान जब तुमुन्नर्थ में '**काम**' शब्द अंत में जोड़ा जाता है तो धातु के साथ 'तु' प्रत्यय लगता है—

जीवितुकाम (धम्म० 123, दीघ० 2. 330), पब्बजितुकाम (धम्म० टी० 3. 273), गन्तुकाम (जा० टी० 1. 222), दट्ठुकाम (सुत्त० 685), अमरितुकाम (दीघ० 2. 230 आदि)।

(5) क्त्वा प्रत्ययान्त

§ 208. क्त्वा के अर्थ में पालि में 'त्वा' और 'य' प्रत्यय आते हैं। त्वा के स्थान पर प्रायः, विशेष रूप से गाथा-साहित्य में, 'त्वान' आता है। संस्कृत में 'य' तभी आता है जब समास हो, किंतु पालि में इस नियम का पूर्णतया पालन नहीं किया जाता। 'त्वा' और 'त्वान' का क्षेत्र उत्तरोत्तर विस्तृत होता गया और वह असमस्त क्रियाओं तक सीमित नहीं रहा। श्री गाइगर ने जातक-टीका के बड़े भाग के आधार पर आंकड़े तैयार किए हैं। तदनुसार 'य' की अपेक्षा 'त्वा' आठ या नौ गुणा अधिक प्रयुक्त है। आगमिक गद्य में यह भेद इतना बड़ा नहीं है। टीकाओं में 'य' के स्थान पर 'त्वा' का प्रयोग किया गया है। उदाहरण :

सद्धाय (जा० 5. 176)=सद्दहित्वा, अञ्ञाय (जा० 1. 368)= अजानित्वा।

कुछ रूप 'तून' प्रत्यय के साथ भी मिलते हैं, किंतु वे गाथा-साहित्य में सीमित हैं। इसी प्रकार 'यान' वाले रूप भी गाथाओं तक सीमित हैं। 'त्वा' से 'त्वान' के सादृश्य पर 'य' से 'यान' नया प्रत्यय बना लिया गया।

§ 209. 'त्वा' और 'त्वान' प्रत्यय वाले अनेक ऐतिहासिक रूप हैं :

स्वरान्त धातु

ञात्वा, ञात्वान=ज्ञात्वा, नहात्वा=स्नात्वा, दत्वा=दत्त्वा। इन्हीं रूपों के सादृश्य पर पिधात्वा (थेरी 480), √धा० (सं० हित्वा, पिधाय), ठत्वा=स्थित्वा √स्था, पित्वा(न) (धम्म० 205, थेर० 103, 710, जा० 2. 71) सं० पीत्वा √पा, हित्वा(न) (सुत्त० 60.284 आदि) (सं० हित्वा √हा), जित्वा (थेर० 336) √जि, सुत्वा=श्रुत्वा, हुत्वा=भूत्वा।

ऋकारान्त धातु

कत्वा(न)=कृत्वा, (पुरक्खत्वा : दीघ० 2. 207, जा० 6. 516, अथवा पुरक्खित्वा : विमान० 84. 49)।

स्पर्श-व्यंजनान्त धातु

मुत्वा (§ 58. 3)(जा० 1. 375) (सं० मुक्त्वा √मुच्), वत्वा=*वक्त्वा, भुत्वा(न) (थेर० 23 संयुत्त० 1. 8 गाथा. जा० 3. 53) (सं० भुक्त्वा), 'भोत्वा' (संयुत्त० 4. 74 गाथा) में ओ के लिए दे०§ 10.2, छेत्वा(न)(धम्म 283, 346, विनय० 1. 88, जा० टी० 3. 396) (सं० छित्त्वा) ए के लिए दे० § 10. 2, अथवा जेत्वा, नेत्वा (§ 210) के सादृश्य पर, भेत्वा(न) (थेर० 753) (सं० भित्त्वा), पत्वा= प्राप्त्वा, प्र+√आप्, लद्धा(न) (सुत्त० 67. 228 आदि), पटिलद्धा (विमान० 80. 7), (सं० लब्ध्वा), दिस्वा, दिस्वान=दृष्ट्वा√दृश ।

नकारान्त और मकारान्त धातुओं में अनुनासिक का लोप नहीं होता। संभवतया यह संस्कृत 'शान्त्वा' आदि के सादृश्य पर हुआ। इसलिए हन्त्वा=हत्वा, मन्त्वा=मत्वा (महावंस 12.50), ('मन्ता' भी विमान० 63. 6, यहां व का लोप हो गया), गन्त्वा(न) (आगन्त्वा : (सुत्त० 415, जा० टी० 1. 151 आदि)(सं० गत्वा)।

इत्वा वाले ऐतिहासिक रूप

पतित्वा, पचित्वा, वन्दित्वा, खादित्वा (संस्कृत के समान), निक्खमित्वा (जा० टी० 3. 26) (सं० निष्क्रम्य), अक्कमित्वा विनय० 1. 188 (सं० आक्रम्य), सयित्वा (जा० टी० 2. 77) (सं० शयित्वा √शी)।

प्रेरक धातुओं से :

भोजयित्वान । जा० 6. 577) (सं० भोजयित्वा), गाहयित्वा (महावंस 10. 31) (सं० ग्राहयित्वा), घातयित्वा (मिलिन्द० 219) ('घातेति' से) √हन्, जनयित्वा (मिलिन्द० 218) (संस्कृत के समान), ठपयित्वान (महावंस 19. 31)(सं० स्थापयित्वा।

दोहरे प्रेरकों से

गाहापयित्वा (महावंस 7. 49 आदि)।

इच्छार्थक, भृशार्थक और नामधातुअ से

अजिगुच्छित्वा (जा० टी० 1. 422), (सं० जुगुप्सित्वा,) वीमंसित्वा (जा०टी० 6. 368),(सं०मीमांसित्वा), ववक्खित्वान(दीघ० 2. 256 गाथा)(सं० विवक्षित्वा), चिरायित्वा (महावंस टी० 124 आदि)।

§ 210. सार्वधातुक रूप से नए रूप भी पर्याप्त संख्या में बनाए गए हैं। उदाहरण के रूप में प्रेरणार्थ, नामधातु आदि से 'अय' को 'ए' में संकुचित करके रूप बनते हैं। ये रूप 'अयित्वा' वाले रूपों से अधिक हैं। उदाहरण :

देसेत्वा (जा० टी० 1. 152), चोदेत्वा (विनय० 2. 2), सारेत्वा (विनय० 2. 2), √स्मृ, भावेत्वा (अंगु० 5. 195), घातेत्वा (महावंस 25.7), ठपेत्वा (धम्म०

40, दीघ० 1. 105 आदि), गहेत्वा (§ 139. 2), वन्दापेत्वा (विनय० 1. 82), कारापेत्वा (विनय० 1. 82), आमन्तेत्वा (§ 187. 1) (थेर० 34, जा० टी० 2. 133), अगणेत्वा (जा० टी० 2. 229 आदि)। उपर्युक्त रूप बार-बार आते हैं।

इकारान्त धातु के रूप भी इसी प्रकार होते हैं :

जेत्वा (सुत्त० 439, थेरी० 7) (जेति से) √जि, नेत्वा, नेत्वान (सुत्त० 295, विनय० 2. 11) (सं० नीत्वा), अभिभोत्वान (थेर० 429) ('अभिभोति' से।

इत्वा वाले नए रूपों की संख्या अत्यधिक है :

§ 130 के अनुसार—लभित्वा (जा० टी० 1. 150) सं० लब्ध्वा), वसित्वा (जा० टी० 1. 78) (सं० उषित्वा), उद्धरित्वा (दीघ० 1. 234, जा० टी० 3. 52), संहरित्वा (जा० टी० 1. 265) सं० हृत्वा √हृ, ओतरित्वा (जा० टी० 1. 223, 2. 19) (सं० तीर्त्वा), सरित्वा (थेरी० 40) सं० सृत्वा), (घंसित्वा (जा० टी० 3. 226) (सं० घृष्ट्वा)।

§ 131 के अनुसार—विनयित्वान (सुत्त० 485) तथा नेत्वान भी (सं० नीत्वा √नी), अजिनित्वा (महावंस 32.18) तथा जेत्वा भी, भवित्वा (सुत्त० 52) (सं० भूत्वा)।

§ 132 के अनुसार—पिवित्वा (जा० टी० 1. 419) पीत्वा, निसिदित्वा पस्सि, वुट्ठहित्वा (विनय० 1. 2, जा० टी० 1. 208 आदि), घायित्वा (धम्म० टी० 3. 270) (सं० जिघृत्वा)।

§ 133 के अनुसार—आरोहित्वा (विनय० 1. 15) तथा ओरोहित्वा (विनय० 1. 15) (सं० रूढ्वा)।

§ 134 के अनुसार—पक्खिपित्वा (जा० टी० 1. 265 आदि) (सं० क्षिप्त्वा), आदिसित्वान (थेरी० 311) √दिश्, पविसित्वा (दीघ० 2. 331 आदि) प्र+√विश्, गिलित्वा (महावंस 31. 52), ओकिरित्वा (जा० टी० 3. 59), सुपित्वान (थेर० 84) (सं० सुप्त्वा),

§ 135 के अनुसार—इच्छित्वा (जा० टी० 1. 256) √इष्, मुञ्चित्वा (जा० टी० 1. 375) ('मुत्वा' की व्याख्या), सिञ्चित्वा (सुत्त० 771), विलिम्पित्वा (जा० टी० 1. 265) (सं० लिप्त्वा)।

§ 136 के अनुसार—निलीयित्वा (जा० टी० 1. 500, 3. 26), कुज्झित्वा (महावंस 5. 141), संनय्हित्वा (दीघ० 2. 175, मज्झिम० 2. 99, जा० टी० 1. 129), पज्जित्वा (थेर० 158, जा० टी० 1. 138, 2. 70), सुस्सित्वा (जा० टी० 2. 5, 339), पमज्जित्वा(न) (धम्म० 172, थेर० 871), विज्झित्वा (जा० टी० 1. 150), लग्गित्वा (जा० टी० 2. 19), पस्सित्वा (थेर० 510, जा० टी० 2. 155), छिज्जित्वा-

(न) (जा० टी० 1. 167, महावंस 17. 47), नमस्सित्वा (संयुत्त० 1. 234 गाथा), आदियित्वा (जा० टी० 1. 430)।

§ 138 के अनुसार—यायित्वा (सुत्त० 418), न्हायित्वा (विनय० 3. 110), नहायित्वा (जा० टी० 2. 27), गायित्वा (धम्म० टी० 1. 15), सज्झायित्वा (§ 188. 1) (धम्म० टी० 3. 447)।

§ 140 तथा 142 के अनुसार—हनित्वान (जा० 3. 185), अविजहित्वा (थूप० 8), -दहित्वा (विनय० 1. 287, 3. 53, जा० टी० 5. 176) ('दहति' से) √धा। पटिजग्गित्वा (धम्म० टी० 3. 30), ददित्वा (थेर० 532, संयुत्त० 1. 174 गाथा)।

§ 144 के अनुसार—छिन्दित्वा (दीघ० 1. 224, जा० टी० 1. 222, 2. 90), भिन्दित्वा (जा० टी० 1. 425, 490) तथा छेत्वा, भेत्वा भी, भुञ्जित्वा (जा० टी० 3. 53) ('भुत्वा' की व्याख्या में) रिञ्चित्वा (थेरी० 93) (सं० रिक्त्वा)।

§ 145 के अनुसार—जानित्वा (जा० 1. 293, जा० टी० 2. 246) तथा 'ञ्त्वा' भी, किणित्वा (मिलिन्द० 48), गण्हित्वा पस्सिम् (सं० गृहीत्वा), निम्मिनित्वान (थेर० 563), बन्धित्वा (विनय० 1. 46, जा० टी० 1. 428) (सं० बध्द्वा)।

§ 147. 149 के अनुसार—विचिनित्वा (विनय० 1. 133) (सं० चित्वा, विचिन्त्य), सुणित्वा(न) (थेरी० 44, जा० 5. 96), अपापुणित्वान (थेरी० 494), करित्वा (सुत्त० 444, जा० 6. 577, जा० टी० 1. 267) तथा कत्वा भी।

§ 211. 'तून' के उदाहरण : कच्चायन 4. 3. 15, 4. 6, 7 (सेनार्ट पृ० 497, 503) में मिलते हैं :

जनितून, कातून (कत्तून) गन्तून, खन्तून, हन्तून, मन्तून। साहित्य में से गृहीत हातून (जा० 4. 280) >हृ (टी० हरित्वा), अपकिरितून (थेरी० 447) (टी० (थेरी० छड्डेत्वा), निक्खमितून (थेर० 73), आपुच्छितून (थेरी० 426), छड्डून रूप : 469) भी * 'छर्द् तून' से, टी० छड्डेत्वा)।

§ 212. **य प्रत्यय**

स्वरान्त धातु : अभिञ्ञाय=अभि-आज्ञाय, अञ्ञाय=आज्ञाय, आदाय (तथा √दा के अन्य समास भी)=आदाय, निधाय (धम्म० 142. 405) (√धा के अन्य समास भी)=निधाय, उट्ठाय=उत्थाय, ('पट्ठाय'—यह किसी स्थान के नाम के पश्चात् आता है, 'अर्थात् अमुक स्थान से रवाना होकर')।

इ धातु : सं० इत्वा, प्रेत्य : पेच्च (धम्म० 15, जा० टी० 2, 417 गाथा)= प्रेत्य, परिच्च (थेरी० 71)=परीत्य, समेच्च (दीघ० 2. 273 गाथा)=समेत्य, पटिच्च=प्रतीत्य।

भू धातु : अभिभुय्य (धम्म० 328, सुत्त० 45, थेर० 1242, दीघ० 2. 110), 'अभिभोति' से 'अभिभुय्य' तो इसके सादृश्य पर 'पप्पोति' से पप्पुय्य (सुत्त० 593, 829, थेर० 364, 876, संयुत्त० 1. 7 गाथा, 212 गाथा) अप्पुय्य। (विनय० 2. 156 गाथा): यह रूप निरुपसर्ग *'अप्पोति' (सं० आप्नोति) से बना है।

कृ धातु : निकच्च (विनय० 3. 90 गाथा) (सं० निकृत्य), सक्कच्च (विमान० 2. 6) ('सक्कच्च' अधिक प्रयुक्त है) (सं० सत्कृत्य), पटिगच्च) (§ 38. 1)।

अनुनासिकान्त धातु : आहच्च=आहत्य, ऊहच्च (जा० 2. 71, 3. 206) (सं० अवहृत्य), निहच्च (थेरी० 109)=निहत्य√हन्, पलिखञ्ञ (सुत्त० 968) =परिखन्य, अथवा पलिखाय (संयुत्त० 1. 123 गाथा)=परिखन्य तथा परिखाय परि+√खन्, आगम्म, संगम्म आदि (सं० आगम्य, संगम्य आदि), निक्खम्म (महावंस 5. 221)=निष्क्रम्य। बिना उपसर्ग के भी : गम्य (जा० 5.31, टी० गन्त्वा)।

स्पर्श व्यंजनान्त धातु—आपुच्छ(थेरी० 416, टी० आपुच्छित्वा), संपुच्छ(संयुत्त०, 1. 176 गाथा, धम्म० टी० 4. 9)=आपृच्छ्य, परिच्चज्ज (जा० 3. 194)= परित्यज्य) पविभज्ज (थेर० 1242)=प्रविभज्य, संचिच्च (विनय० 1. 97) =संचित्य, पभिज्ज (थेर० 1242)=प्रभिद्य, पज्ज=पद्य, सज्ज=सद्य, पनुज्ज= (सुत्त० 359 1055)=प्रनुद्य, अतिविज्झ (मज्झिम० 2. 112)=अतिविध्य √व्यध्, आरब्भ=आरभ्य, ओलुब्भ (थेरी० 17, संयुत्त० 1. 118, जा०टी० 1. 265)= अवलुम्प्य।

ऊष्मान्त धातु : ओक्कस्स (दीघ० 2. 74) (सं० अवकृष्य)।

हकारान्त धातु : आरुय्ह (थेर० 147, जा०टी० 1. 438, 2. 27) (सं० आरुह्य), अब्बुय्ह (थेर० 298, थेरी० 15) (सं० आवृह्य), गय्ह=गृह्य, पसय्ह (दीघ० 2. 74)=प्रसह्य गहाय (सुत्त 791) भी, समुग्गहाय (सुत्त० 797) 'गहायति' से (§ 186. 5)। 'गहेति' से गहाय के सादृश्य पर 'अन्वेति' से 'अन्वाय' भी बन गया (दीघ० 1. 13, जा०टी० 2. 39) (अनु+√इ)। उञ्छाय (जा० 5. 90, टी० उञ्छित्वा)।

§ 213. **य से पहले स्वरभक्ति का 'इ' भी बहुत बार आता है** :

पकिरिय (दीघ० 2. 139)=प्रकीर्य, लिङ्गिय (थेरी० 398)=लिङ्ग्य (टी० आलिङ्गित्वा), अभिरूहिय (थेरी० 27) ('रुय्ह' भी), (सम्)अवेक्खिय (सुत्त० 115, महावंस 5. 195), पेक्खिय (महावंस 5. 194)=प्रेक्ष्य, निकुज्जिय (थेरी० 28, 30) 'निकुज्जति' से (सं० कुब्ज), विवज्जिय (थेरी० 167) 'विवज्जेति' से, विराजिय (थेरी० 18) 'विराजेति' से, चिन्तिय (महावंस 7. 17) (सं० विचिन्त्य), कारिय (महावंस 3.5)(सं०-कार्य)। कारेतुं, कारेति : 'कारिय' के सादृश्य

पर 'निच्छिय' (महावंस 37. 233 : कोलम्बो सं० 183) (सं० निश्चित्य) 'निच्छेति' (सं० निच्छिनति) से (§ 131), निच्छेतुं (§ 205)।

इस प्रकार 'इय' का नया रूप बन गया और वर्तमान के रूप इसी के समान बनने लगे। उदाहरण :

130 के अनुसार—सुमरिय (महावंस 4. 66) (सं० स्मृत्य), अतितरिय (सुत्त० 219) (सं० तीर्य)।

§ 135 के अनुसार : निसिञ्चिय (महावंस 7. 8) (सं० निषिच्य)।

§ 136 के अनुसार : पस्सिय (थेरी० 399)।

§ 144 के अनुसार : छिन्दिय (थेरी० 480) (सं० छिद्य)।

§ 145 के अनुसार—अवजानिय (सुत्त० 713) (सं० अवज्ञाय), बन्धिय (थेरी० 81) (सं० बध्य)।

§ 147 के अनुसार—सुणिय (महावंस 23. 102) (सं०-श्रुत्य), करिय (थेरी० 402) (सं० कृत्य)। नए वर्तमान रूप दक्ख-(§ 136. 3) से दक्खिय (थेरी० 381)।

§ 214. 'यान' प्रत्यय वाले रूप

उत्तरियान (जा० 5.204, टी० उत्तरित्वा अवत्थरित्वा), ओवरियान (थेरी० 367, 369) (ओवदियान : थेरी० टी० 250 : के स्थान पर, व्याख्या 'ओवदित्वा' के रूप में), पक्खन्दियान (विमान० 84. 11) विमान० टी० 338 में व्याख्या 'पक्खन्दित्वा' के रूप में (√स्कन्द्)।

यान के स्थान पर 'यानं' भी मिलता है :

खादियानं (जा० 5. 24), अनुमोदियानं (जा० 5. 143 आदि)।

□□

पालि-साहित्य

पालि-साहित्य का इतिहास

भारतीय साहित्य में वेदों का स्थान प्राचीनतम है। किंतु उनके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक युग का प्रारंभ बौद्ध साहित्य के साथ होता है। गौतम बुद्ध का समय प्रायः निश्चित है और वही बौद्ध साहित्य का प्रारंभ काल है। उनका निर्वाण ई० पू० 485 के लगभग हुआ। विश्वसनीय परंपरा के अनुसार उन्होंने अस्सी वर्ष की आयु प्राप्त की। उनतीस वर्ष की आयु में वे घर छोड़कर संन्यासी हो गए और मोक्ष-मार्ग ढूँढ़ने में लग गए। कठोर तपस्या के फलस्वरूप बोधि प्राप्त की और अपने सिद्धांतों का उपदेश देना प्रारंभ किया। बुद्ध का कार्यकाल ई० पू० 535 और 485 के बीच है। इसी समय भारत में इस महान् धर्म का उदय हुआ जो कालांतर में जाकर विश्व के तीन महान् धर्मों में गिना गया। इस नई धारा का मुख्य क्षेत्र उत्तर-पूर्वी भारत का गंगातट रहा है। यहाँ मगध (बिहार) और कोसल (अवध) के राज्यों में घूम-घूमकर वे धर्म का उपदेश देते रहे। हजारों एवं लाखों की संख्या में लोग उनके अनुयायी बन गए।

यहाँ प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या इन दशकों में साहित्य भी रचा गया। इसका उत्तर 'नहीं' में दिया जाएगा। यह ठीक है कि त्रिपिटक की अधिकतर वक्तृताएँ और उक्तियाँ बुद्ध के मुख से कहलाई गई हैं। यह भी बताया गया है कि भगवान् ने कहाँ, किस प्रसंग और परिस्थिति में कौन सा उपदेश दिया या बात कही, किंतु यह कहना कठिन है कि उनमें से कितने वचन वास्तव में बुद्ध के हैं और कितने कालांतर में उनके साथ जोड़ दिए गए। गौतम बुद्ध ने अपने पीछे कोई लिखित सामग्री नहीं छोड़ी।

फिर भी, कुछ उपदेशों एवं वचनों के लिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे बुद्ध के अपने हैं और शिष्यों ने स्मृति-परंपरा द्वारा उनका समुचित संरक्षण किया। सारनाथ (वाराणसी) में दिया गया चार आर्य-सत्यों वाला एवं अष्टविध मार्ग का उपदेश इसी प्रकार का है। ये वक्तव्य पालि आगमों में ही नहीं संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में भी बार-बार उन्हीं शब्दों में मिलते हैं। महापरिनिब्बान सुत्त के कुछ उपदेश भी इसी कोटि में आते हैं जिन्हें बुद्ध ने निर्वाण के समय एकत्रित शिष्यों को

दिया। धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक तथा न्यूनाधिक रूप में नेपाल के संस्कृत-ग्रंथों एवं तिब्बती तथा चीनी अनुवादों की कुछ गाथाएँ एवं बहुत-सी संक्षिप्त उक्तियाँ जो बुद्ध-वचन के नाम से विदित हैं, इसी श्रेणी में आती हैं। बुद्ध ने दुःख और दुःख-निरोध का उपदेश ही नहीं दिया वरन् भिक्षुसंघ की स्थापना भी की। उन्होंने शिष्यों का संग्रह किया जो कि धर्म के आदेशानुसार कठोर संयमी जीवन व्यतीत करने लगे। इस भिक्षु-संघ के लिए कुछ नियम एवं विधान बुद्ध ने स्वयं बनाए। वे 'दस सिक्खा पदानि' के रूप में अब भी दोहराए जाते हैं। इसी प्रकार व्रतभंग का पाठ (पातिमोक्ख) भी बुद्ध का अपना है, यद्यपि वर्तमान की अपेक्षा उसका प्राचीन रूप छोटा था।

यह निश्चित है कि बौद्ध साहित्य का कोई भाग बुद्ध से पहले का नहीं है। त्रिपटकों में सुरक्षित कुछ फुटकर कृतियों को बुद्ध के अपने शब्द कहा जा सकता है। बहुत सी गाथाएँ, उपदेश तथा उक्तियाँ ऐसी भी है जो बुद्ध के साक्षात् प्रमुख शिष्यों द्वारा रची गई।

बौद्धों का प्राचीनतम साहित्य संग्रह-रूप है। इसमें उपदेश, वार्तालाप, उक्तियों, गाथाओं, कथानकों एवं धर्मनियमों का संग्रह है। त्रिपिटक इन्हीं संग्रहों का संग्रह है। संग्रह स्वाभाविक रूप से साहित्यिक प्रवृत्ति की पूर्वसत्ता को सूचित करता है और यह भी बताता है कि उसके विभिन्न भाग विभिन्न कालों में रचे गए होंगे।

बौद्ध-परंपरा के अनुसार इस प्रकार का एक संग्रह बहुत शीघ्र कर लिया गया था। कहा जाता है कि बुद्ध-निर्वाण के कुछ सप्ताह बाद राजगृह में भिक्षुओं की एक परिषद् हुई जिसे 'प्रथम संगीति' के नाम से संकेतित किया जाता है। उसमें बौद्धधर्म के दार्शनिक सिद्धांत (अभिधर्म) एवं आचार-सिद्धांत (विनय) का निर्णय किया गया। किंतु विंटरनित्ज और ओल्डनबर्ग इस परंपरा को सत्य नहीं मानते। उनका कथन है कि अभिधम्मपिटक और विनयपिटक जिस रूप में अब विद्यमान हैं, बुद्ध के समय ठीक वैसे ही थे, यह नहीं कहा जा सकता। इस परंपरा का अर्थ इतना ही हो सकता है कि बुद्ध का निर्वाण होते ही स्थविर भिक्षु एकत्रित हुए और उन्होंने अपनी आचार-संहिता एवं दार्शनिक मान्यताओं के विषय में विचार-विनिमय किया। किंतु पिटक के रूप में संग्रह इतना शीघ्र अस्तित्व में नहीं आ सकता।

उसी परंपरा के अनुसार एक सौ वर्ष पश्चात् वैशाली में 'द्वितीय संगीति' हुई। इसकी ऐतिहासिकता पहली की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। इस संगीति का उद्देश्य दस मिथ्यावादों को दूर करना था जिनके कारण भिक्षुसंघ का अनुशासन शिथिल पड़ता जा रहा था। उत्तरकालीन विवरणों में यह भी उल्लेख आता है कि यह अधिवेशन आठ महीने तक चलता रहा और उसमें सिद्धांतों का पर्यालोचन किया गया। यदि पिछले विवरण पर ध्यान दिया जाए तो इस बात को ऐतिहासिक सत्य के रूप में माना जा सकता है कि बुद्ध के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् कुछ मतभेद खड़े हो गए और संघ में विवाद होने लगे। परिणामस्वरूप भिक्षुओं की एक सभा

बुलाई गई और विवाद-ग्रस्त बातों के विषय में निर्णय किए गए। इससे यह भी विदित होता है कि उस समय भिक्षुओं के पास कोई संहिता रही होगी जिसके आधार पर विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय किया गया। वह आधार भिक्षुओं के आचार से संबंध रखने वाले वर्तमान विनयपिटक के समान रहा होगा। अतः यह मानना पड़ता है कि बुद्ध के पश्चात् एक सौ वर्ष तक यद्यपि त्रिपिटक नहीं बने थे फिर भी उनके मूल तत्त्व अस्तित्व में आ चुके थे।

लंका की ऐतिहासिक परंपरा के अनुसार उस बिखरे हुए धार्मिक साहित्य का आगमों के रूप में संग्रह अशोक के समय 'तृतीय संगीति' में किया गया है। यह निश्चित है कि उस समय बौद्ध संघ अनेक संप्रदायों एवं मतों में विभक्त हो चुका था। ऐसे समय जो लोग अपने को बुद्ध के मूल उपदेशों का अनुयायी सिद्ध करना चाहते थे, उनकी ओर से इस प्रकार की परिषद् का आयोजन होना स्वाभाविक है। यह भी विशेष संभावित है कि इस प्रकार का प्रयत्न अशोक-सरीखे प्रतापी बौद्ध सम्राट् के संरक्षकत्व में हुआ हो। सम्राट् अशोक ने अपने किसी शिलालेख में यह आदेश नहीं दिया कि परंपरा को न मानने वाले भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों को संघ से पृथक् कर दिया जाए। वह स्वाभाविक रूप से जानना चाहता था कि बुद्ध के धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले वास्तविक तत्त्व कौन-से हैं। अपने किसी शिलालेख में उसने इस संगीति का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि संगीति में प्रधानता भिक्षुओं की थी। बुद्ध के निर्वाण के 236 वर्ष पश्चात् मोग्गलिपुत्त तिष्य ने एक हजार भिक्षुओं को पाटलिपुत्र में आमंत्रित किया और थेरवाद शाखा के सिद्धांत-ग्रंथों एवं धर्म का निर्णय किया। थेर (स्थविर) का अर्थ है वृद्ध। बुद्ध के साक्षात् शिष्यों को इस नाम से पुकारा जाता था। तिष्य थेरवाद के अंतर्गत विभज्यवाद के मानने वाले थे। पाटलिपुत्र की संगीति नौ महीने चलती रही और उसमें त्रिपिटक का संग्रह किया गया। यह भी कहा जाता है कि तिष्य ने कथावस्तु का भी संपादन किया और उसे त्रिपिटक में मिला दिया। इस प्रकरण में दर्शनांतरों एवं मतांतरों का खंडन है।

संगीतियों की ऐतिहासिकता के विषय में पर्याप्त विवाद है। किंतु विभिन्न मत-मतांतरों के कारण जिस प्रकार की परिस्थिति बन गई उसमें यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि परंपरावादी बौद्ध सिद्धांतों का संग्रह करने, संघ की आचारसंहिता बनाने तथा मूलपाठों को सुरक्षित रखने की आवश्यकता का अनुभव करते और यह भिक्षुओं के सम्मेलन द्वारा ही संभव था। उपर्युक्त संगीतियों की ऐतिहासिकता के लिए केवल यही आधारबिंदु है। विशेष विवरण के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। यह भी संभव है कि तीन से अधिक संगीतियाँ हुई हों। लंका तथा उत्तर भारत के लेखों में महासंगीति का वर्णन आता है। उसमें महासंगीतिक या महासांघिक दूसरों से अलग हुए। यह वर्णन इस बात को प्रकट करता है कि पाटलिपुत्र में परंपरावादियों की संगीति से पहले सुधारवादी महासांघिकों की संगीति हो चुकी थी। यह प्रतीत होता है कि त्रिपिटकों का संग्रह कई संगीतियों में हुआ। उनमें पाटलिपुत्र की संगीति सब से

दिया। धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक तथा न्यूनाधिक रूप मे नेपाल के सस्कृत-ग्रथों एवं तिब्बती तथा चीनी अनुवादो की कुछ गाथाएं एव बहुत-सी सक्षिप्त उक्तियां जो बुद्ध-वचन के नाम से विदित है, इसी श्रेणी में आती हैं। बुद्ध ने दुःख और दुःख-निरोध का उपदेश ही नही दिया वरन् भिक्षुसंघ की स्थापना भी की। उन्होंने शिष्यों का संग्रह किया जो कि धर्म के आदेशानुसार कठोर संयमी जीवन व्यतीत करने लगे। इस भिक्षु-संघ के लिए कुछ नियम एव विधान बुद्ध ने स्वयं बनाए। वे 'दस सिक्खा पदानि' के रूप में अब भी दोहराए जाते हैं। इसी प्रकार व्रतभग का पाठ (पातिमोक्ख) भी बुद्ध का अपना है, यद्यपि वर्तमान की अपेक्षा उसका प्राचीन रूप छोटा था।

यह निश्चित है कि बौद्ध साहित्य का कोई भाग बुद्ध से पहले का नहीं है। त्रिपटकों में सुरक्षित कुछ फुटकर कृतियों को बुद्ध के अपने शब्द कहा जा सकता है। बहुत सी गाथाएं, उपदेश तथा उक्तियां ऐसी भी है जो बुद्ध के साक्षात् प्रमुख शिष्यों द्वारा रची गई।

बौद्धों का प्राचीनतम साहित्य संग्रह-रूप है। इसमें उपदेश, वार्तालाप, उक्तियों, गाथाओं, कथानकों एवं धर्मनियमो का संग्रह है। त्रिपिटक इन्हीं संग्रहों का संग्रह है। संग्रह स्वाभाविक रूप से साहित्यिक प्रवृत्ति की पूर्वसत्ता को सूचित करता है और यह भी बताता है कि उसके विभिन्न भाग विभिन्न कालों में रचे गए होंगे।

बौद्ध-परंपरा के अनुसार इस प्रकार का एक संग्रह बहुत शीघ्र कर लिया गया था। कहा जाता है कि बुद्ध-निर्वाण के कुछ सप्ताह बाद राजगृह में भिक्षुओं की एक परिषद् हुई जिसे 'प्रथम सगीति' के नाम से संकीर्तित किया जाता है। उसमें बौद्धधर्म के दार्शनिक सिद्धांत (अभिधर्म) एवं आचार-सिद्धांत (विनय) का निर्णय किया गया। किंतु विंटरनित्ज़ और ओल्डनबर्ग इस परंपरा को सत्य नहीं मानते। उनका कथन है कि अभिधम्मपिटक और विनयपिटक जिस रूप में अब विद्यमान हैं, बुद्ध के समय ठीक वैसे ही थे, यह नही कहा जा सकता। इस परंपरा का अर्थ इतना ही हो सकता है कि बुद्ध का निर्वाण होते ही स्थविर भिक्षु एकत्रित हुए और उन्होने अपनी आचार-संहिता एवं दार्शनिक मान्यताओं के विषय में विचार-विनिमय किया। किंतु पिटक के रूप में संग्रह इतना शीघ्र अस्तित्व में नहीं आ सकता।

उसी परंपरा के अनुसार एक सौ वर्ष पश्चात् वैशाली में 'द्वितीय संगीति' हुई। इसकी ऐतिहासिकता पहली की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। इस संगीति का उद्देश्य दस मिथ्यावादों को दूर करना था जिनके कारण भिक्षुसंघ का अनुशासन शिथिल पड़ता जा रहा था। उत्तरकालीन विवरणों में यह भी उल्लेख आता है कि यह अधिवेशन आठ महीने तक चलता रहा और उसमें सिद्धांतों का पर्यालोचन किया गया। यदि पिछले विवरण पर ध्यान दिया जाए तो इस बात को ऐतिहासिक सत्य के रूप में माना जा सकता है कि बुद्ध के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् कुछ मतभेद खड़े हो गए और संघ मे विवाद होने लगे। परिणामस्वरूप भिक्षुओं की एक सभा

बुलाई गई और विवाद-ग्रस्त बातों के विषय में निर्णय किए गए। इससे यह भी विदित होता है कि उस समय भिक्षुओं के पास कोई संहिता रही होगी जिसके आधार पर विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय किया गया। वह आधार भिक्षुओं के आचार से संबंध रखने वाले वर्तमान विनयपिटक के समान रहा होगा। अतः यह मानना पड़ता है कि बुद्ध के पश्चात् एक सौ वर्ष तक यद्यपि त्रिपिटक नहीं बने थे फिर भी उनके मूल तत्त्व अस्तित्व में आ चुके थे।

लंका की ऐतिहासिक परंपरा के अनुसार उस बिखरे हुए धार्मिक साहित्य का आगमों के रूप में संग्रह अशोक के समय 'तृतीय संगीति' में किया गया है। यह निश्चित है कि उस समय बौद्ध संघ अनेक संप्रदायों एवं मतों में विभक्त हो चुका था। ऐसे समय जो लोग अपने को बुद्ध के मूल उपदेशों का अनुयायी सिद्ध करना चाहते थे, उनकी ओर से इस प्रकार की परिषद् का आयोजन होना स्वाभाविक है। यह भी विशेष संभावित है कि इस प्रकार का प्रयत्न अशोक-सरीखे प्रतापी बौद्ध सम्राट् के संरक्षकत्व में हुआ हो। सम्राट् अशोक ने अपने किसी शिलालेख में यह आदेश नहीं दिया कि परंपरा को न मानने वाले भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों को संघ से पृथक् कर दिया जाए। वह स्वाभाविक रूप से जानना चाहता था कि बुद्ध के धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले वास्तविक तत्त्व कौन-से हैं। अपने किसी शिलालेख में उसने इस संगीति का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि संगीति में प्रधानता भिक्षुओं की थी। बुद्ध के निर्वाण के 236 वर्ष पश्चात् मोग्गलिपुत्त तिष्य ने एक हज़ार भिक्षुओं को पाटलिपुत्र में आमंत्रित किया और थेरवाद शाखा के सिद्धांत-ग्रंथों एवं धर्म का निर्णय किया। थेर (स्थविर) का अर्थ है वृद्ध। बुद्ध के साक्षात् शिष्यों को इस नाम से पुकारा जाता था। तिष्य थेरवाद के अंतर्गत विभज्यवाद के मानने वाले थे। पाटलिपुत्र की संगीति नौ महीने चलती रही और उसमें त्रिपिटक का संग्रह किया गया। यह भी कहा जाता है कि तिष्य ने कथावस्तु का भी संपादन किया और उसे त्रिपिटक में मिला दिया। इस प्रकरण में दर्शनांतरों एवं मतांतरों का खंडन है।

संगीतियों की ऐतिहासिकता के विषय में पर्याप्त विवाद है। किंतु विभिन्न मत-मतांतरों के कारण जिस प्रकार की परिस्थिति बन गई उसमें यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि परंपरावादी बौद्ध सिद्धांतों का संग्रह करने, संघ की आचारसंहिता बनाने तथा मूलपाठों को सुरक्षित रखने की आवश्यकता का अनुभव करते और यह भिक्षुओं के सम्मेलन द्वारा ही संभव था। उपर्युक्त संगीतियों की ऐतिहासिकता के लिए केवल यही आधारबिंदु है। विशेष विवरण के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। यह भी संभव है कि तीन से अधिक संगीतियाँ हुई हों। लंका तथा उत्तर भारत के लेखों में महासंगीति का वर्णन आता है। उसमें महासंगीतिक या महासांघिक दूसरों से अलग हुए। यह वर्णन इस बात को प्रकट करता है कि पाटलिपुत्र में परंपरावादियों की संगीति से पहले सुधारवादी महासांघिकों की संगीति हो चुकी थी। यह प्रतीत होता है कि त्रिपिटकों का संग्रह कई संगीतियों में हुआ। उनमें पाटलिपुत्र की संगीति सब से

अधिक महत्त्व रखती है।

लंका के इतिहास में यह भी मिलता है कि पाटलिपुत्र संगीति के अध्यक्ष आचार्य तिष्य ने उत्तर तथा दक्षिण के पड़ोसी देशों में प्रचारक भेजे और विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार का मार्ग तैयार किया। अशोक का छोटा भाई (दूसरी परंपरा के अनुसार 'पुत्र') तिष्य का शिष्य था। वह लंका में बौद्ध धर्म तथा ग्रंथों को ले गया। कहा जाता है कि महेंद्र तथा उसके साथी भिक्षु हंसों के समान उड़कर लंका पहुँच गए। यद्यपि इस प्रकार उड़ने की बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता, फिर भी महेंद्र के पहुँचने की घटना में अविश्वास का कोई कारण नहीं हैं। वह जिन ग्रंथों को वहाँ ले गया वे दो शताब्दियों तक मौखिक परंपरा द्वारा चलते रहे। ई० पू० प्रथम शताब्दी में राजा वट्टगामिनी ने उन्हें लिपिबद्ध किया।

वर्तमान त्रिपिटक वे ही हैं, जिन्हें लंकावासी बौद्धों के मत में, महेंद्र ले गया और वट्टगोमी ने उन्हें लिपिबद्ध कराया। पिटक का अर्थ है पेटी। विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त संग्रहग्रंथ त्रिपिटक कहे जाते हैं। उनका विभाजन नीचे लिखे अनुसार है :

1. **विनयपिटक** : इसमें विनय अर्थात् संघ के अनुशासन एवं भिक्षुओं के आचार से संबंध रखने वाले विषयों का संग्रह है।

2. **सुत्तपिटक** : 'सुत्त' शब्द संस्कृत 'सूत्र' का पालि-रूपांतर है। संस्कृत में 'सूत्र' शब्द का अर्थ है—संक्षिप्त सारगर्भित सूचनात्मक वाक्य। किंतु पालि में यह अर्थ नहीं है। यहाँ इसका अर्थ है उपदेश। धार्मिक तथ्यों से संबंध रखने वाला छोटा अथवा बड़ा प्रत्येक वक्तव्य सुत्त है। ये सुत्त अधिकतर प्रश्नोत्तर-रूप में हैं। इन्हें सुत्तांत (सं० सूत्रान्त) भी कहा गया है। सुत्तनिपात में पाँच निकाय अर्थात् इस प्रकार के सूत्रों के बड़े-बड़े संग्रह हैं।

3. **अभिधम्मपिटक** : यह सैद्धांतिक तत्त्वों का संग्रह है। सुत्तपिटक के समान अभिधम्म में भी धार्मिक चर्चाएँ हैं किंतु इसमें सूक्ष्म विवेचन है। बौद्ध आचार की मनोवैज्ञानिक भूमिका को प्रकट करने वाले भेद-प्रभेदों की अधिक चर्चा है।

त्रिपिटक ग्रंथों का शैली की दृष्टि से नौ अंगों में विभाजन किया गया है। इनका निर्देश स्वयं त्रिपिटकों में बार-बार आता है :

1. सुत्त—गद्य उपदेश
2. गेय्य—गद्य और पद्य दोनों के मिश्रित उपदेश
3. वेयाकरण (व्याकरण)—व्याख्या या टीकाएँ
4. गाथा—गाथाएँ
5. उदान—सारगर्भित उक्तियाँ।
6. इतिवुत्तक—संक्षिप्त व्याख्यान जिनका प्रारंभ 'बुद्ध ने ऐसे कहा है' शब्दों से होता है।

7. जातक—बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ।
8. अब्भुतधम्म—आश्चर्यजनक बातें।
9. वेदल्ल—प्रश्नोत्तर के रूप में उपदेश।

उपर्युक्त विभाजन का संबंध किसी आगम-विशेष या ग्रंथ-विशेष से नहीं है। किंतु समस्त बौद्ध आगमों का शैली एवं विषय की दृष्टि से विभाजन है।

अंगों की सूची से यह सिद्ध होता है कि जब आगमों को वर्तमान रूप मिला उस समय बौद्ध साहित्य में उपर्युक्त सभी रूप विद्यमान थे। आगमों के अन्य उद्धरणों से यह भी प्रकट होता है कि उस समय बहुत से छोटे-छोटे ग्रंथ, आचार-संहिताएँ, व्याख्यान, चर्चाएँ, सूत्ररूप में कारिकाएँ तथा छोटे-छोटे संग्रह विद्यमान थे। ये सभी बुद्ध-वचन के नाम से प्रचलित हैं। भिक्षु इनका कंठस्थ पाठ किया करते थे। समय-समय पर मंगल के रूप में भी उनका पाठ किया जाता था। भारत तथा लंका में अभी तक यह परिपाटी विद्यमान है।

भिक्षु भी आगमों के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभक्त थे। सुत्तन्त का पाठ करने वाले 'सुत्तन्तिक' कहे जाते थे—इसी प्रकार धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले 'धम्मकथिक' और अनुशासन एवं आचारसंहिता के पंडित 'विनयधर'। सिद्धान्त के ज्ञान और अनुशासन को स्थायी रखने के लिए आगमों का कंठस्थ करना, उनका बार-बार पाठ करना तथा उपदेश देना आवश्यक था। वर्षावास में जब बहुत से भिक्षु एक स्थान पर रहते थे तो उलझे हुए प्रश्नों का खुलासा और शंका-समाधान के लिए अवसर मिल जाता था। यह प्राय: होता था कि जब कोई विद्वान् भिक्षु या एक विहार में रहने वाले सभी भिक्षु मिलकर किसी बात को धर्म के रूप में घोषित करते थे तो उनका अनुशीलन होता था—तभी उसे बुद्ध के उपदेश (सत्थुसासनं) के रूप में स्वीकार किया जाता था। इसका अर्थ है कुछ प्रमाणभूत ग्रंथ रहे होंगे जिनके आधार पर उनका परीक्षण किया जाता था। प्रमुख भिक्षुओं के लिए कहा जाता था, "वे बड़े ज्ञानी हैं, परंपरा के ज्ञाता हैं तथा धर्म, विनय और मातृकाओं में निष्णात हैं। मातृकाएँ वे सूचियाँ हैं जिनका सिद्धांतों तथा आचार-नियमों को सीखने में बड़ा महत्त्व है। ये ही मातृकाएँ क्रमशः अभिधर्मपिटक का मूलपाठ बन गईं। इससे प्रतीत होता है कि आगमों के संकलन से पहले अभिधर्म अपने प्रारंभिक रूप में था।

पालि आगमों में **कथावत्थु** भी गिना जाता है। परंपरानुसार इसके रचयिता तिष्य हैं और वह 'अभिधर्मपिटक' का एक भाग है। इससे 'विनयपिटक', 'सूत्तपिटक' के सभी निकाय तथा 'अभिधर्मपिटक' के दूसरे भागों की पूर्वसत्ता सिद्ध होती है। अतः इसे त्रिपिटकों का अर्वाचीनतम भाग कहा जा सकता है। यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य तिष्य ने इसे त्रिपिटकों का संकलन करने के पश्चात् लिखा और संगीति के सदस्यों ने इसे श्रेष्ठ परिशिष्ट के रूप में मूल आगमों के साथ जोड़ दिया।

किंतु वर्तमान पिटक वे ही हैं जो तीसरी संगीति में संकलित हो चुके थे—यह मान्यता निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं की जा सकती। इसके विरुद्ध सर्वप्रथम प्रमाण

यह है कि वर्तमान त्रिपिटकों की भाषा को ई०पू० तृतीय शताब्दी की भाषा नहीं माना जा सकता। बुद्ध स्वयं अपने जन्म-स्थान.कोसल (अवध) की भाषा बोलते थे। यह मानना भी एकदम उचित है कि बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश इसी भाषा में दिया होगा। तत्पश्चात् वे बिहार में घूमते रहे और संभवतया वहीं की भाषा में धर्मोपदेश देते रहे। यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि बौद्ध धर्म के प्रारंभिक काल में भाषा को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि वे अर्थ को महत्त्व देते हैं, शब्दों को नहीं।[1] जब धर्म का प्रचार बढ़ गया और विभिन्न प्रांतों के लोग भिक्षु बनने लगे तो वे भी अपने-अपने प्रांत की भाषा में उपदेश दिया करते थे। यह भी संभव है कि ब्राह्मण वर्ण से आने वाले भिक्षुओं ने बुद्धवाणी का संस्कृत पद्यानुवाद करने का प्रयत्न किया हो। किंतु विनयपिटक में इसे स्पष्ट रूप से नियम-विरुद्ध बताया है क्योंकि इससे न तो गृहस्थों को भिक्षु बनने की और न भिक्षुओं को धर्म में अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है। साथ ही यह घोषणा की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी भाषा में. सिद्धांत सीखना चाहिए। जिन भिक्षुकों ने पाटलिपुत्र में पिटकों का संकलन किया था, संभवतया वे प्राचीन मागधी का प्रयोग करते थे। लंका, बर्मा, तथा स्याम के बौद्ध. वर्तमान पिटकों की भाषा को मागधी कहते हैं किंतु यह भाषा प्राचीन मागधी से बहुत भिन्न है। शिलालेखों, ग्रंथों एवं व्याकरणों के आधार पर हम प्राचीन मागधी के रूप को स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। दूसरी बोलियों के साथ भी वर्तमान पिटकों की भाषा का वैसा ही साम्य है जैसा मागधी के साथ। वास्तव में देखा जाए तो पालि साहित्यिक भाषा है और इसका प्रयोग केवल बौद्धों में होता था। अन्य साहित्यिक भाषाओं के समान यह भी कई बोलियों के मिश्रण से बनी है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि मिश्रण द्वारा विकसित साहित्यिक भाषा की भी पृष्ठभूमि में कोई एक बोली अवश्य रहती है। पालि के लिए वह स्थान मागधी का है। इसलिए जब पालि और मागधी को एक कहा जाता है तो यह अक्षरशः सत्य न होने पर भी ऐतिहासिक आधार से सर्वथा शून्य नहीं है।

इस साहित्यिक भाषा के उत्पत्ति-स्थान और समय के विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। संभवतया अशोक के पश्चात् शीघ्र ही, जब बौद्ध धर्म समस्त मध्य भारत तथा उत्तर-पश्चिम तक फैल गया, विशाल क्षेत्र में फैली हुई विविध बोलियों में समझौते के रूप में पालि का जन्म हुआ। थेरवाद के आगमों को सुरक्षित करने के लिए भिक्षुओं में इस प्रकार की भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। यही कारण है कि पालि में अनेक भारतीय आर्य बोलियों के लक्षण मिलते हैं। ई०पू० प्रथम शताब्दी में जब विभज्यवाद के आगम लिखे गए उस समय पालि के प्राचीन और नवीन दो रूप हो चुके थे। इसका अर्थ है कि उस समय तक पालि काफ़ी विकसित हो चुकी थी। लंका के भिक्षुओं ने किसी एक समय भारतीय मान्यता-प्राप्त आगमों को स्वीकार

1. 'मज्झिम-निकाय' 103; पृ० 240।

किया और उन्हीं के संरक्षण एवं पारंपरिक प्रदान में लग गए। उन्होंने आगमों के विषय और भाषा दोनों के संरक्षण की ओर पूरा ध्यान दिया। किंतु लंका पहुँचने से पहले उनके विषयों तथा भाषा में कई बार परिवर्तन हो चुका था।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्तमान त्रिपिटक भाषा और विषय दोनों दृष्टियों से अशोक के समय संकलित त्रिपिटकों से यद्यपि मिलते-जुलते हैं किंतु पूर्णतया वे ही नहीं हैं। यह मानना पड़ेगा कि ई० पू० तृतीय शताब्दी से लेकर प्रथम शताब्दी तक (जबकि लेखन प्रारंभ हुआ) और उसके पश्चात् भी त्रिपिटकों में अनेक परिवर्तन होते रहे। बहुत से नई बातें जोड़ दी गई, टीकाएँ मूलपाठ के साथ मिल गई और मूलपाठ समझी जाने लगीं। इस प्रकार संग्रह और उनके अंतर्गत स्वतंत्र पाठ आकार में बड़े हो गए। बीतने वाली शताब्दियाँ उन पर अपना-अपना प्रभाव छोड़ती गई। आगमों में जो परस्पर-विरोधी बातें मिलती हैं, उनका कारण भी यही है। इसी प्रकार पुरानी और नई परंपराओं का एक-साथ प्रतिपादन एवं एक ही पाठ का कई स्थानों पर मिलना भी इसी का परिणाम है।

उपर्युक्त प्रतिबंधों एवं सीमाओं के होने पर भी यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटक, कम-से-कम विनयपिटक और सुत्तपिटक, ई० पू० तृतीय शती में अपने संकलित रूप से मिलते हैं। इसके लिए हमारे पास मुख्य प्रमाण अशोक के शिलालेख हैं। इन लेखों में त्रिपिटकों का प्रतिपाद्य धर्म ही नहीं वरन् उनके शब्द तथा अंशतः परिवर्तित उद्धरण तक मिलते हैं। इतना ही नहीं, वैराट् अथवा भाब्रु के शिलालेखों में सम्राट् भिक्षुओं से कहते हैं—"जो कुछ बुद्ध ने कहा हैं, ठीक कहा है।" सम्राट् ने सात पुस्तकों के नाम दिए हैं और उन्हें विशेष रूप से पढ़ने का अनुरोध किया है। वे पुस्तकें सुतपिटक में कुछ विशृंखलित रूप से मिलती हैं।

भरहुत तथा साँची के अधिकतर स्तूप उसी लिपि में हैं जो अशोक के शिलालेखों की लिपि है। कुछ समय पहले उन्हें अशोक के समय के स्मारक माना जाता था। किंतु अब पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान् उन्हें ई० पू० द्वितीय या प्रथम शताब्दी की वास्तुकला मानने लगे है। भरहुत के स्तूप कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। वह पुरातत्त्व की बहुमूल्य संपत्ति हैं। किंतु साँची के भव्य स्तूप अपने मूल स्थान पर विद्यमान हैं। भरहुत और साँची स्तूपों के रेलिंगों पर जो चित्रकारी और लेख खुदे हुए हैं वे बड़े महत्त्व के हैं। वे खुदे हुए चित्र बुद्ध जीवन के दृश्यों को उपस्थित करते है और बुद्ध-कथा के पर्याप्त विकसित रूप को उपस्थित करते हैं। इस प्रकार की कथा पालि-सुत्तों में, विशेष रूप से निदानकथा, ललितविस्तर और महावस्तु में मिलती हैं। भरहुत के स्तूप में बहुत से चित्र कहानियों एवं दृष्टांतकथाओं को उपस्थित करते हैं। उनके शीर्षक लेखों में दिए हुए हैं। इन लेखों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन चित्रों में जातक-कथाओं को दर्शाया गया है। उनमें से अधिकतर कथाएँ त्रिपिटक जातकों में मिल गई हैं। भरहुत और साँची के स्मारकों में ऐसे लेख भी मिले हैं जिनमें भिक्षुओं के साथ विविध उपाधियाँ लगाई गई हैं। उदाहरण रूप में (1) माणक—

पाठ करने वाला, (2) सुतन्तिक=सुत्तन्त को जानने वाला या उस का पाठ करने वाला, (3) पञ्चनेकायिक=पाँच निकायों को जानने वाला, (4) पेटकिन्=पिटकों को जानने वाला, तथा (5) धम्मकथिक=धर्मकथा करने वाला।

इन सबसे यह प्रतीत होता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी से पहले बौद्ध ग्रंथों का एक संग्रह विद्यमान था और उसे पिटक कहा जाता था। वह पाँच निकायों में विभक्त था। इसी प्रकार सुत्त भी थे जिनमें धर्म का उपदेश था। उनमें से बहुत सुत्त वर्तमान त्रिपिटक के सुत्तों से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त जातक ठीक वैसे ही थे जैसे वर्तमान त्रिपिटकों में मिलते हैं।

त्रिपिटकों के अस्तित्व के लिए प्राचीनतम पुस्तकीय प्रमाण 'मिलिन्दपञ्ह' में मिलता है। इसका मौलिक भाग प्रथम इसवी का है। किंतु सारा-का-सारा बौद्ध साहित्य इस बात को प्रकट करता है कि पालि-आगमों का समय बुद्ध के बहुत बाद का नहीं है। साथ ही बौद्ध धर्म और दर्शन का जो रूप बुद्ध के पश्चात् दो शताब्दियों तक रहा उसके लिए त्रिपिटक अत्यंत विश्वसनीय प्रमाण हैं।

यह बात आगमेतर पालि-साहित्य, 'मिलिन्दपञ्ह' की चर्चाओं, लंका के इतिहास 'दीपवंस' तथा विशाल टीका-साहित्य से सिद्ध होती है। ये सभी ग्रंथ इस बात को सिद्ध करते हैं कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में त्रिपिटक विद्यमान थे।

बौद्ध संस्कृत-साहित्य भी पालि-आगमों की प्राचीनता एवं मौलिकता को प्रमाणित करता है। इस साहित्य का कुछ भाग शुद्ध संस्कृत में है और कुछ मिश्रित संस्कृत में। इसमें विभिन्न प्रकार के ग्रंथ हैं और अनेक मत-मतांतरों को प्रकट किया गया है। इनमें से मूल सर्वास्तिवाद के अपने संस्कृत-आगम थे। उसके कुछ अंश मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। यद्यपि ये आगम पालि-आगमों का अनुवाद नहीं हैं, फिर भी पालि-आगमों की मौलिकता को प्रकट करते हैं। शब्दों तथा क्रम में पर्याप्त भिन्नता होने पर भी संस्कृत तथा पालि आगमों में परस्पर ऐसा सादृश्य विपुल परिमाण में है जिससे प्रतीत होता है कि दोनों के पीछे एक ही परंपरा रही है।

नेपाली बौद्धों के संस्कृत-ग्रंथों एवं विभिन्न बौद्ध संप्रदायों के साहित्य (जिसका पता केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों से लगता है) के आधार पर भी यह निर्णय किया जा सकता है कि इनका आधारभूत कोई एक साहित्य था जो केवल सिद्धांतों में ही नहीं किंतु पाठों में भी पालि-आगमों से मिलता-जुलता है। बौद्ध संस्कृत-साहित्य का जितना अध्ययन किया जाता है और उसकी तुलना पालि-आगमों के साथ की जाती है तो ओल्डनबर्ग के निम्नलिखित शब्द अधिकाधिक सत्य सिद्ध होते जाते हैं: "पालि संस्करण यद्यपि पूर्णतया मौलिक नहीं हैं फिर भी उन्हें और सबसे अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।" ऐसा कोई भी आगमिक या अन्य बौद्ध ग्रंथ नहीं है जो पालि आगमों जितना प्राचीन हो, जो ई० पू० प्रथम शताब्दी में लिखा गया हो और जिसमें महान् बौद्ध सम्राट् अशोक का नामोल्लेख भी न हो।

भाषा-शैली और विषय की दृष्टि से पालि-आगम उपनिषदों से बहुत मिलते हैं। किंतु बौद्ध संस्कृत-साहित्य पुराणों के सदृश है।

ये आगम लंका में पहुँचे और वहाँ लिपिबद्ध किए गए। किंतु उनमें लंका का उल्लेख किसी रूप में नहीं है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ये आगम लंका-निवासी बौद्धों के नहीं है किंतु भारत के हैं और उन्होंने बौद्ध धर्म के प्राचीनतम रूप का संरक्षण किया है। इनमें प्रतिपादित सिद्धांतों को थेरवाद कहा जाता है, अर्थात् बुद्ध के प्रथम शिष्यों के सिद्धांत। पालि-आगमों का यह दावा भी न्याय्य प्रतीत होता है।

यदि हमारे पास पालि-साहित्य के अतिरिक्त कुछ न होता तो बौद्ध दर्शन का एकांगी रूप ही मिलता। इसके विपरीत यदि केवल संस्कृत और मिश्रित साहित्य ही होता तो बौद्ध दर्शन का विकृत रूप ही सामने आता। बुद्ध के मूल उपदेशों और जीवन के विषय में केवल धुँधली-सी जानकारी मिलती। बौद्ध धर्म एवं दर्शन की पूरी जानकारी त्रिपिटकों के साथ-साथ नेपाल के संस्कृत-साहित्य एवं चीनी तथा तिब्बती अनुवादों से प्राप्त होती है।

पालि-साहित्य बौद्ध धर्म के मूल आधार के रूप में ही नहीं किंतु साहित्यिक दृष्टि से भी अन्य साहित्य से श्रेष्ठतर है। अगले पृष्ठों में उस साहित्य का विहंगावलोकन किया जाएगा।

पालि-आगम : विनयपिटक

बौद्ध विनयपिटक को आगम-साहित्य में सर्वोपरि मानते हैं। यद्यपि कालक्रम की दृष्टि से उसे सुत्तपिटक से प्राचीन नहीं माना जा सकता, फिर भी, धार्मिक दृष्टि से उसका महत्त्व अधिक मानना पड़ता है। विनयपिटक में नीचे लिखे ग्रंथ हैं :

(1) **सुत्तविभंग** : इसके दो भाग है, (क) महाविभंग और (ख) भिक्कुनी विभंग।

(2) **खन्धक** : इसके भी दो भाग हैं, (1) महावग्ग और (ख) चुल्लवग्ग।

(3) परिवार या परिवार-पाठ।

विनयपिटक की धुरी पातिमोक्ख है। इस में आचार-संबंधी नियमों के उल्लंघन से लगने वाले दोषों तथा उनके प्रायश्चित्तों का वर्णन है। भिक्षु का जीवन इसी के द्वारा नियंत्रित होता था और यही बौद्ध संघ की संघटक तत्त्व था। बौद्धसंघ की स्थिरता के लिए इसका कितना महत्त्व था यह बात आनंद के वक्तव्य से प्रकट होती है। उसमे उसने कहा है, "बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं चुना और न किसी को सर्वोच्च सत्ता दी। संघ के संचालन के लिए भगवान् ने सिक्खापदों (भिक्षुओं के आचार के लिए

पाठ करने वाला, (2) सुतन्तिक=सुत्तन्त को जानने वाला या उस का पाठ करने वाला, (3) पञ्चनेकायिक=पाँच निकायों को जानने वाला, (4) पेटकिन्=पिटकों को जानने वाला, तथा (5) धम्मकथिक=धर्मकथा करने वाला।

इन सबसे यह प्रतीत होता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी से पहले बौद्ध ग्रंथों का एक संग्रह विद्यमान था और उसे पिटक कहा जाता था। वह पाँच निकायों में विभक्त था। इसी प्रकार सुत्त भी थे जिनमें धर्म का उपदेश था। उनमें से बहुत सुत्त वर्तमान त्रिपिटक के सुत्तों से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त जातक ठीक वैसे ही थे जैसे वर्तमान त्रिपिटकों में मिलते हैं।

त्रिपिटकों के अस्तित्व के लिए प्राचीनतम पुस्तकीय प्रमाण 'मिलिन्दपञ्ह' में मिलता है। इसका मौलिक भाग प्रथम इसवी का है। किंतु सारा-का-सारा बौद्ध साहित्य इस बात को प्रकट करता है कि पालि-आगमों का समय बुद्ध के बहुत बाद का नहीं है। साथ ही बौद्ध धर्म और दर्शन का जो रूप बुद्ध के पश्चात् दो शताब्दियों तक रहा उसके लिए त्रिपिटक अत्यंत विश्वसनीय प्रमाण हैं।

यह बात आगमेतर पालि-साहित्य, 'मिलिन्दपञ्ह' की चर्चाओं, लंका के इतिहास 'दीपवंस' तथा विशाल टीका-साहित्य से सिद्ध होती है। ये सभी ग्रंथ इस बात को सिद्ध करते हैं कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में त्रिपिटक विद्यमान थे।

बौद्ध संस्कृत-साहित्य भी पालि-आगमों की प्राचीनता एवं मौलिकता को प्रमाणित करता है। इस साहित्य का कुछ भाग शुद्ध संस्कृत में है और कुछ मिश्रित संस्कृत में। इसमें विभिन्न प्रकार के ग्रंथ हैं और अनेक मत-मतांतरों को प्रकट किया गया है। इनमें से मूल सर्वास्तिवाद के अपने संस्कृत-आगम थे। उसके कुछ अंश मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। यद्यपि ये आगम पालि-आगमों का अनुवाद नहीं हैं, फिर भी पालि-आगमों की मौलिकता को प्रकट करते हैं। शब्दों तथा क्रम में पर्याप्त भिन्नता होने पर भी संस्कृत तथा पालि आगमों में परस्पर ऐसा सादृश्य विपुल परिमाण में है जिससे प्रतीत होता है कि दोनों के पीछे एक ही परंपरा रही है।

नेपाली बौद्धों के संस्कृत-ग्रंथों एवं विभिन्न बौद्ध संप्रदायों के साहित्य (जिसका पता केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों से लगता है) के आधार पर भी यह निर्णय किया जा सकता है कि इनका आधारभूत कोई एक साहित्य था जो केवल सिद्धांतों में ही नहीं किंतु पाठों में भी पालि-आगमों से मिलता-जुलता है। बौद्ध संस्कृत-साहित्य का जितना अध्ययन किया जाता है और उसकी तुलना पालि-आगमों के साथ की जाती है तो ओल्डनबर्ग के निम्नलिखित शब्द अधिकाधिक सत्य सिद्ध होते जाते है: "पालि संस्करण यद्यपि पूर्णतया मौलिक नहीं हैं फिर भी उन्हें और सबसे अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।" ऐसा कोई भी आगमिक या अन्य बौद्ध ग्रंथ नहीं है जो पालि आगमों जितना प्राचीन हो, जो ई० पू० प्रथम शताब्दी में लिखा गया हो और जिसमें महान् बौद्ध सम्राट् अशोक का नामोल्लेख भी न हो।

"अच्छा भन्ते" कहकर आनंद ने भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य किया और पानी ला दिया। भगवान् भिक्षु पर पानी डालने लगे और आनंद उस के अंगों को धोने लगे। इसके पश्चात् भगवान् ने उसे सिर से उठाया और आनंद ने पैरों से। दोनों ने मिलकर उसे बिस्तर पर सुला दिया। तब भगवान् ने उस अवसर तथा उस प्रसंग में भिक्षुसंघ की एक सभा बुलाई और भिक्षुओं से पूछा—"क्या अमुक कक्ष में कोई भिक्षु रुग्ण है ?"

"भंते ! है।"

"तो भिक्खुओ ! उस भिक्षु को क्या व्याधि है ?"

"भंते ! उसे उदर-व्याधि है।"

"भिक्खुओ ! क्या उसकी सेवा के लिए कोई है ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो, भिक्षु उसकी सेवा क्यों नहीं करते ?"

"भंते ! वह भिक्षु दूसरों के किसी काम नहीं आ सकता, इसलिए उस की कोई सेवा नहीं करता।"

"भिक्खुओ ! तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं जो तुम्हारी सेवा करें। यदि तुम परस्पर सेवा नहीं करोगे तो तुम्हारी सेवा कौन करेगा। भिक्खुओ ! जो मेरी सेवा करना चाहता है वह रुग्ण की सेवा करे।"[1]

ये कहानियाँ प्राचीन भारतीयों के दैनिक जीवन को जानने के लिए भी महत्त्व-पूर्ण हैं।

बालक उपालि के माता-पिता उनके भविष्य के विषय में परस्पर विचार करने लगे। वे सोचने लगे यदि यह लेखक बनेगा तो उँगलियाँ दुखने लगेंगी, यदि गणित सीखेगा तो छाती में पीड़ा होने लगेगी, और चित्रकला से आँखें खराब हो जाएँगी। अंत में निश्चय किया कि इसे भिक्षु बनने देना चाहिए। आजीविका के लिए यह मार्ग सबसे सुखद है।

वैद्यराज जीवक की कहानियाँ सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, उनमें मनोविनोद भी है। एक संक्षिप्त उद्धरण नीचे दिया जा रहा है :

राजगृही नगरी अपनी प्रसिद्धि और शोभा के कारण वैशाली की बराबरी कर रही थी। वैशाली में अम्बापालि नाम की प्रसिद्ध वेश्या थी जो रात के लिए पचास मोहरें लेती थी। राजगृही में उससे भी बढ़कर सुंदरी तथा सुशिक्षित शालावती नाम की नगर-नायिका राजा की आज्ञा से नियुक्त की गई। वह एक रात के लिए सौ मोहरें लेती थी। अकस्मात् वह गर्भवती हो गई किंतु अपने धंधे के कारण गर्भ को छिपाती रही। बालक उत्पन्न हुआ तो उसे टोकरी में रखकर बहा दिया। उस बालक को

1. महावग्ग VIII. 26, (सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट, भाग 17) पृ॰ 240।

है। वासनामय जीवन से भागकर वह बुद्ध के पास पहुँचता है और भिक्षु बन जाता है। उत्तर बुद्ध-कथा में सिद्धार्थ की कथा भी वर्णित है। एक कथा में कुछ नवयुवकों के भिक्षु बनने की विचित्र कथा है। कुछ नवयुवक अपनी पत्नियों के साथ आनद-विहार के लिए नगर से बाहर निकले। एक के पत्नी नहीं थी, उसने एक वेश्या को साथ ले लिया। किंतु वह उस का सामान चुराकर भाग गई। जब युवक उसका पीछा कर रहे थे, मार्ग में बुद्ध मिले। उन्होंने उस वेश्या के विषय में पूछा। बुद्ध ने उत्तर दिया : "क्या यह अच्छा न होगा यदि आप लोग उस वेश्या को खोजने के स्थान पर अपने-आप को खोजें।" बुद्ध ने उन्हें धर्मोपदेश दिया और वे सभी भिक्षु हो गए। अद्भुत कथानक भी पर्याप्त संख्या में हैं जिनमें सर्पराज और देव भाग लेते हैं। भिक्षुरूप में दीक्षित होने के इन कथानकों में सबसे अधिक रोचक दो मित्रों, सारिपुत्त और मोग्गलान की कथा हैं। कालांतर में जाकर वे बुद्ध के शिष्यों में गिने गए। बुद्ध का सारनाथ (वाराणसी) में दिया गया प्रथम धर्मोपदेश तथा अग्नि-प्रवचन भी इसी में सन्निहित हैं।

महावग्ग के अपर भाग में बुद्ध का अपनी जन्मभूमि में जाने और अपने पुत्र राहुल को दीक्षित करने का वर्णन है। चुल्लवग्ग में घनिक व्यापारी अनाथपिण्डक जिस ने अपना उद्यान संघ को भेंट कर दिया था, देवदत्त का—जो बुद्ध का प्रतिस्पर्धी था और जिसने संघ में सर्वप्रथम संप्रदाय-भेद खड़ा किया था—सौतेली माता महाप्रजापति के अनुरोध तथा आनंद के समर्थन पर बुद्ध द्वारा अनिच्छापूर्वक स्त्रियों को दीक्षित होने की अनुमति देने आदि का वर्णन है।

जो कथाएँ अभिप्राय-विशेष से गढ़ी गई हैं तथा जिनका ऐतिहासिक, साहित्यिक या कथानकों की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, उनमें भी कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण पाठ मिलते हैं। नीचे एक ऐसे कथानक को दिया जाता है जो अपनी सरलता के द्वारा हृदय को स्पर्श करता है :

उस समय की बात है। एक भिक्षु के उदर में पीड़ा हो गई और दस्त लगने लगे। बेचारा दुर्बल होकर अपने ही दस्तों में गिर पड़ा। भगवान् आनंद के साथ शयनकक्षों में घूमते हुए वहाँ पहुँचे और उस भिक्षु को उस दशा में पड़ा देखा। वे उसके पास गए और पूछा—"भिक्षु ! तुम्हें क्या कष्ट है ?"

"भंते ! मुझे उदर-व्याधि हो गई है।"

"तो भिक्षु ! क्या तुम्हारे पास सेवा के लिए कोई व्यक्ति है ?"

"नहीं भन्ते !"

"दूसरे भिक्षु तुम्हारी सेवा क्यों नहीं करते ?"

"भन्ते ! क्योंकि मैं भिक्षुओं की सेवा नहीं कर सकता।"

इस पर भगवान् ने आनंद को कहा—आनंद जाओ, और थोड़ा पानी ले आओ। हम इस भिक्षु को नहलाकर साफ़ करेंगे।"

"अच्छा भन्ते" कहकर आनंद ने भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य किया और पानी ला दिया। भगवान् भिक्षु पर पानी डालने लगे और आनंद उस के अंगों को धोने लगे। इसके पश्चात् भगवान् ने उसे सिर से उठाया और आनंद ने पैरों से। दोनों ने मिलकर उसे बिस्तर पर सुला दिया। तब भगवान् ने उस अवसर तथा उस प्रसंग में भिक्षुसंघ की एक सभा बुलाई और भिक्षुओं से पूछा—"क्या अमुक कक्ष में कोई भिक्षु रुग्ण है ?"

"भंते ! है।"

"तो भिक्खुओ ! उस भिक्षु को क्या व्याधि है ?"

"भंते ! उसे उदर-व्याधि है।"

"भिक्खुओ ! क्या उसकी सेवा के लिए कोई है ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो, भिक्षु उसकी सेवा क्यों नहीं करते ?"

"भंते ! वह भिक्षु दूसरों के किसी काम नहीं आ सकता, इसलिए उस की कोई सेवा नहीं करता।"

"भिक्खुओ ! तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं जो तुम्हारी सेवा करें। यदि तुम परस्पर सेवा नहीं करोगे तो तुम्हारी सेवा कौन करेगा। भिक्खुओ ! जो मेरी सेवा करना चाहता है वह रुग्ण की सेवा करे।"[1]

ये कहानियाँ प्राचीन भारतीयों के दैनिक जीवन को जानने के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं।

बालक उपालि के माता-पिता उनके भविष्य के विषय में परस्पर विचार करने लगे। वे सोचने लगे यदि यह लेखक बनेगा तो उँगलियाँ दुखने लगेंगी, यदि गणित सीखेगा तो छाती में पीड़ा होने लगेगी, और चित्रकला से आँखें खराब हो जाएँगी। अंत में निश्चय किया कि इसे भिक्षु बनने देना चाहिए। आजीविका के लिए यह मार्ग सबसे सुखद है।

वैद्यराज जीवक की कहानियाँ सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, उनमें मनोविनोद भी है। एक संक्षिप्त उद्धरण नीचे दिया जा रहा है :

राजगृही नगरी अपनी प्रसिद्धि और शोभा के कारण वैशाली की बराबरी कर रही थी। वैशाली में अम्बापालि नाम की प्रसिद्ध वेश्या थी जो रात के लिए पचास मोहरें लेती थी। राजगृही में उससे भी बढ़कर सुंदरी तथा सुशिक्षित शालावती नाम की नगर-नायिका राजा की आज्ञा से नियुक्त की गई। वह एक रात के लिए सौ मोहरें लेती थी। अकस्मात् वह गर्भवती हो गई किंतु अपने धंधे के कारण गर्भ को छिपाती रही। बालक उत्पन्न हुआ तो उसे टोकरी में रखकर बहा दिया। उस बालक को

1. महावग्ग VIII. 26, (सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट, भाग 17) पृ० 240।

है। वासनामय जीवन से भागकर वह बुद्ध के पास पहुँचता है और भिक्षु बन जाता है। उत्तर बुद्ध-कथा में सिद्धार्थ की कथा भी वर्णित है। एक कथा में कुछ नवयुवकों के भिक्षु बनने की विचित्र कथा है। कुछ नवयुवक अपनी पत्नियों के साथ आनद-विहार के लिए नगर से बाहर निकले। एक के पत्नी नहीं थी, उसने एक वेश्या को साथ ले लिया। किंतु वह उस का सामान चुराकर भाग गई। जब युवक उसका पीछा कर रहे थे, मार्ग में बुद्ध मिले। उन्होंने उस वेश्या के विषय में पूछा। बुद्ध ने उत्तर दिया : "क्या यह अच्छा न होगा यदि आप लोग उस वेश्या को खोजने के स्थान पर अपने-आप को खोजें।" बुद्ध ने उन्हें धर्मोपदेश दिया और वे सभी भिक्षु हो गए। अद्भुत कथानक भी पर्याप्त संख्या में हैं जिनमें सर्पराज और देव भाग लेते हैं। भिक्षुरूप में दीक्षित होने के इन कथानकों में सबसे अधिक रोचक दो मित्रों, सारिपुत्त और मोग्गलान की कथा हैं। कालांतर में जाकर वे बुद्ध के शिष्यों में गिने गए। बुद्ध का सारनाथ (वाराणसी) में दिया गया प्रथम धर्मोपदेश तथा अग्नि-प्रवचन भी इसी में सन्निहित हैं।

महावग्ग के अपर भाग में बुद्ध का अपनी जन्मभूमि में जाने और अपने पुत्र राहुल को दीक्षित करने का वर्णन है। चुल्लवग्ग में धनिक व्यापारी अनाथपिण्डक जिस ने अपना उद्यान संघ को भेंट कर दिया था, देवदत्त का—जो बुद्ध का प्रतिस्पर्धी था और जिसने संघ में सर्वप्रथम संप्रदाय-भेद खड़ा किया था—सौतेली माता महाप्रजापति के अनुरोध तथा आनंद के समर्थन पर बुद्ध द्वारा अनिच्छापूर्वक स्त्रियों को दीक्षित होने की अनुमति देने आदि का वर्णन है।

जो कथाएँ अभिप्राय-विशेष से गढ़ी गई हैं तथा जिनका ऐतिहासिक, साहित्यिक या कथानकों की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, उनमें भी कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण पाठ मिलते हैं। नीचे एक ऐसे कथानक को दिया जाता है जो अपनी सरलता के द्वारा हृदय को स्पर्श करता है :

उस समय की बात है। एक भिक्षु के उदर में पीड़ा हो गई और दस्त लगने लगे। बेचारा दुर्बल होकर अपने ही दस्तों में गिर पड़ा। भगवान् आनंद के साथ शयनकक्षों में घूमते हुए वहाँ पहुँचे और उस भिक्षु को उस दशा में पड़ा देखा। वे उसके पास गए और पूछा—"भिक्षु ! तुम्हें क्या कष्ट है ?"

"भंते ! मुझे उदर-व्याधि हो गई है।"

"तो भिक्षु ! क्या तुम्हारे पास सेवा के लिए कोई व्यक्ति है ?"

"नहीं भन्ते !"

"दूसरे भिक्षु तुम्हारी सेवा क्यों नहीं करते ?"

"भन्ते ! क्योंकि मैं भिक्षुओं की सेवा नहीं कर सकता।"

इस पर भगवान् ने आनंद को कहा—आनंद जाओ, और थोड़ा पानी ले आओ। हम इस भिक्षु को नहलाकर साफ़ करेंगे।"

"अच्छा भन्ते" कहकर आनंद ने भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य किया और पानी ला दिया। भगवान् भिक्षु पर पानी डालने लगे और आनंद उस के अंगों को धोने लगे। इसके पश्चात् भगवान् ने उसे सिर से उठाया और आनंद ने पैरों से। दोनों ने मिलकर उसे विस्तर पर सुला दिया। तब भगवान् ने उस अवसर तथा उस प्रसंग में भिक्षुसंघ की एक सभा बुलाई और भिक्षुओं से पूछा—"क्या अमुक कक्ष में कोई भिक्षु रुग्ण है ?"

"भंते ! है।"

"तो भिक्खुओ ! उस भिक्षु को क्या व्याधि है ?"

"भंते ! उसे उदर-व्याधि है।"

"भिक्खुओ ! क्या उसकी सेवा के लिए कोई है ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो, भिक्षु उसकी सेवा क्यों नहीं करते ?"

"भंते ! वह भिक्षु दूसरों के किसी काम नहीं आ सकता, इसलिए उस की कोई सेवा नहीं करता।"

"भिक्खुओ ! तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं जो तुम्हारी सेवा करें। यदि तुम परस्पर सेवा नहीं करोगे तो तुम्हारी सेवा कौन करेगा। भिक्खुओ ! जो मेरी सेवा करना चाहता है वह रुग्ण की सेवा करे।"[1]

ये कहानियाँ प्राचीन भारतीयों के दैनिक जीवन को जानने के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं।

बालक उपालि के माता-पिता उनके भविष्य के विषय में परस्पर विचार करने लगे। वे सोचने लगे यदि यह लेखक बनेगा तो उँगलियाँ दुखने लगेंगी, यदि गणित सीखेगा तो छाती में पीड़ा होने लगेगी, और चित्रकला से आँखें खराब हो जाएँगी। अंत में निश्चय किया कि इसे भिक्षु बनने देना चाहिए। आजीविका के लिए यह मार्ग सबसे सुखद है।

वैद्यराज जीवक की कहानियाँ सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, उनमें मनोविनोद भी है। एक संक्षिप्त उद्धरण नीचे दिया जा रहा है :

राजगृही नगरी अपनी प्रसिद्धि और शोभा के कारण वैशाली की बराबरी कर रही थी। वैशाली में अम्बापालि नाम की प्रसिद्ध वेश्या थी जो रात के लिए पचास मोहरें लेती थी। राजगृही में उससे भी बढ़कर सुंदरी तथा सुशिक्षित शालावती नाम की नगर-नायिका राजा की आज्ञा से नियुक्त की गई। वह एक रात के लिए सौ मोहरें लेती थी। अकस्मात् वह गर्भवती हो गई किंतु अपने धंधे के कारण गर्भ को छिपाती रही। बालक उत्पन्न हुआ तो उसे टोकरी में रखकर बहा दिया। उस बालक को

1. महावग्ग VIII. 26, (सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट, भाग 17) पृ० 240।

राजकुमार अभय ने देख लिया और पाल-पोसकर बड़ा किया। उसका नाम जीवक रखा गया।

जब जीवक बड़ा हुआ तो तक्षशिला के एक वैद्य का शिष्य हो गया। सात वर्ष तक शिक्षा देकर गुरु ने उस की परीक्षा ली। उसे एक कुदाली दे दी और कहा—"तक्षशिला के चारों ओर जो जड़ी-बूटियाँ ओषधि के काम नहीं आ सकतीं उन्हें ले आओ।" जीवक वापस लौट आया और उसने कहा—"मैं काफी दूर तक गया किंतु एक भी ऐसी जड़ी-बूटी नहीं मिली।"

उत्तर से संतुष्ट होकर गुरु ने उसे यात्रा-व्यय देकर विदा किया।

किंतु मार्गव्यय शीघ्र समाप्त हो गया। कुछ पैसा कमाने के लिए उसने एक नगर में अपने वैद्य होने की घोषणा की। उस नगर में एक धनी व्यापारी की पत्नी रुग्ण थी। जीवक ने थोड़ा-सा घी उसकी नाक में डाला, वह मुँह में आ गया और उसने थूक दिया। रुग्न सेठानी ने उस घी को सँभालकर रखने के लिए नौकरानी को कहा। जीवक के मन में आया कि वह बड़ी क्षुद्र है। उसे अपनी फीस की चिंता हो गई। सेठानी ने जीवक को विश्वास दिलाया कि उसे चिंता नहीं करनी चाहिए। वह घी दीप जलाने या अन्य चिकनाहट के काम आ सकता है, इसमें कृपणता की बात नहीं है।

वह अच्छी हो गई और उसने वैद्य को चार हजार मोहरें पारितोषिक के रूप में दीं। इसके अतिरिक्त उसके पुत्र, पुत्रवधू और पति ने भी चार-चार हज़ार मोहरें दीं, पति ने उसे एक दास, एक दासी और बैलों की जोड़ी के साथ एक रथ भी दिया।

वह राजगृही में लौट आया। अपना कमाया हुआ धन कृतज्ञता के रूप में राजकुमार अभय को देना चाहा। अभय ने उसे स्वीकार नहीं किया, केवल इतना ही चाहा कि जीवक राजगृही में बस जाए। वृद्ध राजा बिम्बसार का इलाज करने पर उसे राजवैद्य की प्रतिष्ठा मिल गई। उसने बहुत से आश्चर्यजनक इलाज किए। एक बार राजगृह का एक धनी व्यापारी अत्यंत रुग्ण हो गया। सभी वैद्यों ने आशा छोड़ दी और इलाज करना बंद कर दिया। तब राजा ने अपने राजवैद्य को उसका इलाज करने की अनुमति दी। जीवक ने उससे एक लाख मोहरें अपने लिए और एक लाख राजा के लिए दक्षिणा के रूप में माँगीं और यह शर्त रखी कि उसे सात महीने दाहिनी ओर, सात महीने बाईं ओर, और सात महीने पीठ के बल लेटे रहना होगा। रोगी ने सभी शर्तें स्वाकार कर लीं। वैद्य ने उसे पलंग के साथ बाँध दिया, उसकी खोपड़ी खोली और और दो कीड़े निकाल कर फिर से सी दी। ये ही कीड़े उसकी मृत्यु के कारण बने हुए थे। किंतु रोगी सात महीने तक एक ही पसवाड़े नहीं सो सका। परिणामस्वरूप सात-सात दिन सुलाया गया और इक्कीस दिन में ठीक हो गया। जीवक नेउसे समझाया कि सात महीने केवल कहने के लिए था अन्यथा सात दिन तक सोना भी कठिन हो जाता।

वैद्य जीवक की निपुणता और चातुर्य को बताने वाली और भी बहुत-सी कहानियाँ हैं। उसने बुद्ध की चिकित्सा भी की थी और संघ का प्रेमी बन गया था।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। विनयपिटक के संपादक जब शुष्क उपदेशों से थक जाते थे तो विधि या निषेध संबंधी नियमों के बीच इस प्रकार के कथानक डाल देते थे जिससे कुछ मनोरंजन भी हो सके। उदाहरण के रूप में आयु को प्राथमिकता प्रदान करने के नियमों का विधान करते समय बुद्ध ने नीचे लिखी कथा बताई:

बहुत पहले की बात है। भिक्खुओ! हिमालय की उपत्यका में एक वट का वृक्ष था। उसके पास तीन मित्र रहते थे—एक तीतर, एक बंदर और एक हाथी। वे एक साथ रहते तो थे किंतु उनमें परस्पर आदरभाव, विश्वास या शिष्टाचार नहीं था। एक दिन उनके मन में आया कि यह पता लगाया जाए कि हममें आयु में कौन बड़ा है। जो बड़ा हो उसका आदर किया जाए, प्रत्येक कार्य में उसकी सलाह ली जाए और उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाए।

भिक्खुओ! फिर तीतर और बंदर ने हाथी से पूछा—

"मित्र! तुम्हें कितनी पुरानी बातें याद हैं?"

"तो मित्रो! जब मैं छोटा था इस वट वृक्ष के ऊपर से चला जाता था। यह मेरी टाँगों में आ जाता था। इसकी सबसे ऊँची शाखा मेरे पेट को छूती थी। मित्रो! मुझे इतना स्मरण है।"

भिक्खुओ! फिर तीतर और हाथी ने वही, प्रश्न बंदर से किया।

"मित्रो! जब मैं छोटा था तो मैंने बैठे-बैठे इस वट वृक्ष की सबसे ऊँची शाखा को दाँतों से काटा था। मुझे इतना याद है।" बंदर ने उत्तर दिया।

"भिक्खुओ! फिर वही प्रश्न बंदर और हाथी ने तीतर से पूछा।"

"मित्रो! परली तरफ खुली जगह में एक बहुत ऊँचा वट का वृक्ष था। एक दिन मैंने उसका फल खाया और गुठली को यहाँ डाल दिया। उसी से यह वट वृक्ष उगा है। इसलिए मैं तुम दोनों से बड़ा हूँ।"

उस पर भिक्खुओ! हाथी और बंदर ने तीतर से कहा—"मित्र तुम हम तीनों से बड़े हो। आज से हम तुम्हारा आदर-सम्मान करेंगे, तुम्हें बड़ा मानेंगे और तुम्हारी सलाह लेकर काम करेंगे।"

बौद्ध आचार को शुद्ध एवं गंभीर रूप में प्रकट करने वाले उच्च कोटि के कथानक भी रखे गए हैं। राजकुमार दीर्घायु की कथा हृदयस्पर्शी है। वह अपने माता-पिता की हत्या का बदला लेना चाहता है। किंतु जब हत्यारा राजा ब्रह्मदत्त पूरी तरह उसके वस में हो जाता है तो अपनी नंगी तलवार को म्यान में रख लेता है और प्रतिशोध को भूल जाता है। विनयपिटक में उदाहरणों की भी कमी नहीं है। उपदेशों और सूक्तियों में उन्हीं का बाहुल्य है। चुल्लवग्ग (11.1.3) में बौद्ध संघ एवं धर्म की आठ विशेषताओं की तुलना समुद्र की आठ विशेषताओं से की गई है। नीचे लिखा वाक्य बार-बार आता है:

"भिक्खुओ ! जैसे समस्त महासमुद्र में एक ही रस है और वह लवण है, उसी प्रकार बौद्ध संघ एक धर्म में एक ही रस है और वह है निर्वाण।"

विनयपिटक का वैदिक ब्राह्मणों के साथ निश्चित सादृश्य है। दोनों में विधि (नियम) और अर्थवाद (व्याख्या) साथ-साथ मिलते हैं और दोनों में पद्य-कथानक अर्थवाद का एक भाग हैं। विधि-विधानों के शुष्क मरुस्थल में वे जलाशय के समान प्रतीत होते है।

विनयपिटक की अंतिम पुस्तक **परिवार** है। इसमें कोई महत्त्व की बात नहीं है। संभवतया किसी सिंहली भिक्षु ने इसे बाद में जोड़ा है। इस में उन्नीस पाठ हैं— चर्चाएँ, सूचियाँ, परिशिष्ट, नामावली आदि। ये वेद-वेदांगों के परिशिष्टों से मिलते हैं। अभिधम्मपिटक के मूलपाठ के समान ये भी प्रश्नोत्तर रूप में हैं और संभवतया उसी समय के हैं।

सुत्तपिटक

उपदेश तथा चर्चाएँ

जिस प्रकार विनयपिटक संघ के अनुशासन एवं भिक्षुओं के आचार को जानने के लिए सर्वोत्तम आधार है उसी प्रकार धर्म एवं सर्वप्रथम शिष्यों के विषय में जानने के लिए सुत्तपिटक सर्वोत्तम आधार है। बौद्ध परंपरा की सर्वोत्तम साहित्यिक कृतियाँ भी इसी में है। वे प्रश्नोत्तर एवं कथानकों के गद्य-रूप में भी हैं तथा सूक्तियों एवं गीतों के पद्य-रूप में भी।

सुत्तपिटक में पाँच निकाय अथवा संग्रह है:

(1) दीघ-निकाय, (2) मज्झिम-निकाय, (3) संयुत्त-निकाय, (4) अंगुत्तर-निकाय और (5) खुद्दक-निकाय।

खुद्दक-निकाय में नीचे लिखी पुस्तकें है:

(1) खुद्दकपाठ, (2) धम्मपद, (3) उदान, (4) इतिवुत्तक, (5) सुत्त निपात, (6) विमान-वत्थु, (7) पेतवत्थु, (8) थेरगाथा, (9) थेरीगाथा, (10) जातक, (11) निद्देस, (12) पाटिसम्भिदामग्ग, (13) अपदान, (14) बुद्धवंस और (15) चरियापिटक।

प्रथम चार निकायों में सुत्त और चर्चाएँ हैं। इनमें या तो बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्यों द्वारा दिए गए उपदेश हैं और या इतिहास-संवाद हैं। उपदेशों से पहले संक्षिप्त प्रस्तावनाएँ हैं जिनमें यह बताया गया है कि बुद्ध या अन्य भिक्षु ने किस अवसर पर तथा किस स्थान पर वह उपदेश दिया। इतिहास-संवाद उपनिषदों और महाभारत के संवादों से मिलते हैं। सभी 'सुत्त' गद्य में हैं। कहीं-कहीं बीच में गाथाएँ भी आ जाती हैं किन्तु उनमें से कुछ उद्धरणमात्र हैं और कुछ प्रक्षिप्त। गद्य के कुछ हृदयस्पर्शी प्रसंगों को उदात्त बनाने के लिए भारतीय साहित्य में यह साधारण प्रवृत्ति थी।

(1) दीघ-निकाय

दीघ-निकाय का अर्थ है लंबे उपदेशों का संग्रह। इसमें लंबे-लंबे चौंतीस सुत्त हैं। प्रत्येक सुत्त में बौद्ध सिद्धांत के एक या अधिक प्रश्नों की चर्चा है और उसे स्वतंत्र ग्रंथ समझा जा सकता है। सारा ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। विषय तथा स्वरूप की दृष्टि से वे परस्पर भिन्न हैं किंतु सभी में प्राचीन और नवीन दोनों परंपराएं मिलती हैं। प्राचीन परंपरा मुख्य रूप से प्रथम भाग में मिलती है और नवीन तृतीय भाग में। द्वितीय भाग में दीर्घतम सुत्त हैं। उनके वर्तमान वृहत् रूप का कारण उनके अंतर्गत समाविष्ट प्रक्षेप हैं। शैली में भी सुत्त एक-सरीखे नहीं हैं। प्रथम भाग के समस्त तथा द्वितीय एवं तृतीय भाग के कुछ सुत्त केवल गद्य में हैं, द्वितीय तथा तृतीय भाग के बहुत से सुत्त गद्य और पद्य का मिश्रण हैं। कुछ गाथाएँ कथानक के रूप में हैं और कुछ फुट-कर उक्तियों के रूप में। कुछ स्थानों में गद्य के पश्चात् पद्य और पद्य के पश्चात् गद्य बार-बार आए हैं। सुत्त सं० 20 और 32 पूर्णतया गाथा में हैं।

प्रथम भाग के अधिकतर सुत्त आचार-विषयक हैं। विशेष रूप से शील, समाधि और प्रज्ञा का निरूपण है। इससे साधक अपने आदर्श अर्हत्त्व को प्राप्त कर लेता है। बुद्ध के आचारशास्त्र का समर्थन करते समय ब्राह्मण तथा दूसरी परंपराओं के आचार का खंडन किया गया है।

प्रथम सुत्त ब्रह्मजाल-सुत्त है। प्राचीन भारतीय धर्मों का इतिहास जानने के लिए यह सुत्त अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अपने शिष्यों के लिए आचार का प्रतिपादन करते समय भगवान् बुद्ध ने इसमें ब्राह्मण तथा श्रमणों के अनेक धंधों, संप्रदायों एवं जीवन-संबंधी विचारों तथा प्रकारों की सूची दी है। बहुत से धन संग्रह करते हैं, नृत्यगीतों से प्रसन्न होते हैं, बाजे बजाते हैं, नाटक खेलते हैं तथा अन्य प्रकार के खेलों द्वारा अपना मनोरंजन[1] करते हैं। वे सभी प्रकार की विलासिताओं में मग्न हैं। बहुत से लोग यज्ञ, ज्योतिष या जादू[2] आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं। बहुत-से ऐसे हैं जो सत् और असत् जगत् की सृष्टि और विनाश, आत्मा आदि के विचारों में संलग्न हैं। यहाँ बासठ दार्शनिक मतों की सूची दी गई है। बौद्ध भिक्षु को इन सबसे दूर रहने के लिए कहा गया है। जिस प्रकार चतुर मछुआ छोटी-बड़ी सभी मछलियों को अपने जाल में फँसा लेता है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध जानते हैं कि ब्राह्मण एवं श्रमणों के विविध मत-मतांतरों को कैसे पकड़ा जाता है और उन्हें व्यर्थ तथा आत्मसाधना में बाधक कैसे सिद्ध किया जाता है।

---

1. यहाँ साधारण जनता द्वारा किए जाने वाले मनोरंजनों की लंबी सूची है जो मानव-विज्ञान के के लिए महत्त्वपूर्ण है।
2. यहाँ एक लंबी सूची है जो भारतीय ग्रामीण परंपराओं को जानने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दूसरा सामञ्ञफलसुत्त है। इसमें श्रामण्य अर्थात् भिक्षु-जीवन के फल बताए गए हैं। बुद्ध के समकालीन भारतीय जीवन तथा विचारों को जानने के लिए यह महत्त्वपूर्ण आधार है। इसमें बौद्धेतर धार्मिक संप्रदायों के संस्थापकों एवं प्रचारकों की पूरी सूची है। राजा अजातशत्रु बुद्ध के दर्शन करने जाते हैं इस प्रस्तावना के साथ प्रश्नोत्तर प्रारंभ होते हैं। वर्ण-व्यवस्था तथा उस संबंध में बुद्ध के विचारों को जानने के लिए तृतीय अम्बट्ठ-सुत्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें शाक्यवंश और ऋषि कृष्ण का निर्देश आता है। अतः इस सुत्त को पौराणिक और ऐतिहासिक महत्त्व भी दिया जाता है। पाँचवाँ कूटदन्तसुत्त और तेरहवाँ तेविज्ज सुत्त (त्रैविध सूत्र) ब्राह्मण-परंपरा की मीठी चुटकी है। कूट दन्त का अर्थ है तेज दाँत। यह नाम हिंसा-प्रधान यज्ञों को दिया गया है। त्रैविध का अर्थ है तीन वेदों को जानने वाला ब्राह्मण। सूत्र में उसकी ब्रह्म-जिज्ञासा और एकत्व-प्राप्ति के प्रयत्नों का उपहास है। साथ ही बौद्ध-परंपरा के नये जीवन और नये आदर्शों के साथ उनकी तुलना की गई है। भारतीय धर्म की प्राचीन तथा नई धाराओं का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यह सुत्त महत्त्वपूर्ण है। पंद्रहवें महानिदानसुत्त में बौद्ध दर्शन की मूल मान्यता प्रतीत्य समुत्पाद का निरूपण है। निदान का अर्थ है कारण। बाईसवें महासतिपट्ठान-सुत्त में चार प्रकार की सावधानता का वर्णन है। बौद्धभिक्षु के लिए ये सावधानताएँ अत्यावश्यक कर्तव्य है। इसमें बौद्ध दर्शन की मूल मान्यताओं का भी निरूपण है और अंत में चार आर्य-सत्य दिए गए है। उनतीसवाँ सिगालोवाद-सुत्त सर्वसाधारण के लिए बौद्ध आचार का प्रतिपादन करता है। इसका अर्थ है शृगाल के द्वारा दिया गया उपदेश। इसमें बौद्ध गृहस्थ के सामाजिक एवं घरेलू कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन है।

दीघ-निकाय का सोलहवाँ महापरिनिब्बान-सुत्त प्रत्येक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह शैली तथा विषय दोनों दृष्टियों से अन्य सुत्तों से भिन्न हैं। यह न तो प्रश्नोत्तर के रूप में है और न सिद्धांतों पर भाषण के रूप में, किंतु बुद्ध के अपर जीवन, उनके भाषण तथा सूक्तियों एवं मृत्यु का क्रमबद्ध विवरण है। इस विशाल विवरण के कुछ अंश त्रिपिटकों का प्राचीनतम भाग हैं और बुद्ध के जीवन पर कविता के प्रारंभ को प्रकट करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि पालि-आगमों में बुद्ध का जीवन नहीं मिलता। विनयपिटक तथा सुत्तपिटक में उस का आंशिक प्रारंभ मिलता है। बुद्ध का अंतिम जीवन और अंतिम उपदेश स्वभावतया उनके शिष्यों के मन में बद्धमूल हो गए। उन्हें सुरक्षित रखा गया और श्रद्धा के साथ शिष्य-परंपरा द्वारा चलाया गया। इस सुत्त के प्राचीन अंशों में बुद्ध-जीवन का प्रारंभ है किन्तु महापरिनिब्बान-सुत्त में बहुत थोड़े अंश हैं जिन्हें प्राचीन एवं मौलिक कहा जा सके। यह सुत्त किसी एक काल की रचना नहीं है, इस में अनेक भाग है जो विभिन्न कालों में रचे गए हैं। संभवतया बुद्ध के निर्वाण के समय एक लघुकाय सुत्त बना होगा। किंतु उसमें प्रक्षेप और परिवर्द्धन होते गये और

कालक्रम से यह विशालकाय सुत्त बन गया। द्वितीय भाग में नीचे लिखी बातों से संबंध रखने वाले अंश निश्चित रूप से प्राचीन हैं : बुद्ध का वेलुवन में सर्वप्रथम अस्वस्थ होना और अपनी इच्छाशक्ति द्वारा उस पर विजय प्राप्त करना, आनन्द को यह कहना कि मैं उन धर्मोपदेशकों में नहीं हूँ जो अपनी मुट्ठी बंद रखते हैं और अपने शिष्यों को सब-कुछ नहीं बताते, इसके विपरीत मैंने समस्त सत्य की घोषणा कर दी है। उन का कथन है कि मैंने कभी संघ का नेता बनने की इच्छा नहीं की, संघ कभी मुझ पर आश्रित नहीं रहा, न मेरे चले जाने पर नेतृत्वहीन होगा। उसका संचालन मेरे द्वारा घोषित धर्म के आधार पर होगा। इसलिए हे आनन्द ! स्वयं अपने प्रदीप बनो, स्वयं अपनी शरण बनो। धर्म को अपना प्रदीप समझकर उस पर दृढ़ रहो।

पाँचवें भाग का नीचे लिखा अंश भी उतना ही मौलिक और प्राचीन प्रतीत होता है : "भगवान् की मृत्यु समीप आई जानकर आनन्द अपने शोक को नहीं रोक सके। वे बाहर चले गये और एक थम्बे के सहारे खड़े होकर रोने लगे। बुद्ध ने उनको बुलाया और करुणापूर्ण शब्दों में सांत्वना दी। साथ ही मोह एवं आसक्ति की ओर ध्यान आकर्षित किया।"

इस सुत्त की फुटकर गाथाएँ भी अत्यन्त प्राचीन हैं। उनमें से कुछ बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों की सूक्तियों को प्रकट करती हैं। कुछ अन्य कथानक की हृदय-स्पर्शी घटनाओं पर बल देती है। इन पाठों में बुद्ध एक मानव के रूप में मानव से वार्तालाप करते हैं किन्तु इसी ग्रंथ में अन्यत्र वे एक दिव्य पुरुष या ऐन्द्रजालिक के समान अद्भुत घटनाएँ दिखाते हैं और अपनी जादूगरी की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं : "यदि मैं चाहूँ तो अपनी आयु को जगत् की आयु जितनी लंबी कर सकता हूं।" वे आनन्द को फटकारते हैं कि उसने उनका आशय नहीं समझा और जीवित रहने की प्रार्थना की (3. 34-47)। कहा गया है कि बुद्ध की मृत्यु से भूकंप आ जाता है, उसी समय भूकंप के आठ कारण बताए गए हैं। साथ ही आठ भेदों वाली बहुत-सी अन्य बातें भी गिनाई हैं। (3.11-33)। ये सब उत्तरकालीन भक्तों द्वारा जोड़े गए हैं। मूल रचयिता की अंतरात्मा में कौनसी प्रेरणा थी, इसका उन्हें अंश भर भी पता नहीं था। अधिकतर स्थानों में यह पता लगाना कठिन नहीं है कि ये प्रक्षेप या परिवर्द्धन कहां से आए। सुत्त का बड़ा भाग, तिपिटक के दूसरे स्थानों में भी मिलता है और वहीं से लिया गया है। इन प्रक्षेपों एवं परिवर्द्धनों के होने पर भी सुत्त का मूल रूप नष्ट नहीं हुआ है। यह बुद्ध के मूल उपदेशों को त्रिपिटक के अन्य सभी ग्रंथों की अपेक्षा अधिक मात्रा में उपस्थित करता है।

इस सुत्त के महत्त्व के कारण यह प्रथा चल पड़ी थी कि अन्य सुत्तों को भी विशेष महत्त्व देने के लिए इसमें डाल दिया जाता था। उदाहरण के रूप में 'धम्मादास' (धर्मादर्श) को इसमें डाल दिया गया। इसमें बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति निष्ठा की घोषणा है। महापरिनिब्बान-सुत्त को अंतिम रूप काफ़ी देर से मिला। एक उद्धरण में सुत्त और विनय की परंपरा एवं प्रामाण्य का निर्देश है तथा अंतिम भाग में बुद्ध के

अवशेषों तथा उनके लिए स्तूप बनाने का वर्णन है। जो बुद्ध आनन्द के साथ वार्तालाप करते समय एक सरल मानव एवं उपदेशक रूप में प्रतीत होते हैं, वे ही यहाँ एक परंपरा के उपास्य या देवता बन जाते हैं। बुद्ध के इस रूप को प्रकट करने वाला अशोक से पहले का कोई स्मारक नहीं है।

महापरिनिब्बान-सुत्त प्राचीन और नवीन अंशों का सम्मिश्रण है। दूसरे सूत्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। जिन सुत्तों में बुद्ध एक मानवीय उपदेशक के रूप में उपस्थित होते हैं, विशेषतया प्रथम पुस्तक से संबंध रखने वाले सुत्त 'महा अपदान-सुत्त' (सं० 14) से निश्चित रूप से प्राचीन हैं। इसमें बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित अद्भुत घटनाओं का वर्णन है। इसमें यह भी बताया गया है कि गौतम से पहले छह बुद्ध और हो चुके हैं। इसमें बुद्ध का संपूर्ण जीवन-चरित अद्भुत घटनाओं के साथ वर्णित है, विशेष रूप से बुद्ध के गर्भ-प्रवेश एवं जन्म पर होने वाली आश्चर्यजनक घटनाओं का अलंकारपूर्ण वर्णन है।

लक्खण-सुत्त (सं० 30) भी उसी परंपरा के उसी युग से संबंध रखता है। इस सूत्र में महापुरुष के बत्तीस लक्षण गिनाए गए हैं। उन लक्षणों वाला पुरुष चक्रवर्ती सम्राट् या विश्व का उद्धारक बुद्ध बनता है। इसमें संदेह नहीं है कि बुद्ध भी अपने समकालीन अन्य धर्मोपदेशकों के समान इस बात में विश्वास करते थे कि दीर्घ समाधि द्वारा व्यक्ति अलौकिक शक्तियों को प्राप्त कर लेता है और अतिमानव बन जाता है। किन्तु उन्होंने स्पष्ट आदेश दिया था कि साधारण व्यक्तियों को इस प्रकार के चमत्कारों द्वारा प्रभावित करना भिक्षु के लिए अनुचित है, धर्म के विरुद्ध है। केवल शिक्षा, उपदेश या अनुरोध द्वारा ही दूसरे को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। पाटिका-सुत्त (सं० 24) में बुद्ध दूसरी परंपरा के साधुओं के साथ चमत्कार दिखाने की प्रतियोगिता में उतरते हैं और अपनी चमत्कार-शक्ति की बिना संकोच प्रशंसा करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि यह सुत्त भी उत्तरकालीन है। वास्तव में देखा जाए तो यह सूत्र संग्रह की दृष्टि से भी उच्च कोटि का नहीं है। इसमें प्रारंभ तो प्राचीन है किंतु शेष निम्न स्तर का सम्मिश्रण है।

सत्रह से लेकर इक्कीस तक के सुत्त अंशतः काव्य तथा पौराणिक हैं। जिस प्रकार पुराणों एवं महाकाव्यों के सांप्रदायिक भागों में इंद्र को शिव या विष्णु की स्तुति करते हुए बताया गया है उसी प्रकार इस सुत्त में इंद्र, अन्य देवों तथा अर्द्धदेवों को बुद्ध के भक्त के रूप पाते हैं। राइस डेविड्स ने ऐसे सुत्तों को 'किसी स्वार्थ के लिए विरचित पुस्तिकाएँ' बताया है। सक्कपञ्ह-सुत्त (सं० 21) अत्यंत रोचक है। इसका अर्थ है शक्र, अर्थात् इन्द्र के प्रश्नों से संबंध रखने वाला सुत्त। इन्द्र बुद्ध के पास जाने में हिचकिचाता है। वह पहले अपने गंधर्व को भेजता है जिससे बुद्ध का मस्तिष्क उसके अनुकूल हो जाए। गंधर्व शृंगार रस की गीतिका द्वारा बुद्ध को अनुकूल करता है। बुद्ध अपनी स्वाभाविक मित्रता द्वारा इन्द्र का स्वागत करते हैं, उसे धर्मोपदेश देते हैं और उसके सभी प्रश्नों का उत्तर देते हैं। परिणामस्वरूप इन्द्र भगवान् की स्तुति करता है।

छब्बीसवें चक्कवत्ति सीहनाद-सुत्त में मैत्रेय बुद्ध का निर्देश है जो करुणा के अवतार हैं। उनकी तुलना ईसाइयों के मसीह से की जाती है और इसीलिए इस सुत्त को उत्तरकालीन माना जाता है। इसमें आचार-संबंधी तत्त्वों की पौराणिक उत्पत्ति का वर्णन है और सूक्ष्मदृष्टि, भविष्यकथन तथा उपदेशों का अद्भुत मिश्रण है।

सत्ताईसवें अग्गञ्ञ-सुत्त में विश्व तथा प्राणियों की उत्पति, संस्कृति एवं समाज-व्यवस्था का प्रारंभ आदि का वर्णन है, जिनकी तुलना पुराणों से की जा सकती है। इस सुत्त का उद्देश्य भी वही है जो अम्बट्ठ-सुत्त का था। इसमें भी यह प्रतिपादित किया गया है कि अर्हत्-अवस्था और निर्वाण की प्राप्ति का जाति से कोई संबंध नहीं है।

तेईसवां पायासि-सुत्त दीघ-निकाय की सर्वोत्तम चर्चाओं में से एक है। इसमें नास्तिक राजा पायासि और भिक्षु कुमार काश्यप के बीच आत्मा और परलोक के विषय में चर्चा है। दूसरी चर्चाओं में प्रायः एक ओर बुद्ध हैं और दूसरी ओर अन्य व्यक्ति। जब बुद्ध बोलते हैं तो दूसरा व्यक्ति बीच-बीच में स्वीकृतिवाचक शब्दों के अतिरिक्त कुछ नहीं कहता। किन्तु पायासि-सुत्त में राजा कई प्रकार के प्रश्न करता है। अतः यह सुत्त वास्तविक शंका-समाधान को उपस्थित करता और प्लेटो के शास्त्रार्थों का स्मरण दिलाता है। यह सुत्त भी मौलिक नहीं है किंतु ऐतिहासिक चर्चा को उपस्थित करता है जो दूसरे संप्रदाय से ली गई है।[1] अंतिम तीन सुत्त यह भी प्रकट करते हैं कि दीघ-निकाय का अंतिम संस्करण बहुत देर से हुआ होगा। उनमें पहला आटानाटिय-सुत्त है जिसमें साँपों और भूत-प्रेतों को दूर रखने के लिए मंत्र हैं। दूसरा संगति और तीसरा दसूत्तर सुत्त है। ये अंगुत्तर-निकाय के समान लिखे गए हैं और अभिधम्म के समान प्रश्नोत्तर के रूप में हैं।

दीघ-निकाय के विषयों का पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक सुसंबद्ध साहित्यिक कृति नहीं है। यह माना जा सकता है कि एक व्यक्ति द्वारा या समिति द्वारा किए गए इसके संकलन में कुछ आधारभूत सिद्धांत रहे होंगे। विषय या शब्दों की दृष्टि से जो सुत्त परस्पर मिलते हैं, उन्हें एक-साथ रखा गया। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि समस्त ग्रंथ किसी एक व्यक्ति की कृति है। यदि समस्त दीघ-निकाय में किसी एक प्रतिपाद्य को ढूंढ़ा जाए तो वह है, "बुद्ध तथागत थे अर्थात् अपने शिष्यों को निर्वाण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने के लिए वे स्वयं उस मार्ग पर चले थे।" इस प्रकार निर्वाण का मार्ग ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य है। लेखक इसके द्वारा आदर्श जीवन के विषय में बुद्ध के सिद्धांतों को उपस्थित करना चाहता है। किंतु वास्तव में देखा जाए तो बुद्ध के समस्त उपदेशों का यही प्रतिपाद्य है और इस प्रकार समस्त त्रिपिटक को किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार केवल

1. दे० रायप्पसेणी-सुत्त (जैन आगम)।

उपर्युक्त प्रतिपाद्य के आधार पर दीघ-निकाय को भी एक व्यक्ति की कृति नहीं कहा जा सकता।

फ्रांके ने इसे बौद्ध आगमों का प्राचीनतम ग्रंथ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किंतु इसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों प्रकारके अंश विद्यमान हैं। अत: समग्र ग्रंथ प्राचीनतम नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बौद्ध धर्म का प्राचीनतम रूप जानने के लिए भी केवल दीघ-निकाय को आधार मानकर चलना ठीक नहीं है। इसके लिए समस्त आगमों में से प्राचीनतम अंशों का चुनाव करना होगा। इसी आधार पर बौद्ध धर्म का प्राचीनतम चित्र बनाया जा सकता है।

(2) मज्झिम-निकाय

मज्झिम-निकाय मध्याकार सुत्तों का संग्रह है। इसमें 152 भाषण या चर्चाएँ हैं। दीघ-निकाय से उनका इतना ही भेद है कि ये अपेक्षाकृत छोटे हैं। इस संग्रह में भी प्रत्येक सुत्त अपने-आप में परिपूर्ण है और सुत्तों से प्रकार एवं महत्त्व दोनों दृष्टियों से भिन्न है। इसमें सुत्तों की बड़ी संख्या का कारण विषयों की विविधता है जो दीघ-निकाय की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इसमें बौद्ध धर्म के प्राय: समस्त विषयों पर व्याख्यान हैं। उदाहरण के रूप में—चार आर्यसत्य, कर्म, इच्छाओं की नि:सारता, आत्मा में विश्वास का खंडन, निर्वाण, विविध प्रकार के ध्यान आदि। यद्यपि ये चर्चाएँ शुष्क उपदेश हैं, किंतु उनका रूप सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बना दिया गया है। उन्हें प्रारंभ में प्रस्तावना देकर संवाद के रूप में उपस्थित किया गया है। कुछ इतिहास-संवाद भी हैं। दृष्टांतों के द्वारा उपदेश देना सभी धर्मों का अभीष्ट मार्ग रहा है। कहीं सारे उपदेश में एक ही दृष्टांत-कथा है और कहीं कई दृष्टांतों द्वारा एक ही बात की पुष्टि की गई है। सिद्धांत को प्रस्तुत करने के लिए पुराण तथा कथाएँ भी रखी गई हैं। उदाहरण के रूप में सुत्त सं० 37 में बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य मोग्गल्लान द्वारा की गई इन्द्रलोक की यात्रा का वर्णन है। भिक्खु मोग्गल्लान अपने पैर के अँगूठे से समस्त इन्द्र-लोक को हिला देता है। महाभारत तथा पुराण की कथाओं में इस प्रकार की घटनाओं का वर्णन है। कुछ कथाएँ वास्तविक घटनाओं का संकेत करती हैं। पुक्कुसाति (सं० 140) की कथा ऐसी ही है। वह भिक्षु बनना चाहता है किंतु जब चीवर और भिक्षा पात्र लेने जाता है तो गाय द्वारा मार दिया जाता है। इस पर बुद्ध ने बताया कि भिक्षु न बनने पर भी उसे निर्वाण प्राप्त हो गया। इसी प्रकार भिक्षु छन्न (सं० 144) की कथा है। उसे भयंकर रोग हो गया। अंत में उसने अपनी नस स्वयं खोलकर प्राण दे दिए। बुद्ध ने इस कार्य की स्वीकृति दी है। उन्होंने कहा है—यदि व्यक्ति आत्म-हत्या करके दूसरा जन्म प्राप्त करना चाहता है तो वह बुरी है। यदि व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर लेता है तो वह बुरी नहीं है।

अस्सलायन-सुत्त (सं० 193) बुद्धकालीन वास्तविक जीवन को प्रकट करता है। अपनी जाति का अभिमान करने वाले ब्राह्मणों को चारों वर्णों को पवित्र बताने वाले

गौतम का उपदेश रुचिकर नहीं लगा। प्रस्तुत सुत्त में ब्राह्मण नवयुवक आश्वलायन गौतम से वर्णव्यवस्था के विषय में चर्चा करता है और यह वास्तविक घटना-सी प्रतीत होती है। ब्राह्मण-परंपरा की जाति-व्यवस्था के विरुद्ध बुद्ध ने जो युक्तियाँ दी है वे हृदयस्पर्शी हैं। आश्वलायन बुद्ध से कहता है :

"भगवन् ! ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मण सभी जातियों में उत्तम हैं। दूसरी जातियाँ उनसे नीची हैं। ब्राह्मण शुक्ल जाति है, दूसरे कृष्ण हैं। केवल ब्राह्मण शुद्ध होते हैं और सब अशुद्ध होते हैं। केवल ब्राह्मण ब्रह्मा की संतान हैं, उसके मुख से उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मा ने उनको उत्पन्न किया और ब्रह्मा ने उन्हें रूप दिया। वे ब्रह्मा के उत्तराधिकारी हैं। भगवान् बुद्ध का इस विषय में क्या कथन है ?"

इस पर बुद्ध ने आश्वलायन से कई प्रश्न पूछे जिनका उत्तर वह 'हाँ' के रूप में देता गया। उन्हीं के द्वारा उसने यह स्वीकार कर लिया कि ब्राह्मणों का दावा ग़लत है। उदाहरण के रूप में बुद्ध पूछते हैं :

"आश्वलायन बताओ तो, मानो ! एक क्षत्रिय राजा विभिन्न वर्णों के सौ व्यक्तियों का सम्मेलन करता है। क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों के उच्च परिवारों के व्यक्ति आते हैं और साल, सज्ज, चंदन या पद्मक वृक्ष की लकड़ी को अरणि से रगड़ कर आग निकालते हैं। तत्पश्चात् चण्डाल, निषाद, (वेणव) रथकार तथा पुक्कुस जाति के लोग आते हैं और कुत्ते, सूअर, अथवा कपड़े धोने के पोखरे में से अथवा बाँस आदि की लकड़ी लाते हैं और घिसकर अग्नि उत्पन्न करते हैं। क्या क्षत्रिय तथा ब्राह्मण उत्तम लकड़ी से घिसकर जिस अग्नि को उत्पन्न करते हैं उसमें लपटें, चमक तथा प्रकाश होगा और चंडाल आदि गंदे स्थानों से लकड़ी लाकर जिस आग को उत्पन्न करते हैं उसमें लपटें, चमक तथा प्रकाश नहीं होंगे।"

आश्वलायन स्वाभाविक रूप से उतर देता है कि दोनों अग्नियों में कोई अंतर नहीं है। बुद्ध कहते हैं यही बात जातियों के विषय में भी है।

कुछ सुत्त न संवाद हैं और न उपदेश, किंतु कथानक के रूप में हैं। छियासीवाँ सुत्त प्रसिद्ध डाकू अंगुलिमाल का गद्य-पद्यात्मक आख्यान है। अंत में वह भिक्षु और अर्हत बन गया। प्राचीन बौद्ध काव्य का यह महत्त्वपूर्ण नमूना है। तिरासीवें सुत्त में राजा महादेव की कथा है जो जातकों में भी आई है। अपने सिर पर सफेद बाल देखते ही वह राज्य छोड़कर भिक्षु बन गया। इस प्रकार का एक उच्च कोटि का कथानक रट्ठपाल-सुत्त (सं० 82) है। वह प्राचीन वीरगाथा की शैली में है। नीचे एक संक्षिप्त उद्धरण दिया जाता है—

राजकुमार राष्ट्रपाल किशोर अवस्था में भिक्षु बनना चाहता है। माता-पिता अनुमति देने से इनकार कर देते हैं। वह भोजन छोड़ देता है और माता-पिता को अनुमति देने के लिए विवश कर देता है। कुछ वर्ष बीत जाते हैं और वह भिक्षु बन कर अपने नगर में आता है और भिक्षा के लिए अपने ही घर पहुँचता है। पिता उसे नहीं पहचानते और द्वार से ही गालियाँ देकर निकाल देते हैं। वे कहते हैं—"इन सिरमुंडे

भिक्षुओं ने मेरे एकमात्र प्रियपुत्र को बहका लिया और भिक्षु बना लिया।" उसी समय धात्री बचा-खुचा अन्न बाहर फेंकने आई। भिक्षु ने उस उच्छिष्ट अन्न को मांगा। धात्री ने उसे पहचान लिया और उस के पिता को सूचना दे दी। पिता बाहर आया और उस ने पुत्र को घर में आने के लिए आमंत्रित किया। पुत्र ने नम्रता-पूर्वक इनकार करते हुए कहा, "मैंने आज भोजन कर लिया है।" फिर भी उसने अगले दिन के लिए निमंत्रण स्वीकार कर लिया। पिता ने उस के लिए केवल भोजन ही तैयार नहीं किया किंतु भोजन-गृह में सुवर्ण और आभूषणों का ढेर लगा दिया। साथ ही, राष्ट्रपाल की पूर्व पत्नियों को आदेश दिया कि वे अपना पूरा शृंगार कर लें। दूसरे दिन उसका शानदार स्वागत हुआ। पिता ने सारे आभूषण और कोष उस को देने चाहे। किंतु राष्ट्रपाल ने कहा, "पिता जी यदि आप मेरी सलाह पूछते हैं तो इन आभूषणों और सारे धन को बैलगाड़ी पर लाद दीजिए और गंगा में, जहाँ वह बहुत गहरी हो, डुबो दीजिए क्योंकि इस से केवल दुःख, शोक तथा कष्ट ही मिलते हैं। स्त्रियाँ आँखों में आँसू भरकर उस के पैरों पर गिर पड़ीं, किंतु वह उनके प्रति आकृष्ट नहीं हुआ। भोजन समाप्त करके वह चला गया। तब उसे कुरु के राजा मिले। उन्होंने कहा—"जब व्यक्ति बूढ़ा हो जाय, रोगी हो, दरिद्र हो या उसके संबंधी नष्ट हो गए हों तो उसका भिक्षु बनना मेरी समझ में आता है। जो नई उमर में है, स्वस्थ एवं सुखी है, उसका भिक्षु बनना मेरी समझ में नहीं आता।" राष्ट्रपाल ने उसे सभी वस्तुओं की नश्वरता एवं इच्छाओं के कभी तृप्त न होने का उपदेश दिया और युक्ति-संगत चर्चा द्वारा बुद्ध के सिद्धांत की सत्यता को उस के हृदय में बिठा दिया।

इस प्रकार की उच्च कोटि की रचनाओं के साथ शुष्क उपदेश भी मिलते हैं जिनमें पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या है या चर्चा के रूप में मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन है। उदाहरण के रूप में तेतालीस तथा चौवालीस संख्या वाले सुत्तों को उपस्थित किया जा सकता है। कुछ सुत्तों में (उदा० 127, 137, 140, 148 तथा 151) भेदों की गिनती के लिए अंगुत्तर-निकाय की, तथा लक्षण एवं विभाजन के लिए अभिधम्म-पिटक की शैली को अपनाया गया है। उपर्युक्त गद्य-पद्यात्मक आख्यानों वाले सुत्तों से सर्वथा भिन्न दूसरी प्रकार के सुत्त मिलते हैं। उदाहरण के रूप में सं० 116 में प्रत्येक बुद्धों के नाम पहले गद्य में फिर पद्य में गिनाए गया हैं। प्रत्येक बुद्ध उन्हें कहा जाता है जो अर्हत स्वयं बोधि प्राप्त कर लेते हैं किंतु दूसरों को उपदेश नहीं देते। इस प्रकार गद्य और पद्य का सम्मिश्रण दीघ-निकाय में भी मिलता है किंतु है उत्तरकालीन। बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में भी यह शैली पाई जाती है।

मज्झिम-निकाय के सुत्त प्राचीन बौद्ध धर्म तथा बुद्ध एवं उन के शिष्यों की उपदेश देने की पद्धति को जानने के लिए सर्वोत्तम आधार हैं। इसके अतिरिक्त एक और दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें प्राचीन समय के दैनिक जीवन की आकर्षक झाँकियाँ मिलती हैं, केवल भिक्षुओं के जीवन की ही नहीं जैसा कि सं० 521 तथा 22 में है किंतु दूसरे वर्गों का जीवन भी मिलता है। इक्यावनवाँ सुत्त वैदिक परंपरा के

हिंसक यज्ञों की अच्छी समीक्षा है। साथ ही हिंसा-प्रधान यज्ञ-राज्य और ब्राह्मण संस्था के पारस्परिक संबंधों के विषय में भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई हैं। प्राचीन सन्यासियों एवं तपस्वियों में जो धार्मिक क्रियाएँ प्रचलित थीं उनका वर्णन भी बार-बार मिलता है। बारहवें तथा चौदहवें सुत्तों में तपस्वियों के द्वारा की जाने वाली जीवन के प्रति घृणा के नमूने उपस्थित किए गए हैं। सुत्त 40, 45, 51 तथा 60 में विभिन्न संप्रदायों के चित्र-विचित्र साधुओं का वर्णन है। उदाहरण के रूप में उस समय 'श्व परिव्राजक थे' जो कुत्ते की तरह खाने और रहने में साधुत्व मानते थ। दूसरे 'वृषभ-परिव्राजक थे जो बैल की तरह खाते और रहते थे। जब बुद्ध से पूछा गया कि इस प्रकार के संन्यासियों का भविष्य क्या है तो उन्होंने उत्तर दिया, जो उनमें अच्छे हैं उनका कुत्ते के रूप में या बैल के रूप में जन्म होगा और जो सामान्य हैं वे नरक में जाएँगे। कुछ सुत्त ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। वे जैनों के साथ बुद्ध के संबंध को बताते हैं। उन में उपालि-सुत्त (सं० 56) विशेष महत्त्वपूर्ण है। सुत्त सं० 57, 101 तथा 104 भी इसी प्रकार के हैं। सुत्त सं० 106 स्वतंत्र विचारकों, नास्तिकों एवं अन्य धर्माचार्यों के साथ बुद्ध के संबंध को प्रकट करता है, इसलिए यह भी महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न प्रकार के अंधविश्वासों तथा सामाजिक एव न्याय-संबंधी परिस्थिति का भी यत्र-तत्र निर्देश है। सुत्त 13 मे क्रूर दंडों को गिनाया गया है। सुत्त 38 में बालकों के जन्म एवं शिक्षा के विषय में विभिन्न विचार हैं। सुत्त 28 तथा 37 में श्वसुर एवं पुत्रवधू का परस्पर संबंध बताया गया है।

समय की दृष्टि से स्वतंत्र सुत्त एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। महापरिनिब्बान सुत्त के प्राचीन अंशों के समान मज्झिम-निकाय के कुछ सुत्तों में भी बुद्ध एक मानव एवं धर्मोपदेशक के रूप में उपस्थित होते हैं। वे अपने आप को एक साधारण मर्त्य बताते हैं जिसने निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और पूर्ण निर्वाण की प्रतीक्षा कर रहा है। सुत्त 26 और 36 में बुद्ध ने सरल भाषा में अपनी आत्मकथा का कुछ भाग कहा है। उस में किसी प्रकारका चमत्कार नहीं है। दूसरे सुत्तों में (उदा० सं० 92) बुद्ध-जीवन के साथ सभी प्रकार के चमत्कार तथा दैवी शक्तियाँ जोड़ दी गई हैं। सुत्त सं० 123 में बुद्ध का गर्भ में आगम और जन्म वर्णित है। उस में वे सभी प्रकार के चमत्कार और अद्भुत घटनाएँ वर्णित हैं जो उत्तरकालीन आगमेतर साहित्य, निदान-कथा, ललित-विस्तार आदि में मिलती हैं और दीघ-निकाय के महापरिनिब्बान-सुत्त में भी जोड़ी गई हैं। बुद्ध या मोग्गलान सरीखे अर्हतों के लिए सुत्तों में बताया गया है कि वे अपनी इच्छानुसार संसार से लुप्त हो जाते हैं और अकस्मात् स्वर्गलोक या ब्रह्मलोक में प्रकट हो जाते हैं (उदा० सं० 37, 49 तथा अन्यत्र भी)। जिस प्रकार एक स्वस्थ व्यक्ति इच्छानुसार अपने संकुचित बाहु को फैला सकता है और प्रसारित बाहु को संकुचित कर सकता है, इसी प्रकार वे भी इच्छानुसार रूप बदल सकते हैं। इन सुत्तों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि बुद्ध देवों और ब्रह्मा से भी अधिक शक्तिशाली और ऊँचे हैं। अधिकतर वक्तृताओं में बुद्ध ही वक्ता हैं किंतु कुछ में बुद्ध

के शिष्य प्रमुख वक्ता हैं (उदा० 15, 43 और 44)। कई स्थानों पर ऐसा भी है कि एक शिष्य प्रश्न का उत्तर दे देता है और उस के पश्चात् उत्तर की सत्यता के लिए बुद्ध का समर्थन प्राप्त करता है (उदा० 126)।

यह मान्यता कि सभी सुत्त बुद्ध के जीवन-काल में बन चुके थे, युक्तिसंगत नहीं है। सुत्त 84 और 94 में एक शिष्य द्वारा पूछे गए "अब बुद्ध कहाँ हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर मिलता है, "अब वे निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं।" सुत्त 108 बुद्ध की मृत्यु से साक्षात् संबंध रखता है। आनंद से पूछा जाता है, "क्या अपनी मृत्यु से पहले बुद्ध ने किसी भिक्षु को संघ का प्रमुख चुना है ?" आनंद उत्तर देते हैं, "नहीं।" साथ ही वे यह भी कहते हैं, "इस का अर्थ यह नहीं है कि संघ की कोई शरण नहीं रहा। धर्मसंघ की शरण है। पातिमोक्ख अनुष्ठान के द्वारा संघ में अनुशासन रखा जाएगा। पातिमोक्ख का संबंध विनय के साथ है, धर्म के साथ नहीं। सुत्त 103, 104, और 142 का भी विनय से संबंध है।

सिद्धांतों के प्रतिपादन की जो विभिन्न शैलियाँ हैं, उन के आधार पर सुत्तों की प्राचीनता या अर्वाचीनता का निर्माण किया जा सकता है या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। उदाहरण के रूप में सुत्त 129 तथा 135 में कर्मसिद्धांत का पौराणिक वर्णन है। नरक के दुःखों का विस्तृत चित्र खींचा गया है। वैसा ही वर्णन पुराणों में भी मिलता है। इससे प्रस्तुत सुत्तों के उत्तरकालीन होने का पता चलता है। किंतु यह भी संभव है कि प्राचीन समय में भी कर्म-सिद्धांत की दार्शनिक मान्यताओं के साथ-साथ इस प्रकार की पौराणिक मान्यताएँ भी रही हों। सुत्त 65 में एक उद्धरण है जिस से पता चलता है कि मज्झिम-निकाय के संकलन के समय प्राचीन परंपरा विद्यमान थी। उस में कहा गया है, पहले शिक्षाएँ कम थीं और भिक्षु अधिक, अब शिक्षाएँ अधिक हैं और भिक्षु कम। अस्सलायन-सुत्त (सं० 93) में योन कम्बोज का उल्लेख है। उस से ग्रीक बैक्टेरियन साम्राज्य के अस्तित्व का पता चलता है जो कि अशोक से कुछ पहले था।

सुत्त 41 तथा 42 संग्रह की उत्पत्ति के प्रकार को प्रकट करते हैं। बयालीसवाँ सुत्त एक छोटी प्रस्तावना के अतिरिक्त और सभी बातों में इकतालीस सरीखा है। वे ही उपदेश तथा संवाद अन्यत्र भी मिलते हैं केवल संदर्भ-भेद है। सुत्त 132 से 134 तक उसी उपदेश के विभिन्न प्रतिपादन हैं। ये उपदेश भिक्षुओं द्वारा कहे गए हैं। यदि भिक्षु को आगे कहने के लिए कुछ नहीं सूझता तो वह उसी बात को कुछ परिवर्तन के साथ दोहराने लगता है। संकलनकर्ताओं ने, उपदेशक के मुँह से जो कुछ निकला, जितना वे ग्रहण कर सके, संकलित कर लिया।

संयुत्त-निकाय

तृतीय संग्रह संयुत्त-निकाय है। इस का अर्थ है वर्गीकृत प्रवचनों का संग्रह। इस में छप्पन वर्ग हैं। प्रत्येक में किसी नाम या विषय के प्रसंग से सैद्धांतिक तत्त्वों का

प्रतिपादन है। वास्तव में यह वर्गीकरण विषयों के आधार पर नहीं है, किंतु उस ओर अधूरा प्रयत्न है। उदाहरण के रूप में—

(1) देवता-संयुत्त में देवताओं की उक्तियाँ हैं किंतु वे उक्तियाँ विविध विषयों से संबंध रखती हैं।

(4) मार-संयुत्त में 25 सुत्त हैं। प्रत्येक में मार अर्थात कामदेव की कथा है। कामदेव बुद्ध अथवा उन के शिष्यों को धर्म से विचलित करने के लिए विभिन्न रूपों में आता है किंतु असफल रहता है।

(5) भिक्खुनी-संयुत्त में दस भिक्खुनियों की कथाएँ हैं जिन्हें कामदेव विचलित करने का प्रयत्न करता है।

(12) निदान-संयुत्त में 'बानवे वक्तृताएँ' तथा संवाद हैं। इस में बारह निदानों अर्थात् कार्यकारण-भावों का निरूपण है। बौद्ध दर्शन का मूल सिद्धांत प्रतीत्य समुत्पाद इसी का विकास है। इस संयुत्त में बहुत अधिक पुनरावृत्ति है।

(15) अनमतग्ग संयुत्त में बीस वक्तृताएँ हैं। सभी का प्रारंभ इस वाक्य के साथ होता है, "भिक्खुओ ! इस संसार का प्रारंभ अज्ञात है," और इस की व्याख्या विविध प्रकार की तुलनाओं और कल्पनाओं द्वारा की गई है कि किस प्रकार अनादि काल से जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ जीव प्रत्येक जन्म में भयंकर दुःखों का संग्रह करता चला जाता है।

(16) कस्सप-संयुत्त में तेरह सुत्त हैं। उन सब में वक्ता कस्सप हैं, यही उनके वर्गीकरण का आधार है।

(18) इसी प्रकार सारिपुत्त संयुत्त में सारिपुत्त की दस वक्तृताएँ हैं।

(19) नाग-संयुत्त के पचास सुत्तों में नागों की कथाएँ हैं। साथ में यह भी बताया गया है कि किन-किन कारणों से व्यक्ति नाग के रूप में उत्पन्न होता है।

(24) झान या समाधि-संयुत्त में ध्यान और समाधि का वर्णन है।

(37) मातुगाम-संयुत्त के चौंतीस सुत्तों में स्त्रियों की शक्ति तथा दुर्बलताओं, गुण तथा अवगुण, एवं उन के अगले जन्म का वर्णन है।

(40) मोग्गल्लान-संयुत्त के ग्यारह सुत्तों में मोग्गल्लान की कथाएँ तथा उन की कुछ वक्तृताएँ हैं।

(11) सक्क-संयुत्त का नायक सक्क (शक्र) इन्द्र है। यहाँ भी उसे बुद्ध के उपासक के रूप में उपस्थित किया गया है। वैदिक साहित्य में इन्द्र वृत्र को मारने वाला, भयंकर युद्ध का अभिमानी देवता है। प्रस्तुत संयुत्त में उसे नम्रता एवं अहिंसा का व्याख्याकार बताया गया है तथा आत्म-संयम की कला का आचार्य बताया गया है। यह चुनाव जानकर के अभिप्राय-विशेष से किया गया प्रतीत होता है। अपने सिंहासन पर बैठे हुए दैत्य को हटाने के लिए वह नम्र शब्दों का प्रयोग करता है और कहता है, "प्रिय मित्र, मैं देवों का अधिपति इन्द्र हूँ।"

के शिष्य प्रमुख वक्ता हैं (उदा० 15, 43 और 44)। कई स्थानों पर ऐसा भी है कि एक शिष्य प्रश्न का उत्तर दे देता है और उस के पश्चात् उत्तर की सत्यता के लिए बुद्ध का समर्थन प्राप्त करता है (उदा० 126)।

यह मान्यता कि सभी सुत्त बुद्ध के जीवन-काल में बन चुके थे, युक्तिसंगत नहीं है। सुत्त 84 और 94 में एक शिष्य द्वारा पूछे गए "अब बुद्ध कहाँ हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर मिलता है, "अब वे निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं।" सुत्त 108 बुद्ध की मृत्यु से साक्षात् संबंध रखता है। आनंद से पूछा जाता है, "क्या अपनी मृत्यु से पहले बुद्ध ने किसी भिक्षु को संघ का प्रमुख चुना है ?" आनंद उत्तर देते हैं, "नहीं।" साथ ही वे यह भी कहते हैं, "इस का अर्थ यह नहीं है कि संघ की कोई शरण नहीं रहा। धर्मसंघ की शरण है। पातिमोक्ख अनुष्ठान के द्वारा संघ में अनुशासन रखा जाएगा। पातिमोक्ख का संबंध विनय के साथ है, धर्म के साथ नहीं। सुत्त 103, 104, और 142 का भी विनय से संबंध है।

सिद्धांतों के प्रतिपादन की जो विभिन्न शैलियाँ हैं, उन के आधार पर सुत्तों की प्राचीनता या अर्वाचीनता का निर्माण किया जा सकता है या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। उदाहरण के रूप में सुत्त 129 तथा 135 में कर्मसिद्धांत का पौराणिक वर्णन है। नरक के दुःखों का विस्तृत चित्र खींचा गया है। वैसा ही वर्णन पुराणों में भी मिलता है। इससे प्रस्तुत सुत्तों के उत्तरकालीन होने का पता चलता है ! किंतु यह भी संभव है कि प्राचीन समय में भी कर्म-सिद्धांत की दार्शनिक मान्यताओं के साथ-साथ इस प्रकार की पौराणिक मान्यताएँ भी रही हों। सुत्त 65 में एक उद्धरण है जिस से पता चलता है कि मज्झिम-निकाय के संकलन के समय प्राचीन परंपरा विद्यमान थी। उस में कहा गया है, पहले शिक्षाएँ कम थीं और भिक्षु अधिक, अब शिक्षाएँ अधिक हैं और भिक्षु कम। अस्सलायन-सुत्त (सं० 93) में योन कम्बोज का उल्लेख है। उस से ग्रीक बैक्टेरियन साम्राज्य के अस्तित्व का पता चलता है जो कि अशोक से कुछ पहले था।

सुत्त 41 तथा 42 संग्रह की उत्पत्ति के प्रकार को प्रकट करते हैं। बयालीसवाँ सुत्त एक छोटी प्रस्तावना के अतिरिक्त और सभी बातों में इकतालीस सरीखा है। वे ही उपदेश तथा संवाद अन्यत्र भी मिलते हैं केवल संदर्भ-भेद है। सुत्त 132 से 134 तक उसी उपदेश के विभिन्न प्रतिपादन हैं। ये उपदेश भिक्षुओं द्वारा कहे गए हैं। यदि भिक्षु को आगे कहने के लिए कुछ नहीं सूझता तो वह उसी बात को कुछ परिवर्तन के साथ दोहराने लगता है। संकलनकर्ताओं ने, उपदेशक के मुँह से जो कुछ निकला, जितना वे ग्रहण कर सके, संकलित कर लिया।

संयुत्त-निकाय

तृतीय संग्रह संयुत्त-निकाय है। इस का अर्थ है वर्गीकृत प्रवचनों का संग्रह। इस में छप्पन वर्ग हैं। प्रत्येक में किसी नाम या विषय के प्रसंग से सैद्धांतिक तत्वों का

प्रतिपादन है। वास्तव में यह वर्गीकरण विषयों के आधार पर नहीं है, किंतु उस ओर अधूरा प्रयत्न है। उदाहरण के रूप में—

(1) देवता-संयुत्त में देवताओं की उक्तियाँ हैं किंतु वे उक्तियाँ विविध विषयों से संबंध रखती हैं।

(4) मार-संयुत्त में 25 सुत्त हैं। प्रत्येक में मार अर्थात कामदेव की कथा है। कामदेव बुद्ध अथवा उन के शिष्यों को धर्म से विचलित करने के लिए विभिन्न रूपों में आता है किंतु असफल रहता है।

(5) भिक्खुनी-संयुत्त में दस भिक्खुनियों की कथाएँ हैं जिन्हें कामदेव विचलित करने का प्रयत्न करता है।

(12) निदान-संयुत्त में 'बानवे वक्तृताएँ' तथा संवाद हैं। इस में बारह निदानों अर्थात् कार्यकारण-भावों का निरूपण है। बौद्ध दर्शन का मूल सिद्धांत प्रतीत्य समुत्पाद इसी का विकास है। इस संयुत्त में बहुत अधिक पुनरावृत्ति है।

(15) अनमतग्ग संयुत्त में बीस वक्तृताएँ हैं। सभी का प्रारंभ इस वाक्य के साथ होता है, "भिक्खुओ ! इस संसार का प्रारंभ अज्ञात है," और इस की व्याख्या विविध प्रकार की तुलनाओं और कल्पनाओं द्वारा की गई है कि किस प्रकार अनादि काल से जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ जीव प्रत्येक जन्म में भयंकर दुःखों का संग्रह करता चला जाता है।

(16) कस्सप-संयुत्त में तेरह सुत्त हैं। उन सब में वक्ता कस्सप हैं, यही उनके वर्गीकरण का आधार है।

(18) इसी प्रकार सारिपुत्त संयुत्त में सारिपुत्त की दस वक्तृताएँ हैं।

(19) नाग-संयुत्त के पचास सुत्तों में नागों की कथाएँ हैं। साथ में यह भी बताया गया है कि किन-किन कारणों से व्यक्ति नाग के रूप में उत्पन्न होता है।

(24) झान या समाधि-संयुत्त में ध्यान और समाधि का वर्णन है।

(37) मातुगाम-संयुत्त के चौंतीस सुत्तों में स्त्रियों की शक्ति तथा दुर्बलताओं, गुण तथा अवगुण, एवं उन के अगले जन्म का वर्णन है।

(40) मोग्गल्लान-संयुत्त के ग्यारह सुत्तों में मोग्गल्लान की कथाएं तथा उन की कुछ वक्तृताएँ हैं।

(11) सक्क-संयुत्त का नायक सक्क (शक्र) इन्द्र है। यहाँ भी उसे बुद्ध के उपासक के रूप में उपस्थित किया गया है। वैदिक साहित्य में इन्द्र वृत्त को मारने वाला, भयंकर युद्ध का अभिमानी देवता है। प्रस्तुत संयुत्त में उसे नम्रता एवं अहिंसा का व्याख्याकार बताया गया है तथा आत्म-संयम की कला का आचार्य बताया गया है। यह चुनाव जानकर के अभिप्राय-विशेष से किया गया प्रतीत होता है। अपने सिंहासन पर बैठे हुए दैत्य को हटाने के लिए वह नम्र शब्दों का प्रयोग करता है और कहता है, "प्रिय मित्र, मैं देवों का अधिपति इन्द्र हूँ।"

(56) अंतिम सच्च-संयुत्त है। इस में एक सौ इकत्तीस सुत्त हैं और चार आर्य-सत्यों का प्रतिपादन किया गया है: (क) दुःख है, (ख) दुःख का कारण है, (ग) दुःख का निरोध है, और (घ) उस निरोध का उपाय है। इसी में धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त भी है, इस के द्वारा बुद्ध ने वाराणसी में धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था।

यह स्पष्ट है कि इन सुत्तों के वर्गीकरण में तीन सिद्धांतों को अपनाया गया है:—

(1) कुछ सुत्तों का वर्गीकरण बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धांतों के प्रतिपादन के आधार पर किया गया है।

(2) कुछ का वर्गीकरण देव, मनुष्य या असुरों के नामों के आधार पर है।

(3) कुछ का वर्गीकरण वक्ता या नायक के रूप में आने वाले व्यक्ति के आधार पर है।

इन छप्पन संयुत्तों को पाँच वग्गों (वर्गों) में भी विभाजित किया गया है और उनमें बौद्ध धर्म की सभी शाखाएँ आ जाती हैं।

प्रथम वग्ग में आचार और जीवन के आदर्शों की मुख्यता है। दूसरे वग्गों में ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा की मुख्यता है। कुछ सुत्तों में बुद्ध का जीवन वर्णित है। दूसरों में बुद्ध और धर्म उपास्य के रूप में बताए गए हैं। कुछ सुत्तों में संघ के अनु-शासन (विनय) का प्रतिपादन है। सभी सुत्तों की संख्या 2889 है किंतु वे मज्झिम-निकाय और दीघ-निकाय के सुत्तों की उपेक्षा बहुत छोटे हैं। प्रत्येक विषय का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से प्रतिपादन किया गया है। उस में पुनरावृत्ति भी बहुत हुई है। यही सुत्तों की विशाल संख्या का कारण है। इनके साथ विषय तथा पाठक दोनों थक जाते हैं। उदाहरण के रूप में सळायतन-संयुत्त (35) में 207 सुत्त हैं। ये सभी छह इंद्रियों पर व्याख्यान एवं संवाद हैं। बार-बार यह बताया गया है कि चक्षु, श्रोत्र, रसना तथा स्पर्श इंद्रियाँ एवं मन नश्वर एवं दुःख से परिपूर्ण हैं। इनका आत्मा से कोई संबंध नहीं है। इसी प्रकार विषयों के लिए भी बताया गया है। प्रत्येक इंद्रिय के साथ उपर्युक्त सारी बातें बार-बार दोहराई हैं और प्रत्येक बार दोहराना एक सुत्त बन जाता है। इस प्रकार सुत्तों की पुनःपुनः आवृत्ति यद्यपि शुष्क सी प्रतीत होती है किंतु धार्मिक क्रियाओं में उसका महत्त्व रहा है। इस संयुत्त का वास्तविक महत्त्व बौद्ध सिद्धांत के प्रतिपादन की दृष्टि से है। किंतु यत्र-तत्र ऐसी बातें भी हैं जिन का साहित्यिक दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है।

कविता की दृष्टि से प्रथम वग्ग विशेष महत्त्व रखता है। इस में 1-11 संयुत्त हैं। इस का नाम है सगाथ-वग्ग अर्थात् गाथाओं वाला वग्ग। इस प्रकार की गाथाएँ दूसरे वर्गों (वग्गों) एवं निकायों में भी मिलती हैं। किंतु इस वग्ग में उन की संख्या बहुत बड़ी है। कुछ सुत्त केवल गाथाओं में हैं। देवतासुत्त में प्रश्नोत्तर रूप में पहेलियाँ और संक्षिप्त उक्तियाँ मिलती हैं:

क्या तुम्हारे पास छोटी कुटिया नहीं है।
क्या तुम्हारे पास घोंसला भी नहीं है ?
क्या तुम्हारे सामने कोई रेखा नहीं है ?
क्या तुम बन्धनों से मुक्त हो ?
नहीं, न मेरे पास कुटिया है,
न घोंसला है,
न मेरे सामने कोई रेखा है,
हां, मैं बन्धनों से मुक्त हूं।
कुटिया से मेरा क्या अभिप्राय है ?
घोंसला, रेखा और बन्धनों का क्या अर्थ है ?
कुटिया से तुम्हारा आशय है माता, और घोंसलेसे तुम्हारा आशय है पत्नी !
रेखा से तुम्हारा आशय है संतान।
और बन्धनों से तुम्हारा अभिप्राय है इच्छाएँ। तुम धन्य हो जिसकी कुटिया प्रतीक्षा नहीं करती, तुम धन्य हो जिस के पास रात बिताने के लिए घोंसला नहीं है,
तुम धन्य हो तुम्हारे सामने कोई रेखा नहीं है,
तुम सुखी हो, क्योंकि सभी बन्धनों से मुक्त हो।

इस प्रकार की पहेलियाँ और सूक्तियाँ केवल बौद्ध-सिद्धांतों तक सीमित नहीं हैं, जैसा कि नीचे लिखे उदाहरण से प्रतीत होता है :

मनुष्य का आधार क्या है, सहारा क्या है,
भूतल पर सर्वश्रेष्ठ मित्रता किस की है ?
पृथ्वी पर रहने वाले सभी प्राणियों के,
जीवन का संरक्षण कौन से देव करते हैं ?
सन्तान मानवता का आधार और सहारा है,
पत्नी पृथ्वी पर सब से बड़ा मित्र है।
पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों के जीवन का
वर्षा के देव संरक्षण करते हैं।

जिस प्रकार महाभारत में युधिष्ठिर यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हैं और फलस्वरूप वरदान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार दसवें संयुत्त के बारहवें सुत्त में बुद्ध यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हैं। पद्यात्मक या उभयात्मक आख्यान कविता की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मार-संयुत्त और भिक्खुनी-संयुत्त इस के सुंदर उदाहरण हैं। इन में से कुछ

आख्यान प्राचीन भाषा की दृष्टि से भी उल्लेखनीय हैं। वे भी भारतीय प्राचीन काव्य-कला में सुंदर उदाहरण हैं। उदाहरण स्वरूप नीचे किसा-गौतमी (कृशा के गौतमी) सुत्त (1-5) का अनुवाद दिया जाया है :

मैंने सुना है, भगवान् एक बार श्रावस्ती गए और जैतवन में अनाथ पिंडक के उद्यान में ठहर गए। भिक्खुनी कृशा गौतमी ने प्रात: उठकर कपड़े पहिने और भिक्षापात्र एवं चीवर लेकर श्रावस्ती में भिक्षा के लिए गई। भिक्षा लेकर वह वापिस चली आई, भोजन किया और दिन बिताने के लिए सघन वन में चली गई। घने जंगल में प्रवेश करके वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गई।

मार ने गौतमी को डराकर, आतंकित करके, उद्विग्न करके गंभीर समाधि से विचलित करना चाहा और वह वहाँ पहुंचा जहाँ गौतमी बैठी हुई थी। वहाँ पहुंचकर उसने गौतमी को संबोधित करके नीचे लिखी गाथा कही :

> पुत्र-वियोग से आहत माता के समान आंखों में आँसू लिए तुम
> अकेली कैसे बैठी हो ? तुम अकेली सघन वन में चली आई हो,
> क्या तुम किसी पुरुष को खोज रही हो !

गौतमी गाथा सुन कर मन ही मन सोचने लगी—"यह कौन है ! कोई मानव है या देव है, जिसने यह गाथा कही है।" फिर उसे ध्यान आया—कामदेव ने भय-भीत आतंकित एवं उद्विग्न कर के मुझे समाधि से विचलित करने के लिए यह गाथा कहीं है।

जब गौतमी को निश्चय हो गया कि गाथा को कहने वाला दुष्ट देव मार ही है तो उस ने नीचे लिखी गाथाएँ कहीं :—

> वे दिन चले गए जब उसे
> पुत्र वियोग हुआ था,
> वे पुरुष भी अतीत बन गए,
> जिन्हें मैंने चाहा था,
> न मुझे शोक है, न मैं आँसू बहा रही हूँ
> और कामदेव ! मैं तुम से भी नहीं डरती।
> सांसारिक सुखों से मेरा आकर्षण,
> पूर्णतया समाप्त हो चुका है,
> अज्ञान का परदा फट चुका है,
> मृत्यु के सभी दूतों पर विजय प्राप्त करके—

मैं यहाँ शांत और मुक्त होकर बैठी हूँ। जब कामदेव समझ गया कि गौतमी ने उसे पहिचान लिया है तो निराश और दुःखी होकर उस स्थान से चला गया।

ये कविताएँ पवित्र आख्यान हैं। ये उन आख्यानों से संबंध रखती हैं जिनमें भारतीय महाकाव्य का जन्म हुआ है। श्री जे० कार्पेण्टीयर ने ऐसे आख्यानों को 'धार्मिक लघु रूपक' नाम दिया है। वास्तव में ये कलापूर्ण कृतियाँ हैं। किन्तु इनके रचयिता बौद्ध भिक्षु नहीं हो सकते।

सारे त्रिपिटक-साहित्य में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि बौद्ध-भिक्षुओं ने कभी अभिनय किया है। इसके विपरीत नाटकों तथा ऐसे प्रदर्शनों में भाग लेने की मनाही की गई है। यदि धार्मिक नाटकों का अस्तित्व होता तो उनके प्रदर्शन की छूट अवश्य मिलती। इस प्रकार के धार्मिक आख्यान बड़ी संख्या में मिलते हैं जिनमें नाटकीय तत्त्वों की प्रधानता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार के धार्मिक तथा लौकिक आख्यानों ने नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। किन्तु इन आख्यानों को अपने-आप में न रूपक कहा जा सकता है और न महाकाव्य, यद्यपि वे दोनों के पूर्व-रूप हैं। एक विचारणीय प्रश्न यह है कि निश्चित आख्यानों के गद्यांश को भी क्या उतना ही प्राचीन माना जाए जितना कि पद्यांश है ? उदाहरण के रूप में कर्मों के विषय में (3,2,10,3,1) जो सुन्दर गाथाएँ हैं, उनके साथ वाला गद्य व्याख्या-सी प्रतीत होता है।

अंगुत्तर-निकाय

चौथा विशालकाय संग्रह अंगुत्तर-निकाय है। इस में भेद-संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के अनुसार उपदेशों का संग्रह है। ग्यारह निपातों में 2308 सुत्तों का संग्रह है। प्रथम निपात में उन बातों का संग्रह है जो एक हैं। द्वितीय निपात में दो भेदों वाली और तृतीय निपात में तीन भेदों वाली बातों का संग्रह है। इसी प्रकार आगे भी चला गया है। ग्यारहवें निपात में ग्यारह भेदों वाली बातों का संग्रह है। उदाहरण के रूप में द्वितीय निपात में नीचे लिखे प्रकार के सुत्त हैं : मनुष्य को दो बातें छोड़ देनी चाहिए दो कृष्ण तथा दो शुक्ल, वन में निवास के दो कारण, दो प्रकार के बुद्ध इत्यादि।

तृतीय निपात में विचार, वाणी और क्रिया का त्रिक, तीन प्रकार के भिक्षु (इच्छाओं से रहित, न्यून इच्छाओं वाले और जिन्होंने समान इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है), देवों के तीन दूत (बुढ़ापा, रोग और मृत्यु), तीन कारणों से मृत्यु विश्व पर राज्य करती है। तीन प्रकार का मौन, स्त्रियों को नरक में ले जाने वाली तीन बातें, इत्यादि। चतुर्थ निपात में निर्वाण को प्राप्त कराने वाली चार बातें—शील, समाधि, प्रज्ञा और मुक्ति, नरक में ले जाने वाली चार बातें तथा स्वर्ग में ले जाने वाली चार बातें, स्त्री के इस जन्म में कुरूप तथा दरिद्र होने के चार कारण, कुरूप तथा संपन्न होने के चार कारण, सुन्दर तथा दरिद्र होने के चार कारण, सुन्दर एवं संपन्न होने के चार कारण, इत्यादि।

सप्तम निपात में, समाधि के लिए सात आवश्यक बातें, सात आश्चर्य, सात प्रकार की पत्नियाँ, आदि।

अष्टम् निपात में आठ बातों से पत्नी पति को बाँध लेती हैं, आठ बातों से से पति पत्नी को बाँध लेता है, आठ प्रकार का दान, देव रूप से उत्पन्न होने के लिए स्त्री में आवश्यक आठ बातें, भूकम्प के आठ कारण, आदि।

दशम निपात में बुद्ध के आठ बल, दस मौलिक प्रश्न। (बौद्ध सिद्धांत का सारांश), पातिमोक्ख की स्थापना के आठ कारण, दस प्रकार के धनवान् आदि।

प्रत्येक निपात पुनः कई वर्गों में विभक्त है। एक वर्ग में प्रायः एक ही विषय से संबंध रखने वाले सुत्त हैं। प्रथम निपात के प्रथम वर्ग के दस सुत्त पति और पत्नी के परस्पर संबंध को प्रकट करते हैं। इसी निपात के चौदहवें वग्ग में अस्सी सुत हैं जिनमें बुद्ध के प्रमुख (स्त्री और पुरुष) शिष्यों तथा उनके गुणों की गणना है। बीसवें वग्ग में 262 सुत्त हैं। उनमें निर्वाण के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार के ध्यानों का वर्णन है।

पंचम निपात के अठारहवें वग्ग में दस सुत्त हैं। उनमें दस गृहस्थ उपासकों का वर्णन है। संयुत्त-निकाय के समान इस संग्रह में भी सुत्त छोटी-छोटी वक्तृताओं या या संवादों के रूप में हैं। कहीं-कहीं अन्य निकायों के समान लंबी वक्तृताएँ भी हैं। गद्य के बीच-बीच में गाथाएँ है। ऐसे सुत्त एव गाथाओं की भी बड़ी संख्या है जो अन्य आगमों में भी मिलते हैं। कहीं-कहीं वे उद्धरण के रूप मे निर्दिष्ट हैं।

नीचे उदाहरण के रूप में कुछ सुत्तों का अनुवाद किया जाता है :

द्वितीय निपात, चतुर्थ वर्ग सुत्त 1-2 :

"भिक्षुओ ! मैं तुम को बताता हूँ, बुरा आदमी कैसे बनता है और अच्छा आदमी कैसे बनता है। सुनो, ध्यान दो, मैं कह रहा हूँ।"

"भन्ते ! बहुत अच्छा।" भिक्षुओं ने उत्तर दिया और भगवान् को सुनने लगे। तब भगवान् ने निम्नोक्त कहना प्रारभ किया :

"भिक्षुओ ! बुरा आदमी कैसा होता है ? भिक्षुओ ! बुरा आदमी कृतघ्न होता है। वह किसी के उपकार को नहीं मानता। बुरे आदमी में यही बात मिलती है। वह कृतघ्न होता है, अकृतज्ञ होता है। जिन बातों के कारण बुरा आदमी बनता है उन सब का पिण्डित रूप है :—कृतघ्नता, अकृतज्ञता। किन्तु भला आदमी कृतज्ञ होता है, वह उपकार को मानता है। भले आदमी में जो गुण हैं, वह है कृतज्ञता, उपकार को मानना। भला आदमी बनाने वाले जितने गुण हैं सब पिण्डित रूप कृतज्ञता, उपकार को मानना है।"

"भिक्षुओ ! मैं तुम्हें दो नाम बताऊँगा, जिनके उपकार का बदला नहीं चुकाया जा सकता, वे कौन हैं ? माता और पिता। भिक्षुओ ! यदि कोई माता को एक कंधे पर उठा ले और पिता को दूसरे कंधे पर और इस प्रकार सौ वर्ष तक जीवित रहे, सौ

वर्ष तक उनकी सेवा करते रहे, उन्हें लेप करे, दवाए, नहलाए, मालिश करे, और वे उस पर आराम करने लगें, तब भी माता-पिता के प्रति पूरी कृतज्ञता प्रकाशित नहीं होगी और न वह उनके ऋण से मुक्त हो सकेगा। भिक्षुओ ! ऐसा क्यों है ! माता-पिता अपनी संतान का बहुत भला करते हैं। वे उसे संसार में लाते हैं, उसका पालन-पोषण करते हैं और उसे संसार का ज्ञान कराते हैं।

"किन्तु भिक्षुओ ! यदि माता-पिता नास्तिक हैं और व्यक्ति उन्हें सच्चे धर्म के प्रति श्रद्धालु बना देता है, उन्हें प्रेरणा देकर उस पर दृढ़ कर देता है; अथवा वे यदि दुराचारी हैं वह उन्हें सदाचार की ओर ले जाता है, उन्हें प्रेरणा देकर उस पर दृढ़ कर देता है ; यदि उनमें अंतर्दृष्टि नहीं है, उन्हें सच्ची अंतर्दृष्टि दे देता है, प्रेरणा देकर उसमें स्थिर कर देता है, तो उसने अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित कर दी, उनका ऋण चुका दिया, वास्तव में उनमें उपकार से भी अधिक बदले में दे दिया।"

अंगुत्तर-निकाय के कुछ सुत्त अन्यत्र संक्षिप्त हैं। तृतीय निपात के 129 में सुत्त की वक्तृता बौद्ध धर्म को गोपनीय सिद्धांत बताने वालों को कड़ा उत्तर है :

बुद्ध कहते हैं :

"भिक्षुओ ! तीन प्रकार के व्यक्ति गुप्त रूप से काम करते हैं, खुले नहीं करते। कौन तीन ? भिक्षुओ ! स्त्रियाँ छिप कर काम करती हैं, खुले रूप में नहीं करतीं। ब्राह्मणों के जादू-मंत्र गुप्त रूप से कार्य करते हैं, खुले रूप में नहीं। झूठे सिद्धांत गुप्त रूप से कार्य करते हैं खुले रूप में नहीं। भिक्षुओ ! ये तीन हैं जो गुप्त रूप से कार्य करते हैं, खुले रूप में नहीं।"

"भिक्षुओ तीन वस्तुएँ खुले रूप से चमकती हैं, गुप्त रूप से नहीं। चन्द्रमंडल, भिक्षुओ ! खुले रूप में चमकता है, गुप्त रूप से नहीं। सूर्यमंडल, भिक्षुओ ! खुले रूप में चमकता है गुप्त रूप से नहीं। बुद्ध के द्वारा घोषित संघ के कर्म और अनुशासन खुले रूप में चमकते हैं, गुप्त रूप से नहीं। भिक्षुओ ! ये तीन वस्तुएँ हैं जो खुले रूप में चमकती हैं, गुप्त रूप में नहीं।"

बहुत से सुत्तों में स्त्रियों का वर्णन हैं। अन्य धर्मों के साधु और जीवन्मुक्तों के समान बौद्ध भिक्षु भी उनके लिए अच्छा नहीं कहते। केवल बुद्ध का प्रिय शिष्य आनंद स्त्रियों का उत्साही समर्थक था। उसी के प्रयत्न पर बुद्ध ने लंबे प्रतिरोध के बाद भी अनिच्छा से भिक्षुणी-संघ बनाने की अनुमति दी। स्त्रियों के इस पक्षपात के कारण ही राजगृह की संगीति में आनंद से बहुत से प्रश्न पूछे गए। चतुर्थ निपात में आता है कि एक बार उसने स्त्रियों के उद्धारक वर्तमान वकील के समान, बुद्ध से पूछा :

"भन्ते ! क्या कारण है, ऐसी कौन सी बात है, जिससे स्त्रियों को सार्वजनिक सम्मेलन में स्थान नहीं दिया जाता। उन्हें व्यापार क्यों नहीं करने दिया जाता ! वे भी स्वतंत्र धंधा करके अपनी आजीविका का उपार्जन क्यों नहीं कर सकतीं !"

बुद्ध ने उत्तर दिया, "आनंद ! स्त्रियाँ क्रोधी होती हैं ; आनद ! स्त्रियाँ ईर्ष्यालु होती है; आनन्द ! स्त्रियाँ प्रतिस्पर्द्धाशील होती हैं, आनन्द ! स्त्रियाँ मूर्ख होती हैं। आनन्द यही कारण है, यही बात है कि स्त्रियों को सार्वजनिक सम्मेलन में स्थान नहीं दिया जाता, वे व्यापार नही करतीं, तथा स्वतत्र धंधा करके आजीविको-पार्जन नही करतीं।

तृतीय निपात में सुत्त 35 की कथा भी अत्यन्त सुन्दर है। यम नरक में पापियों को देवों के तीन दूतों के विषय में बताता है। वे हैं—बुढ़ापा, रोग और मृत्यु। उसके पश्चात् वह उन्हें नरक-पालों को दंड के लिए सौंप देता है। सभवतया नरक की कल्पना बौद्ध धर्म से पहले की है।

अंगुत्तर-निकाय में साहित्यिक महत्त्व के पाठ अधिक नहीं है। बहुत से उपदेश बहुत लंबे एवं नीरस है। उनके बीच भेद-प्रभेद दिए गए हैं किन्तु उससे उनकी नीरसता में कोई अन्तर नही पड़ता। प्रथम निपात में शायद ही कोई पाठ सरस या हृदयस्पर्शी होगा। बौद्ध आचार, मनोविज्ञान तथा अनुशासन-सबधी सुत्तों का बाहुल्य होने पर भी कुछ सुत्त ऐसे भी हैं जिनका बौद्ध धर्म से कोई संबंध नहीं है। केवल भेद-सख्या के आधार पर उन्हें वहाँ रख दिया गया है। किन्तु ऐसे पाठ विनोद-शून्य नही है। बहुत-सी परस्पर-विरोधी वस्तुओं को एक साथ गिना दिया गया है। उदाहरण के रूप में अष्टम निपात, सुत्त 27 में कहा गया है :

"भिक्षुओ। संसार में आठ शक्तियां है। वे कौन सी है ? बच्चों का बल है रोना स्त्रियों का बल है फटकाराना, डाकुओं का बल है शस्त्र, राजा का बल है साम्राज्य, मूर्खों का बल है अभिमान, ऋषियो का बल है नम्रता, विद्वानों का बल है चितन, श्रमण तथा ब्राह्मणों का बल है मौन।" भारतीय सूक्तियों में भी इस प्रकार की बातें मिलती हैं। सभवतया इस प्रकार की परिगणना प्राचीन जन-साधारण के साहित्य से संबंध रखती है। समस्त अगुत्तर-निकाय की रचना में यही मूल सिद्धांत है जिसमें व्यक्ति अपने पांडित्य का प्रदर्शन करता है।

जिस समय अगुत्तर-निकाय की रचना हुई, बुद्ध को सर्वज्ञ, दिव्य पुरुष तथा सभी सत्यों का स्रोत माना जाने लगा था। यह बात एक घटना से सिद्ध होती है। उपदेश देने वाले कुछ भिक्षुओ से इद्र पूछता है, "आपने ये असाधारण बाते कहाँ से सीखीं ? बुद्ध से सीखीं या अपनी ही प्रज्ञा से जानीं ?"

वे उत्तर देते हैं—"अनाज के भंडार के पास खड़ा आदमी देखता है कि कुछ लोग टोकरी मे अनाज ले जा रहे हैं, कुछ कपड़े में और कुछ हाथों में। तो उस समय यह नहीं सोचा जाता कि अनाज कहाँ से आ रहा है। स्पष्ट है कि वह अन्न-भडार से आ रहा है। इसी प्रकार जितनी भी अच्छी बातें है वे बुद्ध की कही हुई है।" यह धारणा अशोक के भाब्रू शिलालेख से भी स्पष्ट होती है। वहाँ लिखा है, "बुद्ध ने जो कुछ कहा है, मंगलमय कहा है।" सस्कृत-रचना दिव्यावदान में और भी बलपूर्वक कहा गया है, "चन्द्र और तारों के साथ आकाश गिर पड़ेगा, पर्वतों और वनों के साथ पृथ्वी नष्ट

हो जाएगी, समुद्र सूख जाएगा किन्तु बुद्ध कभी मिथ्या-भाषण नहीं करेंगे।"

इस प्रकार श्रद्धा-पूर्ण उक्तियों के कारण अंगुत्तर-निकाय को अभिधम्मपिटक का पूर्वरूप कहा जा सकता है। उसके बहुत से पाठ इसी पर आधारित हैं।

अंगुत्तर-निकाय के बहुत से सुत्त संयुत्त-निकाय के समान बन गए।

निकायों की परस्पर तुलना

खुद्दक-निकाय उपर्युक्त चार निकायों से सर्वथा भिन्न है। इन चार निकायों में विभिन्न प्रकार के सुत्तों का संग्रह किया गया है। जहाँ तक विषय का संबंध है, इनमें परस्पर कोई भेद नहीं है। अधिकतर उदाहरणों में यह निश्चय करना कठिन है कि अमुक सुत्त मूलतः इसी निकाय के साथ संबद्ध है, दूसरी के साथ नहीं। उदाहरण के रूप में स्त्रियों को नरक में ले जाने वाले तीन कारणों का प्रतिपादन करने वाला सुत्त संयुत्त-निकाय और अंगुत्तर-निकाय दोनों में मिलता है। दोनों स्थानों में यह समान रूप से ठीक बैठता है। इसके अतिरिक्त संयुत्त-निकाय के कुछ वर्ग अंगुत्तर-निकाय के विस्तार या उदाहरण के रूप में प्रतीत होते हैं। दीघ-निकाय के सुत्त भी ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे लघु सुत्तों का विस्तार हों। उदाहरण के रूप में मज्झिम-निकाय का दसवाँ सतिपट्ठान-सुत्त दीघ-निकाय में बाईसवें महासतिपट्ठान-सुत्त के रूप में अक्षरशः मिलता है। केवल टीका के रूप में कुछ पाठ और जोड़ दिए गए हैं। इसी प्रकार महापरिनिब्बान-सुत्त भी प्रक्षेपों एवं प्रवर्द्धनों के कारण विशालकाय बन गया। दीघ-निकाय के कुछ पाठ अंगुत्तर-निकाय में अधिक उपयुक्त होते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि संयुत्तनिकाय और अंगुत्तर-निकाय में सुत्तों की बड़ी संख्या का कारण एक ही बात की थोड़े से परिवर्तन के साथ पुनःपुनः आवृत्ति है। मज्झिम तथा दीघ-निकाय के अनेक सुत्त लंबे हो गए हैं। उसका कारण भी पुनरावृत्ति है। इन संग्रहों को देखकर यह परिणाम स्वाभाविक रूप से निकलता है कि उनकी रचना व्यावहारिक उपयोगिता के लिए हुई होगी। वे भिक्षुओं की दैनंदिन धार्मिक क्रियाओं, उपदेश, सार्वजनिक पाठ, उपासना तथा धर्म-चर्चा आदि के लिए संकलित किए गए। पुनरावृत्ति सभी सुत्तों में पाई जाती है इससे प्रतीत होता है कि वे मौखिक पाठ के लिए तैयार किए गए थे।

उसी शब्द, वाक्य या पाठ की पुनरावृत्ति के दो उद्देश्य थे—(1) उपदेशों को स्मृति-पट पर गहरे अंकित करना तथा उन्हें आलंकारिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली बनाना।

पुनरावृत्ति के कारण असाधारण रूप से लंबे सुत्तों के साथ-साथ संक्षिप्त एवं अल्पाक्षर संवाद भी मिलते हैं, जिनमें प्रतिपाद्य विषय को अत्यन्त संक्षेप तथा सारगर्भित शैली में प्रकट किया गया है और एक भी व्यर्थ शब्द का प्रयोग किए बिना उस का विकास किया गया है। इस प्रकार के संवाद भी चारों निकायों में मिलते हैं। प्रतीत होता है वे आगमों का प्राचीनतम भाग हैं।

शैली और भाषा की दृष्टि से भी निकायों में परस्पर कोई भेद नहीं है। यद्यपि

बुद्ध ने उत्तर दिया, "आनंद ! स्त्रियाँ क्रोधी होती हैं ; आनद ! स्त्रियाँ ईर्ष्यालु होती है; आनन्द ! स्त्रियाँ प्रतिस्पर्द्धाशील होती हैं, आनन्द ! स्त्रियाँ मूर्ख होती हैं। आनन्द यही कारण है, यही बात है कि स्त्रियों को सार्वजनिक सम्मेलन में स्थान नहीं दिया जाता, वे व्यापार नही करतीं, तथा स्वतत्र धंधा करके आजीविको-पार्जन नही करतीं।

तृतीय निपात में सुत्त 35 की कथा भी अत्यन्त सुन्दर है। यम नरक में पापियों को देवों के तीन दूतों के विषय में बताता है। वे हैं—बुढ़ापा, रोग और मृत्यु। उसके पश्चात् वह उन्हें नरक-पालों को दंड के लिए सौंप देता है। सभवतया नरक की कल्पना बौद्ध धर्म से पहले की है।

अंगुत्तर-निकाय में साहित्यिक महत्त्व के पाठ अधिक नहीं है। बहुत से उपदेश बहुत लंबे एवं नीरस हैं। उनके बीच भेद-प्रभेद दिए गए हैं किन्तु उससे उनकी नीरसता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रथम निपात में शायद ही कोई पाठ सरस या हृदयस्पर्शी होगा। बौद्ध आचार, मनोविज्ञान तथा अनुशासन-सबधी सुत्तों का बाहुल्य होने पर भी कुछ सुत्त ऐसे भी है जिनका बौद्ध धर्म से कोई संबंध नहीं है। केवल भेद-संख्या के आधार पर उन्हें वहाँ रख दिया गया है। किन्तु ऐसे पाठ विनोद-शून्य नही है। बहुत-सी परस्पर-विरोधी वस्तुओ को एक साथ गिना दिया गया है। उदाहरण के रूप में अष्टम निपात, सुत्त 27 में कहा गया है :

"भिक्षुओ। संसार में आठ शक्तियां है। वे कौन सी हैं ? बच्चों का बल है रोना स्त्रियों का बल है फटकाराना, डाकुओं का बल है शस्त्र, राजा का बल है साम्राज्य, मूर्खो का बल है अभिमान, ऋषियो का बल है नम्रता, विद्वानों का बल है चिंतन, श्रमण तथा ब्राह्मणों का बल है मौन।" भारतीय सूक्तियों मे भी इस प्रकार की बातें मिलती हैं। सभवतया इस प्रकार की परिगणना प्राचीन जन-साधारण के साहित्य से संबंध रखती है। समस्त अगुत्तर-निकाय की रचना में यही मूल सिद्धांत है जिसमें व्यक्ति अपने पांडित्य का प्रदर्शन करता है।

जिस समय अगुत्तर-निकाय की रचना हुई, बुद्ध को सर्वज्ञ, दिव्य पुरुष तथा सभी सत्यों का स्रोत माना जाने लगा था। यह बात एक घटना से सिद्ध होती है। उपदेश देने वाले कुछ भिक्षुओ से इद्र पूछता है, "आपने ये असाधारण बाते कहाँ से सीखीं ? बुद्ध से सीखीं या अपनी ही प्रज्ञा से जानीं ?"

वे उत्तर देते है—"अनाज के भंडार के पास खड़ा आदमी देखता है कि कुछ लोग टोकरी मे अनाज ले जा रहे हैं, कुछ कपड़े में और कुछ हाथों में। तो उस समय यह नहीं सोचा जाता कि अनाज कहाँ से आ रहा है। स्पष्ट है कि वह अन्न-भडार से आ रहा है। इसी प्रकार जितनी भी अच्छी बाते हैं वे बुद्ध की कही हुई है।" यह धारणा अशोक के भाब्रू शिलालेख से भी स्पष्ट होती है। वहाँ लिखा है, "बुद्ध ने जो कुछ कहा है, मंगलमय कहा है।" संस्कृत-रचना दिव्यावदान में और भी बलपूर्वक कहा गया है, "चन्द्र और तारो के साथ आकाश गिर पड़ेगा, पर्वतों और वनों के साथ पृथ्वी नष्ट

हो जाएगी, समुद्र सूख जाएगा किन्तु बुद्ध कभी मिथ्या-भाषण नहीं करेंगे।"

इस प्रकार श्रद्धा-पूर्ण उक्तियों के कारण अंगुत्तर-निकाय को अभिधम्मपिटक का पूर्वरूप कहा जा सकता है। उसके बहुत से पाठ इसी पर आधारित हैं।

अंगुत्तर-निकाय के बहुत से सुत्त संयुत्त-निकाय के समान बन गए।

निकायों की परस्पर तुलना

खुद्दक-निकाय उपर्युक्त चार निकायों से सर्वथा भिन्न है। इन चार निकायों में विभिन्न प्रकार के सुत्तों का संग्रह किया गया है। जहाँ तक विषय का संबंध है, इनमें परस्पर कोई भेद नहीं है। अधिकतर उदाहरणों में यह निश्चय करना कठिन है कि अमुक सुत्त मूलतः इसी निकाय के साथ संबद्ध है, दूसरी के साथ नहीं। उदाहरण के रूप में स्त्रियों को नरक में ले जाने वाले तीन कारणों का प्रतिपादन करने वाला सुत्त संयुत्त-निकाय और अंगुत्तर-निकाय दोनों में मिलता है। दोनों स्थानों में यह समान रूप से ठीक बैठता है। इसके अतिरिक्त संयुत्त-निकाय के कुछ वर्ग अंगुत्तर-निकाय के विस्तार या उदाहरण के रूप में प्रतीत होते हैं। दीघ-निकाय के सुत्त भी ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे लघु सुत्तों का विस्तार हों। उदाहरण के रूप में मज्झिम-निकाय का दसवां सतिपट्ठान-सुत्त दीघ-निकाय में बाईसवें महासतिपट्ठान-सुत्त के रूप में अक्षरशः मिलता है। केवल टीका के रूप में कुछ पाठ और जोड़ दिए गए हैं। इसी प्रकार महापरिनिब्बान-सुत्त भी प्रक्षेपों एवं प्रवर्द्धनों के कारण विशालकाय बन गया। दीघ-निकाय के कुछ पाठ अंगुत्तर-निकाय में अधिक उपयुक्त होते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि संयुत्तनिकाय और अंगुत्तर-निकाय में सुत्तों की बड़ी संख्या का कारण एक ही बात को थोड़े से परिवर्तन के साथ पुनःपुनः आवृत्ति है। मज्झिम तथा दीघ-निकाय के अनेक सुत्त लंबे हो गए हैं। उसका कारण भी पुनरावृत्ति है। इन संग्रहों को देखकर यह परिणाम स्वाभाविक रूप से निकलता है कि उनकी रचना व्यावहारिक उपयोगिता के लिए हुई होगी। वे भिक्षुओं की दैनंदिन धार्मिक क्रियाओं, उपदेश, सार्वजनिक पाठ, उपासना तथा धर्म-चर्चा आदि के लिए संकलित किए गए। पुनरावृत्ति सभी सुत्तों में पाई जाती है इससे प्रतीत होता है कि वे मौखिक पाठ के लिए तैयार किए गए थे।

उसी शब्द, वाक्य या पाठ की पुनरावृत्ति के दो उद्देश्य थे—(1) उपदेशों को स्मृति-पट पर गहरे अंकित करना तथा उन्हें आलंकारिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली बनाना।

पुनरावृत्ति के कारण असाधारण रूप से लंबे सुत्तों के साथ-साथ संक्षिप्त एवं अल्पाक्षर संवाद भी मिलते हैं, जिनमें प्रतिपाद्य विषय को अत्यन्त संक्षेप तथा सारगर्भित शैली में प्रकट किया गया है और एक भी व्यर्थ शब्द का प्रयोग किए बिना उस का विकास किया गया है। इस प्रकार के संवाद भी चारों निकायों में मिलते हैं। प्रतीत होता है वे आगमों का प्राचीनतम भाग हैं।

शैली और भाषा की दृष्टि से भी निकायों में परस्पर कोई भेद नहीं है। यद्यपि

अंगुत्तर-निकाय दूसरे निकायों की अपेक्षा कुछ अर्वाचीन है, फिर भी, समय का अधिक व्यवधान नहीं प्रतीत होता। दीघ-निकाय को बौद्ध-सिद्धांत का प्राचीनतम आधार मानना भी ठीक नहीं है। प्राचीनतम आधार सभी निकायों में बिखरे हुए सुत्त हैं, किसी एक संग्रह द्वारा वह आधार नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। वास्तव में वे समस्त बौद्ध साहित्य पालि तथा संस्कृत से चुन कर प्रस्तुत किए जा सकते हैं। सभी निकायों में प्राचीन तथा अर्वाचीन सामग्री मिलती है।

सभी निकायों के सुत्त साहित्यिक दृष्टि से समान हैं। इससे भी प्रतीत होता है है कि चारों निकाय समान तत्त्वों से संकलित किए गए हैं। सभी निकायों में ऐसे संवाद हैं जिनमें बुद्ध अपने प्रतिद्वंद्वी के साथ, चाहे वह ब्राह्मण हो या किसी अन्य मत वाला, उसी परिष्कृत कुशलतापूर्ण, नम्र एवं सौहार्दपूर्ण ढंग से चर्चा करते हैं। वे सर्वप्रथम अपने आप प्रतियोगी का स्थान ले लेते हैं, उसी के दृष्टिकोण को लेकर प्रारम्भ करते हैं, उन्हीं वाक्यों को अपनाते हैं, यहाँ तक कि उन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते है और अप्रत्यक्ष रूप से उसे विरोधी दृष्टिकोण पर ले आते हैं। राइस डेविड्स का यह कथन है कि इन संवादों के लेखकों को बुद्ध का वार्तालाप निश्चित रूप से स्मरण में होगा। इनसे बुद्ध के उपदेश देने के ढंग का पता चलता है।

बुद्ध के उपदेश का एक ढंग और भी था। वे अपने श्रोताओं को उदाहरणों और चुटकलों द्वारा आकृष्ट करके अपनी बात को उनके मन में बैठा देते थे। उदाहरण या चुटकुले युक्ति नहीं होते, किन्तु वे श्रोता के हृदय और मस्तिष्क को इतना प्रभावित करते हैं जितना हजारों युक्तियाँ नहीं कर सकतीं। बुद्ध इस तथ्य को जानते थे। अतः वे अपने उपदेशों का उदाहरणों द्वारा समर्थन करते थे और उनके शिष्य भी उन्हीं का अनुकरण करते थे। अतएव हमें चारों निकायों में उदाहरणों का बाहुल्य मिलता है। उन्हीं के कारण इन उपदेशों को साहित्यिक रूप तथा महत्त्व मिल गया है।

बुद्ध का मालुंक्य के पुत्र के साथ जो संवाद है वह हृदय में उतरने वाले संवादों का सुन्दर नमूना है—इसमें एक जिज्ञासु शिष्य सत्-असत् के विषय में तथा तत्त्वज्ञान-संबंधी अन्य प्रश्नों को पूछता है। बुद्ध उत्तर देते हैं कि इन प्रश्नों का उत्तर देने में सारा समय चला जाएगा और निर्वाण एवं दुःखों से छुटकारे के संबंध में चर्चा के लिए समय नहीं बचेगा, और वे नीचे लिखा दृष्टांत देकर इस बात का समर्थन करते हैं :

एक आदमी को विषाक्त बाण लगा। मित्र उसे वैद्य के पास ले गए। वैद्य घाव में से बाण खींचने लगा। किन्तु आहत व्यक्ति चिल्लाने लगा—ठहरो! मैं तब तक बाण को बाहर नहीं करना चाहता, जब तक यह मालूम न हो जाए कि इसे किस ने मारा है। उसे मारने वाला क्षत्रिय है, ब्राह्मण है, वैश्य है या शूद्र है, वह किस परिवार का है, वह लम्बा है या ठिगना, बाण किस तरह का है, इत्यादि। ऐसी स्थिति में क्या होगा? इन सब प्रश्नों का उत्तर मिलने से पहले ही वह चल बसेगा। इसी प्रकार जो

शिष्य परलोक के विषय में अपने सभी प्रश्नों का उत्तर जानना चाहता है, वह दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध तथा निरोध-समुदय के विषय में जानने से पहले चल बसेगा।

तेविज्ज-सुत्त (दीघ०, 13,15) के दृष्टांत भी कम उपयुक्त नहीं है। इसमें बुद्ध ने बताया है कि ब्राह्मण लोग ब्रह्म में मिल जाने को मोक्ष मानते हैं, किन्तु यह मान्यता मूर्खतापूर्ण है। उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है कि ब्रह्म को न कभी उन्होंने देखा है, न उनके गुरुओं ने देखा है, न गुरुओं के गुरुओं को देखा है और न आदि काल के ऋषियों से देखा है। वे लोग अंधों के पंक्ति के समान प्रतीत होते हैं जिनमें न पहले को, न बीच वालों को और न अंतिम को दिखाई देता है। अज्ञात् ईश्वर को प्राप्त करने की अभिलाषा ऐसी ही है जैसे कोई पुरुष कहे, "मैं अत्यन्त सुन्दर स्त्री से प्रेम करता हूं" किन्तु यह पूछने पर कि वह सुन्दरी कौन है, कोई उत्तर नहीं दे सकता। उसकी जाति, वर्ग, नाम, वह लंबी है या ठिगनी, काली है या गोरी, वह कहां रहती है आदि का उसे कुछ भी पता नहीं है। इसी तरह एक आदमी महल में चढ़ने के लिए उसके छज्जे तक सीढ़ियाँ बनाना चाहता है। किन्तु उसे यह पता नहीं है कि छज्जा पूर्व में है या पश्चिम में, उत्तर में है अथवा दक्षिण में, वह बहुत ऊंचा है, बहुत नीचा है या बीच का है।

सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० 2, 69, 78) में बुद्ध सुन्दर दृष्टांत देकर एक भिक्षु के, जो भौतिक बंधनों से छूट गया है, सुख की तुलना ऐसे कर्जदार से करते हैं जिसने न केवल अपना कर्ज चुका दिया है किन्तु परिवार के भरण-पोषण के लिए कमाई भी कर ली है अथवा उस रोगी के साथ जिसने भयंकर रोग के पश्चात् स्वास्थ्य प्राप्त कर लिया है, उस कैदी के साथ जिसने बंधनों का दुःख भोग कर छुटकारा प्राप्त कर लिया है, उस दास के साथ जिसे मालिक ने मुक्त कर दिया है, उस पथिक के साथ जो भयंकर मार्ग तथा सघन वनों में भटकने के पश्चात् ऐसे गाँव में पहुंच गया है जहाँ मनुष्यों की वसति है। एक सरोवर के समान जिसमें एक ही स्रोत का पानी आता है, जिसमें और किसी तरफ से पानी नहीं आता जिस पर वर्षा भी नहीं होती, वह जैसे एक ही स्रोत से पानी प्राप्त करता है और सारा एक-सरीखे शीतल एवं निर्मल जल से परिपूर्ण होता है, इसी प्रकार भिक्षु भी शांतिसुख से परिपूर्ण होता है।

सांसारिक सुखों की व्यर्थता बताने वाले दृष्टांत भी बड़ी संख्या में हैं। मज्झिम निकाय के सुत्त 54 में इंद्रिय-सुखों से मिलने वाले कष्टों एवं दुःखों का वर्णन करने के लिए सात उदाहरण दिए गए हैं :—

एक कसाई क्षुधार्त कुत्ते के सामने बिना मांस की सूखी हड्डी फेंक देता है। उस से कुत्ते की भूख नहीं मिटती। इंद्रिय-सुख उस सूखी हड्डी के समान हैं। वे कष्ट और दुःखों से भरे हुए हैं। इनसे केवल पाप उत्पन्न होता है। जिस प्रकार एक पक्षी मांस के टुकड़े पर झपटता है, दूसरे पक्षी उसके साथ झगड़ते हैं उसे नोच डालते हैं, उसी

प्रकार इंद्रिय-सुखों से केवल दुःख और पाप उत्पन्न होते हैं। साधु इंद्रिय-सुखों से उसी प्रकार दूर हट जाता है जैसे जलते हुए अंगारों से भरे गड्ढे से। इंद्रिय-सुख मधुर स्वप्न के समान हैं जो जागते ही नष्ट हो जाता है। उधार लिए हुए धन के समान है जिससे वे ही ईर्ष्या करते हैं जिन्हें मालूम नहीं है कि यह उधार लिया हुआ है। एक मनुष्य जंगल में आता है, फलों से लदे हुए वृक्ष को देखता है, और जी भरकर खाने के लिए ऊपर चढ़ जाता है। तब दूसरा व्यक्ति आता है और उसी वृक्ष को देखता है और फल खाने के लिए वृक्ष को गिराने के प्रयत्न में लग जाता है। जो व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ा हुआ है, खतरे में पड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार इंद्रिय-सुखों से भय और कष्ट प्राप्त होते हैं।

बहुत से दृष्टांत परिस्थिति के साथ ठीक बैठ जाते हैं और अत्यन्त रोचक प्रतीत होते हैं। मज्झिम-निकाय के सुत्त 59 में राजकुमार अभय, प्रतिद्वंद्वी निग्गंठ नाट पुत्त की प्रेरणा से, बुद्ध को कठिन प्रश्नों में उलझाने आए। उसने पूछा, "क्या बुद्ध कभी कठोर शब्द नहीं कहते ? बुद्ध ने स्वीकार कर लिया कि कभी-कभी उन्हें भी कठोर शब्द कहने पड़ जाते हैं। इस पर अभय ने कहा, तो आप में और साधारण मनुष्य में क्या अन्तर रहा ? वह भी कठोर शब्द बोलता है।

उस समय अभय की गोद में एक कोमल बच्चा बैठा हुआ था। भगवान् ने अभय से कहा, "राजकुमार ! यदि यह बालक तुम्हारी या धात्री की असावधानी के कारण लकड़ी या पत्थर के टुकड़े को अपने मुंह में रख ले, तो तुम क्या करोगे ?"

"भन्ते ! मैं उसे बाहर निकालूंगा। और यदि मैं उसे आसानी से बाहर न निकाल सका तो बाएँ हाथ से बालक का सिर पकड़ लूंगा और दाहिने हाथ से अंगुली टेढ़ी करके उसे निकालूंगा। यद्यपि यह कार्य कठोर है, फिर भी बच्चे पर दया के कारण ऐसा करना होगा।"

"इसी प्रकार, राजकुमार ! तथागत ऐसा कोई शब्द नहीं कहते जिसे वे मिथ्या, गलत या अहितकर और साथ ही दूसरे को कटु या अरुचिकर समझते हैं। वे ऐसा शब्द भी नहीं कहते जिसे सत्य, शुद्ध किन्तु अहितकर और साथ ही दूसरे के लिए कटु एवं अरुचिकर मानते है, किन्तु तथागत यदि मानते हैं कि एक शब्द सत्य, शुद्ध तथा हितकर है किन्तु दूसरे को अप्रिय एव कटु लगने वाला है तो तथागत उस शब्द को कहना उचित समझते हैं। क्योंकि तथागत प्राणियों पर दया करते हैं।"

तेल के दीए का दृष्टांत अत्यन्त प्रचलित है और बार-बार दिया जाता है :

"भिक्षुओ ! जिस प्रकार दीपक तेल और बत्ती के कारण जलता है। यदि कोई उसमें नया तेल डालता रहे और नई बत्ती रखता रहे तो ईंधन मिल जाने के कारण वह दीर्घ काल तक जलता रहेगा। भिक्षुओ ! उसी प्रकार जो मनुष्य सांसारिक भोगों में सुख मानता है उसे तृष्णा उत्पन्न होती है। ये सभी बंधन हैं।"

किसी गाँव के एक बूढ़े आदमी ने पूछा, कहा जाता है बुद्ध सभी प्राणियों के

लिए करुणामय तथा हितकारी हैं, किन्तु वे कुछ व्यक्तियों को अपना उपदेश पूरी तरह देते हैं, और कुछ को मोटे-मोटे रूप में ! ऐसा क्यों है ?" इसका उत्तर बुद्ध ने एक दृष्टांत द्वारा दिया : जैसे किसान सबसे पहले अच्छे खेत को जोतता है फिर माध्यम कोटि वाले को और अंत में बुरे खेत को, उसी प्रकार बुद्ध सर्वप्रथम भिक्षु तथा भिक्षुणियों को उपदेश देते हैं, तदनन्तर गृहस्थ अनुयायियों को और अंत में अन्य व्यक्तियों को।

इन दृष्टांतों में विनोद की भी कमी नहीं है। मज्झिम० सुत्त० 126 में कहा है : यदि एक व्यक्ति गढ्ढे को पानी और रेत से भर दे, वह कितना ही उसे रौंदे, बिलोए किन्तु तेल को प्राप्त नहीं कर सकता। सींग से पकड़ कर गाय को दुहने का कितना ही प्रयत्न करे किन्तु दूध नहीं मिलेगा, इत्यादि। इसी प्रकार यदि भिक्षु ठीक मार्ग पर नहीं चलता, तो कितना ही प्रयत्न करे लक्ष्य-प्राप्ति नहीं होगी।

कुछ दृष्टांतों के शब्द संभवतया बुद्ध तथा उनके शिष्यों के अपने प्रतीत होते हैं। इच्छाओं को दुःखों का मूल बताते हुए वे 'तृष्णा' शब्द का प्रयोग करते हैं जो एक जन्म से दूसरे जन्म में ले जाती रहती है। इसी का नाम संसार है जो कि एक समुद्र है। इसके पहले किनारे पर निर्वाण संकेत कर रहा है। तृष्णा और पाप, संसार की सारी हलचल एक प्रवाह है। जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार से बच जाता है। भले-बुरे कर्मों का परिणाम फल है। जब भी कर्मों की चर्चा आती है तो सदा बीज और उसके फल की उपमा वक्ता के मन में विद्यमान रहती है। जब बुद्ध उपदेश करते हैं तो उसे 'सिंहनाद' कहा जाता है, इत्यादि।

एक दृष्टांत जो निकायों से अन्यत्र भी मिलता है, नीचे लिखे अनुसार है :

"भिक्षुओ ! यदि कोई एक छेद वाले जूए को समुद्र में फेंक दे और पूर्व की हवा उसे पश्चिम की ओर धकेलती रहे, पश्चिम की हवा पूर्व की ओर धकेलती रहे, दक्षिण की हवा उत्तर की ओर धकेलती रहे, उत्तर की हवा दक्षिण की ओर धकेलती रहे। उधर एक आँखवाला कछुआ सौ वर्ष में एक बार ऊपर आता है। भिक्षुओ ! क्या यह संभव है कि वह एक आँखवाला कछुआ एक छिद्र वाले जुए में अपनी गर्दन डाल देगा।

बहुत लम्बे समय के बाद एक बार भी ऐसा होना अत्यन्त कठिन है।

भिक्षुओ ! एक आँख वाले कछुए के लिए एक छिद्र वाले जूए में गरदन डाल लेना सरल है, किन्तु जो मूर्ख एक बार नीच योनियों में पहुँच गया है इसके लिए मनुष्य रूप में जन्म लेना कठिन है, क्योंकि नीच योनियों में परस्पर वध होता रहता है और भला काम नहीं होता।"

सामाजिक इतिहास की दृष्टि से ये दृष्टांत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनसे प्राचीन भारतीयों के दैनिक जीवन का पता लगता है। शिल्पियों, किसानों तथा व्यापारियों के रहन-सहन का परिचय मिलता है। जिनके विषय में, वैदिक साहित्य के क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों तक सीमित होने के कारण, बहुत कम जानकारी मिलती है। हमें गाड़ी वालों, रथ हाँकने वालों, जुआरियों, तेलियों आदि के दृष्टांत मिलते हैं। मज्झिम०

(140) के दृष्टांत में सुनार का सारा काम बताया गया है। मज्झिम० (125) में हाथी पालने की सारी विधि तथा (110) में विषाक्त बाण से आहत व्यक्ति की चिकित्सा-विधि बताई गई है।

इन दृष्टांतों का वास्तविक युक्ति के रूप में विशेष महत्त्व नहीं है, फिर भी, सुत्तों में इन्हें बात सिद्ध करने के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। अन्य स्थानों में जहाँ कोई बात सिद्ध करनी है, पर्याय-शब्दों, सांप्रदायिक विषय-विभाजन तथा गणनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। ये बातें अंगुत्तर-निकाय की विशेषता है किन्तु अन्य निकायों में भी मिलती हैं।

जहाँ तक संवादों का प्रश्न है निकायों की तुलना प्लेटो के साथ नहीं की जा सकती। प्लेटो के संवादों में दोनों पक्ष परस्पर-विरोधी बातों को सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ देते हैं, किन्तु निकायों में बुद्ध या अन्य कोई एक व्यक्ति अपनी बात करता है और सुनने वाले उस का उत्तर 'हाँ' में देते रहते हैं। इन संवादों को 'इतिहास-संवाद' कहा जा सकता है जो उपनिषदों और महाभारत में मिलते हैं।

खुद्दक-निकाय

खुद्दक-निकाय का अर्थ है छोटे छोटे अंशों का संग्रह। यह सुत्त-निपात की पाँचवी निकाय मानी जाती है किन्तु बहुत बार इसे, अभिधम्मपिटक के साथ भी जोड़ा जाता है। इसे फुटकर संग्रह कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि इस संग्रह में छोटी-छोटी रचनाओं के अतिरिक्त कुछ बहुत बड़ी पुस्तकें भी सम्मिलित हैं। जो रचनाएं इस संग्रह में सम्मिलित की गई हैं, विषय तथा शैली की दृष्टि से वे विभिन्न प्रकार की हैं। एक सुत्त बार-बार आता है, उसमें बौद्ध धर्म पर आने वाले खतरों के विषय में भविष्य-वाणी है। उनमें एक खतरा यह बताया गया है कि तथागत ने जो गंभीर सूक्ष्म अर्थ वाले अलौकिक, शून्य से सम्बद्ध सुत्तन्त घोषित किए हैं भिक्षु उन्हें सुनना या सीखना पसन्द नहीं करेंगे। वे उन लौकिक सुत्तन्तों को सुनना पसन्द करेंगे जो बुद्ध के शिष्यों द्वारा घोषित किए गए हैं, कवियों द्वारा रचे गए हैं, कवितामय हैं, सुन्दर शब्दों तथा मधुर अक्षरों में रचे गए हैं।" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ में कविताओं को अच्छा नहीं माना जाता था, उन्हें आगमों में सम्मिलित करने का विरोध होता था। उत्तरकाल में उन सब को खुद्दक-निकाय में सम्मिलित किया गया। इस संग्रह के मुख्य भाग में सूक्तियाँ, गीत, कविताएं, लोकगाथाएँ आदि काव्यमय कृतियाँ हैं। संभवतया वह संग्रह उत्तरकाल में संपन्न हुआ है। कुछ काव्यातिरिक्त रचनाएँ भी, जिनकी मौलिकता के विषय में संदेह है, बाद में जोड़ दी गई होंगी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि संग्रह में जो रचनाएँ सम्मिलित की गई हैं वे अत्यन्त विभिन्न समयों की हैं औरवे किसी एक संग्रह में सम्मिलित करने की दृष्टि से नहीं लिखी गई। यद्यपि आगम-साहित्य में इस संग्रह का समय अर्वाचीनतम है, फिर भी, इसमें बहुत सी प्राचीनतम

कविताएँ हैं। इसमें विशेष रूप से बौद्ध साहित्य की वे रचनाएँ हैं जो भारतीय कविता की महत्त्वपूर्ण देन हैं। खुद्दक-निकाय के पाठों की चर्चा कालक्रम से नहीं किन्तु उसी क्रम से की जाएगी जो लंका की हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है।

1. **खुद्दक-पाठ** : इस संग्रह में सबसे पहले खुद्दकपाठ है। इस में नौ छोटे-छोटे पाठ हैं जो कि नवदीक्षित को सर्वप्रथम सिखाए जाते हैं। वे बौद्ध संप्रदाय में मंत्र या प्रार्थना रूप में पढ़े जाते हैं। यह निश्चय करना कठिन है कि यह संग्रह नवदीक्षितों के लिए पाठ्य-पुस्तक के उद्देश्य से या स्तुति के उद्देश्य से किया गया। प्रथम चार अंश अत्यंत संक्षिप्त हैं। प्रथम अंश में बौद्ध धर्म को अंगीकार करने का पाठ है। द्वितीय में भिक्षुओं के लिए विहित दस आदेश हैं। तीसरे में मानव-शरीर की घृणास्पदता तथा नश्वरता का ध्यान करने के लिए बत्तीस अंगों की सूची है। चतुर्थ अंश में नवदीक्षितों के दस प्रश्न हैं। इनमें एक क्या है दो क्या हैं, इत्यादि अंगुत्तर-निकाय के समान प्रश्न हैं और उनके उत्तर दिए गए हैं। इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। शेष पाँच अंश छोटे-छोटे सुत्त हैं। विषय, सूत्र-रूप तथा आवृत्तियों से प्रतीत होता है कि वे अनुष्ठान के उद्देश्य से बनाए गए हैं और उस उद्देश्य को वे पूरा करते रहते हैं। भारत में प्राचीन समय से मंगल-वस्तुओं का बड़ा महत्त्व है। यज्ञ, विवाह, जन्म या अन्य किसी प्रकार का अनुष्ठान हो, शुभ कामनाएँ, देवस्तुति, ब्राह्मण-भोजन, पुष्पहार, संगीत, वाद्य आदि मंगल अवश्य रहते थे। मंगल-सुत्त (सं० 5) में बुद्ध सर्वोत्तम मंगलों का वर्णन करते हैं:

माता-पिता का सम्मान, संतान और पत्नी का पालन-पोषण तथा शांतिपूर्ण धंधा, सर्वोत्तम मंगल है।

दान देना, धार्मिक जीवन, संबंधियों का पालन तथा अनिन्द्य कार्य करना सर्वोत्तम मंगल है।

पाप का विरोध तथा परिहार, मद्यपान का वर्जन, तथा धार्मिक कर्तव्यों में अप्रमाद, सर्वोत्तम मंगल है।

दूसरे सुत्तों में भी उच्च आचार को प्रकट किया गया है। रतन-सुत्त (सं०6) में भूतों, पृथ्वी तथा वायु के देवों एवं रत्नमय की पूजा बताई गई है। सातवाँ सुत्त प्रेत-पूजा से सम्बद्ध है। उसकी कुछ गाथाएँ लंका तथा स्याम में अब भी अंतिम संस्कार के समय पढ़ी जाती हैं। आठवाँ सुत्त बताता है कि बौद्ध-धर्मानुयायी को पुण्यकार्यों के रूप में गुप्त धन का संचय करना चाहिए। नवाँ मेत्त-सुत्त अत्यन्त उदात्त भावों को लिए हुए है। उसमें सभी प्राणियों के साथ मैत्री को सच्चा बुद्ध प्रतिपादित धर्म बताया गया है।

उपर्युक्त नौ सुत्तों में से सात अब भी बौद्धों द्वारा परित्ता अनुष्ठान में पढ़े जाते है। लंका के बौद्ध इसे पिरित कहते हैं। परित्ता का अर्थ है सुरक्षा या (हानिकर तत्त्वों को) दूर हटाना। पालि-त्रिपिटक में यह शब्द पिरित अर्थात् विघ्न-निवारक मंत्र या मंगल के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आजकल लंका में बुरे प्रभावों को दूर करने के लिए भिक्षु आगमों में तीस पाठों का उच्चारण करते हैं और उसे परित्ता

(सिंहली:पिरित) कहा जाता है। नये मकान का निर्माण, मृत्यु, रोग आदि सभी संभव अवसरों पर परित्ता का अनुष्ठान किया जाता है। यह संभव है कि वर्तमान परित्ता-अनुष्ठान के समान विभिन्न अवसरों पर पाठ करने के लिए खुद्दकपाठ का संकलन हुआ हो।

2. **धम्मपद** (धर्म के पद): यह बौद्ध साहित्य की प्रसिद्धतम और दीर्घतम कृति है। इसका यूरोप की भाषाओं में अनेक बार अनुवाद हो चुका है और बौद्ध ग्रंथ के रूप में इसका बहुत अधिक निर्देश होता है। नैतिक शिक्षाओं के कारण इसका बहुत अधिक आदर है। लंका में पिछली शताब्दियों से लेकर अब तक नवदीक्षित को उपसंपदा (बड़ी दीक्षा) लेने से पहले इसे सीखना पड़ता है। परिणामस्वरूप लंका में ऐसा एक भी भिक्षु नहीं मिलेगा जो धम्मपद को आद्योपांत कण्ठस्थ न सुना सके बौद्ध उपदेशक अपने उपदेशों में धम्मपद की गाथाओं को प्रायः उद्धृत करते हैं। यह बौद्ध धर्म के आचार से सम्बद्ध सूक्तियों का संग्रह है। इस में 423 गाथाएँ हैं। वे वग्गों (वर्गों) में विभक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में 10 से लेकर 20 तक गाथाएं है। वर्गों का विभाजन विषय की दृष्टि से है। उदाहरण के रूप में चौथा पुप्फवग्ग है। उसमें पुष्प की उपमा देकर आचार का वर्णन है। किसी-किसी वर्ग में प्रत्येक गाथा के अंत में वे ही शब्द आते हैं। वर्गो की व्यवस्था संभवतया संपादक की ओर से की गई है। कुछ उदाहरणों में कई गाथाएँ मिलने पर कविता बन गई है। इस प्रकार के 'नागवग्ग' की कुछ गाथाओं का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है :

जैसे हाथी युद्ध में बाणों को सहता है,
मैं भी मनुष्यों के वाग्वाणों को सहूँगा,
क्योंकि संसार पापमय है।'

× × ×

विनीत होने पर वह युद्ध में आता है,
विनीत होने पर राजा की सवारी बनता है,
जिसे कटुवचन विचलित नहीं करते
वही विनीत है और सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है।
सुविनीत घोड़ा उत्तम है, अच्छे वंश के सैन्धव घोड़े उत्तम हैं,
शक्तिशाली दन्ती उत्तम है, आत्मा को दमन करने वाला मनुष्य
सर्वोत्तम है।

× × ×

क्या तुम्हें सच्चा, दृढ़ और बुद्धिमान् साथी मिल गया है ?
अपनी सब चिंताओं को छोड़कर उस के साथ चल पड़ो।

× × ×

यदि तुम्हें सच्चा, दृढ़ और बुद्धिमान् साथी नहीं मिला,
जैसे राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त प्रदेशों को छोड़ देता है,
उसी प्रकार उसे छोड़कर,
वन में हाथी के समान
एकान्त में एकाकी
अपने मार्ग पर चलते रहो।

× × ×

मूर्ख को साथी बनाने की अपेक्षा
एकाकी जीवन अच्छा है,
एकाकी निष्पाप होकर रहो,
एकाकी अत्यल्प आवश्यकताओं के साथ रहो
एकाकी, जैसे वन में गजराजए काकी रहता है।

युग्म (दो एक साथ मिलकर पूरे अर्थ के प्रकट करने वाली) गाथाएँ भी बहुत अधिक हैं। उदाहरण (गाथा 141) :

न नग्नता, न जटाएँ, न कीचड़
न लम्बे उपवास, न भू-शय्या
न धूल और मैल, न कठोर आसन
तृष्णा से अभिभूत नर को शुद्ध कर सकते हैं।

जो व्यक्ति, शान्त, दान्त, संयमी तथा ब्रह्मचारी है, समस्त प्राणियों की हिंसा से व्यावृत्त है, वह चाहे अलंकृत होकर घूमता रहे, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।

बौद्धों की प्रसिद्धतम सूक्तियों में से बहुत सी धम्मपद में हैं। बुद्ध ने बोधि प्राप्त करने के पश्चात् नीचे लिखी सूक्ति कही थी :

इस गृह को बनाने वाले की खोज में
मैं अनेक जन्मों के चक्र में फँसा रहा
किंतु गृह का निर्माता नहीं मिला,
बार बार जन्म लेना अत्यन्त दुःखद था।
किंतु हे गृह-निर्माता ! मैंने तुझे देख लिया है,
अब तुम मेरे लिए घर नहीं बना सकोगे,
तुम्हारी सभी कड़ियाँ टूट गई हैं,
तुम्हारा शहतीर टुकड़े-टुकड़े हो गया है;
चित्त निर्वाण में लीन हो गया है।
और तृष्णा का क्षय कर चुका है।

यहाँ तृष्णा (सांसारिक अभिलाषाओं) की उपमा गृह-निर्माता से दी है। वही बार-बार नए घर को अर्थात् नए जन्म में नए शरीर को बनाती है। इस प्रकार के सरल किन्तु प्रभावोत्पादक रूपक और उपमाएँ सूक्तियों में बार-बार आये है। मुनि की मानसिक शांति की उपमा दर्पण से निर्मल गंभीर ह्रद से या दृढ़ चट्टान से दी गई है (गा०81), जिस प्रकार चम्मच को सूप का कोई स्वाद नहीं मिलता इसी प्रकार मूर्ख सन्तों के सत्संग से कोई लाभ नहीं उठाता। जिस प्रकार जीभ ही सूप के स्वाद को जानती है इसी प्रकार सज्जन ही सत्संग से लाभ उठाता है (गा०65)। जो व्यक्ति पापी मन से कुछ बोलता है या करता है उसके पीछे दुःख लगा रहता है जैसे गाड़ी खींचने वाले बैल के पीछे-पीछे पहिया लगा रहता है। जो शुद्ध मन से बोलता या करता है उसके पीछे-पीछे सुख चलता है जैसे व्यक्ति के पीछे छाया चलती है (गा०1-2)।

जिस प्रकार दूध शीघ्र ही अपने स्वभाव को छोड़ देता है, बुरा कर्म इस प्रकार नहीं छोड़ता और अन्दर ही अन्दर पकता रहता है। भस्म से ढकी हुई आग के समान वह मूर्ख को जला ही डालता है (71).

हमे इस प्रकार की कल्पनाएँ बड़ी संख्या में मिलती हैं और प्रायः युग्म के रूप में हैं। शब्दालंकारों वाली गाथाएँ अपेक्षाकृत विस्तृत हैं (344).

धम्मपद की आधी से अधिक गाथाएं दूसरे आगमों में मिलती है और इसमें संदेह नहीं है कि संग्राहक ने उनका तत्-तत् स्थानों से संग्रह किया है। संग्रह में कुछ सूक्तियाँ ऐसी भी हैं जो मूलतः बौद्ध साहित्य की नहीं है। वे प्रतिभापूर्ण भारतीय सूक्ति के साहित्य के अटूट भंडार से ली गई है। उसी भंडार से मनुस्मृति, महाभारत, जैन साहित्य एवं पंचतंत्र आदि की सूक्तियाँ भी ली गई हैं। यह पता लगाना कठिन है कि इनका आदि स्रोत कहाँ है।

धम्मपद केवल गाथाओं का संग्रह है। कालांतर में व्याख्या के रूप में उसके साथ कथानक भी जोड़ दिए गए जिन्हें आगम में सम्मिलित नहीं किया जाता। वे इस बात को प्रकट करते हैं कि कौन-सी गाथा किस अवसर पर कही गई।

3. **उदान** : इसमें सारगर्भित सूक्तियाँ हैं। वे गाथा और कथानक दोनों रूपों में हैं। उदान आठ वर्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में दस सुत्त हैं। ये सुत्त बुद्धकालीन घटनाओं के संक्षिप्त विवरण हैं। प्रत्येक के अन्त में सारगभित टिप्पण है जो बुद्ध द्वारा घटना से प्रेरित होकर कहे गए। 'उदान' का शब्दार्थ है निःश्वास या उद्गार। अर्थात् घटना सुनने के बाद बुद्ध के मुख से वे अपने आप निकल पड़े। ये उदान सामान्य रूप से श्लोक, त्रिष्टुप् या जगती छन्द में हैं। कहीं-कहीं गद्य-सूक्ति इन शब्दों में है : जब भगवान् को इस बात का पता चला तो उन्होंने उस अवसर पर नीचे लिखी सारगर्भित सूक्ति कही।" इस प्रकार के वाक्य प्रायः बौद्ध धर्म में प्रतिपादित जीवन के आदर्श को, अर्हत् की आनन्द से परिपूर्ण मानसिक शांति, भौतिक बातों से परे अनन्त निर्वाण-सुख की प्रशंसा के लिए हैं।

उदान नामक ग्रंथ में उन्हीं सूक्तियों का चुनाव किया गया है जो स्वयं बुद्ध द्वारा कथित मानी गई हैं। त्रिपिटक में अन्यत्र भी इस प्रकार की सूक्तियाँ मिलती हैं और उन्हें उदान कहा जाता है किन्तु वे सभी बुद्ध-कथित नहीं मानी जातीं। वे किसी राजा, देवता या अन्य व्यक्ति द्वारा कहीं गई हैं। सुत्त तथा उदानों की बड़ी संख्या उदान (ग्रंथ) तथा अन्य संग्रहों में समान है। इसमें कुछ मुत्त बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध हैं। वे विनयपिटिक तथा महापरिनिब्बान-सुत्त के जीवनी-सम्बन्धी अंश से मिलते हैं। संभवतया वे उन संग्रहों से नहीं लिए गए किन्तु किसी प्राचीन परम्परा पर आधारित हैं।

वह निर्णय करना कठिन है कि उदान में संगृहीत सभी सूक्तियाँ वास्तव में भगवान् बुद्ध द्वारा कही गई हैं। किन्तु यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि ये सुन्दर और सारगर्भित सूक्तियाँ निश्चित रूप से प्राचीन हैं तथा बहुत सी स्वयं भगवान् बुद्ध या उनके साक्षात् शिष्यों के शब्द हैं। इसमें भी संदेह नहीं है कि सूक्तियाँ, उनके साथ जोड़े गए कथानकों की अपेक्षा प्राचीन हैं। हो सकता है उनमें से कुछ, सूक्ति के साथ ही, प्राचीन समय से चले आ रहे हों अधिक-संख्याक संपादक द्वारा बाद में जोड़े गए हैं। यही कारण है कि बहुत से सुत्तों के साथ अत्यन्त साधारण या भद्दी कहानियाँ है। सूक्तियों में जो गंभीरता है उसके सर्वथा अनुपयुक्त हैं। उदाहरण के रूप में सूक्ति (3.7) में यह कहा गया है कि अर्हन्तों से, जो तृष्णा से मुक्त हैं, देव भी ईर्ष्या करते है। इसका उदाहरण देने के लिए शक्र तथा अन्य देवों को अर्हत् महाकश्यप की ईर्ष्या करते हुए बताया गया है। एक अन्य सूक्ति (6.9) में जो लोग सांसारिक झंझटों में फँसे हुए हैं और आवश्यक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान नहीं देते, उनकी तुलना पतंगों से की है। उससे सम्बद्ध कथा है: "एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में आए और उन्होंने अनेक पतंगों को जलते हुए दीए में गिर कर भस्म होते देखा।" एक बार बुद्ध ने दूसरे भिक्षु को पढ़ाते हुए सारिपुत्त को देखा। इस पर बुद्ध भगवान् ने नीचे लिखी सूक्ति कही:

चक्र टूट गया है, क्योंकि वह तृष्णा से मुक्त हो गया,
नदी सूख गई है, अब नहीं वह सकती।
टूटा पहिया चल नहीं सकता,
दुखों का अंत प्राप्त हो गया है।

आठवें वर्ग में निर्वाण के अर्थ को लेकर सूक्तियाँ है, इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु प्रथम चार सूक्तियों के उदाहरण में एक संक्षिप्त सारहीन कहानी दी है। आठवें वर्ग के दसवें सुत्त में नवें सुत्त की कहानी दोहराई गई है। एक भिक्षु पूर्णतया निर्वाण प्राप्त कर लेता है और हवा में उड़ने लगता है। वहाँ वह पूरी तरह जल जाता है, धूआं और राख भी बाकी नहीं बचते। नीचे लिखी उदात्त एवं सार-गर्भित सूक्ति के लिए उपर्युक्त कथा निरा बचपन सी प्रतीत होती है:

जैसे भट्टी के जलते हुए स्फुलिंग
एक एक करके बुझ जाते हैं,
कोई नहीं जानता वे किधर चले गए,
यही बात उनके लिए है जिन्होंने,
पूर्ण निर्वाण को प्राप्त कर लिया है,
जो तृष्णा के प्रवाह को पार कर गए हैं,
जो निर्वाण के परम-सुख पर पहुँच गए हैं,
उनका कोई चिह्न अवशेष नहीं रहता।

कुछ उदाहरणों में सूक्तियों के साथ जोड़ी गई कथा का संबंध अत्यल्प है। कुछ सुत्त ऐसे भी हैं जिन में सूक्ति की अपेक्षा कथा अधिक रोचक एवं सारगर्भित है। तृतीय वर्ग के द्वितीय सुत्त में बुद्ध सौतेले के अनुज नन्द की कथा है। भिक्षु हो जाने पर भी वह अपनी पत्नी के ध्यान में लगा रहता है। भगवान् उसे स्वर्ग में ले जाते हैं जहाँ वह अप्सराओं को देखता है। उसे प्रतीत होता है कि इन अप्सराओं की तुलना में उस की पत्नी अभागी बन्दरिया के समान है। तब नन्द उन अप्सराओं को प्राप्त करने के लिए व्रतों की पालन करने लगता है। अंत में बुद्ध उसे ठीक रास्ते पर ले आते हैं। द्वितीय वर्ग के आठवें सुत्त की कथा रोचक है। उससे पता चलता है कि उस प्राचीन युग में भी बुद्ध के प्रति भक्ति को चमत्कारपूर्ण शक्तियों का कारण माना जाता था। षष्ठ वर्ग के चतुर्थ सुत्त में हाथी और अंधों की कथा है जो सर्वविदित है :

कुछ श्रमण और ब्राह्मण इकट्ठे हुए और आपस में झगड़ने लगे। एक ने कहा, संसार नित्य है। दूसरे ने कहा, "संसार नित्य नहीं है।" कुछ ने कहा, "संसार शान्त हैं", दूसरों ने कहा, "संसार अनन्त है।" कुछ बोले, "शरीर और आत्मा भिन्न हैं।" दूसरे बोले, "शरीर और आत्मा एक है।" कुछ ने कहा, "मनुष्य मृत्यु के बाद रहता हैं", दूसरों ने कहा, "मनुष्य मृत्यु के पश्चात् नहीं रहता।" इत्यादि। अपनी-अपनी मान्यताओं के लिए झगड़ने लगे, कठोर और अपमानजनक शब्द कहने लगे। भिक्षुओं ने बुद्ध से इस झगड़े के विषय में कहा। बुद्ध ने उस पर नीचे लिखा दृष्टांत सुनाया :

एक राजा था। उस ने सभी जन्मांधों को इकट्ठा किया। जब वे इकट्ठे हो गए तो राजा ने आज्ञा दी कि इन्हें एक हाथी दिखाया जाए। हाथी लाया गया। सभी उस के विभिन्न अंगों को छूने लगे। किसी ने उस का सिर पकड़ लिया, किसी ने कान, किसी ने दाँत, किसी ने सूँड अंत में एक ने पूँछ पकड़ ली। तब राजा ने उन से पूछा, हाथी कैसा होता है ? जिन्होंने सिर पकड़ा था कहने लगे, हाथी मटके सरीखा होता है। जिन्होंने कान पकड़ा था कहने लगे, हाथी छाज सरीखा होता है। जिन्होंने दाँत पकड़ा था कहने लगे, हाथी हल की कील के समान होता है। जिन्होंने सुंड पकड़ी थी कहने लगे, हाथी हल के लट्ठे सरीखा होता है, इत्यादि। जिन्होंने पूँछ पकड़ी थी कहने लगे, हाथी झाड़ू के समान होता है। बड़ा शोर मच गया। प्रत्येक अंधा कह रहा था, हाथी ऐसा

ही होता है, दूसरी प्रकार का नहीं होता। अंत में वे घूसों पर उतर आए। राजा उसे देखकर मन-ही-मन हँसने लगा।

"इसी प्रकार," बुद्ध ने उपसंहार करते हुए कहा श्रमण और ब्राह्मण भी परस्पर झगड़ते हैं। उन में से प्रत्येक के पास सत्य का एक अंश है। उसे वे समझते हैं, यही सत्य है, दूसरा सत्य नहीं है। सत्य ऐसा है, ऐसा नहीं है।

4. इतिवुत्तक : उदान के बड़े भाग के समान इतिवुत्तक भी गद्य एवं पद्य दोनों का मिश्रण है। किंतु यहाँ दोनों का संबंध दूसरे प्रकार का है। गद्य परिचयात्मक नहीं है किंतु वही विचार अंशतः गद्य तथा अंशतः पद्य रूप में प्रकट किया गया है। इस संग्रह में 112 सुत्त हैं। उनमें से 50 ऐसे हैं जिनमें एक ही विचार पहले गद्य में प्रकट किया गया है और फिर उसी की पद्य में आवृत्ति की गई है। केवल छंद के अनुरोध से सूक्ष्म परिवर्तन किया गया है। कई जगह एक ही गाथा का भाव गद्य में दिया गया है, उसके पश्चात् फिर अनेक गाथाएं हैं और उनके भाव को प्रकट करने वाला गद्य नहीं है। ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जहां गद्य और पद्य एक दूसरे के पूरक हैं। कहीं गद्य, पद्य में प्रकट किए गए विचारों की प्रस्तावना-मात्र हैं, और कहीं एक ही विषय का एक दृष्टिकोण गद्य में दिया गया है और दूसरा पद्य में। सभी जगह गद्य और पद्य दोनों की अन्तरात्मा वही है। बहुत जगह वही भाव गद्य में अधिक स्पष्ट, अधिक सूक्ष्म तथा सुंदर रूप में प्रकट किया गया है। यहाँ भी सूत्र-सदृश वाक्यों तथा पुनरावृत्तियों की कमी नहीं है किंतु इसमें शब्दाडम्बर की अधिकता नहीं है। प्रायः सभी पाठ छोटे हैं। गद्य तथा पद्य दोनों की भाषा सरल एवं स्वाभाविक है, अनावश्यक रूप से आलंकारिक नहीं है। उपमाएं तो कम हैं, पर रूपक यत्र-तत्र विद्यमान हैं। भिक्षुओं को उदारतापूर्वक दान देने वाले दाता की तुलना बादलों से की है जो पहाड़ और घाटियों में सर्वत्र बरसता है (सं० 72), सन्त को कुसंग छोड़ देना चाहिए जैसे बढ़िया तरकश भी विषाक्त बाण से खराब हो जाता है (सं० 77)। इंद्रियाँ द्वार हैं, जिन पर पूरी रक्षा करनी चाहिए (सं० 28 तथा 29)। बुद्ध अपनी तुलना अनुपम वैद्य या शल्यचिकित्सक से करते हैं और भिक्षुओं को अपनी संतान एवं उत्तराधिकारी बताते हैं (सं० 100)। सं० 27 में गद्य की भाषा अत्यंत समुन्नत है। उस में सभी प्राणियों के प्रति मित्रता प्रकट की गई है:

भिक्षुओ! नए जन्म की पूंजी बनने वाले पुण्य के सभी कार्य मित्रता के सोलहवें अंश जितने भी नहीं हैं। यह मानसिक मुक्ति है। मित्रता आनन्द का प्रसार करती है; स्वयं प्रकाश-रूप है और दूसरों को प्रकाशित करती है। इन सबसे बढ़ कर वह मानसिक मुक्ति है। भिक्षुओ! जिस प्रकार नक्षत्रों का समस्त प्रकाश चन्द्र के प्रकाश का सोलहवां अंश भी नहीं है, क्योंकि चन्द्र का प्रकाश उन सबसे अधिक किरणों वाला है, स्वयं चमकता है तथा दूसरों को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार भिक्षुओ! दूसरे जन्म का आधार बनने वाले सभी पुण्यकार्य मित्रता का सोलहवां अंश भी नहीं है! यह मन को मुक्ति प्रदान करती है। क्योंकि मित्रता आनन्द का विकिरण करती है, स्वयं चमकती है और दूसरों को प्रकाशित करती है। भिक्षुओ! जैसे वर्षा ऋतु के अंत में

शरद् ऋतु आने पर आकाश स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है, सूर्य आकाश में उदित होता है और अंधकार को दूर करके किरणों को फैलाता है, चमकता है और दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार भिक्षुओ ! मित्रता मानसिक मुक्ति है। और भिक्षुओ ! प्रभात काल में जब रात बीत जाती है, प्रातःकाल का नक्षत्र किरणें फैलाता है, चमकता है, प्रकाशित करता है, उसी प्रकार भिक्षुओ ! मित्रता······मानसिक मुक्ति है।

कई जगह गद्य में वैयक्तिक बातें भी हैं जो पद्य में नहीं मिलतीं। सुत्त 30 में बुद्ध कहते हैं : "मुझे दो बातें कष्ट देती हैआदमी का भलाई न करना और बुराई करना।" दो बातें उन्हे आनन्द देती है, "आदमी का बुराई न करना और भलाई करना।" किंतु पद्य में कहा गया है, कि जो मनुष्य क्रिया, भाषण अथवा विचारों मे बुराई करता है वह मरने के बाद नरक में जाता है। इस के विपरीत धर्मात्मा, जो क्रिया, भाषण और विचार में भलाई करता है वह मरने के बाद स्वर्ग में जाता है। सं० 92 के गद्य में बड़े सुंदर शब्दों में कहा गया है, यदि एक भिक्षु मेरे चीवर का कोना पकड़ लेता है और प्रत्येक कदम पर पीछे-पीछे चलता है किंतु लोभी, कामी तथा ईर्ष्यालु है तो वह मुझ से बहुत दूर है। इसके विपरीत यदि कोई भिक्षु मुझ से सौ कोस दूर रहता है किंतु लोभी, कामी तथा ईर्ष्यालु नहीं है तो वह मेरे समीप है और मैं उसके समीप हूँ। उसके पश्चात् दुर्बल एवं साधारण कोटि की गाथाएँ हैं जिन में कहा है, लोभी, पापी तथा ईर्ष्यालु मनुष्य सन्त पुरुष से, जिसने शांति प्राप्त कर ली है, बहुत दूर है। इसके विपरीत भला, शांत तथा निःस्वार्थ मनुष्य सज्जन, शांत तथा निःस्वार्थ पुरुष के बहुत समीप है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे टीकाकार ने गद्य और पद्य के पाठों को मिला दिया है। वास्तव में देखा जाए तो उन में 'समीप' और 'दूर' शब्दों के अतिरिक्त कोई साम्य नहीं है।

ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं जिनमें गद्य स्वतंत्र सुत्त है और उनका अनुसरण करने वाली गाथाओं का गद्य के साथ दूर संबंध है; कभी-कभी केवल शब्द साम्य के आधार पर। ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें गद्य और पद्य का परस्पर कोई संबंध नहीं है यहाँ तक कि परस्पर-विरोधी है। संभवतया ऐसे उदाहरणों में कुछ अंश बाद में जोड़ दिया गया है। किसी भाव को पहले गद्य में प्रकट करना, पश्चात् उसे पद्य का रूप देना, अथवा किसी सिद्धांत का प्रतिपादन गद्य में प्रारम्भ करना और उसे पद्य में पूण करना प्राचीन बौद्ध साहित्य की शैली प्रतीत होती है। जब इस प्रकार के पाठों का इतिवुत्तक में संग्रह किया गया तो अन्य ग्रंथों से लिए गए गद्य और पद्यों को भी उसी शैली में संपादित करके मूल संग्रह के साथ जोड़ दिया गया। संभवतया यह कार्य प्रथम संकलन में ही हो गया था। हुएन त्सांग ने इतिवुत्तक का चीनी भाषा में जो अनुवाद किया है उसमें संग्रह के अंतिम अंश नहीं हैं। इन अंतिम अंशों में से कुछ अंगुत्तर-निकाय में मिलते हैं। संभवतया वहीं से लिए गए हैं। इसके अतिरिक्त जब हम गद्यमिश्रित पद्यों की पुनरावृत्ति पर विचार करते हैं तो यह निस्संदेह सिद्ध हो जाता है कि इस छोटे से संग्रह में भी प्राचीन और अर्वाचीन सामग्री मिली हुई है। कुछ ऐसे भी प्रक्षिप्त अंश हैं जिनमें गद्य, पद्य पर टीका के समान प्रतीत होता है। प्राचीन तथा मौलिक भाग में

गद्य, पद्य की अपेक्षा महत्त्व का प्राचीनता किसी दृष्टि में कम नहीं है। प्रक्षिप्त अंशों में यह भी संभव है कि प्राचीन गद्य के साथ उत्तरकालीन पद्य जोड़ दिए गए हों।

5. सुत्त-निकाय

ऊपर बताया गया है कि खुद्दक-निकाय की सभी पुस्तकों में बौद्ध कविता के प्राचीनतम अंश मिलते हैं किन्तु सुत्तनिपात में वे निश्चित रूप से विद्यमान हैं। यद्यपि सारे संग्रह को प्राचीनतम कविता के रूप में नहीं कहा जा सकता किन्तु इसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश यह दावा कर सकते हैं। सुत्तनिपात कवितामय सुत्तों अर्थात् उपदेशों का संग्रह है। इस में पाँच वग्ग हैं। प्रथम चार: उरग-वग्ग, चूल-वग्ग, महावग्ग और अट्ठक-वग्ग में 54 लघु कविताएँ हैं, इनमें 16 भाग हैं। अट्ठकवग्ग और पारायन का पालि आगमों तथा संस्कृत-ग्रंथों में नाम भी आता है और उनमें से उद्धरण भी आते हैं। इन दो वग्गों पर प्राचीन टीका भी है जो खुद्दक-निकाय की द्वितीय पुस्तक में आगम के रूप में संगृहीत है। उसे निद्देस कहा गया है। पाँचों वग्गों में से फुटकर सुत्त तथा अनेक गाथाएँ आगमिक साहित्य में अन्यत्र भी मिलती हैं। अशोक ने भब्रू के शिला-लेख में जिन ग्रंथों के पढ़ने की सिफ़ारिश की है उनमें से तीन संभवतया सुत्त-निपात के हैं। विषय तथा भाषा दोनों आधारों से यही समर्थन होता है कि कुछ सुत्त बौद्ध धर्म के आदिकाल से सम्बद्ध हैं, और बहुत से बुद्ध की प्रथम शिष्य-मंडली में निर्वाण के कुछ ही दिनों बाद रचे गए।

बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धांतों को जानने की दृष्टि से भी इस संग्रह का उतना ही महत्त्व है जितना प्राचीनता की दृष्टि से। बौद्ध साहित्य में उद्धरणों की दृष्टि से सुत्त-निपात का धम्मपद के बाद नम्बर है। काव्य की दृष्टि से भी इसके सुत्तों को उच्च कोटि का माना जाता है।

किसी समुच्चय में गाथाओं की संख्या अल्प है और किसी में बड़ी। अंत में एक कविता है जिसमें वही भाव हैं और प्रायः वही तुक है जो गाथाओं में है। बीच-बीच में पद्यों वाले गद्यात्मक उपदेशों तथा गद्यों वाले पद्यात्मक उपदेशों के साथ-साथ शुद्ध संवादों, आख्यानों तथा वीर-काव्य की शैलियाँ भी मिलती हैं, जिनमें संवाद-गाथाएँ तथा कथानक-गाथाएँ परस्पर मिली हुई हैं। ऐसे आख्यान भी हैं जिनमें गद्य और पद्य मिले हुए हैं। वे सभी रूप मिलते हैं जो प्राचीन संस्कृत महाकाव्यों में विद्यमान हैं और भारतीय काव्य-साहित्य की अपनी विशेषता हैं। कहीं-कहीं वैदिक भावों के भी निर्देश या उद्धरण मिलते हैं। ब्राह्मण धम्मिक सुत्त (2.7) किसी पुराण में भी ठीक बैठ सकता है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार प्राचीन समय के ऋषि सच्चे ब्राह्मण थे और किस प्रकार संयमी जीवन व्यतीत करते थे, किस प्रकार वे राजाओं की संपत्ति और विलासी जीवन की ओर आकृष्ट हो गए, किस प्रकार वे उन सुखों के लिए प्रयत्न करने लगे, राजा इक्ष्वाकु ने उन्हें धन और सुन्दरियाँ भेंट कीं, किस प्रकार वे हिंसक यज्ञों की ओर झुके, जिनमें निर्दोष गाय भी मारी जाने लगी। इसका

परिणाम हुआ वर्ण सांकर्य और आचारहीनता। बौद्ध धर्म ने पुनः सच्चे ब्राह्मण धर्म की स्थापना की।

सेख-सुत्त (3,7) में ब्राह्मण शैल के भिक्षु बनने की कथा है। उसके बहुत से पाठ भगवद्गीता और अणुगीता से मिलते हैं। कई पद्यों में बताया गया है कि जो भिक्खु अपने व्रतों में दृढ़ है वही सच्चा मुनि है। वसेत्थ सुत्त (3.9) में महाभारत के प्राचीन भाग में प्रतिपादित किया है कि ब्राह्मण सदाचार से होता है जन्म से नहीं। अन्य पद्यों में जीवन के वैदिक तथा बौद्ध आदर्शों की परस्पर तुलना है और बौद्ध आदर्शों को ऊँचा बताया है। आमगंध-सुत्त (2.2) में एक ब्राह्मण को, जो भोजन-संबंधी नियमों को सर्वोत्तम आचार मानता है और निषिद्ध मांस-भक्षण को अत्यन्त अपवित्र कार्य मानता है, बुद्ध कहते हैं, वास्तविक अपवित्रता मांस-भक्षण में नहीं है किन्तु :

प्राणियों को कष्ट देना, हत्या, वध-भीति उत्पन्न करना,
चोरी, झूठ और धोखा, पड़ोसी की पत्नी के साथ व्यभिचार—
ये सब अपवित्र है, मांस-भक्षण अपवित्र नहीं है।
क्रूरता, कठोरता, किसी पर झूठा दोष लगाना, विश्वासघात करना,
निर्दयता, अभिमान और लोभ, अनुदारता—
ये सब अपवित्र हैं, मांस-भक्षण नहीं है।

कसि-भारद्वाज सुत्त (1.4) हमें बौद्ध धर्म के प्राचीन काल में ले जाता है, जिस समय किसान, चरवाहे आदि श्रमिक भिक्षु को आलसी के रूप में देखते थे। इस सुत्त में एक ब्राह्मण किसान भरद्वाज माँगते हुए बुद्ध को घृणापूर्ण दृष्टि से देखता है और अपमानित करके निकाल देता है। उनसे कहता है कि जो आदमी काम नहीं करता उसे खाने को नहीं मिलेगा। इस पर बुद्ध ने कहा कि मैं भी काम करता हूँ और किस प्रकार मैं भी हल चलाता हूँ। धनिय-सुत्त(1.2) भी सुन्दरतम कविताओं में से है। इसमें एक धनिक की, जो अपनी संपत्ति तथा सुखी गार्हस्थ्य पर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है, बुद्ध के शांति-सुख से तुलना की गई है, जिसके पास न संपत्ति है न घर, किंतु जो सांसारिक बंधनों से मुक्त है। एक संवाद में धनिक और बुद्ध प्रत्येक बारी-बारी से गाथा का उच्चारण करते हैं, जिसके अंत में आता है, "ओ आकाश! यदि तुम्हें बरसना है तो बरसो।"

ये कवि एक ही प्राचीन गीत को गाने के नए-नए प्रकार निकालते रहे हैं। एक भिक्षु ही, जो संसार से दूर है, जो पत्नी, संतान तथा सांसारिक सुख-दुखों के विषय में न कुछ जानता है, न जानना चाहता है, वही वास्तव में सुखी है। धनिय-सुत्त में जो बात संवाद के रूप में कही गई है वही खग्गविसान-सुत्त (1.3) की 41 गाथाओं में कही गई है। प्रत्येक गाथा के अंत में आता है :

"हम खड्ग के समान अकेले विचरण करेंगे।" यहाँ वह अत्यंत भावुकता-पूर्ण तथा हृदय-स्पर्शी है। जो व्यक्ति जीवन के प्रति भिक्षुओं से दृष्टिकोण से सर्वथा अपरिचित है उसे भी वे द्रवित किए बिना नहीं रह सकतीं।

संवाद-शैली को कभी-कभी वेद तथा महाकाव्यों के समान पहेलियों से मिला दिया गया है जैसा कि आलवक-सुत्त (1.10) तथा सूचिलोम-सुत (2.5) में किया गया है। महाभारत के समान यहाँ भी प्रश्न करने वाला यक्ष है और भिक्षु बौद्ध धर्म के आचार-सिद्धांतों के रूप में उत्तर देता है।

सुत्तनिपात में चर्चा-संवादों के अतिरिक्त आख्यान-संवाद भी हैं। उनमें से तीन नालक-सुत्त (3.2) पब्बज्जा-सुत्त (3.1) तथा पधान-सुत्त (3.2) विशेष महत्त्व के हैं। वे प्राचीन वीरगाथा के बहुमूल्य अवशेष हैं। जिस प्रकार लौकिक वीर-गाथाओं तथा आख्यानों से वीर-काव्यों का जन्म हुआ उसी प्रकार उपर्युक्त सुत्तों से वुद्ध के जीवन-विषयक काव्य की सृष्टि हुई। इन गाथाओं की मुख्य विशेषता उनकी वार्तालाप-शैली है। सारे कथानक को श्रोता को बुद्धिगम्य करने के लिए संवाद अपने आप में पर्याप्त हैं। जहाँ ऐसा संभव नहीं है वहाँ संक्षिप्त गद्य सूत्र, संक्षिप्त प्रस्तावना तथा कुछ संक्षिप्त गद्य-वाक्य जोड़ दिए गए हैं। वार्तालाप के पद्यों में आख्यानक-पद्यों का सम्मिश्रण इस ओर अगला कदम है। प्राचीन भारतीय आख्यानों में यह रूप मिलता है। संभवतया सुत्त-निपात की उपर्युक्त तीन वीरगाथाओं में, जिनमें बुद्ध के प्रारंभिक जीवन की घटनाएँ वर्णित हैं, यह विकास महाकाव्य का प्रारंभिक रूप है। उत्तर कालीन बुद्ध-कथा की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ इनमें निष्पन्न हो चुकी हैं। नालक-सुत्त में बुद्ध-जन्म के बाद की घटनाओं का वर्णन है।

स्वर्ग में देवता खुशियाँ मना रहे हैं। देवर्षि असित उनकी हर्ष-ध्वनियों को सुनते हैं और अपने प्रश्न के उत्तर में सुनते हैं: शाक्यों के नगर लुम्बिनीग्राम में जगत् के कल्याण के लिए बुद्ध का जन्म हुआ। तब देवर्षि स्वर्ग से शुद्धोधन के प्रासाद में उतरते हैं और नवजात शिशु को देखना चाहते हैं। बालक अग्नि के समान, प्रदीप्त नक्षत्र के समान, निर्मेघ आकाश में शरद् ऋतु के सूर्य के समान भास्वर था। देवगण उसे पंखा कर रहे थे। देवर्षि ने बालक को अपनी गोद में से ले लिया और हर्षित होकर कहा, "यह अनुपम है, मनुष्यों में श्रेष्ठतम है।" उसी समय जब उन्हें अपना अंत ध्यान में आया तो रो पड़े। शाक्य घबरा गए और पूछने लगे कि क्या बालक के साथ किसी अशुभ की संभावना है? ऋषि ने उन्हें आश्वासन दिया और कहा कि बालक ज्ञान के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचेगा। किंतु मुझे दुःख है, कि मैं भगवान् के उपदेश सुनने के लिए जीवित न रह सकूंगा। प्रस्थान करते समय उन्होंने अपने भतीजे नालक से कहा :

"आह्वान होते ही तुम बुद्ध के अनुयायी बन जाना।"

द्वितीय पब्बज्जा-सुत्त में बुद्ध के गृह-परित्याग का वर्णन है। भिक्षु के रूप में घूमते हुए उनकी राजगह के राजा से मुलाकात भी इसी में वर्णित है।

तृतीय पधान-सुत्त उसके बाद की एक घटना का वर्णन करता है। मार सात वर्ष तक बुद्ध का पीछा करता है और उन्हें ज्ञान-मार्ग से विचलित करना चाहता है।

अंत में वह फिर एक बार युद्ध करता है और बुद्ध को सांसारिक जीवन की ओर खींचना चाहता है किंतु वह बुरी तरह पराजित होता है। यद्यपि ये आख्यान कहानी की उड़ान और पौराणिक वर्णनों से भरे हुए हैं तो भी बुद्ध के उत्तरकालीन जीवन-चरित्रों की तुलना में सरल एवं संयत कहे जा सकते हैं।

फिर भी यह निश्चित है कि वे सुत्त-निपात में जिस रूप में हैं बौद्ध-परंपरा के प्राचीन युग को प्रकट नहीं करते। उनसे बुद्ध-कथा का पूर्व अस्तित्व प्रकट होता है। सुत्त-निपात के नवीनतम भागों में पद्य-सदर्भ में यत्र-तत्र गद्य-आख्यान भी सन्निहित हैं जिनमें प्राचीनता की छाया मिलती है। किंतु फॉस बाल का मत है कि सभी गद्यांश उत्तरकालीन संवर्द्धन हैं। यह मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती। के० ई० न्यूमेन ने अपने अनुवाद में कुछ गद्य छोड़ दिए हैं और उन्हें ब्राह्मणों द्वारा किया गया निःसार प्रपंच बताया है। उनकी मान्यता सत्य से बहुत दूर नहीं है। उदाहरणार्थ अनावश्यक तथा असंगत रूप में, केवल संवाद को प्रस्तुत करने के लिए, यक्ष या देवता का आगमन। हम ऐसे गद्यों को वास्तव में प्रपंच मान सकते हैं। उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि सुत्तनिपात भी प्राचीन तथा अर्वाचीन अंशों का मिश्रण है। यह एक सुसंगठित कृति नहीं है। यद्यपि उरग-वग्ग (सु० 12) के 12 सुत्तों के समान कुछ रचनाएँ एक ही लेखक की कृतियाँ हो सकती हैं।

विमानवत्थु तथा पेतवत्थु

विमानवत्थु में विमानों की कथाएँ हैं और पेतवत्थु में प्रेतों की। ये छोटी-छोटी कृतियाँ है और पालि-आगमों का प्राचीनतम अंश हैं। बौद्ध एवं वैदिक साहित्य में जो कर्म-सिद्धांत सुंदर उक्तियों तथा कथाओं द्वारा पुष्ट किया गया है वह इन ग्रंथों में छोटी-छोटी कथाओं द्वारा भद्दे रूप में उपस्थित किया गया है, जिन्हें कविता केवल छंदोबद्ध होने के कारण कहा जा सकता है। कहानियाँ साधारणजनों के लिए हैं और सभी एक ही ढाँचे पर हैं। विमानवत्थु में मोग्गल्लान किसी देव या अन्य व्यक्ति से पूछते हैं, तुम्हें शोभाओं से परिपूर्ण दिव्य विमान की प्राप्ति कैसे हुई ? "उत्तर में देव पूर्व जन्म में किए हुए सुकृतों का संक्षिप्त वर्णन करता है। पेतवत्थु में एक प्रेत आता है और उसे नारद या कोई अन्य पूछता है—

"तुम्हें यह दुःख पूर्ण जीवन कैसे मिला ?" इस पर वह संक्षेप में उन कारणों को बताता है। एक उदाहरण स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त है—

सुबुद्धिनारद प्रेत से कहते हैं :

तुम्हारी सारी देह सुवर्ण की है,
दूर-दूर तक चमक रही है।
किंतु तुम्हारा मुखसूअर का,है तुमने कौन सा काम किया है ?

इस पर प्रेत उत्तर देता है—
कार्यों में मैं संयत था किंतु शब्दों में असंयत था,
इसलिए हे नारद ! तुम मुझे इस प्रकार
भद्दे रूप में देख रहे हो।
इसलिए हे नारद ! मैं तुम्हें कहता हूँ तुमने स्वयं देखा है—
मुख से किसी का बुरा न करो,
जिससे तुम्हें सूअर का सिर न मिले।

पेतवत्थु में (4.3) राजा पिंगलक का निर्देश आता है टीका के अनुसार वह बुद्ध के 200 वर्ष पश्चात् सुरत का राजा बना। इससे सिद्ध होता है कि टीकाकार भी बुद्ध और इस आगम में पर्याप्त समय का व्यवधान मानते थे। यदि यह मान भी लिया जाए कि प्राचीन बौद्ध धर्म में अर्हत् और निर्वाण के साथ स्वर्ग और नरक की मान्यताएँ भी विद्यमान थीं और प्रेत की मान्यता भी प्राचीन अंध-विश्वास है, तो भी पेतवत्थु को अधिक प्राचीन नहीं माना जा सकता। फिर भी, इस अपेक्षाकृत अर्वाचीन संग्रह में प्राचीन सामग्री, इतिहास, संवाद और वीर गाथाएँ जोड़ दी गई हैं।

थेरगाथा और थेरीगाथा

पेतवत्थु और विमानवत्थु सरीखी नीरस एवं निम्नकोटि की रचनाओं के पश्चात् खुद्दक-निकाय में थेरगाथा और थेरीगाथा रखे गए हैं। ये भारतीय गीति-काव्य के सुंदरतम उदाहरण हैं। ऋग्वेद के सूक्तों से लेकर कालिदास एवं अमरु की गीतियों के साथ उन की तुलना की जा सकती है।

ये दोनों कृतियाँ संग्रह-रूप हैं। थेरगाथा में स्थविर भिक्षुओं तथा थेरीगाथा में स्थविर भिक्षुणियों की अनुभवपूर्ण गाथाएँ है। थेरगाथा में 107 गीतिकाएँ हैं। कुल मिलाकर 1279 गाथाएँ हैं। थेरीगाथा से 73 गीतिकाएँ हैं और 522 गाथाएँ हैं। ये गाथाएँ परंपरया किसी स्थविर या स्थविरा के मुख से कहलाई गई हैं। सन् 500 ई० में धम्मपाल ने इन पर टीका लिखी है उस से भी उपर्युक्त परंपरा का समर्थन होता है। टीका में प्रत्येक स्थविर एवं स्थविरा की जीवन-कथा भी दी गई है। ये आख्यान या तो गाथाओं से लिए गए हैं, या केवल कल्पनाएँ हैं, या अन्य आख्यानात्मक कृतियों से लिए गए हैं। इनको किसी प्रकार मौलिक नहीं कहा जा सकता। थेर और थेरियों के नामों परंपरा की, जिनका नाम इन गाथाओं के साथ रचयिता के रूप में जोड़ा गया है, भी विश्वसनीय नहीं है। फिर भी यह परंपरा इस बात में विश्वसनीय है कि इनका रचयिता कोई एक न होकर अनेक हैं। यह भी ठीक है कि कुछ गाथाओं की रचना भिक्षुओं ने की है और कुछ की भिक्षुणियों ने। कुछ गीतिकाएँ, जो अनेक रचयिताओं के नाम से दी गई हैं, संभवतया किसी एक की ही कृति है। थेरीगाथाओं की कुछ गीतिकाएँ भिक्षुओं द्वारा रचित हो सकती हैं और संभवतया कुछ भिक्षुणियों द्वारा, लेकिन किसी भी प्रकार से

गीतिकाएँ एक मस्तिष्क की उपज नहीं हो सकतीं। यदि कुछ वाक्य बार-बार दोहराए गए हैं और छंद प्रायः एक सरीखें हैं तो इसका इतना ही अर्थ है कि वे सब बौद्ध-परंपरा से प्रभावित हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी एक ही व्यक्ति का सब पर प्रभाव है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि थेरी-गाथाओं का अधिक भाग स्त्रियों द्वारा रचा गया है। इसका प्रथम कारण यह है कि स्थविर भिक्षुओं की भिक्षुणियों के प्रति सहानुभूति नहीं रही जिससे उन्हें थेरी-गाथाओं का रचयिता माना जा सके। इसके लिए भगवान् बुद्ध ने अपनी सौतेली माता के सामने, जब वह भिक्षुणी-संघ की स्थापना करना चाहती थी, जो कठिनाइयां उपस्थित कीं उन्हें स्मरण करना पर्याप्त होगा। इसी प्रकार आगम-साहित्य में आनन्द को स्त्रियों के प्रति सहानुभूति रखने के कारण जो फटकारें सुननी पड़ती है उससे भी यही बात प्रकट होती हैं। इसी कारण भिक्षुओं से यह संभावना भी नहीं की जा सकती थी कि वे स्वयं रचना करके उन पर भिक्षुणियों का नाम दे देते। इससे यही निर्विवाद सिद्ध होता है कि थेरीगाथाओं की रचना भिक्षुणियों द्वारा ही की गई है। श्रीमती राइस डेविड्स ने थेरीगाथा और थेरगाथाओं वाक्य-रचना भाव, और शैली में परस्पर अतर बताया है। दोनों प्रकार की गाथाओं को पढ़ने के पश्चात् यह स्पष्ट अनुभव होता है कि थेरीगाथाओं में जितनी वैयक्तिकता है उतनी थेरगाथाओं में नहीं। थेरगाथाओं में आतंरिक अनुभव की प्रधानता है और थेरीगाथाओं में बाह्य अनुभव की। थेरगाथाओं में प्राकृतिक वर्णन की मुख्यता है और थेरीगाथाओं में जीवन के अनुभव चित्रित हैं।

धार्मिक आदर्श व नैतिक सिद्धांत दोनों ग्रन्थों में सामान्य रूप से पाए जाते हैं। सभी भिक्षु व भिक्षुणियों ने मानसिक शांति को बहुत अधिक महत्त्व दिया है जिसके लिए देवता तक तरसते हैं। इसकी प्राप्ति राग, द्वेष और अविद्या के नाश तथा सुखों के त्याग से होती है और इससे निर्वाण के परम सुख का आभास मिलता है। जो भिक्षु सुख और दुख में समान है, भूख और शीत से पीड़ित नहीं होता वह धन्य है। वह भिक्षुणी धन्य है जो अपने आप कह सकती है :

अब वे सभी बंधन जो देवताओं और मनुष्यों को जकड़े हुए हैं, टूट चुके हैं।
आस्रव धुल चुके हैं जो मेरे मन को खींच रहे थे।
मैं शांत और संतुष्ट हूँ, निर्वाण की शांति मुझे प्राप्त हो चुकी है।

उपर्युक्त आदर्श, आचार के नियम, चार प्रकार का आर्य-धर्म, सभी प्राणियों के प्रति दया और नम्रता, अहिंसा, आत्म-संयम इत्यादि इन गाथाओं में सामान्य रूप से प्रतिपादित हैं जिस प्रकार धम्मपद और सुत्त-निपात में हैं। थेरगाथा तथा थेरी-गाथाओं की विशेषता यह है कि इनमें अपराध की वैयक्तिक स्वीकृतियां है जो कि वैयक्तिक अनुभव के रूप में वर्णित हैं। एक भिक्षु गर्व के साथ बताता है कि किस प्रकार पत्नी और पुत्र ने उसकी शांति को भंग करने का व्यर्थ प्रयत्न किया : "उस समय मेरा

मन बंधनों से मुक्त हो चुका था" (थेरीगाथा 299)। दूसरे भिक्षु ने एक वेश्या का वर्णन किया जिसके हाव-भाव उसे विचलित न कर सके (थेरीगाथा 459)। थेरगाथाओं में अधिकतर स्त्रियों की निंदा की गई है, उन्हें सम्मोहन, जाल, बंधन आदि के रूप में बताया गया है जो कि भिक्षुओं को उनके पवित्र मार्ग से विचलित करने का सदा प्रयत्न करती हैं।

एक भिक्षु अभिमान करता है कि कितनी ही स्त्रियाँ आ जाएं उसे मोहित न कर सकेंगी। स्त्रियाँ समस्त दुःखों का कारण हैं। सच्चा वीर वही है जो दृढ़ता पूर्वक अपने आपको उनसे अलग रख सकता है। एक भिक्षु स्त्री के शव का वीभत्सतापूर्ण वर्णन करता है और बताता है किस प्रकार वह उपर्युक्त परिणाम पर पहुँचा। इन वीभत्स चित्रणों की तुलना में बहुत से सुंदर चित्रण भी हैं। एक भिक्षु ने सुंदर शब्दों में अपनी माता के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है जिसने उसे सत्य का मार्ग बताया। दूसरे गीत में एक भिक्षु अपनी माता को यह कह कर सांत्वना देता है कि वह भिक्षु ही बना है, मरा तो नहीं। एक अन्य भिक्षु लिखता है कि किस प्रकार एक मुरझाए हुए फूल को देखकर उसे दुःख-पूर्ण अस्तित्व का पता लगा। परिणामस्वरूप उसने बुद्ध की शरण ली और निर्वाण प्राप्त किया। एक दूसरा भिक्षु, जो परंपरा के आधार पर एक राज्याधिकारी का पुत्र था, लिखता हैं—"मुझे अपने उच्च वंश, संपत्ति और सौंदर्य का बहुत अभिमान था। मैंने विलासिता का जीवन बिताया। अंत में बुद्ध की शरण में आया और भिक्षु बन गया। एक राजा दीक्षित होने के बाद अपने भिक्षु-जीवन के सुखों की तुलना भूतपूर्व राजकीय जीवन के साथ करता है। फिर भी, थेरगाथा में बाह्यानुभवों के उल्लेख अपेक्षाकृत विरल हैं। सामान्य रूप से उसमें भिक्षु-जीवन के आतंरिक अनुभव वर्णित हैं। वे प्रायः कुछ गाथाओं के समूह-रूप गीतों या सूक्तों में हैं। इसके विपरीत जो गाथाएँ थेर तालपुट के नाम से कही गई हैं उन्हें एक दीर्घकाय एवं उच्च कोटि की कविता कहा जा सकता है। यह पवित्र जीवन की ओर प्रवृत्त होने वाले एक भिक्षु का आत्म-निवेदन हैं। थेरगाथा के कुछ गीत न तो आत्माभिव्यक्ति हैं और न बाह्यानुभवों का वर्णन। वे साधारण उपदेशमात्र हैं।

थेरीगाथाएँ

हमने पहले बताया है कि वास्तविक जीवन के चित्रण थेरगाथा की अपेक्षा थेरीगाथाओं में अधिक है। एक माता पुत्र के वियोग में पागल हो जाती है और शोक में डूबी रहती है। बुद्ध उसे सांत्वना देकर सुखी करते हैं और यह भिक्षुणी संघ में सम्मिलिति हो जाती है। अधिकतर स्त्रियाँ पुत्र-वियोग के कारण ही भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित होती हैं। दूसरे गीत में एक विधवा का वर्णन है जो घर-घर माँगती हुई भिक्षुणियों के पास चली आती है। वहाँ सहानुभूति के साथ स्वागत् होता है और शिक्षा दी जाती है, परिणामस्वरूप वह भिक्षुणी बन जाती है और अपनी गुरुआनी पटाचारा की कृपा से निर्वाण प्राप्त करती है। बहुत-सी भिक्षुणियाँ अपने पूर्व जीवन में वेश्याएँ

थीं। उनका वर्णन बार-बार आता है। वेश्याओं के जीवन और आचार के साथ भिक्षु-जीवन की तुलना कलात्मक ढंग से की गई है। एक सुंदरी अपने आमोद-प्रमोद तथा विलासों से भरे जीवन में बुद्ध के पास आती है और भिक्षुणी बन जाती है। यहाँ भी बाह्य भोगों के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख के साथ निर्वाण के शांत सुख की तुलना की गई है जो प्रभावोत्पादक है। उच्च कुल की युवा कन्याएँ और प्रौढ़ाएँ भी बुद्ध या या किसी स्थविरा के पास आकर धर्मोपदेश सुनती है और दीक्षित हो जाती हैं। एक स्त्री जो दस बच्चों की माता है इसी प्रकार से दीक्षित होती है। वे सब निर्वाण के मार्ग पर चल पड़ती हैं। एक जगह एक कन्या को भिक्षुणी बनने से रोकने के लिए उसके कुटुम्बी प्रयत्न करते हैं किंतु सफल नहीं हो पाते। एक धनवान् की सुंदर कन्या को बहुत-से राजकुमार एवं धनवानों के पुत्र चाहते हैं। एक राजकुमार संदेश भेजता है कि वह उसे आठ बार तोल कर सोना तथा रत्नों के ढेर देने को तैयार है। किंतु उसने बुद्ध का उपदेश सुन लिया और भिक्षु-जीवन को अपना लिया। पुस्तक में दुःखांत घटनाएँ भी कम नहीं है। किसा गौतमी प्रसूति के कष्ट में विह्वल सड़क पर पड़ी हुई है और उसका पति जंगल में मर जाता है; वह बच्चे को जन्म देती है। इधर-उधर भटकती हुई वह नवजात शिशु के साथ बड़े पुत्र को भी खो देती है। अंत में घर पहुँचती है। वह देखती है कि माता, पिता एवं भाई भी मर चुके हैं और एक ही चिता पर जल रहे हैं। वह निर्वाण के अष्टांग मार्ग को अपना लेती है जिससे मृत्यु पर विजय और निर्वाण प्राप्त करती है। इस दुःखांत घटना के पश्चात् सुखांत घटना आती है। एक स्त्री भिक्षुणी बन जाती है और अपने प्रतिकूल पति तथा चावल कूटने के दुःखी जीवन से छुटकारा पाती है। वह अपने सुख का मजाकिया ढंग से वर्णन करती है—"मैं अब तीन कुटिल वस्तुओं से छुटकारा पा गई हूं ऊखल, मूसल और कुबड़ा पति।"

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन, विशेष रूप से स्त्रियों की दशा को जानने के लिए, इस प्रकार के वर्णन महत्त्वपूर्ण हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार के चित्रण किस प्रकार इन गाथाओं को सजीव बना देते हैं। अन्यथा इन गाथाओं में वही बात बार-बार दुहराई गई है। अर्हत् जीवन के आदर्शों को तरह-तरह से श्रेष्ठ बताने की कोशिश की गई है। यद्यपि वर्णनों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं फिर भी अन्य मतावलंबी का मन ऊब ही जाएगा। निःसन्देह थेरगाथा में प्रकृति का जो वर्णन है वह भारतीय गीत-काव्य का उत्तम निदर्शन है। यद्यपि इन भिक्षुओं ने सांसारिक सुखों को छोड़ दिया था फिर भी उनकी कविता में प्रकृति-प्रेम उसी रूप में मिलता है जो रामायण में, उत्तरकालीन महाकाव्यों में, शृंगार रस के गीति-काव्यों में, यहाँ तक कि उपदेशात्मक कथानकों एवं अन्य साहित्य में, मिलता है और जो भारतीय काव्य-सौंदर्य का प्राण है। वे भिक्षु की अपेक्षा कवि अधिक हैं। पर्वतों और वनों के सुंदर दृश्यों का वर्णन करने में उन्हें आनंद आता है जिनके मध्यवर्ती तपोवनों में ऋषि और मुनि ध्यान-मग्न होकर अपनी साधना में लीन हैं। जब बिजलियां

चमकती है और काले-काले बादल मूसलधार बरसने लगते हैं तो भिक्षु आनंद के साथ अपनी गुफा में बैठा रहता है। जो साधु सुख और दुःख की अनुभूतियों से परे है वह भी वसन्त की उपेक्षा नहीं करता।

प्रकृति-प्रेम अनेक सुंदर उपमाओं के द्वारा भी चित्रित किया गया है। भिक्षु की तुलना चट्टान से की गई है जो सदा स्थिर रहती है, हाथी से भी उसकी उपमा दी गई है। जो भिक्षु अपने वेश का अभिमान करता है वह शेर की खाल पहने हुए बंदर के समान है। आत्मसंयमी भिक्षु उसी प्रकार निर्भय होकर बैठता है जिस प्रकार शेर अपनी गुफा में। थेरीगाथा में उपमाओं का विशाल संग्रह मिलता है।

जिस प्रकार किसान हल चलाता है, बीज बोता है और फ़सल काटता है उसी प्रकार भिक्षुणी भी निर्वाण प्राप्त करती है। अपने पैर धोते समय वह शिला से नीचे टपकते हुए पानी को देखती है। यह दृश्य विचारों को आंदोलित करता है और वह ध्यानमग्न हो जाती है। जिस प्रकार अच्छी नस्ल के घोड़े को सिखाया जाता है उसी प्रकार वह अपना कठोरता-पूर्वक दमन करती है। विहार में जाती है, दीपक को हाथ में लेती है और सुई से उसकी बत्ती को खींचने लगती है। जैसे ही दीपक बुझता है वह निर्वाण प्राप्त कर लेती है। उपमाओं के इस कलापूर्ण प्रयोग को देखकर आलंकारिक काव्य सामने आ जाते हैं। स्थान-स्थान पर चित्र-विचित्र शब्द-विन्यास भी आलंकारिक काव्यों जैसा ही मिलता है। अम्बापाली, जो पहले वेश्या थी, के नाम से सुंदर गीत भी कला का उत्तम उदाहरण है। प्रत्येक गाथा के प्रथम दो चरणों में कवियित्री अपने शारीरिक सौंदर्य का वर्णन करती है। तीसरी पंक्ति में उन विकृतियों का वर्णन है जो उस सुंदर शरीर में बुढ़ापे के कारण आ गई हैं। चौथा चरण सभी गाथाओं का एक सरीखा है। उसमें कहा गया है—"सत्यवादी के वचन मिथ्या नहीं हो सकते।"

पदों, वाक्यों तथा अंतिम चरणों की पुनरावृत्ति इन कविताओं की मुख्य विशेषता है। अर्धनाटकीय ढंग के संवाद भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। थेरीगाथा में एक पिता और पुत्री का संवाद है। पुत्री भिक्षु-जीवन के लाभों का वर्णन करती है और पिता को सहमत कर लेती है। अन्य कविता में एक पुरुष का वर्णन है जो पहले भिक्षु था, फिर शिकारी बन गया। पुत्र उत्पन्न किया और फिर भिक्षु बनना चाहता है। वह अपनी इच्छा पत्नी के सामने प्रकट करता है। वह उसे विमुख करने का प्रयत्न करती है और धमकी देती है कि यदि उसने अपने विचार न बदले तो वह पुत्र को मार डालेगी किंतु वह पुरुष अपने निश्चय को नहीं छोड़ता—

"यदि तू पुत्र को गीदड़ों और कुत्तों के
लिए फेंक देती है,
अभागिनी! तू मुझे नहीं बदल सकेगी—
मेरे पुत्र के लिए भी नहीं।"

थीं। उनका वर्णन बार-बार आता है। वेश्याओं के जीवन और आचार के साथ भिक्षु-जीवन की तुलना कलात्मक ढंग से की गई है। एक सुंदरी अपने आमोद-प्रमोद तथा विलासों से भरे जीवन में बुद्ध के पास आती है और भिक्षुणी बन जाती है। यहाँ भी बाह्य भोगों के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख के साथ निर्वाण के शांत सुख की तुलना की गई है जो प्रभावोत्पादक है। उच्च कुल की युवा कन्याएँ और प्रौढ़ाएँ भी बुद्ध या या किसी स्थविरा के पास आकर धर्मोपदेश सुनती है और दीक्षित हो जाती हैं। एक स्त्री जो दस बच्चों की माता है इसी प्रकार से दीक्षित होती है। वे सब निर्वाण के मार्ग पर चल पड़ती हैं। एक जगह एक कन्या को भिक्षुणी बनने से रोकने के लिए उसके कुटुम्बी प्रयत्न करते हैं किंतु सफल नहीं हो पाते। एक धनवान् की सुंदर कन्या को बहुत-से राजकुमार एवं धनवानों के पुत्र चाहते हैं। एक राजकुमार संदेश भेजता है कि वह उसे आठ बार तोल कर सोना तथा रत्नों के ढेर देने को तैयार है। किंतु उसने बुद्ध का उपदेश सुन लिया और भिक्षु-जीवन को अपना लिया। पुस्तक में दुःखांत घटनाएँ भी कम नहीं है। किसा गौतमी प्रसूति के कष्ट में विह्वल सड़क पर पड़ी हुई है और उसका पति जंगल में मर जाता है; वह बच्चे को जन्म देती है। इधर-उधर भटकती हुई वह नवजात शिशु के साथ बड़े पुत्र को भी खो देती है। अंत में घर पहुँचती है। वह देखती है कि माता, पिता एवं भाई भी मर चुके हैं और एक ही चिता पर जल रहे हैं। वह निर्वाण के अष्टांग मार्ग को अपना लेती है जिससे मृत्यु पर विजय और निर्वाण प्राप्त करती है। इस दुःखांत घटना के पश्चात् सुखांत घटना आती है। एक स्त्री भिक्षुणी बन जाती है और अपने प्रतिकूल पति तथा चावल कूटने के दुःखी जीवन से छुटकारा पाती है। वह अपने सुख का मजाकिया ढंग से वर्णन करती है—"मैं अब तीन कुटिल वस्तुओं से छुटकारा पा गई हूं ऊखल, मूसल और कुबड़ा पति।"

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन, विशेष रूप से स्त्रियों की दशा को जानने के लिए, इस प्रकार के वर्णन महत्त्वपूर्ण हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार के चित्रण किस प्रकार इन गाथाओं को सजीव बना देते हैं। अन्यथा इन गाथाओं में वही बात बार-बार दुहराई गई है। अर्हत् जीवन के आदर्शों को तरह-तरह से श्रेष्ठ बताने की कोशिश की गई है। यद्यपि वर्णनों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं फिर भी अन्य मतावलंबी का मन ऊब ही जाएगा। निःसन्देह थेरगाथा में प्रकृति का जो वर्णन है वह भारतीय गीत-काव्य का उत्तम निदर्शन है। यद्यपि इन भिक्षुओं ने सांसारिक सुखों को छोड़ दिया था फिर भी उनकी कविता में प्रकृति-प्रेम उसी रूप में मिलता है जो रामायण में, उत्तरकालीन महाकाव्यों में, शृंगार रस के गीति-काव्यों में, यहाँ तक कि उपदेशात्मक कथानकों एवं अन्य साहित्य में, मिलता है और जो भारतीय काव्य-सौंदर्य का प्राण है। वे भिक्षु की अपेक्षा कवि अधिक हैं। पर्वतों और वनों के सुंदर दृश्यों का वर्णन करने में उन्हें आनंद आता है जिनके मध्यवर्ती तपोवनों में ऋषि और मुनि ध्यान-मग्न होकर अपनी साधना में लीन हैं। जब बिजलियां

चमकती है और काले-काले बादल मूसलधार बरसने लगते हैं तो भिक्षु आनंद के साथ अपनी गुफा में बैठा रहता है। जो साधु सुख और दुःख की अनुभूतियों से परे है वह भी वसन्त की उपेक्षा नहीं करता।

प्रकृति-प्रेम अनेके सुंदर उपमाओं के द्वारा भी चित्रित किया गया है। भिक्षु की तुलना चट्टान से की गई है जो सदा स्थिर रहती है, हाथी से भी उसकी उपमा दी गई है। जो भिक्षु अपने वेश का अभिमान करता है वह शेर की खाल पहने हुए बंदर के समान है। आत्मसंयमी भिक्षु उसी प्रकार निर्भय होकर बैठता है जिस प्रकार शेर अपनी गुफा में। थेरीगाथा में उपमाओं का विशाल संग्रह मिलता है।

जिस प्रकार किसान हल चलाता है, बीज बोता है और फ़सल काटता है उसी प्रकार भिक्षुणी भी निर्वाण प्राप्त करती है। अपने पैर धोते समय वह शिला से नीचे टपकते हुए पानी को देखती है। यह दृश्य विचारों को आंदोलित करता है और वह ध्यानमग्न हो जाती है। जिस प्रकार अच्छी नस्ल के घोड़े को सिखाया जाता है उसी प्रकार वह अपना कठोरता-पूर्वक दमन करती है। विहार में जाती है, दीपक को हाथ में लेती है और सुई से उसकी बत्ती को खींचने लगती है। जैसे ही दीपक बुझता है वह निर्वाण प्राप्त कर लेती है। उपमाओं के इस कलापूर्ण प्रयोग को देखकर आलंकारिक काव्य सामने आ जाते हैं। स्थान-स्थान पर चित्र-विचित्र शब्द-विन्यास भी आलंकारिक काव्यों जैसा ही मिलता है। अम्बापाली, जो पहले वेश्या थी, के नाम से सुंदर गीत भी कला का उत्तम उदाहरण है। प्रत्येक गाथा के प्रथम दो चरणों में कवियित्री अपने शारीरिक सौंदर्य का वर्णन करती है। तीसरी पंक्ति में उन विकृतियों का वर्णन है जो उस सुंदर शरीर में बुढ़ापे के कारण आ गई हैं। चौथा चरण सभी गाथाओं का एक सरीखा है। उसमें कहा गया है—"सत्यवादी के वचन मिथ्या नहीं हो सकते।"

पदों, वाक्यों तथा अंतिम चरणों की पुनरावृत्ति इन कविताओं की मुख्य विशेषता है। अर्धनाटकीय ढंग के संवाद भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। थेरीगाथा में एक पिता और पुत्री का संवाद है। पुत्री भिक्षु-जीवन के लाभों का वर्णन करती है और पिता को सहमत कर लेती है। अन्य कविता में एक पुरुष का वर्णन है जो पहले भिक्षु था, फिर शिकारी बन गया। पुत्र उत्पन्न किया और फिर भिक्षु बनना चाहता है। वह अपनी इच्छा पत्नी के सामने प्रकट करता है। वह उसे विमुख करने का प्रयत्न करती है और धमकी देती है कि यदि उसने अपने विचार न बदले तो वह पुत्र को मार डालेगी किंतु वह पुरुष अपने निश्चय को नहीं छोड़ता—

"यदि तू पुत्र को गीदड़ों और कुत्तों के
लिए फेंक देती है,
अभागिनी! तू मुझे नहीं बदल सकेगी—
मेरे पुत्र के लिए भी नहीं।"

यह एक प्रकार का वीर-कथानक है। थेरगाथा तथा विशेष रूप से थेरीगाथा में इस प्रकार के वीर-काव्य बहुत मिलते हैं। उनमें से कुछ कथानक के साथ हैं और कुछ बिना कथानक के। थेरीगाथा में निम्नोक्त प्रकार का वीर-काव्य मिलता है, जो कि नाटकीय ढंग पर लिखा गया है :

"कूतूहलवश एक ब्राह्मण अपनी पत्नी से पूछता है—तू अपने सात पुत्रों को खो चुकी है फिर भी रोती नहीं है। इसमें क्या बात है ? जबकि पहले तू किसी भी मृत के लिए दिन-रात रोया करती थी। उसने उत्तर दिया—मैंने बुद्ध से सीख लिया है कि जन्म और छुटकारा कैसे मिलता है। यह सुनकर ब्राह्मण बुद्ध के पास गया और भिक्षु बन गया। उसने अपने सारथि को पत्नी के प्रति इस संदेश के साथ वापिस भेज दिया कि वह भिक्षु बन गया है। खुशी का समाचार सुनकर ब्राह्मणी सारथि को घोड़ा, रथ और एक हजार मोहरें देना चाहती है। किंतु वह कहता है कि घोड़ा, रथ और मोहरें अपने ही पास रखिए। मैं भी भिक्षु बनने जा रहा हूँ। इसके बाद ब्राह्मणी अपनी पुत्री को सारी संपत्ति तथा घर की स्वामिनी बनाना चाहती है। किंतु वह भी घर छोड़कर भिक्षुणी बनने की इच्छा प्रकट करती है।" संभवतया इन लोकगीतों में सबसे अधिक आकर्षक सुभा नाम की भिक्षुणी का वर्णन है। एक धूर्त उसका पीछा करता है और प्रेम का प्रस्ताव रखता है। मोहक शब्दों में उसके सौंदर्य की प्रशंसा करता है, वन्य जीवन के भयों का वर्णन करता है और उसे सांसारिक सुखों का प्रलोभन देकर अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करता है। वह उसे ठुकरा देती है :

"देखो ! तुम मार्ग-भ्रष्ट हो गए हो;
तुम आकाशविहारी चन्द्रमा को पकड़कर उसके साथ खेलना चाहते हो;
तुम मेरु के शिखरों पर छलाँग लगाना चाहते हो,
एक ओर तुम यह संभावना कर रहे हो और फिर बुद्ध के
पुत्र होने की प्रतीक्षा में बैठे हो।"

वह घोषणा करती है—मैंने सभी सांसारिक कामनाओं का परित्याग कर दिया है। मैं उन्हें धधकते हुए अंगारों और विष के समान मानती हूँ। वह शरीर की नश्वरता और वीभत्सता का वर्णन करती है, और कहती है—यह आँख भी एक घृणास्पद मांसपिंड है। इन शब्दों के साथ वह अपनी एक आँख बाहर निकाल कर उस आदमी के हाथ में दे देती है। वह धूर्त बदल जाता है और उससे क्षमा माँगता है। इसके पश्चात् भिक्षुणी बुद्ध के पास गई और उनकी दृष्टि पड़ते ही उसकी आँख यथापूर्व चमकने लगी।

एक लोक गीत में बताया गया है कि कुछ डाकू एक भिक्षु के पास आए और उसकी शांति तथा निर्भयता से अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने शस्त्र फेंक दिए, डाका मारना छोड़ दिया और पवित्रात्मा भिक्षु बन गए। डाकू अंगुलिमाल

की कथा, जैसी कि मज्झिमनिकाय में आई है, शब्दशः थेरगाथा में भी दुहराई गई है। थेरीगाथा में भिक्षुणियों और मार के बीच कुछ संवाद हैं। वे संयुत्त-निकाय के अंतर्गत भिक्षुणी-संयुत के ही प्रतिरूप या रूपांतर हैं। इस संग्रह के बहुत से गीत और गाथाएँ चार निकायों, धम्मपद तथा सुत्त-निपात में भी मिलती हैं। वास्तव में एक उल्लेख से यह पता भी चलता है कि चार निकायों की उपमाएँ इनमें सीधी उद्धृत की गई हैं। किंतु यदि हम इन स्थलों में उद्धरणों और उल्लेखों को मान लें तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त दोनों संग्रह अपने वास्तविक रूप में भी उत्तरकालीन हैं, क्योंकि उपर्युक्त उद्धरण प्रक्षिप्त माने जा सकते हैं।

यह ठीक है कि दोनों संग्रहों में बहुत से ऐसे गीत हैं जिनकी रचना बाद में हुई है। उदाहरण के रूप में, एक भिक्षु कहता है—मैंने केवल एक पुष्प भेंट किया। फलस्वरूप मैंने आठ सौ करोड़ वर्षों तक स्वर्ग के सुख भोगे और अंत में निर्वाण प्राप्त किया। यह बौद्ध धर्म के एक ऐसे संप्रदाय की सूचना देता है जो उत्तरकालीन महायान साहित्य से पहले पूर्णतया विकसित नहीं हुआ था। एक सात वर्ष का भिक्षु यौगिक चमत्कार दिखाता है। दूसरा भिक्षु अपने हज़ार रूप बनाकर आकाश में उड़ने लगता है। दस हज़ार देवता मिलकर सारिपुत्त का ब्रह्मलोक में स्वागत करते हैं और भक्ति प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के पाठ बौद्धधर्म के प्राचीन रूप से मेल नहीं खाते। वे तत्कालीन कविता और विचारधारा के प्रतिकूल हैं।

थेरगाथा के दोनों संग्रह(थे० गा० 920-948 और 949-980)बौद्ध धर्म के पतन काल को प्रकट करते हैं। अतः इनकी रचना कई शताब्दियां बीतने पर हुई होगी। संभवतया, जैसाकि मेरा विश्वास है, अशोक के बाद। प्रथम संग्रह (920-948) में तत्कालीन भिक्षुओं के जीवन की तुलना पुराने भिक्षुओं के साथ की गई है। जिन भिक्षुओं ने पत्नी, धन तथा संतान का परित्याग कर दिया था वे एक चम्मच चावलों के के लिए झगड़ते हैं और बुराइयाँ करते हैं। जीभ की तृप्ति के लिए मनमाना भोजन करते हैं। दुनियादारी की बातों में डूबे रहते हैं। उपदेशादि के बदले में जनता से बहुमूल्य भेंट की आशा करते हैं। वैद्यों की तरह जड़ी-बूटियाँ इकट्ठी करते हैं, अपने आपको वेश्याओं के समान सजाते हैं। धूर्त, चालाक तथा पाखंडी हो गए हैं। द्वितीय संग्रह (949-980) में यह प्रश्न किया गया है कि भविष्य के भिक्षु कैसे होंगे। उत्तर में फुस्स ने जो चित्र खींचा है वह बौद्ध धर्म के पतन का द्योतक है। बताया गया है कि भिक्षु क्रोध, घृणा, ईर्ष्या और अविनय से भरपूर होंगे। वे सत्य के विषय में कुछ नहीं जानना चाहेंगे। भगवान् बुद्ध के शब्दों में तोड़मरोड़ करेंगे। सोना और चांदी रखने लगेंगे। चरित्रशील सच्चे भिक्षुओं से घृणा करेंगे। भिक्षु और भिक्षुणी अनुशासनहीन हो जाएँगे। यह चित्र ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और प्राचीन नहीं हो सकता। थेरीगाथा में 'इसिदासी' से संबंध रखने वाला गीत भी पतन-काल का है। इसे पढ़ने पर ऐसा लगता है कि लड़की दुर्भाग्य से वशीभूत होकर ही भिक्षुणी बनती है। एक

पुरुष भिक्षु बनता है और पंद्रह ही दिन बाद उस वेश को उतार देता है और विवाह करके गृहस्थ जीवन बिताता है। यह एक वास्तविक जीवन का चित्र है। किंतु प्रतीत होता है कि उस समय तक बौद्ध धर्म में अनेक चढ़ाव-उतार आ चुके थे। थेरीगाथा का अंतिम गीत भी या तो प्रक्षिप्त है या कालांतर में विकृत कर दिया गया है। प्रक्षेपों एवं उद्धरणों से भर दिया गया है।

के० ई० न्यूमैन की मान्यता है कि उपर्युक्त काव्य गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही संग्रहीत एवं सुरक्षित हो गए थे और उनका निर्वाण होने पर सुसंपादन द्वारा उन्हें रूप दे दिया गया। इस मान्यता में कोई प्रमाण नहीं है। इतना ही नहीं, कुछ अंशों को देखने पर यह मान्यता निराधार और अन्य अंशों के देखने पर असंभव प्रतीत होती है।

निस्संदेह कुछ गीत बुद्ध के सर्वप्रथम शिष्यों द्वारा रचे गए हैं। थेरगाथा की नीचे लिखी पंक्ति ऐसी ही है :

"मुझे न मृत्यु में सुख दिखाई देता है,
न जीवन में सुख दिखाई देता है,
जागृत और विवेकपूर्ण मन के द्वारा मैं—
मृत्यु-क्षण की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

उपर्युक्त पंक्ति बुद्ध के किसी साक्षात् शिष्य द्वारा ही कही गई है। उपर्युक्त गीत भगवान् बुद्ध की धातृमाता महापजापती के नाम से कहा गया है। संभवतया उसने बुद्ध की स्तुति करते समय इसे कहा हो। कुछ गाथाओं में भिक्षु-जीवन के आदर्श का सूक्ष्म चित्रण है। वे सारिपुत्त द्वारा रची गई प्रतीत होती हैं :

"उत्साह के साथ आत्मदमन करते रहो
और निर्वाण प्राप्त कर लो!
तुम्हें मेरा यही आदेश है।
देखो! अब मेरा परिनिर्वाण हो रहा है।
मैं सभी बन्धनों से पूर्णतया मुक्त हो गया हूँ। (थे० गा० 1017)

उपर्युक्त पंक्तियाँ सारिपुत्त का ही संदेश हो सकती हैं। यह उनका अपने शिष्यों को अंतिम उपदेश है। कुछ गाथाएँ पालि-आगमों में मिलती हैं और यहाँ मोग्गल्लान के नाम से उद्धृत हैं—

"जीवन की सभी अनुभूतियाँ नश्वर हैं।
उठना और मिट जाना उनका स्वभाव है।
वे हमारे जीवन में उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं।
यही उचित है कि उन्हें अपने-आप विश्रांति में मग्न कर दिया जाए।"

उपर्युक्त पंक्तियाँ इतनी प्राचीन हैं कि यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मोग्गल्लान या बुद्ध के साक्षात् शिष्यों में से ही किसी दूसरे ने इन्हें रचा है। त्रिपिटिक के अन्य संग्रहों के समान इसमें भी नवीन और प्राचीन अंश मिले-जुले हैं। विद्वानों को प्रत्येक अंश का पृथक्-पृथक् रूप से समय निर्धारण उसकी अपनी योग्यता के आधार पर करना होगा।

जातक

प्राचीन और नवीन का यह सम्मिश्रण जातकों में विशेष रूप से पाया जाता है। इनमें बुद्ध के पूर्वजीवन की कथाएँ हैं और वे खुद्दक-निकाय के अंतर्गत हैं। इन्हें संक्षेप में बोधिसत्त्व की कथाएं भी कहा जाता है। बौद्ध-परंपरा में बोधिसत्व उस जीव को कहा जाता है जो भविष्य में बुद्धत्व प्राप्त करेगा। गौतम बुद्ध ने जब तक बोधि प्राप्त नहीं की उन्हें बोधिसत्त्व कहा गया। केवल अंतिम भौतिक जीवन में ही नहीं किंतु उससे पहले पशु, मनुष्य या देवता के रूप में होने वाले सभी जन्मों में उन्हें बोधिसत्त्व कहा गया और शाक्यवंश में उन्हें शुद्धोदन के पुत्र के रूप में पहचाना गया। जातकों में बुद्ध के पूर्वजीवन से संबंध रखने वाली कथाएँ हैं। किसी कथा में वे नायक हैं, किसी में साधारण पात्र और किसी में एक दर्शकमात्र। प्रत्येक जातक नीचे लिखे शब्दों के साथ प्रारंभ होता है :

उस समय जब राजा ब्रह्मदत्त वाराणसी में शासन करते थे बोधिसत्त्व अमुक स्थान में अमुक के गर्भ से उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् कथा प्रारंभ होती है। इस प्रकार जनता अथवा लौकिक साहित्य में प्रचलित कोई भी कहानी जातक के रूप में बदली जा सकती थी। इतना ही पर्याप्त है कि कथा से संबंध रखने वाले किसी भी देव, मनुष्य या पशु को बोधिसत्त्व बना लिया जाए। कथा कितनी ही दुनियादारी की बातों वाली हो अथवा कितनी ही बौद्ध विचारधारा से दूर हो उसे बौद्ध कथा बनाया जा सकता था। कथा-साहित्य भारतीय जीवन की मुख्य विशेषता है। कहानियाँ सुनना और कहना भारतीय परंपरा की आधारशिला है। धर्माचारी भी अपने प्रचार तथा अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए कथाओं का आश्रय लेते आए हैं भारतीय होने के कारण बौद्ध भिक्षुओं ने भी इस कला का पूरा उपयोग किया है। भारत में बौद्ध एवं अन्य धर्म-प्रचारक जिस बात को प्राचीन समय से करते आए हैं ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उसे कई शताब्दियों पीछे अपनाया। महान् धर्म-प्रचारक ग्रिगेरी ने ऐसे उदाहरणों और कथाओं का प्रयोग ले की सिफ़ारिश की है जो चर्चा-वार्ता में सहायक हों। भारत के साधुओं ने अंत तक त सिद्धांत का पालन किया है। जैसा कि ईसाई प्रचारकों ने बाद में किया, बौद्ध क्षुओं ने अपने मतलब के लिए क़िस्से-कहानियाँ, चुटकुले आदि सभी प्रकार के हित्य का उपयोग किया। प्रतीत होता है, प्राचीन समय के स्थविर, जो कठोर चरित्र ी ओर विशेष ध्यान देते थे, इन कहानियों को अधिक पसंद नहीं करते थे। आगमों कुछ ऐसे पाठ हैं जिनमें ऐसे लंबे वार्तालापों को बुरा बताया गया है जिनमें भिक्षु

पुरुष भिक्षु बनता है और पंद्रह ही दिन बाद उस वेश को उतार देता है और विवाह करके गृहस्थ जीवन बिताता है। यह एक वास्तविक जीवन का चित्र है। किंतु प्रतीत होता है कि उस समय तक बौद्ध धर्म में अनेक चढ़ाव-उतार आ चुके थे। थेरीगाथा का अंतिम गीत भी या तो प्रक्षिप्त है या कालांतर में विकृत कर दिया गया है। प्रक्षेपों एवं उद्धरणों से भर दिया गया है।

के० ई० न्यूमैन की मान्यता है कि उपर्युक्त काव्य गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही संग्रहीत एवं सुरक्षित हो गए थे और उनका निर्वाण होने पर सुसंपादन द्वारा उन्हें रूप दे दिया गया। इस मान्यता में कोई प्रमाण नहीं है। इतना ही नहीं, कुछ अंशों को देखने पर यह मान्यता निराधार और अन्य अंशों के देखने पर असंभव प्रतीत होती है।

निस्संदेह कुछ गीत बुद्ध के सर्वप्रथम शिष्यों द्वारा रचे गए हैं। थेरगाथा की नीचे लिखी पंक्ति ऐसी ही है :

"मुझे न मृत्यु में सुख दिखाई देता है,
न जीवन में सुख दिखाई देता है,
जागृत और विवेकपूर्ण मन के द्वारा मैं—
मृत्यु-क्षण की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

उपर्युक्त पंक्ति बुद्ध के किसी साक्षात् शिष्य द्वारा ही कही गई है। उपर्युक्त गीत भगवान् बुद्ध की धातृमाता महापजापती के नाम से कहा गया है। संभवतया उसने बुद्ध की स्तुति करते समय इसे कहा हो। कुछ गाथाओं में भिक्षु-जीवन के आदर्श का सूक्ष्म चित्रण है। वे सारिपुत्त द्वारा रची गई प्रतीत होती हैं :

"उत्साह के साथ आत्मदमन करते रहो
और निर्वाण प्राप्त कर लो !
तुम्हें मेरा यही आदेश है।
देखो ! अब मेरा परिनिर्वाण हो रहा है।
मैं सभी बन्धनों से पूर्णतया मुक्त हो गया हूँ। (थे० गा० 1017)

उपर्युक्त पंक्तियाँ सारिपुत्त का ही संदेश हो सकती हैं। यह उनका अपने शिष्यों को अंतिम उपदेश है। कुछ गाथाएँ पालि-आगमों में मिलती हैं और यहाँ मोग्गल्लान के नाम से उद्धृत हैं—

"जीवन की सभी अनुभूतियाँ नश्वर हैं।
उठना और मिट जाना उनका स्वभाव है।
वे हमारे जीवन में उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं।
यही उचित है कि उन्हें अपने-आप विश्रांति में मग्न कर दिया जाए।"

उपर्युक्त पंक्तियाँ इतनी प्राचीन है कि यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मोग्गल्लान या बुद्ध के साक्षात् शिष्यों में से ही किसी दूसरे ने इन्हें रचा है। त्रिपिटिक के अन्य संग्रहों के समान इसमें भी नवीन और प्राचीन अंश मिले-जुले है। विद्वानों को प्रत्येक अंश का पृथक्-पृथक् रूप से समय निर्धारण उसकी अपनी योग्यता के आधार पर करना होगा।

जातक

प्राचीन और नवीन का यह सम्मिश्रिण जातकों में विशेष रूप से पाया जाता है। इनमें बुद्ध के पूर्वजीवन की कथाएँ हैं और वे खुद्दक-निकाय के अंतर्गत है। इन्हें संक्षेप में बोधिसत्त्व की कथाएँ भी कहा जाता है। बौद्ध-परंपरा में बोधिसत्व उस जीव को कहा जाता है जो भविष्य में बुद्धत्व प्राप्त करेगा। गौतम बुद्ध ने जब तक बोधि प्राप्त नहीं की उन्हें बोधिसत्त्व कहा गया। केवल अंतिम भौतिक जीवन में ही नहीं किंतु उससे पहले पशु, मनुष्य या देवता के रूप में होने वाले सभी जन्मों में उन्हें बोधि-सत्त्व कहा गया और शाक्यवंश में उन्हें शुद्धोदन के पुत्र के रूप में पहचाना गया। जातकों में बुद्ध के पूर्वजीवन से संबंध रखने वाली कथाएँ हैं। किसी कथा में वे नायक हैं, किसी में साधारण पात्र और किसी में एक दर्शकमात्र। प्रत्येक जातक नीचे लिखे शब्दों के साथ प्रारंभ होता है :

उस समय जब राजा ब्रह्मदत्त वाराणसी में शासन करते थे बोधिसत्त्व अमुक स्थान में अमुक के गर्भ से उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् कथा प्रारंभ होती है। इस प्रकार जनता अथवा लौकिक साहित्य में प्रचलित कोई भी कहानी जातक के रूप में बदली जा सकती थी। इतना ही पर्याप्त है कि कथा से संबंध रखने वाले किसी भी देव, मनुष्य या पशु को बोधिसत्त्व बना लिया जाए। कथा कितनी ही दुनियादारी की बातों वाली हो अथवा कितनी ही बौद्ध विचारधारा से दूर हो उसे बौद्ध कथा बनाया जा सकता था। कथा-साहित्य भारतीय जीवन की मुख्य विशेषता है। कहानियाँ सुनना और कहना भारतीय परंपरा की आधारशिला है। धर्माचारी भी अपने प्रचार तथा अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए कथाओं का आश्रय लेते आए हैं भारतीय होने के कारण बौद्ध भिक्षुओं ने भी इस कला का पूरा उपयोग किया है। भारत में बौद्ध एवं अन्य धर्म-प्रचारक जिस बात को प्राचीन समय से करते आए हैं ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उसे कई शताब्दियों पीछे अपनाया। महान् धर्म-प्रचारक ग्रिगेरी ने ऐसे उदाहरणों और कथाओं का प्रयोग करने की सिफ़ारिश की है जो चर्चा-वार्ता में सहायक हों। भारत के साधुओं ने अंत तक इस सिद्धांत का पालन किया है। जैसा कि ईसाई प्रचारकों ने बाद में किया, बौद्ध भिक्षुओं ने अपने मतलब के लिए किस्से-कहानियाँ, चुटकुले आदि सभी प्रकार के साहित्य का उपयोग किया। प्रतीत होता है, प्राचीन समय के स्थविर, जो कठोर चरित्र की ओर विशेष ध्यान देते थे, इन कहानियों को अधिक पसंद नहीं करते थे। आगमों में कुछ ऐसे पाठ हैं जिनमें ऐसे लंबे वार्तालापों को बुरा बताया गया है जिनमें भिक्षु

आपस में राजाओं, डाकुओं, मंत्रियों, शस्त्रों, युद्धों, स्त्रियों, देवों तथा प्रेतात्माओं, समुद्र-यात्राओं आदि की कहानियाँ सुनाते रहते हैं। किंतु बौद्ध धर्म के एक प्राचीन संस्कृत-ग्रंथ में बताया गया है कि स्वयं बुद्ध सूत्रों, गाथाओं, कथाओं और जातकों के द्वारा उपदेश दिया करते थे।

प्राचीन काल में यह आवश्यक नहीं माना जाता था कि प्रत्येक कथा को जातक का रूप दिया जाए। फिर भी विनय-पिटक में कुछ फुटकर कहानियाँ मिलती हैं जिनका नायक दीर्घायु है। किंतु उसे बोधिसत्त्व के रूप में नहीं बताया गया। उत्तर काल में उन्हीं को जातक का रूप दे दिया गया। सुत्त-निकाय में कुछ वास्तविक जातक भी मिलते हैं। उनसे सिद्ध होता है कि बौद्ध भिक्षु इनका अपने धर्म-व्याख्यानों में उपयोग किया करते थे। मध्य युग में ईसाई पादरियों ने भी ऐसा ही किया है। जब आगमों का पुस्तक के रूप में संकलन प्रारंभ हुआ, सभी जातकों को सम्मिलित नहीं किया गया। यह निश्चय करना अत्यंत कठिन है कि उपलब्ध जातकों में से कितने आगमिक साहित्य के अंतर्गत हैं, और कितने उत्तरकालीन हैं, क्योंकि इस समय आगमों से संबंध रखने वाले मूल जातक उपलब्ध नहीं हैं, केवल उनकी टीकाएँ हैं। इस टीका में जातक नीचे लिखे खंडों में विभक्त हैं—

(1) **प्रस्तावनात्मक**—प्रत्युत्पन्नवस्तु (पच्चुप्पन्नवत्थु) अर्थात् वर्तमान काल की घटनाएँ। इनमें बताया गया है कि बुद्ध ने किस अवसर पर प्रस्तुत जातक का भिक्षुओं को उपदेश दिया।

(2) **गद्यकथात्मक**—अतीतवस्तु; (अतीतवत्थु) अर्थात् अतीत की घटनाएँ। इसमें बुद्ध के पूर्णजीवन अर्थात् बोधिसत्व की कहानियाँ हैं।

(3) **पद्य कथात्मक**—ये भी मुख्यतया अतीत कथाओं का भाग हैं। किंतु वर्तमान कथाओं में भी इनकी संख्या पर्याप्त है।

(4) **संक्षिप्त व्याख्या** (व्याकरण)—इनमें गाथाओं की संक्षेप में शाब्दिक व्याख्या है।

(5) संबंधात्मक (**संस्कृत-समवधान, पालि-समोधान**)—इनमें वर्तमान गाथाओं के पात्रों की अतीत कथा के पात्रों के साथ एकता बताई गई है। जातक-कथा-वर्णन नामक यह विशाल कथा-ग्रंथ किसी सिंहली भिक्षु द्वारा रचा गया है। उसने इसे जातक-कथा नाम की किसी प्राचीन टीका के आधार पर लिखा है। कहा जाता है कि यह ग्रंथ, जैसाकि अट्ठकथाओं के विषय में माना गया है, पालि भाषा में आगमों के अविलम्ब पश्चात् लिखा गया और आगम-साहित्य के साथ ही सिंहल द्वीप में लाया गया। वहाँ उसका स्थानीय चार भाषाओं में अनुवाद हुआ। जातक-कथावर्णन के रचयिता द्वारा उनका अनुवाद पुन: पालि में किया गया। सिंहली भाषा में केवल गद्य का अनुवाद हुआ था। उसी का पुन: पालि-अनुवाद हुआ। गाथाएँ अपने मूल पालि रूप में स्थिर रहीं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। परंपरानुसार ये

गाथाएँ ही आगमों के अंतर्गत हैं। यह परंपरा संभवतया ठीक है। क्योंकि गद्य और पद्य दोनों की परंपरा मौखिक थी और मौखिक परंपरा में गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक स्थायी होता है। परिणामस्वरूप जब आगमों का संकलन हुआ और कालांतर में उन्हें लिपिबद्ध किया गया तो गाथाएँ ही अपने मूल रूप में विद्यमान थीं और उन्हें ही आगमों में सम्मिलित किया गया। जहाँ तक पद्य का प्रश्न है कुछ दिनों तक उसे मौखिक पाठ के रूप में रखा गया और कालांतर में लिपिबद्ध किया गया।

अधिकतर जातक चम्पू के रूप में हैं। जिनमें गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है। भारतीय साहित्य में चम्पू बहुत लोकप्रिय है। प्राचीन भारत में यह शैली अपनाई जाती रही, उसमें गद्य में कही हुई बात का समर्थन या विस्तार पद्यों द्वारा किया जाता रहा, अथवा कथात्मक श्लोकों को गद्य के द्वारा प्रस्तुत या अनुप्राणित किया जाता रहा। अद्‌भुत कथाओं का आख्याता अपने वर्णन में ऐसे श्लोकों को डाल देता है जिन्हें हम अन्य कथाओं के साथ सुन चुके हैं। कल्पित कहानियों का लेखक कथा के निष्कर्ष या बीज को एक-दो श्लोकों में दे देता है। लोक-गीतों के रचयिता और गायक गाथाओं को प्रश्नोत्तर के रूप में सुनाया करते थे। वे भी प्रस्तावना के रूप में या कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार स्पष्टीकरण के रूप में गद्य का प्रयोग किया करते थे।

यह मानना ठीक नहीं है कि जातकों में आई हुई सभी गाथाएँ आगमों का भाग हैं। जातकों का विभाजन उनके अंतर्गत गाथाओं की संख्या के आधार पर किया गया है। यह प्रणाली प्राचीन भारत में प्रचलित थी। संपूर्ण ग्रंथ में बाईस खंड या निपात हैं। पहले में डेढ़ सौ कथाएँ हैं। प्रत्येक कथा में एक गाथा है। दूसरे में दो गाथाओं वाली सौ कथाएँ हैं और तीसरे में तीन गाथाओं वाली पचास कथाएँ हैं। यही क्रम आगे भी है। उत्तरोत्तर प्रत्येक खंड में गाथाओं की संख्या बढ़ती जाती है जबकि कथाओं की संख्या कम होती जाती है। गाथाओं की संख्या खंड के नाम के साथ सब जगह नहीं मिलती। उदाहरण के रूप में प्रथम खंड में चार, पाँच, छः, दस और ग्यारह गाथाओं वाली कहानियाँ भी हैं। दो गाथाओं वाले द्वितीय खंड में कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें तीन से लेकर दस तक गाथाएँ हैं। बीस गाथाओं वाले खंड में एक कथा चौवालीस गाथाओं की है। सत्तर वाले खंड में दो ही कथाएँ हैं, एक बानवें तथा दूसरी तिरानवें गाथाओं की। अस्सी वाले खंड में एक सौ तीन और एक सौ तेईस गाथाओं वाली कथाएँ भी हैं। इसी प्रकार और खंडों में भी है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि खंडों का विभाजन गाथात्मक मूल जातकों के आधार पर हुआ है, टीका के आधार पर नहीं और आगमान्तर्गत गाथाजातक में पद्यों की संख्या बहुत कम थी।

फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गद्य की अपेक्षा गाथाओं को आगम कहलाने का अधिकार अधिक है। गद्य में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे। कुछ स्थानों में वह अत्यंत अर्वाचीन समय को प्रकट करता है। उसमें लंका के उल्लेख मिलते हैं और उसकी गाथाओं के साथ संगति नहीं बैठती। गद्य की अपेक्षा गाथाओं की भाषा भी अधिक प्राचीन है।

वर्तमान काल और भूतकाल की कथाओं का काल-क्रम या इतिहास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि वे सभी एक ही टीकाकार द्वारा रची गई हैं। उसने प्राचीन और नवीन सामग्री का इच्छानुसार उपयोग किया है। यही कारण है कि बहुत सी संक्षिप्त अद्भुत तथा उपदेश-कथाओं की शैली उत्तम एवं आकर्षक है। जब कि दूसरे जातकों में, विशेष रूप से उनमें जहाँ गद्य की आवश्यकता नहीं है, गद्य-कथानक निम्नकोटि का एवं नीरस है और प्रायः गाथाओं से मेल नहीं खाता। यह नहीं माना जा सकता कि उसी टीकाकार ने एक कहानी को कुशलतापूर्वक विनोदपूर्ण शैली में लिखा और दूसरी को नीरस एवं निर्जीव रूप में। हमें यह मानना चाहिए कि उसने उन्हें लिखते समय उच्च कोटि की प्राचीन रचनाओं को सामने रखा है और उनका उपयोग किया है। अतः गद्य में भी बहुत सा प्राचीन अंश सन्निहित है।

भरहुत और सांची के स्तूपों की दीवारों पर अंकित चित्रों से इस बात की पुष्टि होती है और यह भी सिद्ध होता है कि जातक ई० पू० तृतीय या द्वितीय शताब्दी की बौद्ध परंपरा को उपस्थित करते हैं। जातकों के इतिहास को जानने के लिए उपर्युक्त चित्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म के इन महत्त्वपूर्ण स्मारकों में जातक-कथाओं के दृश्य अंकित है। इनमें वे दृश्य भी हैं जो केवल गद्य में पाए जाते हैं। भरहुत के चित्रों मे उनके ऊपर सम्बद्ध जातक का नाम भी अंकित है। ये चित्र सिद्ध करते हैं कि बहुत सी कथाएँ जो जातकों में भी सन्निहित हैं, ई० पू० तृतीय या द्वितीय शताब्दी मे प्रचलित थीं, जिन्हें जातक कहा जाता था और बोधिसत्त्व-कथा माना जाता था। इनसे सिद्ध होता है बहुत सी लौकिक कहानियाँ बौद्ध भिक्षुओं द्वारा बदल दी गई और उन्हे बौद्ध रूपांतर दे दिया गया। ये कहानियाँ संभवतया भारत में बुद्ध से भी पहले प्रचलित थीं।

कुछ प्रसिद्ध विद्वानों की मान्यता है कि जातक-कथाएँ हमारे सामने बुद्ध अथवा उनसे पूर्ववर्ती काल के कथा साहित्य एवं गद्यकालीन सामाजिक स्थिति को प्रकट करती हैं। यह मान्यता अल्पसंख्यक कथाओं के विषय में ही सत्य कही जा सकती है। हो सकता है कुछ गाथाएँ और कुछ गद्यांश इतने प्राचीन हों। कुछ लोकोक्तियाँ और कहानियाँ वास्तव में बुद्ध के पूर्ववर्ती श्रमण-परंपरा से संबंध रखती हैं और तत्कालीन काव्य को उपस्थित करती है। किंतु अधिकतर गाथाएँ ई० पू० द्वितीय या तृतीय शताब्दी से पहले की नहीं मानी जा सकतीं। उनकी अधिक प्राचीनता को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। गद्य का अधिकांश भाग निश्चित रूप से ईसा के बाद का है। हमने पहले कहा है कि सभी गाथाएँ आगमान्तर्गत जातक नहीं है। आगमिक जातक किसी एक लेखक की रचना नहीं है। किंतु संकलनकर्ताओं के परिश्रम की देन हैं। संकलनकर्ताओं ने कथानक का रूप देने के लिए अपनी पसंद के अनुसार गाथाओं को व्यवस्थित किया। ऐसे संकलन में त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है।

इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जातकों का संकलन भी वैसे ही हुआ है जैसे महाभारत का। समय का निर्धारण करने के लिए प्रत्येक खंड या कथानक नहीं,

प्रत्येक गाथा का स्वतंत्र पर्यालोचन करना होगा। कुछ गाथाएँ संभवतया वैदिक काल की हैं। कुछ महाकाव्यों के प्रारंभ-काल की हैं। किंतु जातकट्ठवर्णन के रूप में जो संग्रह मिलता है उसे भारतीय कौतुक-कथाओं, उपदेश-कथाओं या दृष्टांत-कथाओं का प्रथम संग्रह नहीं माना जा सकता, फिर भी, बौद्ध कहानियों के लिए हमारे पास यही एक आधार है। इस समय यही जातक-ग्रंथ उपलब्ध है। यह संग्रह भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए ही नहीं बल्कि विश्वसाहित्य के इतिहास के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनमें 'वर्तमान काल की कथाओं' को अलग किया जा सकता हैं। वे कहीं तो अतीत कथाओं की पुनरावृत्ति मात्र है और कही मूर्खतापूर्ण एवं निस्सार कल्पना है। उनमें सर्वोत्तम कथानक वे हैं जो विनयपिटक, सुत्त-निपात, अपदान या अन्य टीकाओं से लिए गए हैं। वास्तव में अतीत कथाएँ ही बहुमूल्य हैं और वे ही वास्तविक जातक हैं।

प्रस्तुत संग्रह में जो जातक हैं उनमें कथा-साहित्य के सभी रूप मिलते हैं। जहाँ तक शैली का प्रश्न है कुछ जातकों का रूप नीचे लिखे अनुसार है—

1. **गद्य-कथानक :** इनमें कथानक गद्य में है किंतु इनमें जहाँ-तहाँ दृष्टांत-कथाओं एवं अद्भुत कथाओं की गाथाएँ एवं सूत्र सन्निहित हैं। गद्य और पद्य परस्पर सम्बद्ध हैं, और दोनों मिलकर एक सुंदर प्रबंध को प्रस्तुत करते हैं। इसे देखकर यह मानना पड़ता है कि जातकट्ठकथा-वर्णन में सुंदर गद्य की प्राचीन परंपरा भी सुरक्षित है।

2. **लोक-गीत :** (क) संवादात्मक, (ख) आख्यानात्मक तथा संवादात्मक पद्यों का मिश्रित रूप।

जातकट्ठकथा-वर्णन के इन रूपों में जो गद्य मिलता है वह अनावश्यक है। वह किसी टीकाकार द्वारा सर्वथा बिना विचारे रचा गया है। बहुत से स्थानों में तो वह गाथाओं से मेल ही नहीं खाता।

3. **दीर्घ कथानक :** ये गद्य में प्रारंभ होते हैं और पद्य में जारी रहते हैं अथवा इनमें गद्य कथानक पद्यात्मक कथानकों या संवादों के विकल्प में आता है। इनमें गद्य आवश्यक भाग है। किंतु जातकट्ठवर्णन का गद्य मौलिक गद्य की सच्ची प्रतिलिपि नहीं है। टीकाकार ने अपनी तरफ से जोड़कर उसे स्थूलकाय एवं विकृत कर दिया है।

4. विभिन्न विषयों पर लोकोक्तियों का संग्रह।

5. नियमित महाकाव्य या उनके अवशेष।

अंतिम दो रूपों में भी गद्य अनावश्यक विस्तार है और अभिव्यक्ति की दृष्टि से निष्प्राण है। जहाँ तक प्रतिपादित विषयों का प्रश्न है, उन्हें नीचे लिखे अनुसार व्यक्त किया जा सकता है :

1. **कल्पित कथाएँ :** भारत की अन्य कल्पित कथाओं के समान इनमें भी प्राय: नीति या दुनियादारी सिखाने का लक्ष्य रखा गया है। ऐसी कथाएँ बहुत थोड़ी

वर्तमान काल और भूतकाल की कथाओं का काल-क्रम या इतिहास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि वे सभी एक ही टीकाकार द्वारा रची गई हैं। उसने प्राचीन और नवीन सामग्री का इच्छानुसार उपयोग किया है। यही कारण है कि बहुत सी संक्षिप्त अद्भुत तथा उपदेश-कथाओं की शैली उत्तम एवं आकर्षक है। जब कि दूसरे जातकों में, विशेष रूप से उनमें जहाँ गद्य की आवश्यकता नहीं है, गद्य-कथानक निम्नकोटि का एवं नीरस है और प्रायः गाथाओं से मेल नहीं खाता। यह नहीं माना जा सकता कि उसी टीकाकार ने एक कहानी को कुशलतापूर्वक विनोदपूर्ण शैली में लिखा और दूसरी को नीरस एवं निर्जीव रूप में। हमें यह मानना चाहिए कि उसने उन्हें लिखते समय उच्च कोटि की प्राचीन रचनाओं को सामने रखा है और उनका उपयोग किया है। अतः गद्य में भी बहुत सा प्राचीन अंश सन्निहित है।

भरहुत और सांची के स्तूपों की दीवारों पर अंकित चित्रों से इस बात की पुष्टि होती है और यह भी सिद्ध होता है कि जातक ई० पू० तृतीय या द्वितीय शताब्दी की बौद्ध परंपरा को उपस्थित करते है। जातकों के इतिहास को जानने के लिए उपर्युक्त चित्र अत्यत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म के इन महत्त्वपूर्ण स्मारकों में जातक-कथाओं के दृश्य अंकित है। इनमें वे दृश्य भी है जो केवल गद्य में पाए जाते हैं। भरहुत के चित्रों मे उनके ऊपर सम्बद्ध जातक का नाम भी अंकित है। ये चित्र सिद्ध करते है कि बहुत सी कथाएँ जो जातकों में भी सन्निहित हैं, ई० पू० तृतीय या द्वितीय शताब्दी मे प्रचलित थीं, जिन्हें जातक कहा जाता था और बोधिसत्त्व-कथा माना जाता था। इनसे सिद्ध होता है बहुत सी लौकिक कहानियां बौद्ध भिक्षुओं द्वारा बदल दी गई और उन्हे बौद्ध रूपांतर दे दिया गया। ये कहानियाँ संभवतया भारत में बुद्ध से भी पहले प्रचलित थीं।

कुछ प्रसिद्ध विद्वानों की मान्यता है कि जातक-कथाएँ हमारे सामने बुद्ध अथवा उनसे पूर्ववर्ती काल के कथा साहित्य एवं गद्यकालीन सामाजिक स्थिति को प्रकट करती हैं। यह मान्यता अल्पसंख्यक कथाओं के विषय में ही सत्य कही जा सकती है। हो सकता है कुछ गाथाएँ और कुछ गद्यांश इतने प्राचीन हों। कुछ लोकोक्तियाँ और कहानियाँ वास्तव में बुद्ध के पूर्ववर्ती श्रमण-परंपरा से संबंध रखती है और तत्कालीन काव्य को उपस्थित करती है। किंतु अधिकतर गाथाएँ ई० पू० द्वितीय या तृतीय शताब्दी से पहले की नहीं मानी जा सकतीं। उनकी अधिक प्राचीनता को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। गद्य का अधिकांश भाग निश्चित रूप से ईसा के बाद का है। हमने पहले कहा है कि सभी गाथाएं आगमान्तर्गत जातक नहीं हैं। आगमिक जातक किसी एक लेखक की रचना नहीं है। किंतु संकलनकर्ताओं के परिश्रम की देन हैं। संकलनकर्ताओं ने कथानक का रूप देने के लिए अपनी पसंद के अनुसार गाथाओं को व्यवस्थित किया। ऐसे संकलन में त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है।

इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जातकों का संकलन भी वैसे ही हुआ है जैसे महाभारत का। समय का निर्धारण करने के लिए प्रत्येक खंड या कथानक नहीं,

प्रत्येक गाथा का स्वतंत्र पर्यालोचन करना होगा। कुछ गाथाएँ संभवतया वैदिक काल की हैं। कुछ महाकाव्यों के प्रारंभ-काल की हैं। किंतु जातकट्ठवण्णन के रूप में जो संग्रह मिलता है उसे भारतीय कौतुक-कथाओं, उपदेश-कथाओं या दृष्टांत-कथाओं का प्रथम संग्रह नहीं माना जा सकता, फिर भी, बौद्ध कहानियों के लिए हमारे पास यही एक आधार है। इस समय यही जातक-ग्रंथ उपलब्ध है। यह संग्रह भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए ही नहीं बल्कि विश्वसाहित्य के इतिहास के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें 'वर्तमान काल की कथाओं' को अलग किया जा सकता हैं। वे कहीं तो अतीत कथाओं की पुनरावृत्ति मात्र है और कहीं मूर्खतापूर्ण एवं निस्सार कल्पना है। उनमें सर्वोत्तम कथानक वे हैं जो विनयपिटक, सुत्त-निपात, अवदान या अन्य टीकाओं से लिए गए हैं। वास्तव में अतीत कथाएँ ही बहुमूल्य हैं और वे ही वास्तिविक जातक हैं।

प्रस्तुत संग्रह में जो जातक हैं उनमें कथा-साहित्य के सभी रूप मिलते हैं। जहाँ तक शैली का प्रश्न है कुछ जातकों का रूप नीचे लिखे अनुसार है—

1. **गद्य-कथानक :** इनमें कथानक गद्य में है किंतु इनमें जहाँ-तहाँ दृष्टांत-कथाओं एवं अद्भुत कथाओं की गाथाएँ एवं सूत्र सन्निहित हैं। गद्य और पद्य परस्पर सम्बद्ध हैं, और दोनों मिलकर एक सुंदर प्रबंध को प्रस्तुत करते हैं। इसे देखकर यह मानना पड़ता है कि जातकट्ठकथा-वर्णन में सुंदर गद्य की प्राचीन परंपरा भी सुरक्षित है।

2. **लोक-गीत :** (क) संवादात्मक, (ख) आख्यानात्मक तथा संवादात्मक पद्यों का मिश्रित रूप।

जातकट्ठकथा-वर्णन के इन रूपों में जो गद्य मिलता है वह अनावश्यक है। वह किसी टीकाकार द्वारा सर्वथा बिना विचारे रचा गया है। बहुत से स्थानों में तो वह गाथाओं से मेल ही नहीं खाता।

3. **दीर्घ कथानक :** ये गद्य में प्रारंभ होते हैं और पद्य में जारी रहते हैं अथवा इनमें गद्य कथानक पद्यात्मक कथानकों या संवादों के विकल्प में आता है। इनमें गद्य आवश्यक भाग है। किंतु जातकट्ठवर्णन का गद्य मौलिक गद्य की सच्ची प्रतिलिपि नहीं है। टीकाकार ने अपनी तरफ से जोड़कर उसे स्थूलकाय एवं विकृत कर दिया है।

4. विभिन्न विषयों पर लोकोक्तियों का संग्रह।

5. नियमित महाकाव्य या उनके अवशेष।

अंतिम दो रूपों में भी गद्य अनावश्यक विस्तार है और अभिव्यक्ति की दृष्टि से निष्प्राण है। जहाँ तक प्रतिपादित विषयों का प्रश्न है, उन्हें नीचे लिखे अनुसार व्यक्त किया जा सकता है :

1. **कल्पित कथाएँ :** भारत की अन्य कल्पित कथाओं के समान इनमें भी प्रायः नीति या दुनियादारी सिखाने का लक्ष्य रखा गया है। ऐसी कथाएँ बहुत थोड़ी

हैं जिनमें श्रवण-परंपरा की कविता के अनुरूप आचार की शिक्षा हो। जिनको वास्तव में बौद्ध कहा जा सकता हो ऐसी तो बहुत ही थोड़ी है।

2. **अद्भुत कथाएँ :** इनमें बहुत सी पशुओं की अद्भुत कथाएँ हैं, और वे यूरोप की अद्भुत कथाओं से पूर्णतया मिलती है। इनमे भी बौद्धधर्म का स्पर्श तक नहीं है। केवल कुछ कथाओं का झुकाव इस ओर कर दिया गया है, या ऐसा कहना चाहिए कि उन्हे बौद्ध रूपांतर दे दिया गया है। कुछ ऐसी भी है जो बौद्धों द्वारा गढ़ी गई हों।

3. **छोटे चुटकले :** हास्य रस की कहानियाँ और विनोद। इनमें भी बौद्ध धर्म की कोई बात नहीं है।

4. **साहसपूर्ण आख्यायिकाएँ :** इनमें कहीं-कहीं न्यूनाधिक मात्रा में कथा के अंतर्गत छोटे-छोटे आख्यान भी मिलते हैं। इनका नायक बोधिसत्त्व है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म की कोई बात नहीं है।

5. आचार कथाएँ
6. लोकोक्तियाँ
7. धार्मिक कथाएँ

इनमें से कुछ का संबंध बौद्ध धर्म से है। हालाँकि अधिकतर भारतीय श्रमण-परंपरा की देन है। इसलिए यह कहना असगत न होगा कि सभी जातकों का आधे से अधिक भाग (यदि टीका को छोड़ दिया जाए) तो बौद्ध नही है। इस तथ्य का आधार ढूँढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, सभी जातियों के लोग बौद्ध भिक्षु बना करते थे। उनमे से बहुत से ऐसे थे जो मजदूरों, कारीगरों और विशेष रूप से व्यापारियों की जन-कथाओं और चुटकुलों से पूर्णतया परिचित थे। कुछ प्राचीन लोक-गीतों और योद्धाओं की वीरतापूर्ण कहानियों से पूर्ण परिचित थे। कुछ दूसरे ऐसे थे जिन्होंने ब्राह्मणों और बनवासी ऋषियों की धार्मिक तथा पौराणिक कथाऐं सुन रखी थीं। जब वे भिक्षु बन गए तो उन्होने भिक्षुओं की परंपरा एव अन्य धार्मिक परंपराओं को साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। यही बात है जो जातकों को भारतीय साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान देती है। उपदेश देने वाले बौद्ध भिक्षु जातकों के उन अंशों को कंठस्थ कर लेते थे जो उन्हे स्वयं अथवा श्रोताओ के लिए रुचिकर प्रतीत होते थे। विषयों एवं रूपों के समान परिमाण में भी जातक विविध प्रकार के हैं। एक ओर छपे हुए आधे पृष्ठ मे समाप्त हो जाने वाली लघु कथाएँ है तो दूसरी ओर कई पृष्ठों तक चलने वाली लंबी कथाएँ, कुछ तो ऐसी हैं जिन्हें स्वतंत्र पुस्तक का रूप दिया जा सकता है।

छोटे जातकों वाले प्रारंभिक खंडों में अधिकतर कल्पित कथाएँ हैं। एक बिल्ली तपस्वी साधु का दिखावा करके चूहों को निगल जाती है। यहाँ दी गई बहुत-सी कथाएं तंत्राख्यायिका, पंचतंत्र आदि अन्य पुस्तकों में भी मिलती हैं, और बहुत-सी वे

विश्व-कथाएँ हैं जिनके उद्गम-स्थान का पता लगाना कठिन है, क्योंकि वे पूर्व और पश्चिम दोनों के जीवन में समान रूप से रम गई हैं। जातक-संख्या 349 में एक कथा है जिसमें एक शृगाल शेर और बैल की परस्पर मित्रता को तोड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। यह कथा तंत्राख्यायिका के प्रथम तंत्र की कथा से मिलती है। एक कथा में बंदर घड़ियाल को छकाता है। जातकों में इसके कई रूप मिलते हैं। तंत्राख्यायिका के चौथे तंत्र में भी यह कथा है। जातक-संख्या 189 में एक गधा शेर की खाल पहन लेता है। यह कथा ईसपनीति कथा में भी मिलती है। तंत्राख्यायिका के अनुसार वह चीत की खाल पहनता है और पंचतंत्र एवं हितोपदेश में व्याघ्र की। अन्य प्रसिद्ध कथाओं में लोमड़ी और कौवे की कथा है जिसमें लोमड़ी कौवे के मधुर कंठ की प्रशंसा करती है और परिणामस्वरूप रोटी का टुकड़ा प्राप्त कर लेती है। एक सुअर को अच्छा भोजन दिया जाता है। एक बैल उससे ईर्ष्या करने लगता है। अंत में पता चलता है कि सूअर को वध करने के लिए मोटा किया जा रहा है। एक सारस मछलियों को अच्छे पानी में पहुँचाने का वायदा करके ले जाता है और खा जाता है। अंत में एक केकड़ा उसे उपयुक्त दंड देता है। एक तोता किसी दुश्चरित्र स्त्री की निगरानी के लिए नियुक्त किया जाता है और अपनी मूर्खता के कारण उसके द्वारा मार दिया जाता है। एक मोर अपने भद्दे नृत्य के कारण वधू को खो देता है जो पक्षियों की राजकुमारी थी। यह एक प्राचीन कथा है। यह कथा ई० पू० तृतीय शताब्दी में भरहुत के स्तूप में अंकित कर दी गई थी। इससे प्रतीत होता है कि यह मूल जातकों का अंश रही होगी। उसी स्तूप में एक अन्य अंकन जातक-संख्या 383 को चित्रित करता है जो कि पद्यों में है। एक बिल्ली मुर्गे की खुशामद करती है और उसकी आज्ञाकारिणी पत्नी बन जाने का वायदा करती है। इस प्रकार वह उसे अपने वश में करने का प्रयत्न करती है। किंतु मुर्गा चालाकी समझ जाता है और उसे खदेड़ देता है। प्रस्तुत कहानी से निकले बौद्ध सिद्धांत को तीन गाथाओं में प्रकट किया गया है : धूर्त स्त्रियाँ बिल्ली के समान होती हैं, जबकि वे पुरुषों को मोहित करने का प्रयत्न करती हैं। किंतु कुक्कुट के समान मुनि उनकी माया को समझते हैं। कुछ कथाएँ वास्तव में बौद्ध हैं। कथा-संख्या 278 उनमें से एक है। इसमें बोधिसत्त्व एक भैंसे के रूप में उत्पन्न होते हैं और अपार धैर्य का प्रकट करते हैं। एक धृष्ट बंदर उनकी पीठ पर चढ़ जाता है, उसे दौड़ाता है, सींगों से पकड़ लेता है और अन्य प्रकार की धृष्टताएँ करता है। तत्पश्चात् वह बंदर दूसरे भैंसे के साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार करता है और उसके द्वारा मार दिया जाता है। इस प्रकार बोधिसत्त्व अपने धैर्य पर दृढ़ रहते हैं और बंदर को दंड मिल जाता।

कल्पित कथाओं से मिलती-जुलती पशुओं की अद्भुत कथाएँ हैं। जातकों में इसके सुंदर उदाहरण मिलते हैं। सब्बदाठ नाम के शृगाल की कहानी विनोदपूर्ण है—

एक शृगाल ने कहीं से जादू का मंत्र सुना और उसका प्रयोग करने लगा। समस्त चतुष्पदप्राणी उसकी प्रजा बन गए। मिथ्याभिमान में आकर उसने वाराणसी

के राजा के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अभियान कर दिया। दो हाथियों की पीठ पर, एक सिंह को खड़ा किया गया और उसकी पीठ पर शृगाल अपनी साम्राज्ञी शृगाली के साथ बैठ गया। इस प्रकार बड़े समारोह के साथ उसने वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। गर्व के साथ उसने राजा को अपना राज्य अर्पित करने के लिए ललकारा। सभी भयाक्रांत हो गए। किंतु राजपुरोहित ने, जो वास्तव में बोधिसत्त्व थे, शृगाल की धूर्तता को समझ लिया और सारी सेना के साथ उसे समाप्त कर दिया। वाराणसी के लोग उनका मांस लाने के लिए नगरी से बाहर दौड़े। यह आदेश उन्हें बोधिसत्त्व ने दिया था जो कि बौद्ध-परंपरा से मेल नहीं खाता। जो मांस खाने से बच गया उसे उन्होंने सुखा दिया। वास्तविक अद्‌भुत कथाओं के समान जातक में उपसंहार करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार मांस को सुखाने की प्रथा चली।

केवल पशु-कथाओं की अपेक्षा ऐसी कथाओं की संख्या बहुत अधिक है जिनमें मनुष्य और पशु दोनों भाग लेते हैं। इनमें मनुष्यों की अपेक्षा पशु जीत में रहते हैं। एक तीतर ने अपने यशस्वी गुरु से वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। बहुत से युवक उसके पास सीखने के लिए आने लगे। सिंह और व्याघ्र उसके मित्र बन गए। वह एक स्वर्ण पंजर में रहने लगा। छिपकली पहरा देने लगी। एक दिन वहाँ एक धूर्त तपस्वी आया। उसका अतीत विचित्र था। वह भारवाहक मजदूर, फेरी वाला, जादूगर, शिकारी, बाड़ लगाने वाला, चिड़ीमार, अनाज तोलने वाला, जुआरी और वधिक का सहायक रहा था। उसने छिपकली के बच्चे तथा तीतर को मार डाला। बदले में व्याघ्र ने उसे चीर-फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। इस वर्ग में मुख्यतया वे अद्‌भुत कथाएँ आती हैं जिनमें पशु कृतज्ञ है और मनुष्य कृतघ्न। विश्वसाहित्य में ऐसी कहानियाँ सब जगह फैली हुई हैं उनमें से कुछ हमारे संग्रह में भी है। संख्या 37 सुंदरतम कहानियों में से एक है :

एक राजा था। उसके एक पुत्र था जो बड़ा दुष्ट था। उसे दुष्ट राजकुमार कहते थे। वह विषैले साँप के समान था। किसी से अच्छे शब्दों में नहीं बोलता था। आँख में तिनके के समान चुभता था। एक बार उसने भयंकर तूफान में स्नान करने की इच्छा प्रकट की। लोग उसे डुबाने की इच्छा से नदी के किनारे ले आए। किंतु वह एक वृक्ष के तने को पकड़कर बच गया। उसी में एक साँप, एक चूहा और एक तोता भी थे। एक तपस्वी ने चारों को किनारे पर खींच लिया और उन्हें अपनी कुटी में ले गया। साँप, चूहा और तोता दुर्बल थे, इसलिए तपस्वी ने पहले उनकी साज-संभाल की। बाद में राजकुमार को संभाला। इस पर उसे क्रोध आ गया। तीनों प्राणियों ने तपस्वी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और प्रत्युपकार का वचन दिया। राजकुमार ने भी बाहर से ऐसा ही किया। किंतु अंदर-ही-अंदर बदला लेने की प्रतिज्ञा की। कुछ समय बीतने पर तपस्वी ने उन सबकी परीक्षा लेनी चाही। तीनों प्राणियों ने तत्काल अपनी कृतज्ञता को सिद्ध कर दिया। राजकुमार तब तक राजा बन चुका था। जैसे ही उसने तपस्वी को पहचाना उसे कोड़े लगाने की आज्ञा दी और फाँसी पर लटका देना चाहा। कोड़े

की प्रत्येक चोट पर तपस्वी नीचे लिखे शब्दों को दुहराता था :

"यह लोकोक्ति सत्य है कि पानी में वहता हुआ लकड़ी का शहतीर वहुत से मनुष्यों से अच्छा है।"

जब लोगों ने पूछा—"आप क्या कह रहे हैं ?" तो उसने कहानी कह सुनाई। इस पर सभी लोग इकट्ठे हो गए और क्रूर को पीट-पीट कर मार डाला और तपस्वी को सिंहासन पर बैठा दिया।

विश्वसाहित्य की अद्भुत कथाओं में ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें पत्नी विश्वासघात करती है :

'एक बार एक पुरुष ने अपना रक्त देकर पत्नी के प्राण बचाए। वह एक नीच लँगड़े के साथ प्रेम करने लगी। पूरी तरह लँगड़े के साथ रहने के उद्देश्य से उसने अपने पति को पहाड़ की चोटी से धकेल दिया। उसे एक छिपकली ने बचा लिया और वह किसी तरह राजा बन गया। इस अवस्था में उसने अपनी पत्नी एवं लँगड़े प्रेमी को देखा और दंड दिया।

एक राजा किसी सिद्धि के कारण पशुओं की बोली समझने लगा। वह अपनी विद्या किसी को नहीं बताता था। यदि बताता उसकी मृत्यु हो जाती। एक दिन राजा चींटियों ओर खटमलों के विनोदपूर्ण वार्तालाप को सुनकर, हँस रहा था। रानी ने हँसने का कारण पूछा और अपने पति से विद्या सिखाने का अनुरोध किया। राजा ने बताया कि इससे उसकी मृत्यू हो जाएगी। फिर भी रानी न मानी। राजा रानी के आग्रह के सामने झुक जाता है। उसी समय शक्र, देवताओं का राजा, एक बकरे के रूप में उपस्थित हुआ और उसने राजा को सलाह दी—रानी को पीटो, तब वह विद्या सीखने का दुराग्रह छोड़ देगी। राजा ने सलाह मान ली और अभीष्ट सिद्ध हो गया।

इस कथा का भी सारे विश्व में प्रचार है।

इसे पढ़कर हमें जर्मनी की अद्भुत कथाओं की स्मृति हो आती है। एक कथा है—"मेज अपने-आप भर जा (Table fill thyself)।" तीन भाइयों की अद्भुत कथा में भी इसी प्रकार के जादू वर्णित हैं। इनमें से पहली कहानी में एक जादू की कुल्हाड़ी बताई गई है, जिसे छूते ही ईंधन प्राप्त हो जाता है। दूसरी में एक ढोल है जिसकी सहायता से सभी शत्रुओं को जीता जा सकता है। तीसरी कहानी में एक छाछ के मटके का वर्णन है जिसे उलटते ही छाछ की धार बह निकलती है। इसी प्रकार की एक कहानी में एक युवक अपनी सारी संपत्ति खो देता है। उसका पिता मरकर शक्र हो जाता है और उसे एक पात्र भेंट करता है जिससे उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, किंतु उसकी रक्षा के लिए पर्याप्त सावधानी आवश्यक है। क्योंकि जब तक पात्र है तभी तक उसके पास पर्याप्त धन रहेगा। एक दिन मदिरा में उन्मत होकर पात्र को बार-बार उछाल कर हाथों में खेलने लगा। किंतु वह जमीन पर गिर पड़ा और टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसी समय उसके सौभाग्य का अंत हो गया। वह इतना दरिद्र हो गया कि भिखारी के रूप में चिथड़े पहन कर रहने लगा और एक दिन दीवार के पास पड़ा-पड़ा

मर गया।

बहुत-सी कहानियाँ भारत से पश्चिम में गई हैं। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि बहुत-सी कहानियाँ पश्चिम से भारत में आई हैं। यह बात सभी कहानियों पर विशेष रूप से लागू होती है जिनमें जहाज़ के टूटने और सभी प्रकार के समुद्री साहसों का वर्णन है। राक्षसनियाँ टूटे जहाजों से बचे हुए लोगों को अपने प्रेम-जाल में फँसाती है और बाद में मारकर खा जाती है। इन्हें पढ़कर गिद्धों और विचित्र प्रकार के राक्षसी पशुओं का स्मरण हो आता है। मित्तविन्दक नामक जातक लौकिक अद्भुत कथा तथा चरित्र-शिक्षा-संबंधी उपाख्यान का विचित्र मिश्रण है। समुद्रयात्रा में आश्चर्य-जनक अनुभव होते हैं। वह समुद्र के मध्यवर्ती-द्वीपों पर विशाल प्रासादों में प्रेत-स्त्रियों के साथ आनंद-विहार करता है, और अंत में कामनाओं के तृप्त न होने के कारण नरक में जाता है। पाठांतर के अनुसार माता के साथ दुर्व्यवहार के कारण नरक में जाता वहाँ तीक्ष्ण धार वाला चक्र निरंतर उसके सिर पर घूमता रहता है।

मानवभक्षी राक्षसों की कथाओं में भी लोक-कथाओं के साथ चरित्र-कथाओं का सम्मिश्रण मिलता है। इन मानवभक्षी कथाओं के साथ राजा कल्माषपाद का नाम जुड़ा हुआ है जो ब्राह्मण-साहित्य मे भी मिलता है। वह अभिशाप के कारण मानवभक्षी बन गया। इस कथा को बौद्ध उपाख्यानो में अन्तर्गत करने का वास्तविक आधार यह है कि वह मानवभक्षी सुतसोम नाम के एक धर्मात्मा राजा को पकड़ लेता है। सुतसोम एक ब्राह्मण को दी गई अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए उससे छुटकारा प्राप्त कर लेता है और प्रतिज्ञा पूरी करके वापिस आ जाता है और अपने आप को उस राक्षस की भेंट कर देता है। उसकी सत्य-निष्ठा को देख कर मानवभक्षी का हृदय पिघल जाता है और वह बदल जाता है।

नाग, गरुड़, यक्ष, किन्नर आदि सभी प्रकार के अतिमानव प्राणी इन अद्भुत कथाओं के मुख्य पात्र हैं। इनमें से कुछ जातक दीर्घकाय अद्भुत कथा के रूप में परि-वर्तित एव विस्तृत कर दिए गए हैं। जातक-संख्या 504 में एक किन्नर-युगल एक रात्रि के लिए बिछुड़ जाने के कारण करुण-क्रन्दन कर रहा है। जातक-संख्या 485 में एक किन्नर किसी राजा के द्वारा मार दिया जाता है। उसकी सहचरी किन्नरी शोकविह्वल हो लगातार रोती रहती है। अंत में किन्नर को संजीवनी द्वारा पुनर्जीवन मिल जाता है। इस प्रकार की कथाएँ वास्तव में नाट्यपूर्ण गीतिकाएँ हैं। इनमें गीतिका के तत्त्व अधिक प्रस्फुट हैं। जातक-संख्या 432 एक गद्यपद्यमयी लंबा अद्भुत कथा है। बीच-बीच में दूसरे आख्यानक भी डाल दिए जाते हैं। इसमें बोधिसत्त्व मानवभक्षी अश्वमुखी यक्षी के पुत्र के रूप उत्पन्न होते हैं। जातक संख्या 543 गद्य-पद्यमयी दीर्घकाय रचना है। प्रतीत होता है यह स्वतंत्र एवं मौलिक कृति है। इसमें आठ खंड है। इसमें गरुड़ों और नागों का वर्णन है। यह भी लौकिक अद्भुत कथा तथा बौद्ध विश्वासों का विचित्र सम्मिश्रण है। विधुर-पंडित जातक एक वास्तविक महाकाव्य है। इसमें छः खंड हैं। कौरवों के प्रधानमंत्री विदुर इसके नायक हैं। यह विदुर, जिनका उल्लेख जातक-कथा में बार-बार आता है, महाभारत के विदुर से भिन्न नहीं हैं जो धृतराष्ट्र

के चचेरे भाई और मंत्री थे। महाभारत में भी उन्हें कथाओं, दृष्टांतों और सूक्तियों का ज्ञाता बताया गया है। इस नाम और द्यूतक्रीड़ा के सजीव वर्णन के आधार पर इस जातक का संबंध महाभारत के साथ जोड़ा जा सकता है। अतः इसका विशेष महत्त्व है। यदि अपने आप में देखा जाए तो भी यह उत्कृष्ट कोटि की काव्यमयी अद्भुत कथा है।

छोटे-छोटे और प्रायः सूझ से भरे हुए बहुसंख्यक चुटकले अद्भुत कथाओ की अपेक्षा भी बौद्ध धर्म से अपेक्षाकृत कम संबंध रखते हैं। प्राचीन भारतीयों को किसी की मूर्खता पर हँसना उतना ही पसंद था जितना हम लोगो को 'गौतम के जमाने' की मूर्खता-पूर्ण चालाकियों पर हँसना पसंद है। नीचे लिखे आख्यान इस तथ्य को प्रकट करते है। एक पुत्र अपने पिता के सिर पर बैठे मच्छर को मारने के लिए पिता की खोपड़ी तोड़ डालता है। कुछ बंदरों को पेड़ सींचने का काम दिया जाता है। वे उन्हें जड़ से उखाड़कर देखने लगते हैं कि किस को अधिक पानी की आवश्यकता है और किसको कम। ऐसी कथाएँ भी बहुत हैं जिनमें किसी ब्राह्मण या भिक्षु को मूर्ख के रूप में उपस्थित किया गया है। एक ब्राह्मण परिव्राजक ऐसी जगह चला जाता है जहाँ दो मेढ़े आपस में लड़ रहे हैं। जब मेढ़ा कूदकर पीछे की ओर हटता है तब परिव्राजक समझता है कि मेढ़ा शिष्टाचार से परिचित है और सत्कार प्रकट करने के लिए पीछे हट रहा है। एक व्यापारी ने उसे सावधान करते हुए कहा कि मेढ़ा आक्रमण करने के लिए पैंतरा बदल रहा है। किंतु मेढ़ा दौड़ता हुआ आता है और टक्कर मार कर परिव्राजक को गिरा देता है। वह करुण-क्रन्दन करता है—"बचाओ ! साधु मारा जा रहा है।"

राजा महापिंगल की कथा में क्रूरता से भरा हुआ सत्कार है :

यह राजा बड़ा अत्याचारी था। जब वह मरा सारी वाराणसी में हर्ष प्रकट किया गया। किंतु द्वारपाल रोने लगा। बोधिसत्त्व ने उससे रोने का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया—मैं इसलिए नहीं रो रहा हूँ कि महापिंगल मर गया। बल्कि इसलिए रो रहा हूँ कि वह जितनी बार महलों से नीचे उतरता था और वापिस जाता था तो मेरे सिर पर प्रत्येक बार फरसे की आठ चोटें लगाता था। अब मुझे भय है कि जब वह दूसरी दुनिया में चला गया है वहीं चोटें यम के सिर पर लगाएगा। परिणाम-स्वरूप यम उसे वापिस भेज देगा और मुझे फिर चोटें लगनी शुरू हो जाएँगी। बोधिसत्त्व ने उसे सांत्वना देते हुए कहा : मरे हुए लोग वापिस नहीं आते, उसे पूरी तरह जला दिया गया है। चिता को पानी से बुझा दिया गया है। उसके चारों ओर की भूमि फिर से ठीक कर दी गई है।

नीचे लिखी बंदर की कहानी भी अत्यंत रोचक एवं व्यंग्यपूर्ण है : एक बंदर कुछ समय एक राजा के महल में रहा और बाद में छोड़ दिया गया। जब वह अपने साथियों के पास पहुँचा तो उन्होंने उसे घेर लिया और पूछा मनुष्यों की दुनियाँ कैसी है ? तुमने उनके दैनिक जीवन को अच्छी तरह देखा होगा। बंदर ने दो गाथाओं में मनुष्यों के रहन-सहन का वर्णन किया :

मर गया।

बहुत-सी कहानियाँ भारत से पश्चिम में गई हैं। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि बहुत-सी कहानियाँ पश्चिम से भारत में आई है। यह बात सभी कहानियों पर विशेष रूप से लागू होती है जिनमें जहाज के टूटने और सभी प्रकार के समुद्री साहसों का वर्णन है। राक्षसनियाँ टूटे जहाजों से बचे हुए लोगों को अपने प्रेम-जाल में फँसाती है और बाद में मारकर खा जाती है। इन्हें पढ़कर गिद्धों और विचित्र प्रकार के राक्षसी पशुओं का स्मरण हो आता है। मित्तविन्दक नामक जातक लौकिक अद्‌भुत कथा तथा चरित्र-शिक्षा-संबंधी उपाख्यान का विचित्र मिश्रण है। समुद्रयात्रा में आश्चर्य-जनक अनुभव होते हैं। वह समुद्र के मध्यवर्ती-द्वीपों पर विशाल प्रासादों में प्रेत-स्त्रियों के साथ आनंद-विहार करता है, और अंत में कामनाओं के तृप्त न होने के कारण नरक में जाता है। पाठांतर के अनुसार माता के साथ दुर्व्यवहार के कारण नरक में जाता वहाँ तीक्ष्ण धार वाला चक्र निरंतर उसके सिर पर घूमता रहता है।

मानवभक्षी राक्षसों की कथाओं में भी लोक-कथाओं के साथ चरित्र-कथाओं का सम्मिश्रण मिलता है। इन मानवभक्षी कथाओं के साथ राजा कल्माषपाद का नाम जुड़ा हुआ है जो ब्राह्मण-साहित्य में भी मिलता है। वह अभिशाप के कारण मानवभक्षी बन गया। इस कथा को बौद्ध उपाख्यानों में अन्तर्गत करने का वास्तविक आधार यह है कि वह मानवभक्षी सुतसोम नाम के एक धर्मात्मा राजा को पकड़ लेता है। सुतसोम एक ब्राह्मण को दी गई अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए उससे छुटकारा प्राप्त कर लेता है और प्रतिज्ञा पूरी करके वापिस आ जाता है और अपने आप को उस राक्षस की भेंट कर देता है। उसकी सत्य-निष्ठा को देख कर मानवभक्षी का हृदय पिघल जाता है और वह बदल जाता है।

नाग, गरुड़, यक्ष, किन्नर आदि सभी प्रकार के अतिमानव प्राणी इन अद्‌भुत कथाओं के मुख्य पात्र हैं। इनमें से कुछ जातक दीर्घकाय अद्‌भुत कथा के रूप में परि-वर्तित एव विस्तृत कर दिए गए हैं। जातक-संख्या 504 में एक किन्नर-युगल एक रात्रि के लिए बिछुड़ जाने के कारण करुण-क्रन्दन कर रहा है। जातक-संख्या 485 में एक किन्नर किसी राजा के द्वारा मार दिया जाता है। उसकी सहचरी किन्नरी शोकविह्वल हो लगातार रोती रहती है। अंत में किन्नर को संजीवनी द्वारा पुनर्जीवन मिल जाता है। इस प्रकार की कथाएँ वास्तव में नाट्यपूर्ण गीतिकाएँ हैं। इनमें गीतिका के तत्त्व अधिक प्रस्फुट हैं। जातक-संख्या 432 एक गद्यपद्यमयी लंबा अद्‌भुत कथा है। बीच-बीच में दूसरे आख्यानक भी डाल दिए जाते हैं। इसमें बोधिसत्त्व मानवभक्षी अश्वमुखी यक्षी के पुत्र के रूप उत्पन्न होते हैं। जातक संख्या 543 गद्य-पद्यमयी दीर्घकाय रचना है। प्रतीत होता है यह स्वतंत्र एवं मौलिक कृति है। इसमें आठ खंड है। इसमें गरुड़ों और नागों का वर्णन है। यह भी लौकिक अद्‌भुत कथा तथा बौद्ध विश्वासों का विचित्र सम्मिश्रण है। विधुर-पंडित जातक एक वास्तविक महाकाव्य है। इसमें छः खंड हैं। कौरवों के प्रधानमंत्री विदुर इसके नायक हैं। यह विदुर, जिनका उल्लेख जातक-कथा में बार-बार आता है, महाभारत के विदुर से भिन्न नहीं हैं जो धृतराष्ट्र

के चचेरे भाई और मंत्री थे। महाभारत में भी उन्हें कथाओं, दृष्टांतों और सूक्तियों का ज्ञाता बताया गया है। इस नाम और द्यूतक्रीड़ा के सजीव वर्णन के आधार पर इस जातक का संबंध महाभारत के साथ जोड़ा जा सकता है। अतः इसका विशेष महत्त्व है। यदि अपने आप में देखा जाए तो भी यह उत्कृष्ट कोटि की काव्यमयी अद्भुत कथा है।

छोटे-छोटे और प्रायः सूझ से भरे हुए बहुसख्यक चुटकले अद्भुत कथाओ की अपेक्षा भी बौद्ध धर्म से अपेक्षाकृत कम संबंध रखते है। प्राचीन भारतीयों को किसी की मूर्खता पर हँसना उतना ही पसंद था जितना हम लोगो को 'गौतम के जमाने' की मूर्खता-पूर्ण चालाकियों पर हँसना पसंद है। नीचे लिखे आख्यान इस तथ्य को प्रकट करते हैं। एक पुत्र अपने पिता के सिर पर बैठे मच्छर को मारने के लिए पिता की खोपड़ी तोड़ डालता है। कुछ बंदरों को पेड़ सींचने का काम दिया जाता है। वे उन्हें जड़ से उखाड़कर देखने लगते हैं कि किस को अधिक पानी की आवश्यकता है और किसको कम। ऐसी कथाएँ भी बहुत हैं जिनमें किसी ब्राह्मण या भिक्षु को मूर्ख के रूप में उपस्थित किया गया है। एक ब्राह्मण परिव्राजक ऐसी जगह चला जाता है जहाँ दो मेढ़े आपस में लड़ रहे हैं। जब मेढ़ा कूदकर पीछे की ओर हटता है तब परिव्राजक समझता है कि मेढ़ा शिष्टाचार से परिचित है और सत्कार प्रकट करने के लिए पीछे हट रहा है। एक व्यापारी ने उसे सावधान करते हुए कहा कि मेढ़ा आक्रमण करने के लिए पैंतरा बदल रहा है। किंतु मेढ़ा दौड़ता हुआ आता है और टक्कर मार कर परिव्राजक को गिरा देता है। वह करुण-क्रन्दन करता है—"बचाओ! साधु मारा जा रहा है।"

राजा महापिंगल की कथा में क्रूरता से भरा हुआ सत्कार है:

यह राजा बड़ा अत्याचारी था। जब वह मरा सारी वाराणसी में हर्ष प्रकट किया गया। किंतु द्वारपाल रोने लगा। बोधिसत्त्व ने उससे रोने का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया—मैं इसलिए नहीं रो रहा हूँ कि महापिंगल मर गया। बल्कि इसलिए रो रहा हूँ कि वह जितनी बार महलों से नीचे उतरता था और वापिस जाता था तो मेरे सिर पर प्रत्येक बार फरसे की आठ चोटें लगाता था। अब मुझे भय है कि जब वह दूसरी दुनिया में चला गया है वही चोटे यम के सिर पर लगाएगा। परिणाम-स्वरूप यम उसे वापिस भेज देगा और मुझे फिर चोटे लगनी शुरू हो जाएँगी। बोधिसत्त्व ने उसे सांत्वना देते हुए कहा: मरे हुए लोग वापिस नहीं आते, उसे पूरी तरह जला दिया गया है। चिता को पानी से बुझा दिया गया है। उसके चारों ओर की भूमि फिर से ठीक कर दी गई है।

नीचे लिखी बंदर की कहानी भी अत्यंत रोचक एवं व्यंग्यपूर्ण है: एक बंदर कुछ समय एक राजा के महल में रहा और बाद में छोड़ दिया गया। जब वह अपने साथियों के पास पहुँचा तो उन्होंने उसे घेर लिया और पूछा मनुष्यों की दुनियाँ कैसी है? तुमने उनके दैनिक जीवन को अच्छी तरह देखा होगा। बंदर ने दो गाथाओं में मनुष्यों के रहन-सहन का वर्णन किया:

"वे दिन-रात चिल्लाते रहते हैं—मेरे पास सोना है, बहुमूल्य सोना ! ये मूर्ख धर्म-मार्ग की ओर कभी आँख उठाकर देखते भी नहीं। घर के दो स्वामी हैं। एक के दाढ़ी नहीं है किंतु लंबे स्तन हैं और कानों में छेद हैं और सिर पर लंबे-लंबे बाल हैं। उसका मूल्य सोने की असीम राशि में आँका जाता है। वह सभी लोगों को अशांत बना देता है।" इसपर बंदरों ने आगे सुनना बंद कर दिया। उन्होंने अपने कान बंद कर लिए और दौड़ गए। नीचे लिखी कथा यूनानी साहित्य से सम्बद्ध होने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

एक स्त्री के पति, पुत्र और भाई तीनों को फाँसी का दंड मिला। राजा ने उसे उनमें से किसी एक के जीवन-दान का वचन दिया। उसने भाई के प्राण बचाने का निश्चय किया। कारण बताते हुए उसने कहा कि पति और पुत्र सरलता से मिल सकते हैं किंतु भाई नहीं मिल सकता। हैरोडोट्स ने इन्टाफिरिन्स की पत्नी के विषय में यही घटना लिखी है और सैफेकोल्स उसी आधार पर एन्टीगोन को मुक्त कर देता है। एक भारतीय लोकोक्ति है कि और सब कुछ मिलना सरल है किंतु सगे भाई का मिलना कठिन है। इस लोकोक्ति के आधार पर उपर्युक्त बात रामायण में भी मिलती है।[1] इससे मालूम पड़ता है कि यह कथा भारत तथा यूनान दोनों देशों में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। किंतु आदर्श की दृष्टि से देखा जाए तो न यह प्रमुख रूप से भारतीय है और न यूनानी। यह निश्चय करना कठिन है कि इस आदर्श का मूलस्थान कहाँ है। यह निश्चित है कि इसका जन्म दो बार नहीं हुआ होगा।

नीचे लिखी कथा का संबंध ऐसे कथानकों से है जो सभी राष्ट्रों के कथात्मक साहित्य में उतने ही प्रचलित हैं जितने चालाकी और धूर्तता से भरे कथानक हैं जिनमें अत्यधिक चतुराई या पटुता प्रकट की गई है। उनकी अभिव्यक्ति कुशलतापूर्ण उत्तरों में मिलती है। विशेष रूप से पहेलियों के उत्तरों में अथवा कठिन कार्यों की चतुराई से होने वाली पूर्ति में, अथवा बुद्धिपूर्ण निर्णयों में, अथवा कलात्मक कृतियों की समाप्ति में। जातकों में इस प्रकार के बहुत उदाहरण मिलते हैं, उनमें से बहुत से विश्व-साहित्य से संबंध रखते हैं। इनमें से एक कहानी बुद्धिमान न्यायाधीश की है। वह सुलेमान के समान सभी बातों पर अपना फैसला देता है। इसके द्वारा वह एक दरिद्र को बचाता है जो बिना इच्छा के एक घोड़े को लँगड़ा कर देता है, और एक गर्भवती स्त्री को गर्भहत्या के लिए विवश कर देता है, और उसी समय मनुष्यों एवं पशुओं द्वारा उपस्थापित अनेक पहेलियों का उत्तर देता है। कुशजातक (531) का नायक एक कलाकार है जिसका हाथ सभी कलाओं में समान रूप से चलता है :

"राजा ओक्काक का पुत्र कुस जितना चतुर और बुद्धिमान् है। उतना ही कुरूप उसने विवाह की इच्छा से एक अत्यंत सुंदर स्त्री की स्वर्ण-मूर्ति बनाई, और

1. देशे-देशे कलत्राणि देशे-देशे च बान्धवः।
तं तु देशं न पश्यामि, यत्र भ्राता सहोदरः॥

घोषणा की कि वह ऐसी कन्या से विवाह करेगा जो इस स्वर्ण-प्रतिमा के समान सुंदर होगी। उस प्रतिमा को एक नगर से दूसरे नगर घुमाया गया। अंत में मद्रदेश की राजकुमारी प्रभावती का पता लगा। वह प्रतिमा के समान सुंदर थी। कुस के साथ उसका विवाह कर दिया गया। राजकुमार कुरूप था। अतः राजकुमारी की माता ने एक शर्त लगा दी कि जब तक गर्भाधान न हो वे एक-दूसरे से रात को ही मिलें। किंतु वे एक-दूसरे को देखने की इच्छा रोक न सके। इसके लिए विविध उपाय करने लगे और अंत में सफल हो गए। परिणामस्वरूप राजकुमारी अपने पिता के पास लौट आई। वह ऐसे कुरूप पति के साथ न रह सकी। इधर कुस पत्नी के लिए व्याकुल रहने लगा। उसने सभी उपायों द्वारा पुनः उसे प्राप्त करने का निश्चय किया। उसने सागल के लिए, जहाँ राजकुमारी रहती थी, प्रस्थान कर दिया। वहाँ उसने विभिन्न उपायों द्वारा राजा का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। सर्वप्रथम एक गवैये के रूप में उसने बाँसुरी बजाई। तदनन्तर एक स्थपति के रूप में सुंदर मूर्तियाँ बनाई। फिर टोकरी बुनने वाला बनकर सुंदर पंखे,बनाए। फिर माली बनकर एक अत्यंत मनोहर हार बनाया। अंत में वह रसोइया बना और एक हड्डी को इस तरह पकाया कि उसकी सुगंध सारे नगर में फैल गई। वह राजकुमारी के सामने आने में सफल हो गया। किंतु प्रत्येक बार वह घृणा और द्वेष के साथ दुत्कार दिया गया। उसके बाद शक्र ने सात राजाओं को भेजा। उन्होंने प्रभावती से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। मद्र-नरेश उलझन में पड़ गये। उन्हें भय लगा कि यदि उसने राजकुमारी का विवाह किसी एक के साथ कर दिया तो दूसरे उसके विरोध के लिए तैयार हो जाएँगे। अतः उसने राजकुमारी से कहा, मैं तुम्हारे सात टुकड़े कर दूँगा। प्रत्येक राजा को एक-एक टुकड़ा दे दूँगा। कुस महल में ही रसोइये के रूप में रह रहा था। भयाक्रान्त राजकुमारी उसके पास भाग आई, और रसोई के गंदे फर्श पर उसके गंदे पैरों पर गिर पड़ी। कलाकार कुस ने अब अपने को वीर भी सिद्ध कर दिया। क्षणभर में उसने सभी राजाओं को जीत लिया और उन्हें गिरफ्तार कर दिया। वह जितना निपुण एवं वीर था उतना ही सज्जन भी था। उसने राजा से कहा कि अपनी सातों अविवाहित पुत्रियाँ उन राजाओं को दे दे। वह पुनः प्राप्त प्रभावती के साथ घर लौट आया।

एक अपेक्षाकृत छोटे कथानक में बोधिसत्त्व कुशल लुहार के रूप में उपस्थित होते हैं और एक सम्पन्न लुहार की कन्या को प्राप्त करते हैं। उसने सुई बनाई और उसे ऐसी पेटी में बंद किया कि नगर के लुहार उसे ही सुई समझने लगे। महा-उम्मग जातक (सं० 546) अद्भुत कला का प्रदर्शन करने वालों की कथाओं से भरा हुआ है। यह एक लंबी आख्यायिका है जिसमें बहुसंख्यक चुटकुले, पहेलियाँ और कथानक सम्मिलित हैं। यह एक लोकप्रिय पुस्तक है। भारत में इसकी लोकप्रियता अब भी बनी हुई है। इसकी कुछ बातें बुद्धिमान् 'अहिकार' की कथा से मिलती है। अतः इसका महत्त्व और बढ़ जाता है (अहिकार='अलिफ़ लैला' और 'ईसप की जीवनी' से सम्बद्ध हैकर या हेकर)।

इस जातक का नायक महोसध है। बाल्यावस्था में ही उसने अपनी प्रतिभा के अनेक प्रमाण दिए। विशेष रूप से उसने अपने आप को एक चतुर न्यायाधीश सिद्ध कर दिया। सुलेमान की तरह उसने भी दो स्त्रियों के झगड़े का फैसला किया। एक बच्चे पर दोनों अपना-अपना अधिकार सिद्ध करना चाहती थीं। अंत में प्रेम के आधार पर निर्णय किया गया। उसने ज़मीन पर एक रेखा खींच दी और बच्चे को बीच में सुला दिया। एक स्त्री को बच्चे के हाथ पकड़कर खींचने के लिए कहा और दूसरी को पैर पकड़ कर। जो बच्चे को अपनी ओर खींच लेगी बच्चा उसी का हो जाएगा। वे खींचने लगीं और बच्चा चिल्लाने लगा। परिणामस्वरूप असली माता ने उसे छोड़ दिया। इसी पर झगड़ा निपट गया। राजा जब भी किसी समस्या या उलझन को सुलझाना चाहता था, महोसध अवश्य कोई रास्ता निकाल देता था। राजा ने एक शहतीर के विषय में यह जानना चाहा कि उसका जड़ वाला भाग किधर है और तने वाला किधर? महोसध ने शहतीर को पानी में डाल दिया। भारी हिस्सा थोड़ा सा पानी में डूब गया। उससे पता चल गया कि वही जड़ की ओर वाला भाग है। एक आधुनिक मानव-वंश-वेत्ता के समान खोपड़ी की हड्डियों के जोड़ को देखकर उसने पता लगा लिया कि वह खोपड़ी स्त्री की है या पुरुष की? वह नर और मादा सांपों का भी पता लगा सकता था।

एक बार राजा ने एक ऐसे सफेद बैल को माँगा जिसकी टाँगों पर सींग हों, ककुद सिर पर हो और जो अपनी ध्वनि तीन उच्चारणों में तीव्र करता है। सब लोग उलझन में पड़ जाते हैं, किंतु महोसध समझ जाता है कि राजा को श्वेत कुक्कुट चाहिए। राजा ने नीचे लिखी शर्तों के साथ ओदन लाने की आज्ञा दी—वह बिना चावल, बिना पानी, बिना बर्तन, बिना चूल्हा, बिना अग्नि और बिना ईंधन के पका हुआ हो और मार्ग में किसी पुरुष या स्त्री द्वारा न लाया गया हो। महोसध ने इस आज्ञा को भी पूरी कर दिया। राजा ने झूलने के लिए रेत की रस्सी मँगवाई। महोसध उसे भी उपस्थित करने के लिए तैयार हो गया। सिर्फ उसने किसी पुरानी रेत की रस्सी का नमूना चाहा जिससे वह नई रस्सी उतनी मोटी तथा लंबी बना सके। वह छछूंदर आदि पशुओं के मन की बात भी जान जाता था। बुद्धिमान् महोसध अपनी बुद्धि के प्रदर्शनों द्वारा राजा का मंत्री बन गया। उसने एक अत्यंत चतुर स्त्री को अपनी पत्नी बनाने के लिए चुना। वह उसकी सारी चालाकियों को समझ जाती थी। जो मंत्री उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचते या महोसध से ईर्ष्या करते उन्हें वह बड़ी चतुराई से ठीक कर देती थी। महोसध ने शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध के समय भी अपने आपको बुद्धिमान् मंत्री सिद्ध कर दिया। अंत में उसने अपने आपको स्थापत्य-कला का भी विशेषज्ञ सिद्ध कर दिया। उसने एक सुरंग बनाई जिसका वर्णन अजन्ता की गुफाओं के समान भारतीय स्थापत्य-कला के ऊँचे नमूने को उपस्थित करता है।

यह महत्त्वपूर्ण आख्यायिका अपने आप में एक स्वतंत्र रचना है। इसका उपसंहार महोसध की प्रशस्ति के साथ होता है। वास्तव में वह बोधिसत्त्व था। इसके सिवाए आख्यायिका में महोसध की प्रतिभा एवं बुद्धिमत्ता के उदाहरणों के

अतिरिक्त ऐसी कोई बात नहीं है जिसका संबंध बौद्ध-धर्म से जोड़ा जा सके। जातकों की जिन कहानियों में डाकू, आवारे, जुआरी तथा वेश्याएँ मुख्य पात्र हैं उनका भी बौद्ध धर्म के साथ विशेष संबंध नहीं है। हाँ, सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से यह कथा नक बड़े रोचक हैं।

बोधिसत्त्व स्वयं दो बार लुटेरे के रूप में वर्णित हैं। एक कथा में बताया गया है कि एक ब्राह्मण को ऐसा जादू आता था जिससे रत्नों की वर्षा हो सके। उसे डाकू ने पकड़ लिया। छुटकारा पाने के लिए ब्राह्मण ने मंत्र पढ़ा और सात बहुमूल्य रत्न बरसे। उन रत्नों को लेकर डाकुओं के दो दलों में झगड़ा हो गया और सभी मारे गए। रत्न किसी के हाथ न लगे। इसी प्रकार की कथा चौसर के 'पार्डोनर्स टेल' में भी मिलती है। स्त्रियों की धूर्तता प्रकट करने वाली कहानियाँ भी प्रचुर संख्या में हैं। जातक संख्या 61 से 66 तक इस प्रकार की कहानियों की लंबी शृंखला है। कुणाल-जातक (संख्या 536) इस प्रकार की कहानियों और लोकोक्तियों का विशाल संग्रह है। विविध प्रकार की घटनाओं द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रार्थी मिलने पर सभी स्त्रियाँ विश्वासघात कर सकती है। एक ब्राह्मण ने एक लड़की को जन्म से लेकर पाला-पोसा और बड़ा किया। युवा होने पर उसके साथ विवाह कर लिया और उसकी निगरानी के लिए ऐसा एक मकान बनाया जिसमें सात प्रकोष्ठ थे और उसे वहाँ रख दिया। फिर भी उसने धोखा दे दिया। उसने अपने-आप को पूर्णतया पतिव्रता तथा निर्दोष बताया और इसके लिए कठोर परीक्षा देनी चाही और अपनी धूर्तता से उसमें भी पार हो गई। कुणाल-जातक में अन्य कथाओं के अतिरिक्त कृष्ण और द्रोपदी की कथा भी है और यह बताया गया है कि द्रौपदी पाँच पतियों से भी संतुष्ट नहीं थी। उसने एक कुब्ज एवं वामन के साथ संबंध जोड़ लिया। इससे पांडवों के मन में चोट लगी और वे संन्यासी बनकर हिमालय पर चले गए। यह जातक स्त्रियों की धूर्तता के विरुद्ध उपदेशों से भरा हुआ है और कहा जाता है कि बुद्ध ने स्वयं इसका उपदेश दिया था। इसकी कुछ लोकोक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं:

"वे विष की घूंट हैं और डाकू के समान क्रूर हैं, बारहसिंघे के सींग के समान वक्र हैं। उनकी जीभ साँप के समान विषैली है। व्यापारियों के समान वे शीघ्र ही नाता तोड़ देती हैं।

"वे ढके हुए गढ़ के सामान घातक हैं। नरक की अपवित्र दुर्गंध हैं। प्रेत के समान लोभी हैं। वे मृत्यु के समान हैं जो सब कुछ छीन लेती हैं।

"स्त्रियाँ आग की लपटों के समान अपने शिकार को निगल जाती हैं।

"बाढ़ के सामन सब कुछ बहा ले जाती हैं। वे महामारी हैं, कंटक के समान हैं।

वे धन के लिए पथभ्रष्ट हो जाती हैं।

जो कहानियाँ भारत में अत्यधिक प्रचलित थीं उनके साथ बौद्ध आदर्श जोड़ दिए गए और उन्हें बुद्ध के उपदेशों में स्थान मिल गया। बौद्ध भिक्षुओं के लिए यह रोचक

सामग्री थी, जिससे स्त्रियों की धूर्तताओं एवं मोह-पाशों को प्रकट किया जा सके। वे सबको सावधान करना चाहते थे कि किस प्रकार इनसे बचना चाहिए। इस प्रकार बहुत-सी चरित्रहीन कथाएँ जातकों में आकर चरित्र-कथाएँ बन गई। जातक-संख्या 527 एक दीर्घकाय चरित्र-कथा है और लोकगीत के रूप में उपस्थित की गई है। वह इतनी नाट्यपूर्ण है कि उसे एक छोटा-सा नाटक समझा जा सकता है :

एक राजा ने अपने सेनापति अहिपारक की अत्यन्त लावण्यवती पत्नी को देखा और उसके प्रेम में विह्वल हो गया। किंतु जब उसे पता लगा कि वह किसी दूसरे की पत्नी है तो समझ लिया कि वह प्राप्त नहीं हो सकती। उसने अत्यंत करुण-शब्दों में अपने मनोभावों को प्रकट किया है। अहिपारक अपनी पत्नी से बहुत स्नेह करता था। फिर भी राजा के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए उसे सौंपने को तैयार हो गया। किंतु राजा ने पाप-सेवन से इनकार कर दिया। राजा और सेनापति अत्यंत प्रभावशाली शब्दों में अपनी-अपनी बात उपस्थित करते हैं। दोनों का संवाद रोचक एवं नाट्यपूर्ण है। अंत में धर्म की जीत होती है और राजा सब कुछ त्याग देता है।

कुछ चरित्र-सबंधी एवं कुछ कल्पित कथाओं का उद्देश्य शिक्षा है। प्रतीत होता है कि वे बच्चों के लिए बनाई गई होंगी। जातक-संख्या 484 इसी प्रकार की कथा है। इसमें बोधिसत्त्व एक बुद्धिमान् तोते के रूप में उपस्थित होते हैं। वह तोता खेत में चावलों को खाता था और सग्रह करने के लिए अपनी चोंच में ले भी जाता था। जब उससे ऐसा करने का कारण पूछा गया तब उसने उत्तर दिया—मैं एक कर्ज चुकाता हूं, दूसरी ओर उधार भी देता हूँ और कोष में सचय भी करता हूँ। इसका अर्थ यह है कि वह अपने माता-पिता को भोजन देता है, अपने छोटे बच्चों को पालता है और अन्य दुर्बल पक्षियों को भी भोजन देता है।

उपर्युक्त कहानियों में से कुछ महाभारत में भी मिलती हैं। वह एक प्रकार से चरित्र-संबंधी उपाख्यान हैं। इनमें से दो कहानियों का सार नीचे दिया जाता है :

संख्या 352 : एक व्यक्ति के पिता की मृत्यु हो गई। वह शोक से इतना विह्वल हो गया कि वह किसी प्रकार शांत न होता था। तब उस मनुष्य का पुत्र एक मरे हुए बैल के सामने खड़ा दिखाई दिया। वह उसे घास और पानी दे रहा था। पिता ने सहज ही विचार किया कि उसका पुत्र पागल हो गया है। किंतु पुत्र ने कहा—बैल का सिर, पैर और पूंछ अभी विद्यमान हैं। इनसे संभव है कि बैल फिर खड़ा हो जाए। किंतु मेरे पितामह का सिर, पैर आदि कुछ नहीं है। प्रतीत होता है कि आपने ही विचार-शक्ति खो दी है। यही कारण है कि आप उसकी चिता पर अनवरत रो रहे हैं। इससे पिता को सान्त्वना मिली।

संख्या 454 : कृष्ण अपने पुत्र की मृत्यु पर धैर्य खो देता है। तब उसका भाई घट पागल होने का दिखावा करता हैं, और यह चिल्लाता हुआ नगर में दौड़ने लगता है—मुझे खरगोश दे दो। कृष्ण ने उससे पूछते है—तुम वास्तव में क्या चाहते हो ?''

घट उत्तर देता है—मेरा आशय चाँद में छिपे हुए खरगोश से है। कृष्ण बताते हैं कि यह एक दुराशामात्र है। परंतु घट उत्तर देता है कि वह भी असंभव की याचना कर रहा है जब वह बहुत दिनों से मरे हुए पुत्र को पुन: जीवित देखना चाहता है। उपर्युक्त शब्द कृष्ण को पुत्र-शोक से मुक्त कर देते है।

दशरथ-जातक में भी राम द्वारा इसी प्रकार की सांत्वनात्मक गाथाएँ कही गई हैं। उनका भी उद्देश्य मृत व्यक्ति के लिए होने वाले शोक को दूर करना है। इस जातक में कथानक का अंश केवल गद्य-टीका में है। गाथाओं में कथानक का कोई भाग नहीं है, उनमें केवल धार्मिक उक्तियाँ हैं। इसी प्रकार जातक-संख्या 512 भी सूक्तियों का संग्रहमात्र है। उसके गद्य में एक कहानी है जिसमें यह बताया गया है कि मदिरा पान के कुव्यसन का प्रारंभ कैसे हुआ। यह कथा टीकाकार की नीरस कृति है। किंतु गाथाएँ पुरानी हैं। उनमें एक राजा के गौरव का वर्णन करते समय मदिरापान की बुराइयाँ भी बताई गई हैं। ये गाथाएँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर मदिरापान से घृणा करने वाले का हृदय भी आनंदित हो जाता है। प्रत्येक गाथा के अंत में व्यंग्योक्ति के रूप में "अत: मदिरा से भरा हुआ प्याला ख़रीदो" की कड़ी जुड़ी हुई है। प्रतीत होता है यह किसी पुराने मदिरा गीत की कड़ी रही होगी।

कुरुराज युधिष्ठिर और विदुर के बीच एक संवाद है जिसमें यह चर्चा की गई है कि सच्चा ब्राह्मण किसे कहना चाहिए। यह भी उपदेश-काव्य के अंतर्गत है। टीकाकार महामंगल-जातक (453) को सुत्त-निपात के मंगल-सुत्त से साथ जोड़ते हैं। किंतु वास्तव में यह सूक्तियों का संग्रह है। किंतु इससे इस बात का उत्तर नहीं मिलता कि उत्तम मंगल क्या है। किंतु 'सुख क्या है' इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। ये सभी सूक्तियाँ बौद्ध नहीं हैं, किंतु ब्राह्मण-आदर्शों के साथ अधिक मेल खाती है। इसी प्रकार जातक-संख्या 473 की कहानियाँ भी बौद्ध नहीं हैं। उनमें यह बताया गया है कि सच्चे मित्र को किस प्रकार पहचाना जा सकता है। ऐसे अनेक स्थल संस्कृत की शिक्षाप्रद उपदेश-कविताओं में भी मिलते हैं। जातकों का बड़ा भाग कहानियों से भरा हुआ है। अंतिम जातकों में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। इनमें से कुछ उपनिषदों और महाभारत के संवादों से मिलते हैं, जिनमें किसी शिक्षा को देने के लिए कहानी का ढाँचा गढ़ लिया गया है। जातक-संख्या 544 इस दृष्टि से अत्यंत रोचक संवाद है। उसका उद्धरण नीचे दिया जा रहा है :

विदेह के राजा अंगपति ने अपने तीन मंत्रियों को बुलाया और अपने भावी कर्त्तव्य के लिए पूछा। अलात नामक सेनापति ने एक शानदार युद्ध की सलाह दी। सुनाम ने कहा कि युद्ध आवश्यक नहीं है। अच्छा यही है कि संगीत, नृत्य तथा अन्य मनोरंजनों का आनंद लिया जाए विजय ने सलाह दी कि किसी धार्मिक तपस्वी का उपदेश सुना जाए, और अलात के ही परामर्शानुसार गुणकश्यप नामक एक दिगंबर मुनि को बुलाया गया। दिगंबर साधु भौतिकवाद का नीचे लिखे शब्दों में प्रतिपादन करता है :

न कोई कर्म है, न पूर्वज, न माता-पिता, न गुरु है। सभी प्राणी एक सरीखे हैं। सब भविष्य पूर्व-निश्चित है। दान का कोई फल नहीं है। परलोक में सुख और दुख का कोई अर्थ नहीं है। अलात इन सिद्धांतों का पूर्ण समर्थक है, और कहता है—मुझे अपने पूर्वजन्मों की स्मृति है। मैं एक गो-घातक और शिकारी था। मैंने अनेक जीवों के प्राण लिए। फिर भी मैं उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हूँ और अब सेनापति हूं। यह बीजक दास है और दुःख के साथ स्वीकार करता है—पूर्व जन्म में मैं उदार और सच्चरित्र था। फिर भी मेरा जन्म वेश्या के पुत्र के रूप में हुआ और अब एक गुलाम हूँ। अपने जीवन के खेल में मुझे पराजय मिली, दूसरी ओर अलात को एक चतुर खिलाड़ी के समान विजय मिली। इन वक्तृताओं ने राजा के विचार बदल दिए। उसने आमोद-प्रमोद का जीवन प्रारंभ कर दिया। दिन-रात भोग-विलासों के विचार में डूबा रहने लगा। राज्य का काम दूसरों पर छोड़ दिया। उस समय उसकी धर्मपरायण एवं सुशील कन्या उपस्थित हुई और उसने सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया। जो कुसंगति में रहता है, स्वयं दुराचारी बन जाता है। जिस प्रकार से अधिक बोझ वाली नौका डूब जाती है उसी प्रकार पाप के बोझ से दबा हुआ मनुष्य डूब जाता है और नरक के दुःखों को भोगता है। तत्पश्चात् उसने पिछले जन्मों के विषय में कहा—मैंने नवयुवक के रूप में बहुत-सी स्त्रियों को अपने प्रेमजाल में फँसाया। उसके बाद अनेक जन्म लिए। मनुष्य तथा पशु के रूप में जन्म लेकर तथा नरक में भयंकर कष्ट भोगे। उसी समय वहाँ नारद ऋषि उपस्थित हुए। उन्होंने भी राजा के समान उपदेश दिया और कहाँ कर्म भी है और परलोक भी। तब राजा ने कहा, यदि परलोक है तो मुझे पाँच सौ रुपए दे दो। अगले जन्म में मैं तुम्हें एक हजार दे दूंगा। नारद ने उत्तर दिया—मैं तुम्हें पाँच सौ दे सकता हूँ किंतु तुम्हारी ओर से जमानती कौन होगा ? जब तुम नरक में होगे तो यह कौन बताएगा कि तुमने पाँच सौ उधार लिए हैं। इस संसार में भी रुपया उधार उसी को मिलता है जो विश्वास-योग्य होता है। उसके बाद उसने नरक और वहाँ के दुःखों का हृदयस्पर्शी वर्णन किया। उसने एक गाड़ी की उपमा देकर उपसंहार किया जिसके साथ मानव-शरीर की तुलना की जाती है। अंत में राजा के विचार बदल जाते हैं।

जातक-संख्या 530 भी इसी प्रकार एक इतिहास-संवाद है। वह पढ़ने में किसी प्राचीन पुराण के उद्धरण-सा प्रतीत होता है। इसमें राजा ब्रह्मदत्त को बताया गया है कि भिक्षु सांकृत्य, जो पूर्व-जन्म में गृह-पुरोहित था, आया है। राजा उससे मिलने गया और उससे पूछा कि परलोक में पापियों को क्या फल मिलता है। सांकृत्य ने एक उपदेश के रूप में उत्तर दिया, जिसमें नरक-दुःखों का विशद वर्णन है। दो मित्र चित्तऔर संभूति क्रमशः चाण्डाल, हरिण, समुद्री-काक रूप में उत्पन्न होते हैं, अंत में चित्त एक पुरोहित के पुत्र-रूप में, और संभूति एक राजकुमार के रूप में उत्पन्न होता है। इनमें चित्त को अपने पूर्व जन्म स्मृत हो आते हैं और वह त्यागी जीवन की प्रशंसा करता है और राजा से कहता है, यदि तुम राज्य को छोड़कर भिक्षु नहीं बन सकते तो भी न्याय

को मत छोड़ो। सदा यह स्मरण रखो कि पूर्व-जन्म में तुम एक ग़रीब तथा हीनवंश में उत्पन्न हुए थे।

ये सब कथाएँ लोक-गीतों की शैली में हैं। इनमें से अधिकतर कथाएं ऐसे राजाओं की हैं जिन्हें किसी छोटी-मोटी घटना ने अंतर्मुखी बना दिया। परिणामस्वरूप वे सिंहासन छोड़कर त्यागी बन गए और हिमालय में शांत एवं ध्यानमग्न रहते हुए मुनि जीवन बिताया। एक राजा ने आम का पेड़ देखा जिसके फल तोड़ लिए गये थे। उसे देखकर उसे ध्यान आया कि विश्व की समस्त वस्तुएँ क्षण-भंगुर हैं और घर-बार छोड़-दिया। एक अन्य राजा ने लड़की के हाथ में परस्पर टकरा कर बजती हुई चूड़ियों को देखा। उन्हें देखकर उसके मन में आया कि जहाँ एक है वहीं शांति रह सकती है, दो होने पर संघर्ष अनिवार्य है। तीसरी कथा में एक राजा मांस के टुकड़े के लिए परस्पर लड़ते हुए गिद्धों को देखता है। उसके मन में ख्याल आया है, कि लोभ कितनी बुरी वस्तु है। चौथी कथा में एक राजा गाय के पीछे पागल सांड को देखता है और यह देखता है कि दूसरा सांड उस पर आक्रमण कर देता है। परिणामस्वरूप वह मर जाता है। उन्हें देखकर वह काम-वासना से दूर रहने का पाठ सीखता है। सभी कथाओं में परिणाम एक ही है। राजा मखादेव अपने सिर में एक सफेद बाल को देखकर विरक्त हो जाता है और भिक्षु बन जाता है। यह कथा भी इसी श्रेणी में आती है।

महाजनक-जातक (संख्या 539) अत्यंत सुन्दर काव्य है। इसके नायक विदेह-राज जनक हैं। उनका वर्णन उपनिषद् तथा महाभारत में भी पर्याप्त रूप से मिलता है। जातकों के अनुसार जब रानी ने जलती हुई मिथिला नगरी को दिखाकर उसे प्रव्रजित होने से रोकना चाहा तभी उसने नीची लिखी घोषणा की थी—"मिथिला जल रही है तो भी मेरा कुछ नहीं जलता।" राजा जनक ने कैसे संन्यासी बनने का निश्चय किया, किस प्रकार पहले वे अपने महल के आलिंद में ध्यानमग्न खड़े रहे, किंतु शीघ्र ही कैसे उन्होंने निश्चय कर लिया कि राजसिंहासन और स्वर्णपात्रों को छोड़कर हाथ में मृत्पात्र लेकर एकान्त में चले जाना चाहिए। किस प्रकार रानी उन्हें घर में रखने का प्रयत्न करती हैं, किंतु किस प्रकार वे अपने निश्चय में उत्तरोत्तर दृढ़ होते जाते हैं। वे किसी प्रकार झुकते नहीं और अंत में एकाकी अपने पथ पर चल पड़ते हैं। ये सारी बातें ऐसी हृदयस्पर्शी शैली में वर्णित है जिससे रचयिता की दृढ़ निष्ठा का पता लता है। साथ ही, इनमें प्रतिभापूर्ण कवित्व का भी अद्भुत सम्मिश्रण है।

ये कथाएँ उस श्रमण-परंपरा से संबंध रखती हैं जिसमें से बहुत सी कथाएँ पुराणों में भी संकलित हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि ऋषि शृंग (पालि : 'इसि सिंग') की कथा इसी श्रेणी में आती है। यह कथा जातक-संग्रह में वर्णित है। नळिनिका-जातक (सं० 526) में इसका प्राचीन रूप सुरक्षित है। जातक-संख्या 523 में वही कथा दुबारा आती है। इसमें अलम्बुसा नाम की अप्सरा युवक भिक्षु ऋषि शृंग को (जिसने कभी स्त्री को नहीं देखा था) आकृष्ट करती है। प्राचीन कथा में इसी प्रकार ऋषि शृंग को शान्ता अपनी ओर आकृष्ट करती है। इस जातक की गद्य-

भूमिका में बताया गया है कि किस प्रकार ऋषि शृंग एक हरिण से उत्पन्न हुए थे। यह भूमिका प्राचीन मालूम पड़ती है। भरहुत के स्तूप में उत्कीर्ण चित्रों में यह दृश्य उपस्थित किया गया है। एक बालक हरिण से उत्पन्न होता है और मनुष्य उसे उठा ले जाता है। साम-जातक (संख्या 540) का संपर्क उन कहानियों से है जो राजा दशरथ ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए सुनाई थीं। इस जातक की विषय-सूची निम्नलिखित है—

साम एक धर्मात्मा ऋषिकुमार था और अपने अंधे माता-पिता के साथ वन में रहता था। वह दिन रात उनकी सेवा में लगा रहता था। एक दिन वह उनके लिए पानी लेने गया। उसी समय उसे एक विषाक्त बाण लगा। यह बाण वाराणसी के राजा पिलियक्ख ने शिकार समझ कर उस पर छोड़ा था। युवक के मुँह से अभिशाप या क्रोध का कोई शब्द नहीं निकला। केवल अपने असहाय माता-पिता के लिए करुण-क्रन्दन फूट पड़ा। राजा ने दयार्द्र होकर उसे सांत्वना दी और उसके अंधे माता-पिता की सेवा-शुश्रुषा का वचन दिया। साम ने उसे माता-पिता की कुटिया का रास्ता दिखा दिया और धन्यवाद दिया, फिर वह मूर्च्छित हो गया। राजा के हृदय में करुणा उमड़ आई और वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसे किसी वनदेवी ने सांत्वना दी। उसने कहा यदि तुम साम के माता-पिता के पास चले जाओ और पुत्र के समान उनकी सेवा करो तो इस महापाप से छुटकारा पा सकते हो। राजा ने आँखों में आँसू भर कर पानी का घड़ा उठाया और कुटिया की ओर चल दिया। पदध्वनि से वृद्ध माता-पिता ने जान लिया कि वह उनका पुत्र साम नहीं है। पिलियक्ख ने अपना परिचय दिया। वृद्ध ने स्नेहभरे शब्दों में राजा का स्वागत किया। उसे आतिथ्य के रूप में फल-फूल एवं जल भेंट किए। राजा ने उससे पूछा 'आपको फल कहाँ से प्राप्त होते हैं। मुझे तो कहीं दिखाई नहीं देते।' वृद्ध ने उत्तर दिया—हमारा प्रिय पुत्र है वह रूपवान् युवक है, वही हमें पानी तथा फल आदि लाकर देता है। इस पर राजा ने वह दुःखद घटना सुनाई—आपका आज्ञाकारी पुत्र मर गया। मैंने उसे मार डाला। पिता के शब्द मृदु होने पर भी करुणापूर्ण उपालम्भ से भरे हैं। किंतु माता फूट-फूटकर रोने लगी। वृद्ध ने राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके कल्याण की कामना की। किंतु माता को उसकी सहृदयता अच्छी न लगी। राजा ने माता-पिता को सांत्वना दी और कहा अपने पुत्र के स्थान पर मुझे स्वीकार कर लीजिए। मैं आपका उतना ही ध्यान रखूँगा जितना साम रखता था। किंतु माता-पिता ने उसे कहा—हमें साम के मृत शरीर के पास ले चलो।

राजा हिचकिचाते हुए उन्हें ले गए। शव के पास जाकर माता-पिता अत्यंत करुण-क्रन्दन करने लगे। वह क्रन्दन ही मंत्र का कार्य भी कर रहा था। मां ने कहा—यदि यह सत्य है कि साम का जीवन धर्ममय था तो विष दूर हो जाए और वह स्वस्थ होकर एक बार फिर हमारे सामने खड़ा हो जाए। पिता अपने तथा पत्नी के धर्माराधन की दुहाई देकर विष दूर करने का मंत्र पढ़ रहा था। वनदेवी भी उसी प्रकार के मंत्र पढ़ने लगी। तब साम उठ बैठा। स्वस्थ और ताजा होकर माता-पिता के सामने खड़ा

हो गया। उसने आश्चर्य-चकित राजा का अभिनंदन किया। उसने बताया—मैं केवल मूर्च्छित हो गया था। जो लोग अपने माता-पिता की सेवा करते हैं, इस जीवन में देवता उनकी सहायता करते हैं और मरने पर वह स्वर्ग को जाते हैं। पिता ने साम की रक्षा के लिए प्रार्थना की। साम ने राजा को धर्मोपदेश दिया।

कुछ कहानियाँ निस्संदेह मूलत: बौद्ध-परंपरा की देन हैं। उनमें दया, करुणा, नम्रता और स्वार्थ-त्याग स्वाभाविकता की सीमा उल्लंघन कर गए हैं। राजा शिवि की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। उसने अपनी आँखें निकाल कर दे दी थीं। जातक-संख्या 440 में राजा कन्ह की कथा है। उसने सर्वस्व का दान दे दिया और संन्यास लेकर हिमालय पर चला गया। इन्द्र ने उसे मनचाहा वर माँगने को कहा। किंतु उसने आत्मशांति अर्थात् घृणा, इच्छा एवं वासनाओं से मुक्ति चाही। उसने इन्द्र से जो वर माँगे उनमें सुंदरतम इस प्रकार है—

हे समस्त प्राणियों के स्वामी, शक्र! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो तो यह वर-दान दो—'हे शक्र! मेरे द्वारा कहीं किसी प्राणी को मानसिक या शारीरिक किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। हे शक्र! यह मेरे लिए वरों का वर है।'

कथा-संख्या 151 में शत्रुओं के प्रति प्रेम का आदर्श विचित्र प्रकार से उपस्थित किया गया है। काशी-नरेश और कौशल-नरेश अपने-अपने राज्य से बाहर घूमने निकले। एक संकुचित मार्ग में दोनों आमने-सामने आकर अटक गए। दोनों समान रूप से न्यायकारी थे। आयु, यश तथा शक्ति में भी समान थे। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, दूसरे को मार्ग देने के लिए एक ओर अलग कौन हटे। दोनों के सारथियों में संवाद प्रारंभ हुआ। कौशल-नरेश की तारीफ करते हुए सारथि ने कहा—हमारे राजा मित्र का मित्रता से, शत्रु का शत्रुता से स्वागत करते हैं। वे बड़े पराक्रमी हैं। काशी-नरेश के सारथि ने कहा—हमारे राजा क्रोध का क्षमा से, शत्रु का मित्रता से, तथा लोभ का उदारता से उपचार करते हैं। यह सुनकर कोशल-नरेश ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और काशी-नरेश को मार्ग दे दिया। जातक-संख्या 313 की खन्तीवादी नाम की कथा भी बौद्ध-परंपरा की मौलिक देन है। इसमें बोधिसत्त्व क्षमा का आदर्श उपस्थित करते हैं। एक राजा ने क्रोध में भर कर बोधिसत्त्व को कोड़े लगाए, पैरों तले रौंदा। लेकिन वे सब कुछ धैर्य के साथ सहते गए। मन में किसी प्रकार के प्रतिशोध की भावना न आने दी। बहुत-सी कथाओं में, जो पशुओं के साथ संबंध रखती हैं, बोधिसत्त्व एक पशु के रूप में उत्पन्न होते हैं। एक हरिण एक सगर्भा हरिणी के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है। परिणामस्वरूप राजा को मनाने में सफल हो जाता है। राजा उस हरिणी को ही नहीं छोड़ता, अपितु सदा के लिए मृगया ही छोड़ देता है। खरगोश अतिथियों को भोजन के रूप में अपना मांस अर्पित करने के लिए स्वयं आग में कूद जाता है। एक बन्दर अपने साथी को बचाने के लिए नदी पर पुल की तरह लेट जाता है। दूसरा बंदर खाई में गिरे हुए मनुष्य को बचाता है। वही मनुष्य बंदर को मांस खाने की इच्छा से उसे मार डालता है। इस जघन्य पाप के

भूमिका में बताया गया है कि किस प्रकार ऋषि शृंग एक हरिण से उत्पन्न हुए थे। यह भूमिका प्राचीन मालूम पड़ती है। भरहुत के स्तूप में उत्कीर्ण चित्रों में यह दृश्य उपस्थित किया गया है। एक बालक हरिण से उत्पन्न होता है और मनुष्य उसे उठा ले जाता है। साम-जातक (संख्या 540) का संपर्क उन कहानियों से है जो राजा दशरथ ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए सुनाई थीं। इस जातक की विषय-सूची निम्नलिखित है—

साम एक धर्मात्मा ऋषिकुमार था और अपने अंधे माता-पिता के साथ वन में रहता था। वह दिन रात उनकी सेवा में लगा रहता था। एक दिन वह उनके लिए पानी लेने गया। उसी समय उसे एक विषाक्त बाण लगा। यह बाण बाराणसी के राजा पिलियक्ख ने शिकार समझ कर उस पर छोड़ा था। युवक के मुँह से अभिशाप या क्रोध का कोई शब्द नहीं निकला। केवल अपने असहाय माता-पिता के लिए करुण-क्रन्दन फूट पड़ा। राजा ने दयार्द्र होकर उसे सांत्वना दी और उसके अंधे माता-पिता की सेवा-शुश्रुषा का वचन दिया। साम ने उसे माता-पिता की कुटिया का रास्ता दिखा दिया और धन्यवाद दिया, फिर वह मूर्च्छित हो गया। राजा के हृदय में करुणा उमड़ आई और वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसे किसी वनदेवी ने सांत्वना दी। उसने कहा यदि तुम साम के माता-पिता के पास चले जाओ और पुत्र के समान उनकी सेवा करो तो इस महापाप से छुटकारा पा सकते हो। राजा ने आँखों में आँसू भर कर पानी का घड़ा उठाया और कुटिया की ओर चल दिया। पदध्वनि से वृद्ध माता-पिता ने जान लिया कि वह उनका पुत्र साम नहीं है। पिलियक्ख ने अपना परिचय दिया। वृद्ध ने स्नेहभरे शब्दों में राजा का स्वागत किया। उसे आतिथ्य के रूप में फल-फूल एवं जल भेंट किए। राजा ने उससे पूछा 'आपको फल कहाँ से प्राप्त होते हैं। मुझे तो कहीं दिखाई नहीं देते।' वृद्ध ने उत्तर दिया—हमारा प्रिय पुत्र है वह रूपवान् युवक है, वही हमें पानी तथा फल आदि लाकर देता है। इस पर राजा ने वह दुःखद घटना सुनाई—आपका आज्ञाकारी पुत्र मर गया। मैंने उसे मार डाला। पिता के शब्द मृदु होने पर भी करुणापूर्ण उपालम्भ से भरे हैं। किंतु माता फूट-फूटकर रोने लगी। वृद्ध ने राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके कल्याण की कामना की। किंतु माता को उसकी सहृदयता अच्छी न लगी। राजा ने माता-पिता को सांत्वना दी और कहा अपने पुत्र के स्थान पर मुझे स्वीकार कर लीजिए। मैं आपका उतना ही ध्यान रखूँगा जितना साम रखता था। किंतु माता-पिता ने उसे कहा—हमें साम के मृत शरीर के पास ले चलो।

राजा हिचकिचाते हुए उन्हें ले गए। शव के पास जाकर माता-पिता अत्यंत करुण-क्रन्दन करने लगे। वह क्रन्दन ही मंत्र का कार्य भी कर रहा था। मां ने कहा—यदि यह सत्य है कि साम का जीवन धर्ममय था तो विष दूर हो जाए और वह स्वस्थ होकर एक बार फिर हमारे सामने खड़ा हो जाए। पिता अपने तथा पत्नी के धर्माराधन की दुहाई देकर विष दूर करने का मंत्र पढ़ रहा था। वनदेवी भी उसी प्रकार के मंत्र पढ़ने लगी। तब साम उठ बैठा। स्वस्थ और ताजा होकर माता-पिता के सामने खड़ा

हो गया। उसने आश्चर्य-चकित राजा का अभिनंदन किया। उसने बताया—मैं केवल मूर्च्छित हो गया था। जो लोग अपने माता-पिता की सेवा करते हैं, इस जीवन में देवता उनकी सहायता करते हैं और मरने पर वह स्वर्ग को जाते हैं। पिता ने साम की रक्षा के लिए प्रार्थना की। साम ने राजा को धर्मोपदेश दिया।

कुछ कहानियाँ निस्संदेह मूलतः बौद्ध-परंपरा की देन हैं। उनमें दया, करुणा, नम्रता और स्वार्थ-त्याग स्वाभाविकता की सीमा उल्लंघन कर गए हैं। राजा शिवि की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। उसने अपनी आँखें निकाल कर दे दी थीं। जातक-संख्या 440 में राजा कन्ह की कथा है। उसने सर्वस्व का दान दे दिया और संन्यास लेकर हिमालय पर चला गया। इन्द्र ने उसे मनचाहा वर माँगने को कहा। किंतु उसने आत्मशांति अर्थात् घृणा, इच्छा एवं वासनाओं से मुक्ति चाही। उसने इन्द्र से जो वर माँगे उनमें सुंदरतम इस प्रकार है—

हे समस्त प्राणियों के स्वामी, शक्र ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो तो यह वर-दान दो—'हे शक्र ! मेरे द्वारा कहीं किसी प्राणी को मानसिक या शारीरिक किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। हे शक्र ! यह मेरे लिए वरों का वर है।'

कथा-संख्या 151 में शत्रुओं के प्रति प्रेम का आदर्श विचित्र प्रकार से उपस्थित किया गया है। काशी-नरेश और कौशल-नरेश अपने-अपने राज्य से बाहर घूमने निकले। एक संकुचित मार्ग में दोनों आमने-सामने आकर अटक गए। दोनों समान रूप से न्यायकारी थे। आयु, यश तथा शक्ति में भी समान थे। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, दूसरे को मार्ग देने के लिए एक ओर अलग कौन हटे। दोनों के सारथियों में संवाद प्रारंभ हुआ। कौशल-नरेश की तारीफ करते हुए सारथि ने कहा—हमारे राजा मित्र का मित्रता से, शत्रु का शत्रुता से स्वागत करते हैं। वे बड़े पराक्रमी हैं। काशी-नरेश के सारथि ने कहा—हमारे राजा क्रोध का क्षमा से, शत्रु का मित्रता से, तथा लोभ का उदारता से उपचार करते हैं। यह सुनकर कौशल-नरेश ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और काशी-नरेश को मार्ग दे दिया। जातक-संख्या 313 की खन्तीवादी नाम की कथा भी बौद्ध-परंपरा की मौलिक देन है। इसमें बोधिसत्त्व क्षमा का आदर्श उपस्थित करते हैं। एक राजा ने क्रोध में भर कर बोधिसत्त्व को कोड़े लगाए, पैरों तले रौंदा। लेकिन वे सब कुछ धैर्य के साथ सहते गए। मन में किसी प्रकार के प्रतिशोध की भावना न आने दी। बहुत-सी कथाओं में, जो पशुओं के साथ संबंध रखती हैं, बोधिसत्त्व एक पशु के रूप में उत्पन्न होते हैं। एक हरिण एक सगर्भा हरिणी के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है। परिणामस्वरूप राजा को मनाने में सफल हो जाता है। राजा उस हरिणी को ही नहीं छोड़ता, अपितु सदा के लिए मृगया ही छोड़ देता है। खरगोश अतिथियों को भोजन के रूप में अपना मांस अर्पित करने के लिए स्वयं आग में कूद जाता है। एक बन्दर अपने साथी को बचाने के लिए नदी पर पुल की तरह लेट जाता है। दूसरा बंदर खाई में गिरे हुए मनुष्य को बचाता है। वही मनुष्य बंदर को मांस खाने की इच्छा से उसे मार डालता है। इस जघन्य पाप के

भूमिका में बताया गया है कि किस प्रकार ऋषि शृंग एक हरिण से उत्पन्न हुए थे। यह भूमिका प्राचीन मालूम पड़ती है। भरहुत के स्तूप में उत्कीर्ण चित्रों में यह दृश्य उपस्थित किया गया है। एक बालक हरिण से उत्पन्न होता है और मनुष्य उसे उठा ले जाता है। साम-जातक (संख्या 540) का संपर्क उन कहानियों से है जो राजा दशरथ ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए सुनाई थीं। इस जातक की विषय-सूची निम्नलिखित है—

साम एक धर्मात्मा ऋषिकुमार था और अपने अंधे माता-पिता के साथ वन में रहता था। वह दिन रात उनकी सेवा में लगा रहता था। एक दिन वह उनके लिए पानी लेने गया। उसी समय उसे एक विषाक्त बाण लगा। यह बाण वाराणसी के राजा पिलियक्ख ने शिकार समझ कर उस पर छोड़ा था। युवक के मुँह से अभिशाप या क्रोध का कोई शब्द नहीं निकला। केवल अपने असहाय माता-पिता के लिए करुण-क्रन्दन फूट पड़ा। राजा ने दयार्द्र होकर उसे सांत्वना दी और उसके अंधे माता-पिता की सेवा-शुश्रुषा का वचन दिया। साम ने उसे माता-पिता की कुटिया का रास्ता दिखा दिया और धन्यवाद दिया, फिर वह मूर्च्छित हो गया। राजा के हृदय में करुणा उमड़ आई और वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसे किसी वनदेवी ने सांत्वना दी। उसने कहा यदि तुम साम के माता-पिता के पास चले जाओ और पुत्र के समान उनकी सेवा करो तो इस महापाप से छुटकारा पा सकते हो। राजा ने आँखों में आँसू भर कर पानी का घड़ा उठाया और कुटिया की ओर चल दिया। पदध्वनि से वृद्ध माता-पिता ने जान लिया कि वह उनका पुत्र साम नहीं है। पिलियक्ख ने अपना परिचय दिया। वृद्ध ने स्नेहभरे शब्दों में राजा का स्वागत किया। उसे आतिथ्य के रूप में फल-फूल एवं जल भेंट किए। राजा ने उससे पूछा 'आपको फल कहाँ से प्राप्त होते हैं। मुझे तो कहीं दिखाई नहीं देते।' वृद्ध ने उत्तर दिया—हमारा प्रिय पुत्र है वह रूपवान् युवक है, वही हमें पानी तथा फल आदि लाकर देता है। इस पर राजा ने वह दुःखद घटना सुनाई—आपका आज्ञाकारी पुत्र मर गया। मैंने उसे मार डाला। पिता के शब्द मृदु होने पर भी करुणापूर्ण उपालम्भ से भरे हैं। किंतु माता फूट-फूटकर रोने लगी। वृद्ध ने राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके कल्याण की कामना की। किंतु माता को उसकी सहृदयता अच्छी न लगी। राजा ने माता-पिता को सांत्वना दी और कहा अपने पुत्र के स्थान पर मुझे स्वीकार कर लीजिए। मैं आपका उतना ही ध्यान रखूँगा जितना साम रखता था। किंतु माता-पिता ने उसे कहा—हमें साम के मृत शरीर के पास ले चलो।

राजा हिचकिचाते हुए उन्हें ले गए। शव के पास जाकर माता-पिता अत्यंत करुण-क्रन्दन करने लगे। वह क्रन्दन ही मंत्र का कार्य भी कर रहा था। मां ने कहा—यदि यह सत्य है कि साम का जीवन धर्ममय था तो विष दूर हो जाए और वह स्वस्थ होकर एक बार फिर हमारे सामने खड़ा हो जाए। पिता अपने तथा पत्नी के धर्माराधन की दुहाई देकर विष दूर करने का मंत्र पढ़ रहा था। वनदेवी भी उसी प्रकार के मंत्र पढ़ने लगी। तब साम उठ बैठा। स्वस्थ और ताजा होकर माता-पिता के सामने खड़ा

हो गया। उसने आश्चर्य-चकित राजा का अभिनंदन किया। उसने बताया—मैं केवल मूच्छित हो गया था। जो लोग अपने माता-पिता की सेवा करते हैं, इस जीवन में देवता उनकी सहायता करते हैं और मरने पर वह स्वर्ग को जाते हैं। पिता ने साम की रक्षा के लिए प्रार्थना की। साम ने राजा को धर्मोपदेश दिया।

कुछ कहानियाँ निस्संदेह मूलतः बौद्ध-परंपरा की देन हैं। उनमें दया, करुणा, नम्रता और स्वार्थ-त्याग स्वाभाविकता की सीमा उल्लंघन कर गए हैं। राजा शिवि की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। उसने अपनी आँखें निकाल कर दे दी थीं। जातक-संख्या 440 में राजा कन्ह की कथा है। उसने सर्वस्व का दान दे दिया और संन्यास लेकर हिमालय पर चला गया। इन्द्र ने उसे मनचाहा वर माँगने को कहा। किंतु उसने आत्मशांति अर्थात् घृणा, इच्छा एवं वासनाओं से मुक्ति चाही। उसने इन्द्र से जो वर माँगे उनमें सुंदरतम इस प्रकार है—

हे समस्त प्राणियों के स्वामी, शक्र ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो तो यह वर-दान दो—'हे शक्र ! मेरे द्वारा कहीं किसी प्राणी को मानसिक या शारीरिक किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। हे शक्र ! यह मेरे लिए वरों का वर है।'

कथा-संख्या 151 में शत्रुओं के प्रति प्रेम का आदर्श विचित्र प्रकार से उपस्थित किया गया है। काशी-नरेश और कौशल-नरेश अपने-अपने राज्य से बाहर घूमने निकले। एक संकुचित मार्ग में दोनों आमने-सामने आकर अटक गए। दोनों समान रूप से न्यायकारी थे। आयु, यश तथा शक्ति में भी समान थे। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, दूसरे को मार्ग देने के लिए एक ओर अलग कौन हटे। दोनों के सारथियों में संवाद प्रारंभ हुआ। कौशल-नरेश की तारीफ करते हुए सारथि ने कहा—हमारे राजा मित्र का मित्रता से, शत्रु का शत्रुता से स्वागत करते हैं। वे बड़े पराक्रमी हैं। काशी-नरेश के सारथि ने कहा—हमारे राजा क्रोध का क्षमा से, शत्रु का मित्रता से, तथा लोभ का उदारता से उपचार करते हैं। यह सुनकर कौशल-नरेश ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और काशी-नरेश को मार्ग दे दिया। जातक-संख्या 313 की खन्तीवादी नाम की कथा भी बौद्ध-परंपरा की मौलिक देन है। इसमें बोधिसत्त्व क्षमा का आदर्श उपस्थित करते हैं। एक राजा ने क्रोध में भर कर बोधिसत्त्व को कोड़े लगाए, पैरों तले रौंदा। लेकिन वे सब कुछ धैर्य के साथ सहते गए। मन में किसी प्रकार के प्रतिशोध की भावना न आने दी। बहुत-सी कथाओं में, जो पशुओं के साथ संबंध रखती हैं, बोधिसत्त्व एक पशु के रूप में उत्पन्न होते हैं। एक हरिण एक सगर्भा हरिणी के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है। परिणामस्वरूप राजा को मनाने में सफल हो जाता है। राजा उस हरिणी को ही नहीं छोड़ता, अपितु सदा के लिए मृगया ही छोड़ देता है। खरगोश अतिथियों को भोजन के रूप में अपना मांस अर्पित करने के लिए स्वयं आग में कूद जाता है। एक वन्दर अपने साथी को बचाने के लिए नदी पर पुल की तरह लेट जाता है। दूसरा बंदर खाई में गिरे हुए मनुष्य को बचाता है। वही मनुष्य बंदर को मांस खाने की इच्छा से उसे मार डालता है। इस जघन्य पाप के

भूमिका में बताया गया है कि किस प्रकार ऋषि श्रृंग एक हरिण से उत्पन्न हुए थे। यह भूमिका प्राचीन मालूम पड़ती है। भरहुत के स्तूप में उत्कीर्ण चित्रों में यह दृश्य उपस्थित किया गया है। एक बालक हरिण से उत्पन्न होता है और मनुष्य उसे उठा ले जाता है। साम-जातक (संख्या 540) का संपर्क उन कहानियों से है जो राजा दशरथ ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए सुनाई थीं। इस जातक की विषय-सूची निम्नलिखित है—

साम एक धर्मात्मा ऋषिकुमार था और अपने अंधे माता-पिता के साथ वन में रहता था। वह दिन रात उनकी सेवा में लगा रहता था। एक दिन वह उनके लिए पानी लेने गया। उसी समय उसे एक विषाक्त बाण लगा। यह बाण वाराणसी के राजा पिलियक्ख ने शिकार समझ कर उस पर छोड़ा था। युवक के मुँह से अभिशाप या क्रोध का कोई शब्द नहीं निकला। केवल अपने असहाय माता-पिता के लिए करुण-क्रन्दन फूट पड़ा। राजा ने दयार्द्र होकर उसे सांत्वना दी और उसके अंधे माता-पिता की सेवा-शुश्रुषा का वचन दिया। साम ने उसे माता-पिता की कुटिया का रास्ता दिखा दिया और धन्यवाद दिया, फिर वह मूर्च्छित हो गया। राजा के हृदय में करुणा उमड़ आई और वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसे किसी वनदेवी ने सांत्वना दी। उसने कहा यदि तुम साम के माता-पिता के पास चले जाओ और पुत्र के समान उनकी सेवा करो तो इस महापाप से छुटकारा पा सकते हो। राजा ने आँखों में आँसू भर कर पानी का घड़ा उठाया और कुटिया की ओर चल दिया। पदध्वनि से वृद्ध माता-पिता ने जान लिया कि वह उनका पुत्र साम नहीं है। पिलियक्ख ने अपना परिचय दिया। वृद्ध ने स्नेहभरे शब्दों में राजा का स्वागत किया। उसे आतिथ्य के रूप में फल-फूल एवं जल भेंट किए। राजा ने उससे पूछा 'आपको फल कहाँ से प्राप्त होते हैं। मुझे तो कहीं दिखाई नहीं देते।' वृद्ध ने उत्तर दिया—हमारा प्रिय पुत्र है वह रूपवान् युवक है, वही हमें पानी तथा फल आदि लाकर देता है। इस पर राजा ने वह दुःखद घटना सुनाई—आपका आज्ञाकारी पुत्र मर गया। मैंने उसे मार डाला। पिता के शब्द मृदु होने पर भी करुणापूर्ण उपालम्भ से भरे हैं। किंतु माता फूट-फूटकर रोने लगी। वृद्ध ने राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके कल्याण की कामना की। किंतु माता को उसकी सहृदयता अच्छी न लगी। राजा ने माता-पिता को सांत्वना दी और कहा अपने पुत्र के स्थान पर मुझे स्वीकार कर लीजिए। मैं आपका उतना ही ध्यान रखूँगा जितना साम रखता था। किंतु माता-पिता ने उसे कहा—हमें साम के मृत शरीर के पास ले चलो।

राजा हिचकिचाते हुए उन्हें ले गए। शव के पास जाकर माता-पिता अत्यंत करुण-क्रन्दन करने लगे। वह क्रन्दन ही मंत्र का कार्य भी कर रहा था। मां ने कहा—यदि यह सत्य है कि साम का जीवन धर्ममय था तो विष दूर हो जाए और वह स्वस्थ होकर एक बार फिर हमारे सामने खड़ा हो जाए। पिता अपने तथा पत्नी के धर्माराधन की दुहाई देकर विष दूर करने का मंत्र पढ़ रहा था। वनदेवी भी उसी प्रकार के मंत्र पढ़ने लगी। तब साम उठ बैठा। स्वस्थ और ताजा होकर माता-पिता के सामने खड़ा

हो गया। उसने आश्चर्य-चकित राजा का अभिनंदन किया। उसने बताया—मैं केवल मूर्च्छित हो गया था। जो लोग अपने माता-पिता की सेवा करते हैं, इस जीवन में देवता उनकी सहायता करते हैं और मरने पर वह स्वर्ग को जाते हैं। पिता ने साम की रक्षा के लिए प्रार्थना की। साम ने राजा को धर्मोपदेश दिया।

कुछ कहानियाँ निस्संदेह मूलतः बौद्ध-परंपरा की देन हैं। उनमें दया, करुणा, नम्रता और स्वार्थ-त्याग स्वाभाविकता की सीमा उल्लंघन कर गए हैं। राजा शिवि की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। उसने अपनी आँखें निकाल कर दे दी थीं। जातक-संख्या 440 में राजा कन्ह की कथा है। उसने सर्वस्व का दान दे दिया और संन्यास लेकर हिमालय पर चला गया। इन्द्र ने उसे मनचाहा वर माँगने को कहा। किंतु उसने आत्मशांति अर्थात् घृणा, इच्छा एवं वासनाओं से मुक्ति चाही। उसने इन्द्र से जो वर माँगे उनमें सुंदरतम इस प्रकार है—

हे समस्त प्राणियों के स्वामी, शक्र ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो तो यह वर-दान दो—'हे शक्र ! मेरे द्वारा कहीं किसी प्राणी को मानसिक या शारीरिक किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। हे शक्र ! यह मेरे लिए वरों का वर है।'

कथा-संख्या 151 में शत्रुओं के प्रति प्रेम का आदर्श विचित्र प्रकार से उपस्थित किया गया है। काशी-नरेश और कौशल-नरेश अपने-अपने राज्य से बाहर घूमने निकले। एक संकुचित मार्ग में दोनों आमने-सामने आकर अटक गए। दोनों समान रूप से न्यायकारी थे। आयु, यश तथा शक्ति में भी समान थे। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, दूसरे को मार्ग देने के लिए एक ओर अलग कौन हटे। दोनों के सारथियों में संवाद प्रारंभ हुआ। कौशल-नरेश की तारीफ करते हुए सारथि ने कहा—हमारे राजा मित्र का मित्रता से, शत्रु का शत्रुता से स्वागत करते हैं। वे बड़े पराक्रमी हैं। काशी-नरेश के सारथि ने कहा—हमारे राजा क्रोध का क्षमा से, शत्रु का मित्रता से, तथा लोभ का उदारता से उपचार करते हैं। यह सुनकर कौशल-नरेश ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और काशी-नरेश को मार्ग दे दिया। जातक-संख्या 313 की खन्तीवादी नाम की कथा भी बौद्ध-परंपरा की मौलिक देन है। इसमें बोधिसत्त्व क्षमा का आदर्श उपस्थित करते हैं। एक राजा ने क्रोध में भर कर बोधिसत्त्व को कोड़े लगाए, पैरों तले रौंदा। लेकिन वे सब कुछ धैर्य के साथ सहते गए। मन में किसी प्रकार के प्रतिशोध की भावना न आने दी। बहुत-सी कथाओं में, जो पशुओं के साथ संबंध रखती हैं, बोधिसत्त्व एक पशु के रूप में उत्पन्न होते हैं। एक हरिण एक सगर्भा हरिणी के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है। परिणामस्वरूप राजा को मनाने में सफल हो जाता है। राजा उस हरिणी को ही नहीं छोड़ता, अपितु सदा के लिए मृगया ही छोड़ देता है। खरगोश अतिथियों को भोजन के रूप में अपना मांस अर्पित करने के लिए स्वयं आग में कूद जाता है। एक बन्दर अपने साथी को बचाने के लिए नदी पर पुल की तरह लेट जाता है। दूसरा बंदर खाई में गिरे हुए मनुष्य को बचाता है। वही मनुष्य बंदर को मांस खाने की इच्छा से उसे मार डालता है। इस जघन्य पाप के

भूमिका में बताया गया है कि किस प्रकार ऋषि श्रृंग एक हरिण से उत्पन्न हुए थे। यह भूमिका प्राचीन मालूम पड़ती है। भरहुत के स्तूप में उत्कीर्ण चित्रों में यह दृश्य उपस्थित किया गया है। एक बालक हरिण से उत्पन्न होता है और मनुष्य उसे उठा ले जाता है। साम-जातक (संख्या 540) का संपर्क उन कहानियों से है जो राजा दशरथ ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए सुनाई थीं। इस जातक की विषय-सूची निम्नलिखित है—

साम एक धर्मात्मा ऋषिकुमार था और अपने अंधे माता-पिता के साथ वन में रहता था। वह दिन रात उनकी सेवा में लगा रहता था। एक दिन वह उनके लिए पानी लेने गया। उसी समय उसे एक विषाक्त बाण लगा। यह बाण वाराणसी के राजा पिलियक्ख ने शिकार समझ कर उस पर छोड़ा था। युवक के मुँह से अभिशाप या क्रोध का कोई शब्द नहीं निकला। केवल अपने असहाय माता-पिता के लिए करुण-क्रन्दन फूट पड़ा। राजा ने दयार्द्र होकर उसे सांत्वना दी और उसके अंधे माता-पिता की सेवा-शुश्रुषा का वचन दिया। साम ने उसे माता-पिता की कुटिया का रास्ता दिखा दिया और धन्यवाद दिया, फिर वह मूर्च्छित हो गया। राजा के हृदय में करुणा उमड़ आई और वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसे किसी वनदेवी ने सांत्वना दी। उसने कहा यदि तुम साम के माता-पिता के पास चले जाओ और पुत्र के समान उनकी सेवा करो तो इस महापाप से छुटकारा पा सकते हो। राजा ने आँखों में आँसू भर कर पानी का घड़ा उठाया और कुटिया की ओर चल दिया। पदध्वनि से वृद्ध माता-पिता ने जान लिया कि वह उनका पुत्र साम नहीं है। पिलियक्ख ने अपना परिचय दिया। वृद्ध ने स्नेहभरे शब्दों में राजा का स्वागत किया। उसे आतिथ्य के रूप में फल-फूल एवं जल भेंट किए। राजा ने उससे पूछा 'आपको फल कहाँ से प्राप्त होते हैं। मुझे तो कहीं दिखाई नहीं देते।' वृद्ध ने उत्तर दिया—हमारा प्रिय पुत्र है वह रूपवान् युवक है, वही हमें पानी तथा फल आदि लाकर देता हैं। इस पर राजा ने वह दुःखद घटना सुनाई—आपका आज्ञाकारी पुत्र मर गया। मैंने उसे मार डाला। पिता के शब्द मृदु होने पर भी करुणापूर्ण उपालम्भ से भरे हैं। किंतु माता फूट-फूटकर रोने लगी। वृद्ध ने राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके कल्याण की कामना की। किंतु माता को उसकी सहृदयता अच्छी न लगी। राजा ने माता-पिता को सांत्वना दी और कहा अपने पुत्र के स्थान पर मुझे स्वीकार कर लीजिए। मैं आपका उतना ही ध्यान रखूंगा जितना साम रखता था। किंतु माता-पिता ने उसे कहा—हमें साम के मृत शरीर के पास ले चलो।

: राजा हिचकिचाते हुए उन्हें ले गए। शव के पास जाकर माता-पिता अत्यंत करुण-क्रन्दन करने लगे। वह क्रन्दन ही मंत्र का कार्य भी कर रहा था। मां ने कहा—यदि यह सत्य है कि साम का जीवन धर्ममय था तो विष दूर हो जाए और वह स्वस्थ होकर एक बार फिर हमारे सामने खड़ा हो जाए। पिता अपने तथा पत्नी के धर्माराधन की दुहाई देकर विष दूर करने का मंत्र पढ़ रहा था। वनदेवी भी उसी प्रकार के मंत्र पढ़ने लगी। तब साम उठ बैठा। स्वस्थ और ताज़ा होकर माता-पिता के सामने खड़ा

हो गया। उसने आश्चर्य-चकित राजा का अभिनंदन किया। उसने बताया—मैं केवल मूर्च्छित हो गया था। जो लोग अपने माता-पिता की सेवा करते हैं, इस जीवन में देवता उनकी सहायता करते हैं और मरने पर वह स्वर्ग को जाते हैं। पिता ने साम की रक्षा के लिए प्रार्थना की। साम ने राजा को धर्मोपदेश दिया।

कुछ कहानियाँ निस्संदेह मूलत: बौद्ध-परंपरा की देन हैं। उनमें दया, करुणा, नम्रता और स्वार्थ-त्याग स्वाभाविकता की सीमा उल्लंघन कर गए हैं। राजा शिवि की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। उसने अपनी आँखें निकाल कर दे दी थीं। जातक-संख्या 440 में राजा कन्ह की कथा है। उसने सर्वस्व का दान दे दिया और संन्यास लेकर हिमालय पर चला गया। इन्द्र ने उसे मनचाहा वर माँगने को कहा। किंतु उसने आत्मशांति अर्थात् घृणा, इच्छा एवं वासनाओं से मुक्ति चाही। उसने इन्द्र से जो वर माँगे उनमें सुंदरतम इस प्रकार है—

हे समस्त प्राणियों के स्वामी, शक्र ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो तो यह वर-दान दो—'हे शक्र ! मेरे द्वारा कहीं किसी प्राणी को मानसिक या शारीरिक किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। हे शक्र ! यह मेरे लिए वरों का वर है।'

कथा-संख्या 151 में शत्रुओं के प्रति प्रेम का आदर्श विचित्र प्रकार से उपस्थित किया गया है। काशी-नरेश और कौशल-नरेश अपने-अपने राज्य से बाहर घूमने निकले। एक संकुचित मार्ग में दोनों आमने-सामने आकर अटक गए। दोनों समान रूप से न्यायकारी थे। आयु, यश तथा शक्ति में भी समान थे। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, दूसरे को मार्ग देने के लिए एक ओर अलग कौन हटे। दोनों के सारथियों में संवाद प्रारंभ हुआ। कौशल-नरेश की तारीफ करते हुए सारथि ने कहा—हमारे राजा मित्र का मित्रता से, शत्रु का शत्रुता से स्वागत करते हैं। वे बड़े पराक्रमी हैं। काशी-नरेश के सारथि ने कहा—हमारे राजा क्रोध का क्षमा से, शत्रु का मित्रता से, तथा लोभ का उदारता से उपचार करते हैं। यह सुनकर कोशल-नरेश ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और काशी-नरेश को मार्ग दे दिया। जातक-संख्या 313 की खन्तीवादी नाम की कथा भी बौद्ध-परंपरा की मौलिक देन है। इसमें बोधिसत्त्व क्षमा का आदर्श उपस्थित करते हैं। एक राजा ने क्रोध में भर कर बोधिसत्त्व को कोड़े लगाए, पैरों तले रौंदा। लेकिन वे सब कुछ धैर्य के साथ सहते गए। मन में किसी प्रकार के प्रतिशोध की भावना न आने दी। बहुत-सी कथाओं में, जो पशुओं के साथ संबंध रखती हैं, बोधिसत्त्व एक पशु के रूप में उत्पन्न होते हैं। एक हरिण एक सगर्भा हरिणी के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है। परिणामस्वरूप राजा को मनाने में सफल हो जाता है। राजा उस हरिणी को ही नहीं छोड़ता, अपितु सदा के लिए मृगया ही छोड़ देता है। खरगोश अतिथियों को भोजन के रूप में अपना मांस अर्पित करने के लिए स्वयं आग में कूद जाता है। एक बन्दर अपने साथी को बचाने के लिए नदी पर पुल की तरह लेट जाता है। दूसरा बंदर खाई में गिरे हुए मनुष्य को बचाता है। वही मनुष्य बंदर को मांस खाने की इच्छा से उसे मार डालता है। इस जघन्य पाप के

परिणामस्वरूप उस व्यक्ति को कुष्ठ रोग हो जाता है। एक हाथी वन में मार्ग-भ्रष्ट यात्री को वन से निकाल कर ठीक मार्ग पर ले आता है और उसे अपने दाँत भेंट करना चाहता है। इस पर मनुष्य लोभ में पड़कर हाथी के दाँत को जड़ से काट डालता है जिससे उसे भयंकर पीड़ा होती है। परिणामस्वरूप उस पापी मनुष्य को पृथ्वी निगल जाती है और वह नरक में पहुँच जाता है। अंतिम दो कथाओं के समान जिन कथाओं में पशुओं की उदारता और मनुष्य की स्वार्थपरायणता का वर्णन है वे भी बौद्ध-परंपरा की देन मालूम पड़ती हैं। वेस्सन्तर-जातक की कथा संभवतया सबसे अधिक प्रसिद्ध और बौद्ध जगत् में सर्वाधिक प्रचलित कथा है। वास्तव में यह महाकाव्य है, क्योंकि इसका गद्य-भाग टीकामात्र है जिसमें मूल कथा को नष्ट-भ्रष्ट करने की पूरी कोशिश की गई है। गद्य की शैली सर्वथा निर्जीव और शुष्क है। इस महाकाव्य का नायक राजा योद्धा नहीं है वह तो दानवीर है।

राजा वेस्सन्तर ने यह प्रतिज्ञा की—"मुझ से कोई कुछ माँगे, इनकार नहीं करूँगा। कोई मेरा हृदय, आँख, मांस और रक्त यहाँ तक कि सारा शरीर भी माँगे तो मैं दे दूँगा।" राज्य के कल्याण का ख्याल न करते हुए उसने एक चमत्कारी हाथी दान कर दिया। परिणामस्वरूप उसे देश-निकाला मिल गया। उसकी प्रतिव्रता स्त्री माद्री और छोटे-छोटे दो पुत्र भी साथ हो लिए। उन्होंने सब कुछ दान कर दिया था। केवल एक चार घोड़ों वाली बग्घी शेष बची थी। वे उस में सवार होकर वन की ओर चल पड़े। कुछ दूर चलने पर एक ब्राह्मण याचक मिला।

राजा वेस्सन्तर ने उसे बग्घी और घोड़े दे दिए। वे बच्चों को लेकर पैदल ही घूमने लगे, और अंत में एक आश्रम में पहुँचे और ठहर गए। तब शक्र एक धूर्त व कुरूप ब्राह्मण के रूप में उपस्थित हुआ और उसने बच्चों को दास के रूप में माँगा। राजा ने उसकी माँग पूरी कर दी। अंत में उसने पत्नी को भी माँगा। वेस्सन्तर ने इस माँग को भी नहीं ठुकराया। तब शक्र अपने असली रूप में प्रकट हुआ और कथा का सुखद अंत हुआ।

इसमें 786 पद्य हैं और वे महाकाव्य के अनुरूप हैं। वेस्सन्तर का वन के लिए प्रस्थान राम के प्रस्थान का स्मरण करा देता है। प्रकृति के लंबे एवं बहुसंख्यक चित्रण भी रामायण का स्मरण दिलाते है। वनों एवं आश्रमों का वर्णन वैसा ही है। कवि पुत्र-दान का वर्णन विस्तार के साथ करता है। क्रूर ब्राह्मण उन पर अत्याचार करता है। वे दुःखभरे शब्दों में माता से शिकायत करते हैं और शोकाकुल माता सब कुछ देखती हुई भी मन मसोसकर रह जाती है। तिब्बत और बर्मा में वेस्सन्तर-जातक के दृश्यों का पाठ किया जाता है और उनका अभिनय भी किया जाता है। उस समय श्रोताओं एवं दर्शकों की आँखों से आँसू बहने लगते हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है—वेस्सन्तर-जातक का नायक भी बोधिसत्त्व है। उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के अनुसार उसमें कुछ पारमिताएँ विद्यमान थीं। उसमें कुछ दैवी शक्तियाँ थीं। उदाहरण के रूप में उसे अपने पूर्व-जन्मों का स्मरण था,

इसी प्रकार शारीरिक एवं मानसिक अतिशय इत्यादि। जातकों में बोधिसत्व का जो रूप उभरा उसे हीनयान के थेरवाद में बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। थेरवाद के मान्य आगम पालि-त्रिपटिक हैं। महायान में इस मान्यता का बहुत अधिक विकास हुआ है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जातकों को महायान भी उतना ही मानता है जितना हीनयान।

यह प्रश्न रह जाता है कि इनका उद्‌गम हीनयान के स्थान पर कहीं महायान से न हुआ हो। बौद्ध धर्म के सभी संप्रदाय जातकों को मानते हैं। अधिक संभव यह है कि वे अपने मूलरूप में किसी संप्रदाय-विशेष से संबंध न रखते हों। किंतु वे प्रचार का मुख्य साधन थे और उन्होंने बौद्ध धर्म का दूर-दूर तक विस्तार किया। जातकों ने विशेष रूप से ऐसे जन-भोग्य बौद्ध-धर्म का प्रचार किया जिसमे मत-मतांतरों का कोई भेद नहीं था। बौद्ध-धर्म के इस रूप के साथ जातकों ने सर्वसाधारण के मस्तिष्क में प्रवेश किया। वर्तमान समय में भी बौद्ध जगत् में ऐसी कोई पुस्तक नहीं है जो जातकों जितनी सर्वप्रिय एवं प्रचलित हो। श्रीलंका के निवासी सारी रात बिना किसी थकावट के, तथा उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आनन्द के साथ, जातकों का श्रवण करते रहते हैं। बर्मा में भी जातक शिक्षित एवं अशिक्षित भिक्षु एवं गृहस्थ सभी के लिए शताब्दियों से आनंद का विषय रहे हैं और अब भी हैं। ए० शीफनर (A. Schiefner) ने तिब्बती साहित्य में बौद्ध कहानियों की विशाल संपत्ति का परिचय दिया है, और एड० चेवेनिस ने चीन के बौद्ध-साहित्य पर प्रकाश डाला है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जातकों ने दूसरे भी बहुत से देशों के साहित्य को समृद्ध किया है। अतः विश्वसाहित्य में इनका बहुत अधिक महत्त्व है, भले ही हम थो० बेन्फे के इस मत से सहमत न हों कि विश्व की समस्त अद्‌भुत कथाओं का जन्म जातकों से हुआ है। ब्राह्मण, जन, तथा अन्य संप्रदायों का भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाने में पर्याप्त योगदान है। किंतु भारत से बाहर जाकर भारतीय संस्कृति और साहित्य का प्रचार करने वाला बौद्धधर्म ही है। बौद्ध कहानियों के कारण ही विश्व के साहित्य में भारतीय तत्त्वों का प्रवेश हुआ है। बौद्ध धर्म के कारण ही भारतीयों का अन्य देशवासियों के साथ घनिष्ठ एवं प्रेममय संबंध स्थापित हुआ। स्वाभाविक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय अपनी कहानियाँ दूसरे देशों को ले गए और वहाँ से कुछ नहीं लाए। उन्होंने भी वहाँ की कहानियाँ अवश्य सीखी होंगी, विशेष रूप से उन राष्ट्रों से जो सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में काफी आगे बढ़े हुए थे। उदाहरण के रूप में ग्रीस, फारस आदि। संभवतया सिकंदर के आक्रमण के बाद बहुत से ग्रीक भारत में आए। उन्होंने बौद्ध मंदिरों एवं स्तूपों को कलापूर्ण बनाया। यह स्वाभाविक है कि वे अपने साथ देश की कहानियाँ व विचार भी लाए हों। यह बात जातकों के विषय में और भी अधिक सत्य है, क्योंकि वे स्तूपों पर चित्र के रूप में उत्कीर्ण हैं। साहित्य के समान भारतीय एवं विदेशी कला को भी जातकों ने समृद्ध किया। भारत में जो कथाएँ स्तूपों पर उत्कीर्ण हैं उनका विषय अत्यंत प्राचीन है और अब भी सभी बौद्ध देशों में वे चित्र एवं मूर्ति-कला के लिए अभीष्ट

सामग्री हैं। ई० पू० तृतीय और द्वितीय शताब्दी में वे भरहुत और सांची के स्तूपों में उत्कीर्ण की गई, ई० पू० दो सौ मे अमरावती के स्तूपों पर, और कुछ समय बाद अजंता की गुफाओं में। जब 412 ई० पू० में फाह्यान नामक चीनी यात्री ने भी लंका की यात्रा की तो उसने देखा कि किस प्रकार वहाँ के सम्राट् ने पाँच सौ जातकों को घवल-गिरि के आसपास सड़क के दोनों ओर विशाल चित्रों में अंकित कर रखा है। हुएन-त्सांग ने भी अपने देखे हुए स्तूपों का वर्णन किया है जो जातकों की कथा के अनुसार बोधि-सत्त्व की स्मृति में बहुत से स्थानों पर बनाए गए थे। जातकों के सैंकड़ों चित्र जावा केबोरोबदूर नगर में अंकित हैं और विशाल मंदिर की शोभा बढ़ा रहे हैं। बर्मा के पैगन और सियाम के सुकोताई भी इसी प्रकार के हैं।

साहित्य और कला की दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी जातक अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि उन्हें बुद्धकालीन लिखित प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी रचना ई० पू० तृतीय शताब्दी में हुई है और टीका की दृष्टि से वे ई०पू० पाँचवीं या छठीं शताब्दी में रचे गए हैं। फिर भी, प्राचीन भारत में सभ्यता एव संस्कृति-संबंधी परिवर्तन बहुत कम हुए है। अतः जातकों को तत्कालीन परिस्थिति जानने के लिए प्रमाण माना जा सकता है। कुछ भी हो, जातकों के कथानक तत्कालीन ऐसे विविध वर्गों के जीवन को प्रस्तुत करते हैं जिनके विषय में इतर भारतीय साहित्य प्रायः मौन है।

निद्देस (व्याख्या)

निद्देस एक प्रकार की व्याख्या है। इसका उल्लेख सुत्त-निपात के साथ किया जा चुका है। इसके दो भाग हैं :

1. महा-निद्देस (विस्तृत व्याख्याएँ) : यह अट्ठकाव्य के ऊपर टीका है।

2. चुल्ल-निद्देस (संक्षिप्त व्याख्याएँ) : यह खग्गविसाण और पारायण पर टीका है। इस टीका को आगमों में सम्मिलित किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य यह टीकाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। हमें निद्देस से यह पता चलता है कि प्राचीन समय में आगमों के पाठों की व्याख्या किस प्रकार की जाती थी। धार्मिक नियमों की शिक्षात्मक व्याख्या के साथ-साथ व्याकरण और कोश-संबंधी व्याख्याएँ भी रहा करती थी। महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, सम्बद्ध शिक्षाओं का उल्लेख करते हुए की गई है और इस उद्देश्य से आगमों के उद्धरण पर्याप्त संख्या में दिए गए हैं। एक शब्द का अर्थ बताने के लिए पर्याय-शब्दों की लंबी सूची दी गई है। और जहाँ वह शब्द दुबारा आया है, पूर्ण सूची दुहराई गई है.। यह बताने की आव-श्यकता नहीं है कि इस प्रकार शब्दों की सूची कण्ठस्थ हो जाती थी। संभवतया भविष्य में बनने वाले कोशों के लिए उन्होंने सामग्री उपस्थित की है।

पटिसम्भिदामग्ग

इसमें तीन बड़े खंड हैं। प्रत्येक खंड में दस प्रकरण हैं। प्रत्येक प्रकरण बौद्ध सिद्धांत के किसी तत्त्व का प्रतिपादन करता है। उदाहरण के रूप में प्रथम खंड का का प्रथम प्रकरण 73 प्रकार की विद्याओं का वर्णन करता है। इन्हीं में तथागत की महाकरुणा का भी वर्णन है। प्रथम खड का तृतीय प्रकरण मनोनिरोध के लिए प्राणायाम की चर्चा करता है, प्रथम का सप्तम कर्म की, द्वितीय का सप्तम चार आर्य-सत्त्वों की, द्वितीय का चतुर्थ सर्वभूत मैत्री की, तृतीय का द्वितीय मुनियों के चमत्कारों की, इत्यादि। ये सभी विषय अभिधम्म-पिटक के समान प्रश्नोत्तर-शैली में वर्णित हैं। किंतु यह ग्रंथ सुत्त-निपात में है, अभिधम्म में नहीं, क्योंकि आंशिक रूप से इसकी शैली सूत्रों-सरीखी है। कुछ खंड प्रास्ताविक कथानक से प्रारंभ होते हैं। सुत्तों के समान इनमें भी 'हे भिक्षुओ' ! कहकर संबोधित किया गया है।

अपदान

अपदान भी जातकों के समान विशालकाय हैं और विषय की दृष्टि से समृद्ध हैं। फिर भी इनमें जातकों जैसी प्रतिमा नहीं है। इनका साहित्यिक महत्त्व भी जातकों से कम है। अपदान खुद्दकनिकाय के अंतर्गत हैं। अपदान (संस्कृत-अवदान) शब्द का अर्थ है—वीरतापूर्ण कार्य या गौरवपूर्ण कार्य। इसमें आत्मबलिदान और आत्मत्याग के कार्य अंतर्निहित हैं। अपदान का 'अवदान' के नाम से संस्कृत-रूपांतर भी प्रसिद्ध है। इनमें भिक्षुओं के वीरतापूर्ण धार्मिक जीवन का वर्णन है। जातकों के समान अपदान में भी अतीत जन्म-संबंधी कथाओं और वर्तमान जीवन-संबंधी कथाओं के रूप में दो भाग हैं। जबकि जातक बुद्ध के पूर्व-जीवन का वर्णन करते हैं, अपदान में भिक्षुओं या अर्हतों का वर्णन है। अपदान पूर्णतः पद्यमय हैं। उनका प्रारंभ बुद्धापदान के साथ होता है। उनमें बुद्धों की स्तुति है। वे धर्मचक्रवर्ती हैं। वे तीस पारमिताओं से संपन्न हैं और इस स्तुति का उच्चारण बुद्ध स्वयं करते हैं। उसके पश्चात् प्रत्येक बुद्ध-अपदान है। इसमें प्रत्येक बुद्धों की स्तुति है। प्रत्येक बुद्ध का अर्थ है गेंडे के समान अकेले स्वतंत्र जीवन बिताकर बुद्धत्त्व प्राप्त करने वाले व्यक्ति। सारा खग्गविसाण-सुत्त इसमें प्रक्षिप्त है। इस ग्रंथ का मुख्य भाग थेर अपदान है, जिसमें स्थविर अर्थात् अनुभवी भिक्षुओं की स्तुति है। इस भाग में 55 अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में 10 अपदान हैं। अंतिम भाग थेरी अपदान है। इसमें स्थविरा भिक्षुणियों की स्तुति है। इसके चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दस अपदान हैं। प्रत्येक अपदान में भिक्षु अपने उत्तम कार्यों का स्वयं वर्णन करता है। थेर अपदान के प्रथम नायक भगवान् बुद्ध के साक्षात् शिष्य हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—सारिपुत्त, मोग्गल्लान, काश्यप और अनुरुद्ध। इनके अतिरिक्त उपालि, आनंद, राहुल और रट्ठपाल आदि स्थविर तथा महापजापती गोतमी, खेमा, पटाचारा आदि स्थविराओं के नाम उल्लेखनीय हैं। बहुत से नाम ऐसे भी हैं जो

व्यक्ति-विशेष के न होकर उनके किसी प्रकार को प्रकट करते हैं। स्थविराओं के किसा-गोतमी आदि नाम इसी प्रकार के हैं। इसी प्रकार स्थविरों में 'पंखा बाँटने वाला', 'कपड़ा बाँटने वाला', 'आम बाँटने वाला', 'पद-चिह्नों की पूजा करने वाला', 'जल-पूजक (अर्थात् जलदान देकर बुद्ध की पूजा करने वाला स्थविर)। इसी प्रकार कुछ स्थविरों का नाम विभिन्नपुष्पों के उपहार के आधार पर रखा गया है। उदाहरण के रूप में किंशुक पुष्पिक इत्यादि। इनमें से अधिकतर कथानक एक ही प्रकार के हैं। सर्व-प्रथम कोई स्थविर या स्थविरा अपने द्वारा की गई पूर्व-बुद्धों अर्थात् गौतम बुद्ध से पहले होने वाले बुद्ध की पूजा का वर्णन करता है। तदनन्तर पूर्व-बुद्ध द्वारा की गई भविष्य-वाणी को बताता है। उसमें इस बात का उल्लेख रहता है कि वह आगामी बुद्ध का धर्मोपदेश सुनेगा। अंत में कहता है कि यह भविष्यवाणी किस प्रकार सत्य सिद्ध हुई है और किस प्रकार उसने अर्हत्-पद को प्राप्त किया है। ऐसे अपदान बहुत थोड़े हैं जिनकी शैली भिन्न प्रकार की हो। इनमें बुद्ध-अपदान महत्त्वपूर्ण है। इसका दूसरा नाम पुब्बकम्मपिलोती है, जिसका शब्दार्थ है—पूर्व जन्म के कार्यों का परस्पर आदान-प्रदान। इनमें बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म के पापों का वर्णन किया है। जिनके परिणाम-स्वरूप उन्हें अनेक बार नरक में जन्म लेना पड़ा और अंतिम जीवन में भी अनेक कष्ट उठाने पड़े। यदि अपदानों को आगमों में सम्मिलित किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि वे खुद्दक-निकाय एवं सामान्यतया आगम-साहित्य की अंतिम रचनाएँ हैं। सामान्य रूप को देखा जाए तो इसका संबंध संस्कृत-अवदानों के साथ अधिक है और पालि-आगमों के साथ कम। यह अनुसंधान का विषय है कि संस्कृत-अवदानों के साथ तुलना करके देखा जाए और पता लगाया जाए कि बौद्ध-साहित्य में काल की दृष्टि से अपदान का क्या स्थान है।

बुद्धवंस

यह खुद्दक-निकाय के अंतर्गत लघुकाय रचना हैं। इसमें चौबीस बुद्धों की काव्यमय कथाएँ हैं। ये बुद्ध गौतम से पहले बारह युगों में हुए माने जाते हैं। प्रस्ता-वना के बाद प्रत्येक अध्याय में एक-एक बुद्ध का वर्णन है। वर्णन-शैली प्राय: नीरस है। प्रत्येक में यह बताया गया है कि प्रत्येक बुद्ध ने किस प्रकार धर्मचक्र प्रवर्तन किया। उनकी जीवन-घटनाएँ प्राय: गौतम बुद्ध से मिलती-जुलती हैं। कथानक को गौतमबुद्ध ने स्वयं कहा है और वे उत्तम पुरुष में बताते हैं कि किस प्रकार मैंने अपने पूर्व-जन्मों में बुद्धों की पूजा की और किस प्रकार उन्होंने मेरे बुद्ध होने की भविष्यवाणी की। द्वितीय अध्याय अपेक्षाकृत अधिक कल्पना एवं कवित्व-पूर्ण है। उसमें दीपंकर अर्थात् प्रथम बुद्ध का वर्णन है :

गौतम बुद्ध उस समय सुमेधा नाम के संपन्न ब्रह्मण थे। गाथा-संख्या 7.27 में जो थेरगाथा में भी आती है, वर्णन है—एक दिन मैं संसार में उद्विग्न हो गया। मैंने शरीर का कचरा समझ कर इसका मोह छोड़ दिया और हिमालय पर एक ऋषि के आश्रम

में चला गया। उन दिनों दीपंकर बुद्ध अपनी विजय-यात्रा कर रहे थे। मनुष्य और देव उनकी पूजा में संलग्न रहते थे। मुनि सुमेधा वहाँ आए। उन्होंने अपने लंबे बाल खोल दिए। बालों को तथा अपनी कन्था और खाल के बने हुए कोट को कीचड़ पर बिछा दिया और उल्टे लेट गए, जिससे जब बुद्ध अपने शिष्यों के साथ वहाँ से निकलें तो उनके पैर कीचड़ से न भरें। पृथ्वी पर लेटे-लेटे उसने बुद्ध बनकर प्राणियों के उद्धार का निश्चय किया। दीपंकर आए और उन्होंने सुमेधा के महान् भविष्य की भविष्यवाणी की। दस हजार लोकों के निवासी हर्षनाद करने लगे। शुभ लक्षण तथा विविध प्रकार के चमत्कार दिखाई पड़ने लगे। यह बात प्रत्येक बुद्धविषयक भविष्यवाणी के अवसर पर होती है। सुमेधा ने दस पारमिताओं को प्राप्त करने का निश्चय किया, जोकि बुद्धत्व प्राप्ति से पहले आवश्यक होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने छब्बीसवें अध्याय की पच्चीस गाथाओं में जो अपनी संक्षिप्त आत्मकथा दी है, प्रस्तुत रचना उसकी पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करती है। पुस्तक के उपसंहार में आने वाले बुद्ध मैत्रेय और गौतम बुद्ध के अवशेषों के वितरण का वर्णन है।

टीकाकार का कथन है कि यह रचना बुद्ध की अपनी है, वे इसे स्वयं सुनाया करते थे; और यह स्थविरों की सतत परंपरा द्वारा तृतीय संगीति तक सुरक्षित रही। इसके पश्चात् भी गुरु-शिष्य की सतत परंपरा द्वारा सुरक्षित रही। प्राचीन आगमों में गौतम के पूर्ववर्ती केवल छः बुद्धों का निर्देश है। अतः टीकाकार की बातों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। फिर भी बुद्धवंस को पालि-साहित्य की अंतिम रचना माना जा सकता हैं। इसके अतिरिक्त इसमें बुद्ध की पूजा का जो रूप है तथा उन्हें जो देवत्व का रूप दिया गया है वह पालि-त्रिपिटकों में नहीं मिलता। यह रूप संस्कृत, साहित्य विशेषतया महायान के संस्कृत-ग्रंथों में मिलता है।

चरियापिटक

खुद्दक-निकाय का अंतिम ग्रंथ चरियापिटक है। इसमें पैंतीस जातक पद्यबद्ध हैं। बुद्ध ने अपने पूर्व-जन्मों में पारमिताओं को कैसे प्राप्त किया, उनके लिए कैसी साधना की, इन्हीं बातों को प्रकट करने के उद्देश्य से इसकी रचना हुई है। प्रथम दो अध्यायों में क्रमशः दान-पारमिता और शील-पारमिता का वर्णन है। प्रत्येक में दस कहानियाँ हैं। तीसरे अध्याय में 15 कहानियाँ हैं और जो शेष 5 पारमिताओं से संबंध रखती हैं प्रत्येक कहानी स्वयं बुद्ध द्वारा कही गई है। प्रत्येक घटना संक्षेप में तथा थोड़े-से अक्षरों में वर्णित है। कहीं-कहीं तो संक्षिप्त रूपरेखा मात्र है। मालूम पड़ता है वे ऐसे लोगों के लिए लिखी गई हैं जो कथा से पूर्व परिचित हैं और लिखने का उद्देश्य उनका स्मरण कराना मात्र है। बहुत-सी कहानियाँ जातकों में भी आ चुकी हैं। किंतु प्रस्तुत ग्रंथ में उसी बात को विशेष रूप से बताया गया है, जिसका संबंध किसी पारमिता की प्राप्ति से है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवित्व एवं विनोद को इच्छापूर्वक निकाल

दिया गया हो। कथाओं को किसी-न-किसी पारमिता का उदाहरण बनाने के लिए नया वेश दिया गया है। उदाहरण के रूप में बंदर द्वारा छकाए गए मगर की कथा को प्रस्तुत किया जा सकता है। जातक-संख्या 208 तथा पंचतंत्र में यह कथा विनोदपूर्ण ढंग से कही गई है। मगर की स्त्री बंदर का हृदय खाना चाहती है। बंदर उसे छलने के लिए कहता है कि वह अपने हृदय को किनारे के एक वृक्ष पर लटका आया है। जातक-संख्या 57 में इस कथा का रूप कुछ बदला हुआ है और विनोद की मात्रा घट गई है। किंतु चरियापिटक अध्याय तीन, कथा सात में विनोद को पूर्णतया हटा दिया गया है। बुद्ध कहते हैं :

"जब मैं बंदर था तो नदी के किनारे एक गुफा में रहता था। एक मगर ने मुझे धमकी दी और नित्य प्रति के मार्ग पर जाना रोक दिया। जिस स्थान पर खड़ा होकर मैं नदी के दूसरे किनारे पर कूदा करता था, वहाँ वह भयंकर मगर आकर बैठ गया। उसे देखते डर लगता था। उसने मुझसे कहा—"आओ"! मैंने उसे कहा—"आ रहा हूँ।" और उसके सिर पर खड़ा होकर दूसरे किनारे पहुँच गया। मैंने उससे झूठ नहीं कहा था, जैसा कहा था वैसा ही किया। सत्य बोलने में कोई मेरी समानता नहीं कर सकता। यह मेरी सत्य पारमिता थी।"

यहाँ कथानक अर्थहीन ढाँचा बन गया है। मुख्य बात नैतिक आदर्श है। वह भी कथानक के इस रूप में उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार वेस्सन्तर-जातक 786 पद्यों का ग्रंथ है। चरियापिटक 1 में यह केवल 58 गाथाओं में संकुचित कर दिया गया है, उनमें भूकम्पादि चमत्कारों पर अधिक बल है। पाँच गाथाएँ चरियापिटक में जातकों से अक्षरश: उद्धृत हैं।

जातक का मूलरूप उपलब्ध नहीं है। अत: चरियापिटक और उसका परस्पर-संबंध निश्चियपूर्वक नहीं बताया जा सकता। एक बात निश्चित है कि पारमिताओं का सिद्धांत बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप में नहीं मिलता। यह उत्तरकाल में विकसित हुआ। संभवतया चरियापिटक और जातकमाला, जो कि पालिजातकों का संस्कृत-रूपांतर हैं, बौद्ध धर्म के इस उत्तरकालीन रूप को प्रकट करते हैं। उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए विशाल जातक-साहित्य में से चुन-चुनकर उनका संग्रह किया गया है। संभवतया यह चुनाव पालि के मूल जातकों में से नहीं किया गया। जातकों के समान चरियापिटक अपने मूल रूप से प्राप्त नहीं हैं। निदान-कथा में, जो कि जातकों की प्रस्तावना है, चरियापिटक का परिचय है। प्रतीत होता है वह परिचय मूल चरियापिटक से संबंध रखता है। संभवतया पारमिताओं के उदाहरण के लिए विभिन्न विहारों में भिन्न-भिन्न जातकों को अपनाया गया। भिक्षु केवल उन्हीं जातकों को विशेष मानते रहे जो सर्वमान्य थे। इनके साथ चौंसठवें जातक को भी मानते रहे। कुछ भी हो, चरियापिटक अपने वर्तमान रूप में किसी चरित्र-संपन्न भिक्षु की कृति है। वह कवित्व से दूर है। जातकों के रचयिताओं में बहुत से ऐसे भिक्षु थे जो कवि नहीं थे। साथ ही, बहुत से ऐसे भी थे जो वास्तविक कवि थे।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि खुद्दक-निकाय ऐसी कृतियों का संग्रह है जो विभिन्न समय में विभिन्न संप्रदायों द्वारा रची गई है। बहुत-सी ऐसी भी हैं जिनके आगमिक होने में संदेह है।

अभिधम्मपिटक : बौद्ध-पाण्डित्य-प्रदर्शन

अभिधम्म का शब्दार्थ है—धर्म के उच्च तथा सूक्ष्म तत्व। इसी कारण पहले इसका अर्थ 'तत्त्वज्ञान' किया जाता रहा है। वस्तुत: अभिधम्म का तत्त्वज्ञान से कोई संबंध नहीं। दर्शन से भी अभिधम्म का उतना ही संबंध है जितना कि सुत्त-पिटक में में वर्णित धम्म का दर्शन से संबंध है। अभिधम्मपटिक तथा सुत्तपिटक की पुस्तकों में केवल यही अंतर है कि अभिधम्मपिटक की पुस्तकें अपेक्षाकृत अधिक शुष्क तथा विद्वता पूर्ण हैं और उनमें पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक है। दोनों का विषय एक ही है। अभिधम्मपटिक की पुस्तकों में मौलिकता और गंभीरता की आशा करना व्यर्थ है। उनकी विशेषता है—परिभाषाएं और वर्गीकरण। बौद्ध-परिभाषावली और शब्दकोश की दृष्टि से ये परिभाषाएँ बहुमूल्य हैं, परंतु यह देखकर निराशा होती है कि ये केवल अनेकानेक पर्यायवाची शब्दों की सूचियाँ ही देकर रह जाती हैं। वर्गीकरण करने में इन पुस्तकों में यह प्रयास किया गया है कि नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार का निर्माण किया जाए, किंतु मानस-प्रक्रिया का मार्मिक विश्लेषण बहुत ही कम स्थलों पर किया गया है; अधिकतर अभिधम्मपिटक के प्रथम अध्याय, धम्मसंगणि (धर्मसंग्रह) में मानसी-प्रक्रियाओं की परिभाषा दी गई है और वर्गीकरण किया गया है। श्रीमती रीज़ डेविड्स ने 'धम्मसंगणि' का अंग्रेजी-अनुवाद 'ट्रीटाइज़ ऑन बुद्धिस्ट फ़िलासफ़ी' (Treatise on Buddhist Philosophy)' नाम से किया है और यह शीर्षक नितांत सटीक है, क्योंकि प्राचीन बुद्ध धर्म में आचारशास्त्र और मनोविज्ञान का उसी प्रकार का अटूट संबंध है जिस प्रकार का दर्शन और धर्म में। इस ग्रंथ के अनुवाद की भूमिका में उन्होंने निकाय-ग्रंथों में वर्णित दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर प्राचीन बौद्ध दर्शन का भी पर्याप्त सफल विवेचन किया है। उन्होंने इस दर्शन का दर्शनशास्त्र के इतिहास में उचित स्थान भी निर्धारित किया है।

वस्तुतः धम्मसंगणि का प्रयोजन आचार अथवा मनोविज्ञान का व्यवस्थित विवेचन करना नहीं है। यह ग्रंथ प्रौढ़ भिक्षुओं के अध्ययनार्थ है और यह मानकर चलता है कि पाठकों को धम्म का ज्ञान पहले से ही है पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से युक्त होने पर भी, तथा लोकप्रिय न होने पर भी, लंका में इसका बहुत आदर रहा है। दशम शताब्दी के एक राजा की कथा इसका प्रमाण है। उसने इसे रत्नजटित स्वर्णपत्रों पर उत्कीर्ण करवाया और स्वनिर्मित विहार में इसकी सोत्सव स्थापना कर इसकी पुष्पों से पूजा की।

धम्मसंगणि के परिशिष्ट के रूप में तृतीय अध्याय की एक टीका भी शास्त्र के अंतर्गत ही सम्मिलित कर ली गई है। यह टीका परंपरानुसार सारिपुत्त ने लिखी थी।

विभंग (विभाग) नामक अभिधम्मपिटक का तृतीय अध्याय, प्रथम अध्याय के विषय को ही आगे चलाता है। धम्मसंगणि के सूत्रों तथा वर्गों का ज्ञान पाठकों को होगा—यह मानकर कुछ नए तथ्य जोड़ दिए गए हैं। प्रथम भाग में बौद्ध-धर्म-संबंधी कुछ मौलिक तथ्यों की उद्भावना की गई है। प्रथम अध्याय का प्रारंभ इसी विषय से हुआ है। दूसरे भाग में इन्द्रियजन्य ज्ञान से लेकर बौद्ध के ज्ञान तक की चर्चा की गई है। तीसरे भाग में ज्ञान में बाधक तथ्यों का वर्णन है।

अंतिम भाग में मनुष्य तथा मनुष्येतर जन्मों की दशा का वर्णन है। इसमें तथ्य बहुत-सी धार्मिक रूढ़ियों पर आश्रित हैं।

अभिधम्मपिटक का तृतीय अध्याय, धातुकथा, 14 अध्यायों में विभाजित है। इसमें प्रश्नोत्तर-रूप में मानसी भावनाओं तथा उनके पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय, पुग्गलपञ्ञति (व्यक्ति-वर्णन) का संबंध सुत्तपिटक से सर्वाधिक है। इसका बाह्याकार दीघ-निकाय के संगीतसुत्त से भिन्न नहीं, इसके 3-5 तक के भाग अधिकतर अंगुत्तर-निकाय में भी मिलते हैं। एक निकाय के सुत्त के सदृश ही कुछ अध्याय हैं। स्थान-स्थान पर सुंदर उपमाएँ भी हैं। उदाहरणतः (5.3), पाँच भिक्षुओं का स्त्री से संबंध बतलाते हुए उनकी उपमा पाँच प्रकार के योद्धओं से दी है। मज्झिम-निकाय के सदृश ही यहाँ भी उपमा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में घटित की गई है। किंतु वास्तविक साहित्यिक सौन्दर्य कुछ ही स्थलों पर उपलब्ध होता है। इसमें वर्णित कथाएँ प्रायः शुष्क और नीरस हैं। इस पुस्तक में व्यक्तियों का, आचार के आधार पर, वर्गीकरण किया गया है। कुछ उदाहरण लीजिए, इनसे पुस्तक की भावना और शैली का परिचय मिल जाएगा। साथ ही यह भी ज्ञात हो जाएगा कि अभिधम्म में किस प्रकार की परिभाषाएँ और वर्गीकरण हैं :

"किस प्रकार का व्यक्ति क्रुद्ध है? फिर क्रोध क्या है? क्रोध, क्रोधी होना, क्रुद्धावस्था में होना, घृणा, घृणा करना, घृणा से पूर्ण होना, ईर्ष्या, इर्ष्यालु होना, घृणाशीलता, विरोध, शत्रुता, अभद्रता, नासमझी, हृदय का कोप—यह सब क्रोध हैं। जो इस क्रोध से मुक्त नहीं हुआ, वह क्रोधी कहलाता है।'

किस प्रकार का व्यक्ति चालक-चंट कहलाता है? चालाकी का क्या अर्थ है? व्यक्ति यहाँ चालाक और चंट बन जाता है। जो चालाक है, उसकी चालाकी क्या है? चालाकी की अवस्था, कठोरता, क्रूरता, धोखा, वंचना (यह चालाकी है। जिसकी यह चालाकी दूर नहीं हुई, वह चालक कहलाता है।

किस प्रकार का व्यक्ति निम्न प्रवृत्ति वाला होता है? जो व्यक्ति स्वभावतः दुष्ट और बुरा होता है, तथा अन्य दुष्ट और बुरे व्यक्ति की सेवा करता है, उसका अनुकरण करता है तथा सम्मान करता है—ऐसा व्यक्ति निम्न प्रवृत्ति वाला कहलाता है।

अच्छी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति कौन है ? जो व्यक्ति स्वभावतः सज्जन और गुणवान् है, तथा उसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों की सेवा करता है, उनका अनुकरण करता है तथा सम्मान करता है—ऐसा व्यक्ति अच्छी प्रवृत्ति वाला कहलाता है।"

अभिधम्मपिटक का पाँचवा अध्याय कथावत्थु, बौद्धधर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तथा समस्त शास्त्रों में यही एक रचना है जिसका एक निश्चित लेखक माना गया है।

पहले कह चुके हैं कि तृतीय सभा के अध्यक्ष, तिस्स मोग्गलिपुत्त, इसके रचयिता माने जाते हैं। लंका के इतिहासकारों द्वारा सुरक्षित यह परंपरा कुछ प्रधान विद्वानों द्वारा मान्य है तथा कुछ विद्वान् इसे सर्वथा अप्रामाणिक मानते हैं। अपनी वर्तमान अवस्था में यह रचना एक सूत्र में ग्रंथित नहीं है, अतः संभव है तिस्स मोग्गलि-पुत्त ने तृतीय शताब्दी ई०पू० में कथावत्थु की रचना की हो, किंतु बाद में बहुत से प्राक्षेपकों द्वारा इसकी कलेवर-वृद्धि होती रही हो। वर्तमान ग्रंथ में, जिस पर पाँचवी शताब्दी में बुद्धघोष ने, टीका भी लिखी है, 23 भाग हैं। प्रत्येक भाग में 8 से 12 तक प्रश्नोत्तर हैं। इनमें परस्पर-विरोधी पर-मतों का खंडन, स्वमतों की स्थापना-पूर्वक किया गया है। उदाहरणतः यह प्रश्न देखिए—

'क्या कोई जीवात्मा ऐसी वस्तु है जिसे हम वास्तविक और पूर्णतः तात्त्विक मान लें ? क्या प्रत्येक वस्तु की सत्ता है ?

क्या दुःख का निरोध दो प्रकार से होता है ? क्या बुद्ध के शिष्यों के पास अति-मानवीय शक्तियां हैं ? क्या गृहस्थ अर्हत् हो सकता है ? क्या कर्म के प्रभाव से अर्हत् अपने पद को खो सकता है ? क्या धर्माचरण अनजाने में होता है ? क्या सम्यग्दृष्टि जन जानबूझ कर किसी को मार सकता है ? क्या सूक्ष्म बुद्ध के मल-मूत्र संसार के समस्त सुगंधित पदार्थों से अधिक सुगंधित होते हैं ? क्या पशु देवयोनि में जन्म ले सकते हैं ?' इत्यादि।

काल्पनिक विरोधी के साथ प्रश्नोत्तर रूप में इन समस्त समस्याओं पर विचार किया गया है। विरोधी मतों को झूठा बताकर अंत में निषेधात्मक उत्तर दिया गया है। पूर्वपक्ष के रूप में प्रायः बौद्ध धर्म की ही विभिन्न शाखाओं के मतों का खंडन है मतांतरों का नहीं। पूर्वपक्ष के खंडन के लिए विनयपिटक और सुत्तपिटक से बहुत से उद्धरण दिए गए हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि कथावत्थु पिटकों से परवर्ती है।

इस अध्याय में अभिधम्म के पहले दो अध्यायों का तथा पट्ठान की विषय-वस्तु का निर्देश है; किंतु इसमें धातुकथा, पग्गलपञ्ञति अथवा यमक में से कोई उद्धरण नहीं दिए गए हैं।

कथावत्थु

कथावत्थु का जो रूप उपलब्ध है उसे ई० पू० तृतीय शताब्दी का नहीं कहा जा सकता। फिर भी, वह बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास को जानने के लिए महत्त्व-

पूर्ण है। कथावत्थु और उसकी टीका में बौद्ध धर्म के सांप्रदायिक विकास का चित्र मिलता है किंतु उसका ऐतिहासिक महत्त्व तभी है जब तत्कालीन चीनी आधारों पर उसका समर्थन हो सके।

यमक

पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि कथावत्थु अभिधम्मपिटक का उपसंहारात्मक भाग है। किंतु क्रमिक संख्या में इसका स्थान पाँचवाँ मिलता है। छठा यमक है जिसमें दोहरे प्रश्न पूछे गए हैं सभी प्रश्नों और उत्तरों के दो-दो अर्थ है। यह ग्रंथ अत्यंत दुरूह है। इसका उद्देश्य अभिधम्म के विषय में उठने वाले संशयों को दूर करना है।

पट्ठाण पकण या महाप्रकरण

अभिधम्म का सातवाँ आगम पट्ठाण प्रकण या महापट्ठाण (प्रस्थान-प्रकरण या महाप्रस्थान) है। इसमें कार्य-कारण के संबंध का विस्तार है। इसे महाप्रकरण भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है 'महाग्रंथ'। इसका प्रथम खंड टिक पट्ठाण (त्रिक प्रस्थान) और द्वितीय भाग टुक पट्ठाण द्विक प्रस्थान है। समस्त ग्रंथ में बाह्य जगत् में विद्यमान चौबीस प्रकार के संबंधों का वर्णन है। उदाहरण के रूप में—कार्य और कारण का संबध, विषय और विषयी का संबंध, शासक और प्रजा का संबंध, सातत्य, सहभाव इत्यादि। केवल निर्वाण ही एकांत सत्य है। दुनिया के सभी पदार्थों का अस्तित्व सापेक्ष है। केवल निर्वाण ही ऐसा है जो निरपेक्ष सत्य है अर्थात् चौबीस प्रकार के संबंधों के रूप में यह किसी प्रकार के संबंधों की अपेक्षा नहीं रहता। श्रीमती रीज़ डेविड्स ने बौद्ध धर्म, दर्शन तथा तर्क का इतिहास लिखने वालों को टिक-पट्टाण का प्रथम भाग पढ़ने की सिफ़ारिश की है और कहा है कि ये चौबीस संबंध हमारे ज्ञानकोश की वृद्धि के लिए अभिधम्म की महत्त्वपूर्ण देन हैं। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व नहीं है। श्रीमती रीज़ डेविड्स ने दीर्घकाल तक अध्ययन करने के पश्चात् अभिधर्म के विषय में लिखा है—'इसमें संकुचित परंपराओं की चर्चा है, जिनमें वर्तमान और भविष्य पर अतीत ने प्रभुत्व जमा रखा है, जहाँ स्वतन्त्र मस्तिष्क के लिए कोई स्थान नहीं है, नए प्रकाश को रोकने के लिए खिड़कियाँ बंद हैं और उनपर पर्दे पड़े हुए हैं।'

यदि हम अभिधर्म के विषय में प्रचलित परंपरा को मान लें तो कथावत्थु का समय ई०पू० तृतीय शताब्दी मानना होगा और अभिधम्म का अन्य बहुत-सा भाग उससे भी पहले रखना होगा। इसका अर्थ है कि बौद्ध धर्म में विभिन्न संप्रदाय बहुत पहले जन्म ले चुके थे। संभवतया सुत्त-निपात का संकलन होते ही उनका सूत्रपात हो गया था। अभिधम्म की मौलिकता सर्वसम्मत नहीं है। हीनयान के अंतर्गत सौत्रांतिक इसे नहीं मानते। सर्वास्तिवादी संप्रदाय का अपना अभिधर्म-पिटक संस्कृत में है। वह पालि अभिधम्म-पिटक से सर्वथा भिन्न है। दोनों में सात की संख्या समान है। विनय-पिटक में बौद्धधर्म की प्रथम संगीति का वर्णन है। उसमें विनय और धम्म का

ही निर्देश है, अभिधम्म का नहीं। इससे अभिधम्मपिटक की मौलिकता एवं समय दोनों के विषय में संदेह हो जाता है।

जो संप्रदाय अभिधम्म को आगमिक मानते हैं वे इसका बहुत आदर करते हैं। मिलिंदपञ्ह में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि नवयुवक नागसेन ने सुत्त-पिटक का अध्ययन किए बिना ही अभिधम्म के सातों आगमों को सीख लिया। श्रीलंका में मिलिनटेल के मंदिर के समीप सन् 262 का एक शिलालेख है। उसमें भिक्षु-विहार के नियम अंकित हैं। उनमें बताया गया है कि अभिधम्म-पिटक के उपदेशक के लिए सात कमरे और विनयपिटक के अध्येताओं के लिए पाँच कमरे नियत होने चाहिए।

बरमा में अभिधम्म-पिटक का अध्ययन अब भी किया जाता है। पिछली शताब्दियों में इस पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं।

आगमेतर पालि-साहित्य

उत्तरकालीन प्रक्षेपों एवं परिवर्धनों को छोड़कर पालि के मूल आगमों की रचना प्रायः भारत में हुई है। कुछ समय पश्चात् वे श्रीलंका में पहुँच गए। किंतु आगमेतर पालि-साहित्य का अधिक भाग श्रीलंका के भिक्षुओं की देन है। इसमें महत्त्व-पूर्ण अपवाद मिलिन्दपञ्ह है। संभवतया यह उत्तर-पश्चिमी भारत में लिखा गया। इसका कारण यह है कि इसके नायक मिलिन्द की स्मृति इतनी स्पष्ट वर्णित है कि वह साक्षात् संवाद को प्रकट करती है। यह मिलिन्द इतिहास-प्रसिद्ध यूनानी सम्राट् मेनाण्डर या मेनाण्ड्रोस है। उसने ई०पू० द्वितीय शताब्दी में अपने को यूनानी बैक्टेरियन साम्राज्य से पृथक् कर लिया था। उसका शासनकाल संभवतया ई०पू० प्रथम शताब्दी है। भारत में सिंध एवं गुजरात से लेकर गंगा की घाटी तक उसके विशाल साम्राज्य का विस्तार था। उस महान् सम्राट् का एक बौद्ध आचार्य के साथ संवाद एक ऐतिहासिक घटना भी हो सकती है और यह भी हो सकता है कि ग्रंथ-लेखक ने उप-निषदों की शैली पर उस महान् सम्राट् के साथ किसी कल्पित बौद्ध आचार्य का संवाद कराया हो। मिलिन्द स्वयं बौद्ध न होने पर भी बौद्ध समाज से सुपरिचित था। प्रतीत होता है कि ग्रंथकार, जिसके नाम का पता नहीं है, उस समय रहा होगा जब मिलिन्द की स्मृति धुँधली नहीं हुई थी। भारत में यूनानी साम्राज्य मिलिन्द के साथ ही समाप्त हो गया था। अतः यह नहीं माना जा सकता कि उसकी स्मृति उसके पश्चात् एक शताब्दी से अधिक जीवित रही हो। अतः अधिक संभावना है कि यह ग्रंथ प्रथम शताब्दी ईसवी में रचा गया होगा न कि द्वितीय शताब्दी में। मिलिन्दपञ्ह में जिन प्रश्नों की चर्चा है वे आगमों के प्रश्नों से मिलते-जुलते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मिलिन्दपञ्ह और आगमों के युग में अधिक अंतर नहीं है। पाँचवीं शताब्दी ईसवी में प्रसिद्ध टीकाकार बुद्धघोष ने मिलिन्दपञ्ह को आगमों के समान प्रामाणिकता दी है। जहाँ तक शैली का प्रश्न है सुत्त-पिटक की वक्तृताओं की तुलना में मिलिन्दपञ्ह

अधिक विकसित है। दीघ-निकाय के पायासि कथानक के समान आगमों में भी कुछ संवाद ऐसे मिलते हैं जो मिलिन्दपञ्ह के समान विशद और प्रभावशाली हैं। ये संवाद ऐसे हैं जिनकी तुलना प्लेटो के संवादों से की जा सकती है।

मिलिन्दपञ्ह के महत्त्व और समय के विषय में जो बात कही गई है वह उसके मौलिक भाग को लक्ष्य करके कही गई है। इसमें भी बहुत-सा भाग बाद में जोड़ दिया गया। पुस्तक के सात अध्यायों में से प्रस्तावना और द्वितीय एवं तृतीय अध्याय ही मौलिक हैं। तीसरे अध्याय में भी बहुत-सा अंश प्रक्षिप्त है। पुस्तक का अधिकांश भाग कालांतर में जोड़ा गया है और वह भी विभिन्न समयों में। पुस्तक का उद्देश्य संदेहों को दूर करना है और किसी क्रम एवं संबंध की चर्चा के बग़ैर इनकी चर्चा की गई है। ग्रंथ की रचना ही इस प्रकार की है कि उसमें नई-नई बातें सरलता से जोड़ी जा सकती हैं और किसी प्रकार अप्रासंगिक प्रतीत नहीं होतीं। इसका ज्वलंत उदाहरण अध्याय-संख्या चार से सात हैं। वे चीनी साहित्य में बिल्कुल नहीं मिलते। उनका रचना-काल सन् 317 और 420 माना जाता हैं। विषयों की दृष्टि से भी चार से सात तक अध्याय प्रथम अध्याय से भिन्न प्रकार के हैं। इसके अतिरिक्त तृतीय अध्याय के अंत में पुस्तक का उपसंहार आ जाता है और चतुर्थ अध्याय नई प्रस्तावना के साथ प्रारंभ होता है।

प्राचीन काव्य का प्रारंभ संभवतया मिलिन्द की राजधानी सागल के वर्णन के साथ होता है। उसके पश्चात् कहा गया है—बहुश्रुत एवं शक्तिशाली सम्राट् मिलिन्द ने अपनी सेना का निरीक्षण किया और उसके पश्चात् किसी के साथ वाद-विवाद करने की इच्छा प्रकट की। किंतु प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति सम्राट् को अपना प्रतिद्वंद्वी बनाने में डरता था। अतः कोई ब्राह्मण या श्रमण उससे वाद-विवाद करने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसके मंत्री सम्राट को आयुपाल के नाम के एक बौद्ध भिक्षु के पास ले गए जो सागल नगरी के पास ही विहार में रहता था। वह भी सम्राट के प्रथम प्रश्न से ही घबरा गया। सम्राट् ने दुःख भरे शब्दों में कहा—'शोक है! सारे भारत में कोई विद्वान नहीं है। भारत का नाम केवल मिथ्या-प्रलाप है। कोई ब्राह्मण या श्रमण ऐसा नहीं है जो शास्त्रार्थ करके मेरी शंकाओं को दूर कर सके।' उन्हीं दिनों महापंडित भिक्षु नागसेन भिक्षाटन करते हुए ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में घूम रहे थे। वे अपनी प्रतिभा के लिए दूर-दूर तक विख्यात थे। शास्त्रार्थ में कोई भी उनका सामना नहीं कर सकता था। वे अकस्मात् सागल आए और एक विहार में ठहर गए। मंत्री सम्राट् को उनके पास ले गए। देखते ही सम्राट् उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो उठे।

शिष्टाचार के पश्चात् प्रथम शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। उसमें बौद्ध दर्शन की महान् समस्या की चर्चा की गई। सम्राट् मिलिन्द ने नागसेन से उनका नाम पूछा उन्होंने उत्तर दिया कि लोग उन्हें नागसेन कहते हैं। यह केवल नाम है। उसके पीछे कोई व्यक्तित्व नहीं है। परिणामस्वरूप दोनों में गंभीर शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। अंत में सम्राट् ने स्वीकार कर लिया कि आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

बौद्ध धर्म के अनुसार आत्मा नाम का कोई नित्य द्रव्य नहीं है। यह एक चित्त एवं चैत्तिक धर्मों की बहती हुई धारा है। इस मान्यता का पुनर्जन्म के सिद्धांत के साथ समन्वय होना कठिन है जिसमें बुद्ध तथा समस्त भारतीय पूरा विश्वास रखते हैं। इसी प्रकार कर्म-सिद्धांत के साथ भी इसका समन्वय नहीं हो सकता जिस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति के द्वारा भोगे जाने वाले सुख और दुःख उसके पूर्व जन्मों के फल हैं। बौद्ध धर्म के आचार में इस सिद्धांत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें से प्रथम प्रश्न के साथ संबंध रखने वाला संवाद आगे दिया जाता है। उससे पता चलता है कि ग्रंथकार किस प्रकार कठिन से कठिन समस्या को सरलता एवं रोचकता के साथ प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त है।

सम्राट ने पूछा, "भगवन् नागसेन ! जब मनुष्य पुनः मनुष्य रूप में उत्पन्न होता है तो वह वही रहता है या दूसरा हो जाता है ?" स्थविर ने उत्तर दिया, "वह न तो वही है न दूसरा।" सम्राट्—"कोई उदाहरण दीजिए।" "सम्राट् ! तुम इस समय युवा हो। पहले छोटे बच्चे थे। पीठ के बल लेटे रहते थे। क्या तुम वही हो ?" "नहीं, भगवन् ! पीठ पर लेटा रहने वाला शिशु दूसरा था और युवक के रूप में इस समय दूसरा हूँ।" "राजन् ! यदि ऐसा है तो इसका अर्थ यह हुआ कि न तुम्हारी कोई माता है, न पिता, न गुरु, तुमने न कभी शिक्षा प्राप्त की, न अध्यादेश सीखे, और न कभी ज्ञान प्राप्त किया। राजन् ! इसका अर्थ है—गर्भ की चार अवस्थाओं में माताएँ भिन्न-भिन्न हैं, शिशु की माता अलग है और युवक की अलग ? क्या शिक्षा ग्रहण करने वाला भिन्न है और शिक्षा-प्राप्त भिन्न ? क्या अपराध करने वाला दूसरा है और दंड के रूप में जिसके हाथ और पाँव काट दिए जाते हैं वह दूसरा है ?" "नहीं, भगवन् ! किंतु आप इसका क्या उत्तर देते हैं ?" स्थविर ने कहा—"राजन् ! मैं ही कोमल शिशु था, मैं ही पीठ के बल लेटा रहने वाला बालक और अब मैं ही युवा हूँ। ये सभी अवस्थाएँ एक शरीर के कारण इकाई बन जाती हैं !" "कोई उदाहरण दीजिए।" "राजन् ! मनुष्य जो दीपक जलाता है क्या वही दीपक सारी रात जलता है ?" "हाँ भगवन् ! वही जलता है।" "राजन् ! रात्रि के पहले पहर में दीपक की जो लौ है वही दूसरे पहर में कैसे हो सकती है ?" "नहीं, भगवन् ?" "क्या रात्रि के दूसरे पहर में जो लौ होती है वही अंतिम पहर में भी होती है।" "नहीं, भगवन्", "तो, राजन् ! क्या रात्रि के प्रथम पहर में जो दीप है वह दूसरे पहर के दीप से भिन्न नहीं है और चौथे पहर में जो दीप है वह दूसरे पहर वाले दीप से भिन्न नहीं है ?" "नहीं, भगवन् ! उसी तेल और बत्ती के आधार पर वही दीपक सारी रात जलता रहा।" "राजन् ! इसी प्रकार जगत् में एकता प्रतीत होती है। जन्म लेने वाला दूसरा है, और मरने वाला दूसरा। फिर भी, ऐसा कोई तत्त्व है जो उन दोनों को जोड़ देता है। अतः मनुष्य अपने अंतिम जीवन में जिस चेतना के साथ प्रवेश करता है वह न तो वही है और न ही सर्वथा विभिन्न !"

शाश्वत आत्मा के न होने पर भी मनुष्य अपने कार्यों के लिए क्यों उत्तरदायी

है ? इस बात को अनेक उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। नीचे उनमें से एक उदाहरण दिया जाता है—

"मान लीजिए एक आदमी किसी के आम चुरा लेता है। आम का मालिक उसे पकड़ लेता है और राजा के सामने ले जाता है। कहता है—महाराज ! इस व्यक्ति ने मेरे आम चुरा लिए हैं। इस पर चोर कहता है—राजन् ! मैंने इसके आम नहीं चुराए। जिसने जो आम बोया था वह दूसरा था, और मैंने जिसके आम चुराए हैं वह दूसरा है। मैं दंड का पात्र नहीं हूँ। सम्राट् ! क्या उस व्यक्ति को दंड दिया जाना चाहिए ?" "भगवन् ! हाँ, उसको दंड मिलना चाहिए।" "क्यों मिलना चाहिए ?" "क्योंकि वह चोर भले ही कुछ कहे किन्तु यदि पहला आम न होता तो दूसरा आम न हो पाता।"

द्वितीय अध्याय में इस प्रकार के तर्कपूर्ण उदाहरणों की प्रचुर संख्या है। तृतीय अध्याय के मौलिक भाग में भी बहुत-सी रोचक एवं उपयुक्त उपमाएँ हैं। उदाहरण के रूप में जब सम्राट् के प्रश्न के उत्तर में स्थविर नागसेन कहते हैं—दुःखों का अंत केवल इस जन्म में किए हुए त्याग के द्वारा नहीं होता इसके लिए पूर्व जन्मों में किया गया त्याग भी अपेक्षित है तो उदाहरण देते हुए राजा से पूछते हैं—"राजन् ! क्या तुम जब तक प्यास नहीं लगती तब तक कुआँ खुदवाना नहीं शुरू करोगे, या जब तक भूख नहीं लगती तब तक अपने आदमियों को हल चलाने, बीज बोने और फसल काटने के लिए नहीं कहोगे, अथवा जब शत्रु द्वार पर आ जाए तभी खाइयाँ खुदवाना, दीवार चिनवाना और किले बनवाना शुरू करोगे ?"

मिलिन्दपञ्ह का प्रथम एवं मौलिक भाग साहित्यिक दृष्टि से भी कितना महत्त्वपूर्ण है यह जानने के लिए उपर्युक्त नमूने पर्याप्त हैं। यह प्राचीन गद्य का उत्तम निदर्शन है। द्वितीय अध्याय तथा तृतीय अध्याय के अधिकांश भाग में बौद्ध आचार एवं मनोविज्ञान से संबंध रखने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं। ये ऐसे मौलिक प्रश्न हैं जो जन-साधारण के लिए भी रुचिकर हो सकते हैं। इसके विपरीत चतुर्थ अध्याय में आत्मनिंदा, पश्चात्ताप एवं क्षमा, प्रार्थना आदि की वे बातें हैं जिनमें आगमिक साहित्य के गंभीर पर्यालोचक के अतिरिक्त किसी की रुचि नहीं हो सकती। इनमें जिनमें विवादग्रस्त प्रश्नों की चर्चा है उनका उपसंहार अत्यंत नगण्य विषयों में होता है। विशेष रूप से उनका संबंध बुद्ध के व्यक्तित्व के साथ है। उदाहरण के रूप में यह पूछा गया है—"जब बुद्ध का निर्वाण हो चुका है तो उनके अवशेषों की पूजा करने से क्या लाभ ? जब हम कहते हैं बुद्ध सोचा करते थे तो वे सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ? जब बुद्ध जानते थे कि देवदत्त नया पंथ खड़ा करेगा तो उसे संघ में सम्मिलित क्यों किया ? इत्यादि !" इन विवादों का कारण वे पाठ हैं जो परस्पर-विरोधी बातों को प्रकट करते हैं। एक कारण यह भी है कि आगम-साहित्य के प्रत्येक शब्द को, यहाँ तक कि जातकों की साधारण कथाओं में आने वाले इधर-उधर के नगण्य वर्णन को भी 'बुद्ध प्रवचन' मानते हुए अक्षरशः सत्य एवं कल्याणमय माना जाता है। यदि जातक-

कथाओं में बुद्ध द्वारा अपने पूर्व जन्मों में किसी दुष्कृत का किया जाना बताया गया है तो मिलिन्दपञ्ह के चतुर्थ अध्याय में उन्हें किसी प्रकार मुक्त करने की कोशिश की गई है।

मिलिन्दपञ्ह की दृष्टि में बोधिसत्त्व स्वयं बुद्ध के समान ही परिपूर्ण हैं। मौलिक अध्यायों में इस प्रकार की कोई बात नहीं है। त्रिपिटकों में भी ऐसा नहीं मिलता। तृतीय अध्याय में बुद्ध के भौतिक अस्तित्व के विषय में प्रश्न किया गया था। पंचम अध्याय में फिर वही प्रश्न उठाया गया है और नागसेन उत्तर देते हैं कि उनके उपदेशों से उनके अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। इस विचार को अत्यंत अलंकृत तथा विस्तृत उदाहरण द्वारा उपस्थित किया गया है और इसी में पंचम अध्याय का अधिकांश आ जाता है। उसमें बुद्ध की तुलना नगर की रचना करने वाले एक इंजीनियर के साथ की गई है। षष्ठ अध्याय में एक ऐसे प्रश्न की चर्चा है जो चौथे अध्याय में आ चुका है किंतु जिसका संतोषजनक समाधान नहीं हुआ। वह इस प्रकार है: यदि आगमों के कथनानुसार गृहस्थ भी अर्हत पद को प्राप्त कर सकता है तो कोई भिक्षु के कठोर जीवन को क्यों स्वीकार करे? इसका उत्तर यह है कि गृहस्थ अर्हत पद या निर्वाण को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसने अपने पूर्व जन्म में भिक्षु के व्रतों का पालन किया हो। इसके बाद तेरह धुतंगों के रूप में इन कठोर व्रतों का वर्णन किया है। साथ ही उनका असाधारण महत्त्व बताया है। षष्ठ अध्याय का यही प्रयोजन है। मिलिन्दपञ्ह में जितने प्रश्न उठाए गए हैं सबका उत्तर उदाहरणों द्वारा दिया गया है। सारा सप्तम अध्याय उदाहरणों के रूप में है। जो भिक्षु अर्हत पद को प्राप्त करना चाहता है उसमें कैसे गुण होने चाहिए यह बात 67 उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत की गई है। इनमें से बहुत से उदाहरण त्रिपिटकों में आ चुके हैं।

चतुर्थ अध्याय से सप्तम अध्याय तक एक ओर आगमों के उद्धरणों की विपुलता है दूसरी ओर ऐसी परंपराओं का बार-बार उल्लेख है जो आगमों से भिन्न हैं और जो संभवतया उत्तरकालीन हैं। विशेष रूप से उन कथाओं के उल्लेख हैं जो केवल टीका-साहित्य में मिलती हैं, विशेष रूप से जातक, विमानवत्थु और धम्मपद की टीकाओं में। इन कथाओं में कर्म-सिद्धांत की जनसुलभ स्थूल मान्यता, बौद्ध मत का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन तथा चमत्कारों में विश्वास मिलते हैं, जिनसे उनके परवर्ती होने का पता चलता है।

नेत्तिपकरण

नेत्तिपकरण भी उतना ही प्राचीन है जितना मिलिन्दपञ्ह का प्राचीनतम भाग और यह भारत में बहुत पहले लिपिबद्ध हुआ था। इसे नेत्ति-गंध (नेतिग्रंथ) या सक्षेप में 'नेत्ति' भी कहा जाता है। यह मार्ग-दर्शन करने वाली पुस्तक है। बुद्ध के उपदेशों का सुसम्बद्ध वर्णन करने वाला यह सर्वप्रथम ग्रंथ है। संभवतया अभिधम्मपिटक की अंतिम दो पुस्तकों की अपेक्षा यह प्राचीन है। बुद्ध के शिष्य महाकच्चान को इसका रचयिता

माना जाता है। मज्झिम-निकाय तक उन्हें बुद्ध के उपदेशों का सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता माना जाता था। उन्हीं भिक्षु महाकच्चान ने पेटकोपदेश की रचना भी की जिसमें पिटकों का अध्ययन करने वाले के प्रति शिक्षा है। यह नेत्तिपकरण का ही परिवर्धन है, और संभवतया इसका रचनाकाल भी वही है। सन् 500 में धम्मपाल ने नेत्ति पर एक टीका रची।

टीकाएँ

आगमेतर पालि-साहित्य का अधिक भाग टीकाओं के रूप में है। भारत और लंका के जिन भिक्षुओं के कारण हमें आगमिक साहित्य की प्राप्ति हुई वे मूल आगमों के अध्ययनमात्र से संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने व्याख्याएँ भी रचीं। सुत्तों के रूप में हमें व्याख्या-साहित्य का प्रारंभ मिलता और आगमों पर बहुत-सी टीकाए भी हैं। लंका के स्थविर भिक्षुओं की मान्यता है कि अट्ठकथा प्रथम संगीति के समय विद्यमान थी और महेन्द्र जिस समय पालि-आगमों को लंका में लाए, अट्ठकथा भी उनके साथ आई और उन्होंने इस समस्त साहित्य का सिंहली में अनुवाद किया। हम उनकी इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। अट्ठकथा का अर्थ है—'अर्थों की व्याख्या।' इसे वट्टगामणि की अध्यक्षता में लिखा गया और बुद्धघोष ने इसका पालि में अनुवाद किया। फिर भी यह मानना पड़ता है कि व्याख्याओं की रचना का कार्य आगमों के संकलन के पश्चात् शीघ्र ही प्रारंभ हो गया था और प्राचीन व्याख्याएँ पाली में ही रची गई थीं। पाँचवीं शताब्दी की टीकाओं में इन आगमों को 'पुराण' शब्द से व्यवहृत किया है। जब भारत में बौद्ध धर्म के अन्यान्य संप्रदायों ने थेरवाद को अभिभूत कर लिया तब भी इस परंपरा का अध्ययन-अध्यापन लंका में चलता रहा। उस समय जो भी पालि-व्याख्याएँ उपलब्ध थीं उनका सिंहली में अनुवाद हो गया। केवल पद्य-भाग पालि में अपरिवर्तित रहा। उनमें से कुछ भाग कण्ठस्थ स्मृति के रूप में चला आ रहा था और कुछ कथानकों के रूप में। लंका के भिक्षुओं ने इस दिशा में स्वतंत्र होकर कार्य किया और सिंहली भाषा में टीकाएँ लिखीं। पालि में भी लिखने का प्रयत्न किया, विशेष रूप से पालि-पद्य में। उन्होंने इस क्षेत्र में इतनी कुशलता प्राप्त कर ली कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में भी बुद्धघोष प्रांजल पालि में लिख रहे थे। उन्होंने स्वतंत्र टीकाएँ लिखीं, सिंहली अनुवादों का पुनः पालि में अनुवाद किया एवं सिंहली टीकाओं का पालि-रूपांतर कर दिया गया।

बौद्ध भिक्षुओं की साहित्यिक एवं प्रचारात्मक प्रवृत्तियाँ बुद्ध, धर्म और संघ तीनों रत्नों से संबंध रखती थीं। बुद्ध की कथा अधिकाधिक विस्तृत होती गई। भिक्षु लोकगीतों और त्रिपिटकों में निबद्ध कथानकों से संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने भगवान् के समस्त जीवन का वर्णन करना चाहा। ब्राह्मणों के समय भारत में धर्म-ग्रंथों की जिस प्रकार व्याख्या की जाती थी तथा जिस प्रकार उदाहरण-प्रत्युदाहरण द्वारा उनका विस्तार किया जाता था उसी प्रकार बौद्ध-भिक्षुओं ने भी किया। व्याख्या-पद्धति में

व्याकरण और कोश का ही नहीं कथा-कहानियों का भी उपयोग किया गया। बौद्ध भिक्षु अपने विहारों में रहते हुए कहानियाँ सुनाने में आनंद का अनुभव करते थे। आगमों के बहुसंख्यक कथानक उनके लिए पर्याप्त न थे, उन्होंने इन कथानकों को बौद्ध धर्म का जामा पहनाया। उन्होंने बहुत से कथानकों को विस्तार देकर परिपूर्ण बनाया। साहित्य के अन्य क्षेत्रों की जो बातें उन्हें मालूम थीं उन्हें इनमें मिला दिया। उन्होंने ऐसा बहुत सा नया साहित्य रचा जो प्राचीन साहित्य का अनुकरण था। उन्होंने ऐसी कथाएँ भी इकट्ठी कीं जिनमें बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार के विषय में ऐतिहासिक जानकारी मिलती थी। उनके साथ आचार-नियमों को भी जोड़ दिया और उन्हें विनयपिटक की टीका में सम्मिलित कर लिया। अतः अट्ठ-कथाएँ बौद्ध-परंपरा के प्रारंभिक इतिहास को भी प्रकट करती हैं।

जहाँ तक बुद्ध के जीवन का प्रश्न है आगमों में बुद्ध के सर्वांगीण जीवन का पता नहीं चलता। केवल उसके प्रारंभ का उल्लेख है। विनय-पिटक में, सुत्त-पिटक की कुछ वक्तृताओं में और सुत्तनिपात के कुछ प्राचीन लोक-गीतों में, भगवान् के जीवन के कुछ उल्लेख मिलते हैं जिनकी विश्वसनीयता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार बुद्ध से संबंध रखने वाले कथानक और बुद्ध के अपने जीवन के विषय में भी वर्णन मिलते हैं। बुद्धवंस में पूर्व-जीवन का वर्णन मिलता है। साथ ही 26 वें अध्याय में बुद्ध का जीवन संक्षेप में मिलता है। चरियापिटक और जातकों में बुद्ध के पूर्व-जन्मों का वर्णन है। बौद्ध भिक्षुओं की दृष्टि में ये भी बुद्ध का पूर्व-जीवन जानने के लिए इतिहास हैं; पालि साहित्य में बुद्ध का संपूर्ण जीवन-चरित्र नहीं मिलता। सर्वप्रथम यह निदान-कथा में दिया गया है। निदान का अर्थ है—प्रारंभ। यह जातकट्ठवण्णना का प्रारंभिक भाग है।

निदान-कथा

निदान कथा में तीन खंड हैं—प्रथम खंड में सुदूर अतीत से संबंध रखने वाली प्रारंभिक कथाएँ हैं। इनमें गौतम बुद्ध की दीपंकर बुद्ध के समय सुमेधा के रूप में उत्पत्ति से लेकर तुषित नामक स्वर्ग-प्राप्ति तक का वर्णन है। द्वितीय खंड में प्रारंभिक कथाएँ अपेक्षाकृत निकट अतीत की हैं, जिनका प्रारंभ बुद्ध के तुषित नामक स्वर्ग से मनुष्य के रूप में अवतरण के साथ होता है और अंत बोधि-प्राप्ति के साथ। तृतीय खंड में वर्तमान की कथाएँ हैं। इनमें बोधि-प्राप्ति से लेकर अनाथ-पिंडिक के दान तक का वर्णन है।

प्रथम खंड बुद्धवंस तथा चरियापिटक से साक्षात् संबंध रखता है; और मुख्य-तया इनके उद्धरणों की टीका है। बुद्धवंस के दूसरे अध्याय में दिया हुआ सुमेधा का वर्णन पूरा का पूरा ले लिया गया है। हमने देखा है कि आने वाले बुद्ध ने सुमेधा के रूप में तत्कालीन दीपंकर बुद्ध को वंदन किया और बुद्धत्व की योग्यता प्राप्त करने के लिए दस पारमिताओं को पार करने का संकल्प किया। इस संकल्प के बाद उसने असंख्य

जन्म लिए और पारमिताओं के प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया। उनका वर्णन चरियापिटक में है और निदान-कथा में भी उन्हें उद्धृत किया गया है। अंत में वह वेस्सन्तर—एक राजा—के रूप में पैदा होता है और अपनी अनुपम उदारता के कारण दान पारमिता को प्राप्त करके तुषित नामक स्वर्ग से उत्पन्न होता है।

चरियापिटक के गद्य में बार-बार बुद्धवंस की गाथाएँ आती हैं। शेष दो खंडों में इस प्रकार की गाथाएँ बहुत थोड़ी हैं। दूसरा खंड बुद्ध की स्वर्ग में उत्पत्ति से प्रारंभ होता है। तुषित नामक स्वर्ग के देवता बुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि वे लोगों का कल्याण करने के लिए मनुष्य के रूप में जन्म ग्रहण करें। उचित विचार के पश्चात् वे ऐसा करने का निश्चय कर लेते हैं। उसके बाद बुद्ध की गर्भ-प्राप्ति से संबंध रखने वाली क॰ .एँ प्रारंभ होती हैं। बुद्ध की माता मायादेवी को स्वप्न आता है कि एक सफ़ेद हाथी ने उनके गर्भ में प्रवेश किया। लुम्बिनी के लता-मंडप में बुद्ध का जन्म होता है। देवता और मनुष्य नवजात शिशु का स्वागत करते हैं। असित नाम के ऋषि उनके महान् भविष्य के लिए भविष्यवाणी करते हैं। तत्पश्चात् शैशव एवं बाल्यकाल के चमत्कारों का वर्णन है। राजकुमार के रूप में उनके सामने वार्धक्य, रोग, मृत्यु और संन्यास के दृश्य उपस्थित होते हैं। अंत:पुर का रात्रिकालीन दृश्य उनके गृह-परित्याग के निश्चय को दृढ़ बना देता है। तत्पश्चात् राजप्रासाद से उनका निष्क्रमण, विविध अतिशयों की प्राप्ति, देवों का साहाय्य, उनके द्वारा परिव्राजक भिक्षु का जीवन अपनाना, तपस्वी के रूप में कठोर साधना, सुजाता द्वारा दिया गया खीर का भोजन, जो दिव्य शक्तियों से संपन्न है और तपस्या के कारण क्षीणकाय बोधिसत्त्व को नया जीवन प्रदान करता है, बोधिवृक्ष के नीचे समाधि, मार का आक्रमण, अंत में अनेक विभूतियों के साथ बोधि-रूप में सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति के साथ-ही-साथ बहुत से अन्य चमत्कारों का उल्लेख है।

तृतीय खंड में बुद्ध के पास सर्वप्रथम दीक्षित होने वाले शिष्यों का वर्णन है। चमत्कार और विभूतियाँ अप्रासंगिक होने पर भी यहाँ जोड़ दी गई हैं। बुद्ध एक सप्ताह बोधिवृक्ष के नीचे समाधि में लीन होकर व्यतीत करते हैं। देवों को संदेह होने लगता है कि उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई या नहीं। उनके संदेह को दूर करने के लिए वे कुछ चमत्कार दिखाते हैं। वे आकाश में ऊँचे उठ जाते हैं। तत्पश्चात् पूर्व की ओर देखते हुए अपने आसन के पास खड़े हो जाते हैं और पलकें झपकाए बिना एक सप्ताह तक उसी प्रकार खड़े रहते हैं। यहाँ निदान-कथा में विशेष उल्लेख है कि वहाँ कालांतर में 'अनिमिषचैत्य' की स्थापना की गई। कुछ अन्य पाठ भी बुद्ध की वास्तविक जीवन-घटनाओं का स्मरण दिलाते हैं। तपस्सु और भल्लिक नामक दो व्यापारियों का बुद्ध के पास आना और गृहस्थ शिष्य बनना विनयपिटक में भी वर्णित है। निदान-कथा में इतना अधिक है कि बुद्ध ने इन प्रथम गृहस्थ शिष्यों को कुछ बाल दिए, जिन पर उन्होंने स्तूप बनाया। बुद्ध का अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु में पदार्पण अत्यंत विस्तार के साथ दिया गया है। उसमें भी चमत्कारों की कमी नहीं है। प्रसिद्ध व्यापारी अनाथ-पिंडिक की कथा ने भी पर्याप्त स्थान घेरा है। उसने भिक्षु-विहार के लिए अपना

जेतवन नाम का उद्यान दे दिया। इस कथानक के साथ निदान-कथा समाप्त हो जाती है। यह कहना कठिन है कि इसका उपसंहार यहाँ ही क्यों किया गया।

वर्तमान काल की कथाओं में निदान-कथा के जो निर्देश मिलते हैं उनसे सिद्ध होता है कि निदान-कथा जातक-कथा का पूर्व भाग अकस्मात् नहीं बनी। किंतु वह उसका आवश्यक भाग है। निदान-कथा के रचयिता का कथन है कि वे कहीं-कहीं जातक-कथा से अलग हो गए हैं, साथ ही वे दूसरी अट्ठकथाओं का उल्लेख करते हैं। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने सिंहली टीकाओं का अनुवाद मात्र नहीं किया अपितु दूसरी टीकाओं की सहायता लेकर उनका स्वतंत्र रूप से संस्कार भी किया। दुर्भाग्य से हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे जातक-कथा का काल-निर्णय किया जा सके। परिणामस्वरूप निदान-कथा का भी काल-निर्णय करना कठिन है। किंतु एक बात निश्चित है। संस्कृत-जातक और निदान-कथा में बहुत सी बातें परस्पर समान हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि निदान का आधार वही परंपरा रही होगी जो संस्कृत-जातकों की है, और संभवत: वह उन टीकाओं जितनी प्राचीन है जो भारत से लंका में आईं और जिनकी रचना महायान के विकास से पहले हुई थी। कुछ भी हो, ललित-विस्तार तथा अन्य संस्कृत-ग्रंथों में बुद्ध कथा का जो रूप मिलता है निदान-कथा उससे प्राचीन रूप को प्रकट करती है। भले ही ललित-विस्तार को पूर्ववर्ती माना जाए।

गंधवंस (ग्रंथवंश), जो संभवतया सत्रहवीं शताब्दी में बर्मा में लिखा गया था, में बुद्धघोष को जातक-टीका का रचयिता बताया गया है। यदि इस बात को ठीक माना जाए तो उसका समय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी मानना होगा। बुद्धघोष बर्मा तथा लंका में समान रूप से पूजे जाते हैं। उनके विषय में ऐतिहासिक रूप से हमें कुछ मालूम नहीं है। अत: परंपरा पर ही विश्वास करना पड़ता है। तदनुसार वे श्रीलंका के राजा महानाम के समय में हुए थे। यह ठीक है कि यह वृत्तांत महावंस के अंत में मिलता है जो तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक नहीं लिखा गया था। किंतु यह प्रमाणित हो चुका है कि बुद्धघोष की किसी रचना का सन् 489 में चीनी अनुवाद हुआ था। बुद्धघोष के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उनमें यह विश्वास-योग्य है कि उन्होंने महानाम के समय लंका के अनुराधपुर विहार में रहकर त्रिपिटकों और सिंहली अट्ठकथाओं का अध्ययन किया। उस विशाल अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्होंने विसुद्धि-मग्ग (विशुद्धि-मार्ग) की रचना की, जोकि बौद्ध साधना एवं आधार का महान् ग्रंथ है। तत्पश्चात् त्रिपिटक की पालि-टीकाओं का पुन: संस्कार किया। यह भी विश्वासयोग्य है कि वे बोध गया के पास किसी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। युवावस्था के प्रारंभ तक उन्होंने ब्राह्मण-परंपरा के साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया। भिक्षु रेवत ने एक शास्त्रार्थ के पश्चात् उन्हें अपना शिष्य बना लिया। गुरु ने उन्हें लंका जाकर सिंहली टीकाएँ पढ़ने के लिए प्रेरित किया। उन्हें जिन बहुसंख्यक ग्रंथों का रचयिता माना जाता है उनमें से बहुत से वास्तव में उन्हीं की कृति होंगे। इन्हीं

के कारण उन्हें ख्याति प्राप्त हुई। उन्हें टीकाकार के रूप में सर्वश्रेष्ठ मान लिया गया। ऐसी बहुत-सी टीकाएँ जो दूसरे विद्वानों द्वारा लिखी गईं या जिनके रचयिता अज्ञात थे, वे भी उनकी कृति मान ली गईं। अपनी प्रास्ताविक गाथाओं में वे विसुद्धि-मग्गों, समन्तपासादिका (विनयपिटक पर टीका) सुमंगलविलासिनी (दीघनिकाय पर टीका) पंचसुधिनी (मज्झिमनिकाय पर टीका) और मनोरथपूरणी (अंगुत्तर-निकाय पर टीका) का उल्लेख करते हैं। गंधवंस में अन्यान्य टीकाएँ भी उनकी कृति बताई गई हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—कंखावितरणी, (पातिमोक्ख/पाटिमोक्ख पर टीका), परमत्थकथा आदि।

इसमें संदेह नहीं है कि अभिधम्म की टीकाओं के रचयिता भी बुद्धघोष ही हैं। कम से कम धम्मसंगणि की अट्ठसालिनी, विभंग की सम्मोह-विनोदिनी और पट्ठानप्रकरण पर टीकाएँ उन्हीं की रचनाएँ हैं। खुद्दक-पाठ की कंखावितरणी, सुत्त-निपात की परमत्थजोतिका भी संभवत: उन्हीं की हैं। इसके विपरीत धम्मपद और जातकों की टीकाएँ भाषा और शैली दोनों दृष्टियों से बुद्धघोष की टीकाओं से भिन्न हैं उन्हें यथासंभव उनकी रचना नहीं माना जा सकता। जहाँ तक इन दोनों ग्रंथों का प्रश्न है इन पर लिखी गई तथाकथित टीकाओं को वास्तव में टीका नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार किसी को उनका 'रचयिता' मानना भी अनुपयुक्त है, क्योंकि दोनों में वास्तविक टीका अर्थात् शाब्दिक व्याख्या का बहुत थोड़ा स्थान है। मुख्य स्थान कथानकों या उदाहरण-दृष्टांतों से भरे उपदेशों का है। इसलिए उस व्यक्ति को जिसने उन उपदेशों एवं कथाओं का संग्रह एवं संपादन किया रचयिता न कहकर संग्राहक या संपादक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

धम्मपद की टीका

वस्तुत: देखा जाए तो धम्मपद की टीका जातक-टीका का महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट है और जातक-कथा के समान इसमें भी अनेक प्राचीन लोक-कथानक हैं। उनमें से अनेक कथानकों ने भारत की सीमा पार कर विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। वाराणसी के एक राजा की कथा है जो हेरुन-उल-रशीद के समान रात्रि में प्रजा का सुख-दु:ख देखने के लिए नगर में घूमा करता था। सर्वज्ञ नाम के वैद्य की कथा भी इसी प्रकार की है। इसमें किसा गौतमी की भी कथा है जो अपने मृत शिशु को लेकर निराशा एवं दु:ख से भरी हुई घूमती फिरती है और अंत में बुद्ध के पास पहुँच जाती है। बुद्ध ने उससे कहा कि मैं तुम्हारे शिशु को जीवित कर दूंगा। इसके लिए कुछ सरसों के दाने ले आओ, किंतु वे दाने ऐसे घर से आने चाहिए जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो। दु:खी माता एक घर से दूसरे घर घूमती फिरती है। किंतु ऐसा कोई घर नहीं मिलता जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। अंत में उसकी समझ में आता है कि भगवान् की यह आज्ञा उसे केवल शिक्षा देने के लिए थी। वे इसके द्वारा मृत्यु की

सार्वभौम सत्ता को बताना चाहते थे। उसके हृदय को इस तथ्य से सांत्वना मिली और वह भिक्षुणी हो गई। यह कथा मौलिक रूप से भारतीय दृष्टिकोण को प्रकट करती है। इस प्रकार की सांत्वनात्मक कथाओं की भारतीय साहित्य में प्रचुरता है। इसी प्रकार का दृष्टांत सिकंदर की कथाओं में मिलता है और इसके अनेक भाषाओं में अनेक संस्करण उपलब्ध हैं—उदाहरणत: अरबी, यहूदी, पारसी, कॉप्टिक आदि। यह अधिक संभव है कि यूनानी कथानक बौद्ध कथानकों से लिया गया हो। रोह्ड्स की यह मान्यता कि इस कथा का उद्गम यूनान में हुआ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार की उदयन की कथा है। राजा चंद्रप्रद्योत ने वासवदत्ता को प्राप्त करने के लिए उदयन को अपने वश में करना चाहा और लकड़ी का हाथी बनाकर उसमें साठ योद्धाओं को छिपा दिया। ट्रोजन युद्ध में भी इसी प्रकार लकड़ी का घोड़ा बनाकर उसमें योद्धा छिपाने गये थे। प्रतीत होता है कि रोम की इस घटना ने भारत में आकर उदयन की कथाओं में प्रवेश कर लिया।

ग्रंथ की योजना नीचे लिखे अनुसार है:

प्रत्येक गाथा या गाथा-समूह के साथ यह बताया गया है कि भगवान् ने यह उपदेश अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति को अमुक समय में अथवा घटना की अमुक स्थिति में दिया। इस पर कोई कथानक प्रारंभ हो जाता है। उसका उपसंहार किसी गाथा या गाथा-समूह के साथ होता है। अंत में उन गाथाओं की शाब्दिक व्याख्या है। यह बताया गया है कि ये गाथाएँ, कथानक एवं शाब्दिक व्याख्या सभी को बुद्ध ने स्वयं कहा था। उपसंहार के रूप में प्राय: यह बताया गया है कि उपदेश अथवा गाथाओं के अंत में कथानक से सम्बद्ध व्यक्ति बुद्ध के चरणों पर गिर पड़ा और निर्वाण के पथ पर अग्रसर हुआ। यदि वह भिक्षु है तो चरित्र में अधिक उन्नत हो गया, यदि गृहस्थ है तो भिक्षु बन गया। कई बार हजारों एवं लाखों व्यक्तियों के इस प्रकार परिवर्तित होने का उल्लेख है। सामान्य जातकों में अनेक बार कथानक-नायक के पूर्व जन्म से संबंध रखने वाली घटनाएँ भी बीच-बीच में डाल दी गई हैं, या अंत में जोड़ दी गई हैं। कथानक अपने-आप में विविध प्रकार के हैं। एक ओर उपन्यास के ढंग की लंबी एवं रोचक कथाएँ हैं तो दूसरी ओर छोटे-छोटे नीरस दृष्टांत हैं जिनकी गाथाओं के दृष्टांत के रूप में कल्पना की गई है। इनके साथ सुरुचिपूर्ण एवं रोचक कल्पित कथाएँ हैं जिनका लोक-साहित्य से चयन किया गया है। कथानकों द्वारा मुख्य रूप से कर्म-सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। मोग्गल्लान की मृत्यु की कथा महत्त्वपूर्ण है। धम्मपद-टीका की अन्य कथाओं के समान इसमें भी दिगंबर जैन साधुओं के प्रति अत्यंत घृणा प्रकट होती है। अत: इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

विशाखा की कथा में भी दिगंबर साधुओं के प्रति विरोध प्रकट होता है। यह कथा कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसका लक्ष्य केवल इस बात का प्रतिपादन है कि बुद्ध को मानने वाली एक संपन्न महिला अनेक प्रकार की संपत्तियों को प्राप्त करती है, क्योंकि उसने पूर्व-जन्म में तत्कालीन बुद्ध की बड़ी भक्ति की थी, और अपने वर्तमान

जीवन में भी बौद्ध भिक्षुओं को विविध प्रकार के दान देकर वह शुभ कर्मों का संचय कर रही है। कुछ कथाएँ त्रिपिटकों में आई हुई कथाओं का इतर संस्करण मात्र हैं। उदाहरण के रूप में अरहतगोधिका की कथा है जो निर्वाण प्राप्त करने के लिए अपना गला काट लेती है। कामदेव व्यर्थ ही उसे ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। यह कथा संयुत्त-निकाय में कही गई कथा से मिलती-जुलती है। जातकों के समान इस संग्रह में विनोद एवं परिहास की पर्याप्त मात्रा है। इसका एक उदाहरण धृष्ट बंदर की कहानी है जो जातक की शैली में कही गई है। उसका सारांश इस प्रकार है :

एक व्यापारी गधे पर बैठ कर बर्तन बेचने के लिए वाराणसी से तक्षशिला गया। जब व्यापारी अपने बर्तन बेचता तो गधा नगर से बाहर चरने लगता। वहाँ उसकी एक गधी से बातचीत होने लगी। गधी ने उस पर दया प्रकट करते हुए कहा तुम इतना बोझ उठाते हो और जब लंबी यात्रा करके घर लौटते हो तो कोई तुम्हारे पैर दबाने वाला नहीं है। गधा उसकी बातों में आ गया और उसने वापस बनारस जाने से इनकार कर दिया। कोड़ों के प्रहार से भी कोई लाभ न हुआ। अंत में मालिक ने गधी को देखा और समझ गया कि वही गधे की धृष्टता का कारण है। उसने स्त्री को प्रलोभन देकर उसे अपने अनुकूल बनाने का निश्चय किया। उसने उसे एक सुंदर गधी पत्नी के रूप में देने का वायदा किया। गधा प्रसन्न होकर घर की ओर चल पड़ा। कुछ दिनों बाद उसने मालिक को अपने वायदे की याद दिलाई। मालिक ने उत्तर दिया—मैं अपना वचन अवश्य पूरा करूँगा और तुम्हें पत्नी लाकर दूँगा किंतु मैं अकेले तुमको ही भोजन दे सकूँगा। यह तुम स्वयं समझ सकते हो कि इतना भोजन तुम दोनों के लिए पर्याप्त होगा या नहीं। जब तुम इकट्ठे रहोगे तो संतान होगी। तुम स्वयं सोच सकते हो कि इतना भोजन तुम सबके लिए पूरा होगा या नहीं। मालिक के यह कहते-कहते ही गधे का मन बदल गया और पत्नी की इच्छा समाप्त हो गई।

धम्मपद की टीका में ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं जो बुद्धघोष की कथाओं में मिलती हैं। पचास से भी अधिक कथाएँ धम्मपद और जातकों की टीकाओं में एक-समान हैं। कई जगह दोनों कथाएँ शब्दशः मिलती हैं। अन्यत्र जातक-कथाओं के रूपांतर हैं। धम्मपाल ने अपनी टीका में पच्चीस से अधिक टीकाएँ धम्मपद की टीका से ली हैं। यह संभव है कि इन कथानकों में परस्पर नक़ल के स्थान पर दोनों ने उन्हें किसी सामान्य स्रोत से लिया हो। वर्लिंगेम ने यह पता लगाया है कि बुद्धघोष की टीकाओं की अपेक्षा जातक-टीका अर्वाचीन है। धम्मपद की टीका जातक-टीका की अपेक्षा अर्वाचीन है, और धम्मपाल की टीका इन सबसे अर्वाचीन है। फिर भी संभवतः इन टीकाओं का परस्पर व्यवधान दीर्घकालिक नहीं है।

बुद्धघोष की मौलिक टीकाओं में भी दृष्टांत, उपमाएँ, कथानक, महत्त्वपूर्ण परंपराएँ एवं चुटकले बार-बार आते है। उदाहरणस्वरूप अट्ठसालिनी, पपंचसूदिनी, सुमंगलविलासिनी और विशेष रूप से मनोरथपूरणी। ब्रह्मजाल सूत्र की टीका में

बुद्धघोष ने बुद्ध की जीवनी का सुंदर वर्णन किया है। इधर, एक ओर, महायानसूत्रों के समान बुद्ध एक देव के रूप में उपस्थित होते हैं। जब वे भिक्षा के लिए जाते हैं तो मंद समीर उनके मार्ग को साफ़ कर देता है, बादल मंद वर्षा करके धूल को शांत कर देते हैं; और उसके बाद एक मंडप के समान उन पर छा जाते हैं, ऊँचे-नीचे स्थान समतल हो जाते हैं। उनके पदचिह्नित स्थान में कमल खिल जाते हैं। छह विभिन्न रंगों की किरणें उनके शरीर से प्रस्फुटित होती हैं, आदि। दूसरी ओर वे एक घूमने वाले भिक्षु का वास्तविक जीवन बिताते हैं। जीवक नाम के वैद्य की कहानियाँ सामञ्ञफल-सुत्त की टीका में संग्रहीत हैं। अम्बट्ठ-सुत्त की टीका में शाक्यों और कौलिकों की उत्पत्ति का वर्णन है, जो कि सामाजिक इतिहास को जानने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

इक्ष्वाकु वंश के राजाओं ने कपिलवस्तु का निर्माण किया। उन्हें अपने वंश का इतना अभिमान हो गया कि उन्हें अपनी कन्याओं के विवाह के लिए कोई राजकुमार उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। अपने वंश को हीनता से बचाने के लिए उन्होंने अपनी ज्येष्ठ भगिनी को माता के रूप में मान लिया, और दूसरी बहनों के साथ विवाह कर लिया। परिणाम-स्वरूप ज्येष्ठ भगिनी को कुष्ठ हो गया। उसे वन में ले जाकर एक गड्ढे में रख दिया गया। उसी समय वाराणसी के राजा राम को भी कुष्ठ हो गया। वह भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपकर वन में चला गया। वन में उसने जड़ी-बूटियों के द्वारा अपना रोग दूर कर लिया और एक वृक्ष की खोह में रहने लगा। एक दिन एक व्याघ्र उस गड्ढे के पास आया जिसमें राजकुमारी रहती थी। राजकुमारी भय से चिल्लाने लगी। राजा राम चिल्लाहट सुनकर गड्ढे के पास गया और राजकुमारी को निकालना चाहा। किंतु उस कष्टपूर्ण परिस्थिति में भी राजकुमारी को अपने वंश का बड़ा अभिमान था। उसने राजा से कहा—यदि आपमें शुद्ध क्षत्रिय का रक्त है तभी मेरा स्पर्श करना। राजा ने उसकी चिकित्सा की और उसके साथ विवाह कर लिया। किंतु वह अपने नगर को नहीं लौटा। वन में ही एक नगर बसाकर रहने लगा। वहाँ शाक्य राजकुमारी के साथ रहते हुए उसके बहुत-से पुत्र हो गए। जब वे पुत्र युवा हुए तो माता ने उन्हें कपिलवस्तु भेजा, जिससे वे अपने मामाओं की कन्याओं के साथ विवाह कर सकें। वे वहाँ गए और राजकुमारियों को अपहरण करके ले आए। जब शाक्यों को मालूम पड़ा कि अपहरण करने वाले उनके संबंधी हैं तो उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। इस प्रकार कौलिक वंश की उत्पत्ति हुई।

मनोरथपूरणी

बुद्धघोष द्वारा रचित अंगुत्तर-निकाय की मनोरथपूरणी नामक टीका में लगभग सौ कहानियाँ हैं। इनमें से तेरह कहानियाँ बुद्ध के पास सर्वप्रथम दीक्षित होने वाली स्थविराओं के जीवन से संबंध रखती हैं और वे अत्यंत रोचक हैं। थेरगाथा के परिशिष्ट के रूप में ये अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। बौद्ध कथाकारों ने इन भिक्षुणिओं के विषय

जीवन में भी बौद्ध भिक्षुओं को विविध प्रकार के दान देकर वह शुभ कर्मों का संचय कर रही है। कुछ कथाएँ त्रिपिटकों में आई हुई कथाओं का इतर संस्करण मात्र हैं। उदाहरण के रूप में अरहतगोधिका की कथा है जो निर्वाण प्राप्त करने के लिए अपना गला काट लेती है। कामदेव व्यर्थ ही उसे ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। यह कथा संयुत्त-निकाय में कही गई कथा से मिलती-जुलती है। जातकों के समान इस संग्रह में विनोद एवं परिहास की पर्याप्त मात्रा है। इसका एक उदाहरण धृष्ट बंदर की कहानी है जो जातक की शैली में कही गई है। उसका सारांश इस प्रकार है :

एक व्यापारी गधे पर बैठ कर बर्तन बेचने के लिए वाराणसी से तक्षशिला गया। जब व्यापारी अपने बर्तन बेचता तो गधा नगर से बाहर चरने लगता। वहाँ उसकी एक गधी से बातचीत होने लगी। गधी ने उस पर दया प्रकट करते हुए कहा तुम इतना बोझ उठाते हो और जब लंबी यात्रा करके घर लौटते हो तो कोई तुम्हारे पैर दबाने वाला नहीं है। गधा उसकी बातों में आ गया और उसने वापस बनारस जाने से इनकार कर दिया। कोड़ों के प्रहार से भी कोई लाभ न हुआ। अंत में मालिक ने गधी को देखा और समझ गया कि वही गधे की धृष्टता का कारण है। उसने स्त्री को प्रलोभन देकर उसे अपने अनुकूल बनाने का निश्चय किया। उसने उसे एक सुंदर गधी पत्नी के रूप में देने का वायदा किया। गधा प्रसन्न होकर घर की ओर चल पड़ा। कुछ दिनों बाद उसने मालिक को अपने वायदे की याद दिलाई। मालिक ने उत्तर दिया—मैं अपना वचन अवश्य पूरा करूँगा और तुम्हें पत्नी लाकर दूंगा किंतु मैं अकेले तुमको ही भोजन दे सकूँगा। यह तुम स्वयं समझ सकते हो कि इतना भोजन तुम दोनों के लिए पर्याप्त होगा या नहीं। जब तुम इकट्ठे रहोगे तो संतान होगी। तुम स्वयं सोच सकते हो कि इतना भोजन तुम सबके लिए पूरा होगा या नहीं। मालिक के यह कहते-कहते ही गधे का मन बदल गया और पत्नी की इच्छा समाप्त हो गई।

धम्मपद की टीका में ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं जो बुद्धघोष की कथाओं में मिलती हैं। पचास से भी अधिक कथाएँ धम्मपद और जातकों की टीकाओं में एक-समान हैं। कई जगह दोनों कथाएँ शब्दशः मिलती हैं। अन्यत्र जातक-कथाओं के रूपांतर हैं। धम्मपाल ने अपनी टीका में पच्चीस से अधिक टीकाएँ धम्मपद की टीका से ली हैं। यह संभव है कि इन कथानकों में परस्पर नक़ल के स्थान पर दोनों ने उन्हें किसी सामान्य स्रोत से लिया हो। वर्लिंगेम ने यह पता लगाया है कि बुद्धघोष की टीकाओं की अपेक्षा जातक-टीका अर्वाचीन है। धम्मपद की टीका जातक-टीका की अपेक्षा अर्वाचीन है, और धम्मपाल की टीका इन सबसे अर्वाचीन है। फिर भी संभवतः इन टीकाओं का परस्पर व्यवधान दीर्घकालिक नहीं है।

बुद्धघोष की मौलिक टीकाओं में भी दृष्टांत, उपमाएँ, कथानक, महत्त्वपूर्ण परंपराएँ एवं चुटकले बार-बार आते है। उदाहरणस्वरूप अट्ठसालिनी, पपंचसूदिनी, सुमंगलविलासिनी और विशेष रूप से मनोरथपूरणी। ब्रह्मजाल सूत्र की टीका में

बुद्धघोष ने बुद्ध की जीवनी का सुंदर वर्णन किया है। इधर, एक ओर, महायानसूत्रों के समान बुद्ध एक देव के रूप में उपस्थित होते हैं। जब वे भिक्षा के लिए जाते हैं तो मंद समीर उनके मार्ग को साफ़ कर देता है, बादल मंद वर्षा करके धूल को शांत कर देते हैं; और उसके बाद एक मंडप के समान उन पर छा जाते हैं, ऊँचे-नीचे स्थान समतल हो जाते हैं। उनके पदचिह्नित स्थान में कमल खिल जाते हैं। छह विभिन्न रंगों की किरणें उनके शरीर से प्रस्फुटित होती हैं, आदि। दूसरी ओर वे एक घूमने वाले भिक्षु का वास्तविक जीवन बिताते हैं। जीवक नाम के वैद्य की कहानियाँ सामञ्ञफल-सुत्त की टीका में संग्रहीत हैं। अम्बट्ठ-सुत्त की टीका में शाक्यों और कौलिकों की उत्पत्ति का वर्णन है, जो कि सामाजिक इतिहास को जानने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

इक्ष्वाकु वंश के राजाओं ने कपिलवस्तु का निर्माण किया। उन्हें अपने वंश का इतना अभिमान हो गया कि उन्हें अपनी कन्याओं के विवाह के लिए कोई राजकुमार उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। अपने वंश को हीनता से बचाने के लिए उन्होंने अपनी ज्येष्ठ भगिनी को माता के रूप में मान लिया, और दूसरी बहनों के साथ विवाह कर लिया। परिणाम-स्वरूप ज्येष्ठ भगिनी को कुष्ठ हो गया। उसे वन में ले जाकर एक गड्ढे में रख दिया गया। उसी समय वाराणसी के राजा राम को भी कुष्ठ हो गया। वह भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपकर वन में चला गया। वन में उसने जड़ी-बूटियों के द्वारा अपना रोग दूर कर लिया और एक वृक्ष की खोह में रहने लगा। एक दिन एक व्याघ्र उस गड्ढे के पास आया जिसमें राजकुमारी रहती थी। राजकुमारी भय से चिल्लाने लगी। राजा राम चिल्लाहट सुनकर गड्ढे के पास गया और राजकुमारी को निकालना चाहा। किंतु उस कष्टपूर्ण परिस्थिति में भी राजकुमारी को अपने वंश का बड़ा अभिमान था। उसने राजा से कहा—यदि आपमें शुद्ध क्षत्रिय का रक्त है तभी मेरा स्पर्श करना। राजा ने उसकी चिकित्सा की और उसके साथ विवाह कर लिया। किंतु वह अपने नगर को नहीं लौटा। वन में ही एक नगर बसाकर रहने लगा। वहाँ शाक्य राजकुमारी के साथ रहते हुए उसके बहुत-से पुत्र हो गए। जब वे पुत्र युवा हुए तो माता ने उन्हें कपिलवस्तु भेजा, जिससे वे अपने मामाओं की कन्याओं के साथ विवाह कर सकें। वे वहाँ गए और राजकुमारियों को अपहरण करके ले आए। जब शाक्यों को मालूम पड़ा कि अपहरण करने वाले उनके संबंधी हैं तो उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। इस प्रकार कौलिक वंश की उत्पत्ति हुई।

मनोरथपूरणी

बुद्धघोष द्वारा रचित अंगुत्तर-निकाय की मनोरथपूरणी नामक टीका में लगभग सौ कहानियाँ हैं। इनमें से तेरह कहानियाँ बुद्ध के पास सर्वप्रथम दीक्षित होने वाली स्थविराओं के जीवन से संबंध रखती हैं और वे अत्यंत रोचक हैं। थेरगाथा के परिशिष्ट के रूप में ये अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। बौद्ध कथाकारों ने इन भिक्षुणिओं के विषय

में जो कथाएँ रची हैं उनसे भिक्षुणी बनने वाली महिलाओं के मनोभावों का बहुत कुछ पता चलता है। इस खंड का प्रारंभ महाप्रजापतीगोतमी की कथा से होता है। यह कथा विनयपिटक में भी आ चुकी है। प्रजापती भगवान् बुद्ध की धातृमाता थीं, और सर्वप्रथम उनके पास दीक्षित हुई। यह कथा ऐतिहासिक प्रतीत होती है। इसके पश्चात् रानी खेमा की कथा प्रारंभ होती है। उसे अपने सौंदर्य का अभिमान था। दीर्घकाल तक उसने बुद्ध की बात नहीं सुनी। एक दिन बुद्ध ने उसके सामने एक अत्यंत सुंदर अप्सरा की रचना की, जो देखते-देखते बूढ़ी हो गई। क्रमशः वह अत्यंत दुर्बल, क्षीणकाय वृद्धा के रूप में परिणित हो गई और वहीं गिर कर मर गई। खेमा को यह देखकर ख्याल आया कि उसका भी भविष्य वही होने वाला है। उसने भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित होने के लिए राजा से प्रार्थना की। एक कथा में उप्पलवण्णा का वर्णन है। वह इतनी सुंदर थी कि समस्त भारत के राजकुमार उसके प्रेम के प्यासे थे। उसके पिता द्विविधा में पड़े हुए थे कि राजकुमारी का विवाह किसके साथ किया जाए। उसने भिक्षुणी बनकर पिता की दुविधा दूर कर दी। किसागोतमी और सरसों के दानों वाली कथा भी इस टीका में हैं। पटाचारा की कथा अत्यंत हृदयस्पर्शी है। उसका सारांश निम्नलिखित है :

पटाचारा श्रावस्ती के समृद्ध व्यापारी की कन्या थी। वह घर में काम करने वाले एक नौकर से प्रेम करने लगी और उसके साथ भाग खड़ी हुई। गर्भवती होने पर उसने अपने पिता के पास लौटना चाहा। उस आदमी ने उसकी बात मान ली। किंतु प्रस्थान को उत्तरोत्तर स्थगित करने लगा। वह उसके पीछे-पीछे चलने लगा। प्रसव की पीड़ा से व्याकुल होकर उसने मार्ग के मध्य में बच्चे को जन्म दिया। वे फिर वापस लौट गए। दूसरे बच्चे के जन्म के समय भी वही बात हुई। जब उसने मार्ग में बच्चे को जन्म दिया तभी भयंकर तूफ़ान आ गया। पति ने उसके लिए एक छप्पर बनाना चाहा। जब वह घास काट रहा था तो साँप ने उसे काट खाया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। दु:खी माता दोनों बच्चों को लेकर अपने रास्ते चल पड़ी। चलते-चलते मार्ग में एक नाला आया। दोनों को साथ लेकर नाला पार करना संभव न था। उसने बड़े बच्चे को इस किनारे बैठा दिया और छोटे को लेकर नाला पार किया। पुनः वह बड़े बच्चों को लेने के लिए लौटी। जब वह धारा के बीच पहुँची, छोटे बच्चे पर एक बाज झपटा। उसने पक्षी को हटाने के लिए अपनी बाहें उठाईं। बड़े बच्चे ने यह समझा कि माँ बुला रही हैं। वह पानी में उतर आया और बहाव में बह गया। उधर बाज छोटे बच्चे को लेकर उड़ गया। शोक से भरी हुई पटाचारा श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि उसका घर तूफ़ान से नष्ट हो गया है और माता-पिता भी उसी में समाप्त हो गए हैं। उनके शरीर अग्नि-संस्कार के लिए चिता पर पड़े हुए थे। अभागिन पटाचारा फूट-फूट कर रोने लगी। उसने अपने कपड़े फाड़ डाले और कई दिनों तक नंगी होकर पागलों की तरह घूमती रही। अंत में एक दिन वह जिस मार्ग से निकली वहाँ बुद्ध भगवान् उपदेश दे रहे थे। उन्होंने मैत्री एवं करुणा का विस्तार करते हुए

उससे कहा "बहिन ! तुम्हें फिर से चेतना प्राप्त हो, फिर से वृद्धि प्राप्त हो।"

भगवान् के ये शब्द सुनते ही उसे अपनी सुध आई और वह लज्जा अनुभव करने लगी। एक आदमी ने उसकी ओर वस्त्र फेंका और उसने अपने-आप को ढक लिया। बुद्ध की एक गाथा ने उसे पूर्णतया परिवर्तित कर दिया। वह भिक्षुणी बन गई और उसने संघ में एक प्रतिष्ठित थेरी—ज्येष्ठ भिक्षुणी—का स्थान प्राप्त कर लिया।

इन कथानकों में बहुत-सी अद्‌भुत कथाएँ हैं, जो विश्वसाहित्य की सार्वजनिक संपत्ति हैं। उनमें से कुछ भारत से यात्रा करके विदेशों में पहुँची हैं और कुछ विदेशों से भारत में आई हैं। बौद्ध कथानकों की यह विशेषता है कि स्थविर भिक्षुओं का जीवन-चरित देते समय वे उनके अंतिम जीवन से संतुष्ट नहीं होते, उनके पूर्वजन्म के वृत्तांत भी प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार उप्पलवण्णा की कथा में बताया गया है कि पूर्वजन्म में वह पद्मावती थी। वह एक खिले हुए कमल से उत्पन्न हुई थी। वह जहाँ पैर रखती थी वहीं खिला हुआ कमल निकल आता था। वह वाराणसी के राजा की प्रियतमा रानी थी। दूसरी रानियां उससे ईर्ष्या करती थीं। एक बार जब राजा अपनी युद्ध-यात्रा पर गया हुआ था तो दूसरी रानियों ने उसके नव-जातशिशुओं को चुरा लिया। शिशुओं के स्थान पर उन्होंने रक्त से सना हुआ एक लकड़ी का टुकड़ा रख दिया। जब राजा वापिस लौटा तो उसे बताया गया कि पद्मावती डाकिनी है और उसने लकड़ी के लट्ठे को जन्म दिया है। राजा ने उसका परित्याग कर दिया। किंतु शीघ्र ही लकड़ी की पेटी में छिपाए हुए शिशुओं का पता लग गया और सारी बात प्रकट हो गई। इस प्रकार की अद्‌भुत कथाएँ पूर्व और पश्चिम में समान-रूप से पाई जाती हैं। मनोरथपूरणी में अन्य स्थान पर घोसक नाम के व्यापारी की कथा मिलती है। यह जैमिनी-भारत की कथा का रूपांतर है। एक युवक भाग्यशाली नक्षत्रों में उत्पन्न हुआ था और एक कन्या के साथ अक्षर का परिवर्तन उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। अधिकतर कहानियाँ बुद्ध एवं उनके धर्म के महत्त्व को बढ़ाने की दृष्टि से लिखी गई हैं। उदाहरणस्वरूप एक व्यापारी की कथा है। एक व्यापारी को मार बुद्ध का रूप लेकर फुसला लेता है, और विपरीत सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। किंतु व्यापारी उसे पहचान लेता है, क्योंकि बुद्ध से ऐसी बातों के उपदेश की आशा नहीं की जा सकती थी।

विसुद्धिमग्ग

बुद्धघोष ने अपनी टीकाओं में विसुद्धिमग्ग का बार-बार उल्लेख किया है। कुछ कथाओं की भूमिका में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो बातें वे अपनी रचना विसुद्धिमग्ग में लिख चुके हैं उन्हें दुहराना नहीं चाहते। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धघोष ने टीकाएँ लिखने से पहले विसुद्धिमग्ग को पूर्ण कर लिया था, और उसे टीका लिखने की तैयारी के रूप से रचा था। लेखक ने ग्रंथ के नाम की व्याख्या करते हुए कहा है—विसुद्धि का अर्थ है 'निर्वाण' जो पूर्ण एवं अंतिमरूपेण शुद्धि है, जो सभी प्रकार के मलों

से रहित है। उस लक्ष्य पर पहुँचाने वाला मार्ग विसुद्धिमग्ग (सं० विशुद्धिमार्ग) है। उन्होंने यह भी प्रकट किया है कि महाविहार अर्थात् अनुराधपुर के बुद्ध-विहार में आत्मशुद्धि के लिए जो परिचर्या प्रचलित है उसी को वे प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा प्रकट करना चाहते हैं। वर्तमान स्थिति में यह निश्चय करना कठिन है कि बुद्धघोष के सामने कोई दूसरा ग्रंथ था जिसके आधार पर उन्होंने विसुद्धिमग्ग की रचना की या महाविहार में प्रचलित धर्मचर्या को ही उन्होंने सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से उपस्थित किया है। यदि इसे बुद्धघोष की मौलिक रचना माना जाए तो यह कहना होगा कि बौद्धधर्म के सिद्धांतों—शील, समाधि और प्रज्ञा—के अनुसार सभी विषयों का विभाजन, उनकी व्याख्या तथा उनको व्यवस्थित रूप से उपस्थित करना बुद्धघोष की निजी देन है। बौद्धधर्म एवं परंपरा के विषय में पिछली कई शताब्दियों से जो सामग्री संचित हो रही थी उन्होंने उसे व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। उनकी शैली स्पष्ट और प्रांजल है। टीकाओं के समान विसुद्धिमग्ग में भी वे शुष्क उपदेशों को दृष्टांतों एवं उदाहरणों द्वारा सरस बना देते हैं। ये दृष्टांत और उदाहरण उनकी निजी कल्पना नहीं हैं। वे किसी पुरातन स्रोत से लिए गए हैं। शैली और विषय की दृष्टि से इनमें से कुछ गाथाएँ त्रिपिटकों का अवशेष प्रतीत होती हैं और कुछ आगमिक साहित्य में ज्यों की त्यों मिलती हैं, जबकि अधिसंख्यक कथानक उस समय के हैं। जब महायान के समान हीनयान में भी बुद्ध की पूजा पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी। इसमें मुख्य रूप से अर्हतों के आदर्श को प्रकट किया गया है। उदान की कथाओं में भी वही आदर्श मिलता है। नीचे लिखी कथाओं में भी वही आदर्श मिलता है—(1) स्थविर महातिस्य हँसती हुई सुंदरी के दाँत को देखकर मानव-शरीर की अपवित्रता पर पहुँच जाते हैं, और इसी पर विचार करते हुए आत्मशुद्धि के सर्वोच्च पद अर्हत्व को प्राप्त कर लेते हैं। (2) एक भिक्षु साठ वर्ष तक विहार में रहे किंतु उन्हें यह पता न चला कि उसकी दीवारें चित्रित हैं। (3) एक अन्य भिक्षु तीन मास तक अपनी माता के घर भिक्षा के लिए जाते हैं और वहाँ बैठकर भोजन करते हैं। माता पुत्र के शोक में व्याकुल है। उसे प्राप्त करना चाहती है किंतु भिक्षु-वेष के कारण पहचान नहीं पाती। उधर भिक्षु इतने विरक्त हो गए हैं कि प्रतिदिन दुःखी माता को देखते हुए भी यह नहीं कहते—"माँ, मैं ही तुम्हारा पुत्र हूँ।"

दूसरी ओर द्वितीय खंड में बहुत-सी ऐसी कथाएँ हैं जो बुद्ध-पूजा का समर्थन करती हैं। उन्हें पढ़कर कृष्ण-भक्ति का स्मरण हो आता है। एक बार बुद्ध नदी के किनारे उपदेश दे रहे थे। एक मेंढक ने उनका उपदेश सुना। वह किसी गडरिए के पैर के नीचे कुचला गया और मर कर ऊँची योनि में चला गया। वह तत्काल स्वर्ग में पहुँचा और एक स्वर्ण-निर्मित राजप्रासाद में त्रायस्त्रिंश देव के रूप में उत्पन्न हुआ। इस ग्रंथ में विभूतियों का वर्णन भी मिलता है जिन्हें भिक्षु ध्यान एवं समाधि द्वारा प्राप्त करते हैं। एक साँप को पक्षी ले जा रहा था। वह उसके पंजे में से छूट गया। विभूति-संपन्न भिक्षु ने उसे बचाने के लिए एक पहाड़ खड़ा कर दिया। साँप उस पर उतरकर

इधर-उधर चला गया। भिक्षु बक्कुल को एक मत्स्य ने निगल लिया, किंतु वह पूर्णतया स्वस्थ एवं सुरक्षित रहा क्योंकि भविष्य में वह अर्हत बनने वाला था। संजीव पूर्णतया मूर्च्छित हो गया। लोगों ने उसे मृत समझकर चिता पर लिटा दिया, किंतु आग उसे न जला सकी। भिक्षुणी उत्तरा समाधि में लीन थी। उबलता हुआ तेल भी उसे हानि न पहुँचा सका। नन्दोपनन्द नाम के सर्प ने मेरु को घेर लिया। उसके फण द्वितीय स्वर्ग तक पहुँच गए। उसी समय भिक्षु मोग्गल्लान आए। उन्होंने उससे भी बड़े साँप का रूप धारण कर के घेरा डाल दिया, और नन्दोपनन्द तथा मेरु दोनों को चकनाचूर कर दिया। तेरहवें अध्याय में युगों तथा विश्व की उत्पत्ति एवं प्रलय का लंबा वर्णन है, जो कि पुराणों के समान है। ये कल्पनाएँ बुद्धघोष के निजी मस्तिष्क की उपज नहीं हो सकतीं, किंतु प्रचलित कथाओं का संग्रह-मात्र हैं।

जहाँ तक विसुद्धिमग्ग तथा टीकाओं में आए हुए सैद्धांतिक एवं दार्शनिक विचारों का प्रश्न है, वे बुद्धघोष को दार्शनिक एवं युग-निर्माता के रूप के उच्च स्थान देने के लिए जोड़े गए हैं। उनमें अतिशयोक्ति का बाहुल्य है। बुद्धघोष अद्भुत प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे। उनका अध्ययन अत्यन्त व्यापक था और प्रतिपादन-शैली अत्यंत रोचक। यही कारण है कि लंका, बरमा एवं स्याम में उन्हें अब भी बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है, किंतु उन्हें मानवता के महान् शिक्षक के रूप में नहीं माना जा सकता। आगमिक साहित्य की व्याख्या के रूप में उनकी टीकाएँ कहाँ तक विश्वसनीय हैं, इस विषय में विद्वानों के परस्पर भिन्न-भिन्न मत हैं। के० ई० न्यूमैन ने एक स्थान पर कहा है कि बौद्ध आचार्यों ने जहाँ भी आगमों के क्लिष्ट तथा गूढ़ पाठों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है वह वस्तुस्पर्शी नहीं है। मेरा विश्वास है कि जो बात अन्य भारतीय टीकाकारों के विषय में कही जा सकती है, वह बुद्धघोष के विषय में भी सत्य है। एक ओर हमें सावधान रहने की आवश्यकता है कि उन्हें बिना सोचे-समझे स्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर यह बात भी है कि मूल आगमों को समझने के लिए उनसे काफ़ी सहायता मिलती है। यदि हम उनकी उपेक्षा करें तो 'व्याख्या' के एक साधन से वंचित हो जाएँगे। श्रीमती रायस् डेविड्स का यह कथन ठीक है कि बुद्धघोष का दर्शन अपरिष्कृत है। उन्होंने बहुत-से तथ्यों को बिना व्याख्या किए छोड़ दिया है। उनके विषय में पाश्चात्य विद्वान् पूर्णतया अधकार में हैं। मेरे लिए उनकी कृतियाँ मार्गदर्शक ही नहीं, ऐतिहासिक महत्त्व भी रखती हैं। उन्हें छोड़ देने का अर्थ होगा बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक विकास क्रम को खंडित कर देना। यदि यह मान भी लिया जाए कि बुद्धघोष की कोई मौलिक देन नहीं है तो भी प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने जो कुछ किया है उसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

परमत्थदीपनी

बुद्धघोष के कुछ समय पश्चात् धम्मपाल ने अपनी टीका परमत्थदीपनी

लिखी, जिसका अर्थ है 'वास्तविक अर्थ का प्रकाशन'। यह टीका खुद्दक-निकाय के उन भागों पर है जिन्हें बुद्धघोष ने छोड़ दिया था, वे हैं—इतिवुत्तक, उदान, चरिया-पिटक, थेरगाथा, विमान-वत्थु और पेतवत्थु। दक्षिणी भारत में तमिल प्रदेश में कांचीपुर में उनका जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा सिंहल के महाविहार में हुई। तत्पश्चात् उन्होंने तमिल प्रदेश के पदरतित्थ नामक विहार में निवास किया। किंतु उन्होंने अनुराधपुर में अध्ययन अवश्य किया होगा। बुद्धघोष के समान वे भी अनुराधपुर से सम्बद्ध अट्ठकथा का उल्लेख करते हैं। दोनों टीकाकारों की मान्यताएँ एक-सरीखी हैं और अंत तक वे एक ही पद्धति को अपनाते हैं। अत: यह नहीं माना जा सकता कि इन दोनों के बीच लंबे समय का व्यवधान रहा होगा। थेरीगाथा की टीका में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो मनोरथपूरणी में भी मिलती हैं। इस टीका में थेरी-अपदान के भी कुछ अंश सम्मिलित किए गए हैं। इसमें कुछ परंपराएँ ऐसी हैं जो अत्यंत प्राचीन प्रतीत होती हैं। भद्रा कुंडल-केशा की कथा बुद्ध एवं उनके प्रथम शिष्यों के समय को उपस्थित करती है, जिस समय विभिन्न दार्शनिक घूम-घूमकर अपने मत का प्रचार किया करते थे और विरुद्ध मत वालों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा करते थे।

भद्रा राजकीय कोषाध्यक्ष की कन्या थी। एक दिन उसने एक चोर को देखा जिसे बध के लिए ले जाया जा रहा था। वह उससे प्रेम करने लगी। उसके पिता ने प्रलोभन देकर चोर को छुड़ा लिया और भद्रा का विवाह कर दिया। किंतु चोर का ध्यान कन्या के आभूषणों पर लगा हुआ था। वह उसे लूटने के लिए एकांत स्थान में ले गया। वह चोर के मन की बात भाँप गई और आलिंगन करने का बहाना बनाकर उसे एक चट्टान से धकेल दिया। इस साहसपूर्ण कार्य के बाद उसने अपने पिता के घर लौटना उचित न समझा और जैन साध्वी हो गई। उसे जैन सिद्धांतों से संतोष नहीं हुआ। वाद-विवाद करने के लिए वह विद्वानों को ढूँढने लगी। ऐसा कोई दिखाई न दिया जो उसके साथ शास्त्रार्थ कर सके। अत: वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने लगी। प्रत्येक ग्राम तथा नगर में प्रवेश करते समय वह गुलाब की एक शाखा को ज़मीन में गाड़ देती और बच्चों को कहती जो उसके साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हो इस शाखा को पैरों तले दबा दे। यदि कोई ऐसा करे तो तुम मुझे सूचना दे देना। यदि शाखा एक सप्ताह तक सीधी खड़ी रहती तो उसे निकालकर दूसरे नगर को चली जाती। इस प्रकार घूमती हुई वह श्रावस्ती पहुँची। महान् सारिपुत्त ने उससे शास्त्रार्थ किया और उसे बौद्ध बना लिया। बुद्ध ने स्वयं उसे भिक्षुणी के रूप में दीक्षित किया।

यद्यपि बहुत-सी कहानियाँ अत्यंत रोचक हैं और ये टीकाएँ इन उद्धरणों एवं कथा-दृष्टांतों के कारण अत्यत महत्त्वपूर्ण हैं तथापि यह कहना ही होगा कि बहुत-सी कथाएँ मूर्खता-पूर्ण हैं। प्राय: वे गाथाओं में दिए गए किसी उपदेश के आधार पर गढ़ी गई हैं और इतनी नीरस एवं निष्प्राण हैं कि थेरी-गाथा की सरस एवं सुंदर कहानियाँ पढ़ने के बाद ये बिल्कुल अच्छी नहीं लगतीं।

पेतवत्थु तथा विमानवत्थु की टीकाएँ

पेतवत्थु तथा विमानवत्थु की टीकाओं में भी वही क्रम पाया जाता है जो जातकों एवं धम्मपद की टीकाओं में है। इसमें भी गाथाओं को विविध प्रकार के गद्य-कथानकों द्वारा परिवर्धित एवं उदाहृत किया गया है। इनमें भी कई कथाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। पेतवत्थु की टीका में बहुत-सी सांत्वनात्मक कथाएँ हैं। विमानवत्थु की टीका में प्रस्तुत कुछ कथाएँ मूल में प्रस्तुत कुछ कथाओं से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार के रूप में बुद्धघोष के लिए जो कुछ कहा गया है वह धम्मपाल पर भी लागू होता है।

अट्ठकथा

लंका के बौद्ध विहारों में रहने वाले भिक्षु केवल कथाओं के संग्रह तथा आगमिक साहित्य की व्याख्या तक सीमित न थे, उन्होंने प्रारंभ से ही इतिहास के रूप में बौद्ध धर्म एवं संघ की प्रमुख घटनाओं का भी संग्रह किया। विनयपिटक के अंतर्गत चुल्लवग्ग में संगीतियों का जो वर्णन मिलता है वह ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। कथावत्थु की टीका में तत्कालीन मत-मतांतरों का वर्णन है, जो कि धार्मिक संप्रदायों का इतिहास जानने के लिए महत्त्वपूर्ण है। सिंहली अट्ठकथाओं में भी ऐसे विभाग हैं जिनमें धर्मों का इतिहास मिलता है। बुद्धघोष एवं धर्मपाल ने उनका अध्ययन तथा अपनी रचनाओं में उपयोग किया है। ये विभाग संभवतया विनयपिटक की व्याख्या करने वाली अट्ठकथाओं की भूमिका रहे होंगे। बुद्धघोष ने विनयपिटक की समन्त-पासादिका नामक टीका की ऐतिहासिक भूमिका लिखते समय उनका अनुसरण किया है, और उनकी बहुत-सी बातों को आधारभूत माना है। लंका की ऐतिहासिक एवं काव्यात्मक गाथाओं का मूल अट्ठकथा भी है, क्योंकि दीपवंश और महावंश को इतिहास न कहकर ऐतिहासिक काव्य ही कहना होगा।

भारत में इतिहास, पुराण और कथा-साहित्य में कभी स्पष्ट भेद नहीं किया गया। अतः इतिहास एवं ऐतिहासिक काव्य को एक-दूसरे से पृथक् करना अत्यत कठिन है। बौद्ध लोग बुद्धवंश, चरियापिटक, तथा जातकों में प्रस्तुत बुद्ध के पूर्व-जन्मों एवं युगांतरों की कथाओं को इतिहास मानते हैं। इतना ही नहीं, बौद्ध साहित्य में लिखित सभी कहानियाँ उनके लिए इतिहास हैं। लंका के बौद्ध भिक्षुओं ने इसी प्रकार की कथा का अनुकरण करते हुए लंका द्वीप में बौद्ध धर्म के प्रवेश का वर्णन किया है। उन्होंने भारतीय बौद्धों एवं स्वयं बुद्ध के साथ अपना संबंध जोड़ने के लिए कहानियाँ गढ़ ली हैं। बुद्ध के गौरव को प्रकट करने के लिए कहा गया है कि जब भगवान् लंका द्वीप में आए, यहाँ केवल राक्षस और नाग रहते थे। भगवान् ने देवों के साथ आकाश-विहार किया और सारे द्वीप को धर्म के प्रकाश से आलोकित किया, तथा लंका के संघ को प्राप्त होने वाले भावी गौरव के लिए तैयारी की। इस प्रकार की धार्मिक कथाओं ने लंका के प्रारंभिक राजाओं को पौराणिक रूप दिया। इसी प्रकार सम्राट् अशोक, महेन्द्र, संगीतियों तथा आगमों के लंका द्वीप में स्थानांतरण के विषय में भी अनेक अर्द्ध-

ऐतिहासिक कहानियाँ गढ़ ली गईं। ऐतिहासिक काल के समीप पहुँचने के साथ-साथ इन लेखों में ऐतिहासिक तत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया है किंतु कहानियाँ ज्यों-की-त्यों बनी रहीं हैं। उनका स्थान इतिहास नहीं ले पाया। धार्मिक परंपराओं के साथ प्रचलित लौकिक कथानक एवं चुटकुले भी जोड़ दिए गए हैं। इस प्रकार अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक भाग सभी प्रकार की धार्मिक एवं लौकिक परंपराओं एवं वास्तविक इतिहास का कोश बन गए। यद्यपि अट्ठकथाओं ने अपना मूल रूप छोड़ दिया है फिर भी इतिहास एवं टीकाओं के आधार पर उनके विषयों का पता लगाया जा सकता है।

दीपवंस

सिंहली अट्ठकथाओं में जो परंपराएँ मिलती हैं। उन्हें महाकाव्य के रूप में सुसम्बद्ध करने का सर्वप्रथम असफल प्रयास दीपवंस के रूप में हुआ है। इसका अर्थ है—"दीप का वंश अर्थात् इतिहास।" इसके रचयिता के विषय में अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। संभवतः इसकी रचना चतुर्थ शताब्दी के अंत अथवा पंचम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई थी। इसमें भाषा एवं छंद-संबंधी बहुत-सी भूलें हैं। स्थान-स्थान पर व्याकरण तथा छंद के नियमों का उल्लंघन किया गया है। यह स्पष्ट है कि उस समय तक सिंहलवासी पालि लिखने में अभ्यस्त नहीं हुए थे। उन्होंने त्रिपिटकों के पुनः संकलन के अनुसार गाथाओं को बदल दिया है। बुद्धवंश, चरियापिटक और जातकों में ऐसा विशेष रूप से किया गया है। उनका मुख्याधार अनुराधपुर के विहार में सुरक्षित अट्ठकथाओं की ऐतिहासिक प्रस्तावनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने संभवतः एक या दो अन्य अट्ठकथाओं का भी उपयोग किया है। यही कारण है कि बहुत बार उसी विषय को दो या तीन बार विभिन्न रूपों में दुहराया गया है। उदाहरण-स्वरूप पहले संगीतियों की संक्षिप्त रूपरेखा है और उसके पश्चात् ही विस्तृत एवं पूर्णांग वर्णन। इन्हें यथासंभव प्रक्षेप नहीं कहा जा सकता। ग्रंथकार ने एक ही बात को जैसे-जैसे विभिन्न स्थानों पर पढ़ा और महत्त्वपूर्ण समझा उसी रूप में अपने ग्रंथ में सम्मिलित कर लिया। एक कवि ऐसा नहीं कर सकता था। दूसरी दृष्टियों से भी यह रचना संतोषजनक नहीं है। कथाकार किसी संकोच के बिना एक विषय छोड़कर दूसरे विषय में चले जाते हैं। बीच-बीच में क्रम भंग हो जाता है। कुछ घटनाएँ लोकगीत के रूप में पूरे वर्णन के साथ दी गई हैं, कुछ को निर्देश के रूप में सूचित करके छोड़ दिया गया है। बहुत-सी गाथाएँ घटनाओं अथवा कथानकों का स्मरण रखने के लिए बनाई गई हैं। उनमें प्रमुख घटनाओं या कथानकों के लिए निर्देश-सूचक शब्दमात्र दिए गए हैं। अर्थ-कथाओं में भी इस प्रकार की गाथाएँ मिलती हैं। उनमें स्थान का, व्यक्ति का पूरा वर्णन न करके निर्देश मात्र किया गया है, और उसे अन्य स्थान से ले लेने के लिए संकेत किया गयाहै। बहुत बार एक के बाद एक वक्तृताएँ चलती जाती हैं। बीच में कथात्मक गाथाएँ नहीं आतीं। प्राचीन लोकगीतों की भाँति है इसमें भी बहुत बार वक्ता का

पता केवल संदर्भ से चलता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन गाथाओं के बीच का संबंध गाथा-पाठक द्वारा गद्य में बताया जाता था। इस विषय में भी ग्रंथकार ने कथाकार की शैली का अनुसरण किया है। बड़ी-बड़ी सभाओं में गाथाओं का प्रवचन करने वाले इसी शैली को अपनाते थे।

महावंस

महवंस संभवतया महानाम नामक कवि की सुसंबद्ध कृति है। वह संभवतया पांचवीं शताब्दी में विद्यमान था। कवि एक काव्य की रचना करना चाहता है और उसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है। उसका कथन है कि प्राचीन आचार्यों ने जिस इतिहास की रचना की है वह कई स्थानों पर अतिविस्तृत है, अन्य स्थानों पर अत्यंत संक्षिप्त है और बहुत-सी पुनरुक्तियाँ भी हैं। उसने इन सभी दोषों को दूर कर दिया है और उसी सामग्री को सुवाच्य एवं सुपाठ्य रूप में उपस्थित किया है; जिससे उपयुक्त स्थानों पर भावों की अभिव्यक्ति एवं रस का संचार हो सके। वस्तुतः महावंस में भाषा और छंद सुपरिष्कृत हैं। इसका श्रेय केवल कवि को नहीं है। दीपवंस और महावंस के मध्यकाल में बुद्धघोष ने जो साहित्य उपस्थित किया और नए युग की सृष्टि की, वह भी इसका कारण है। बुद्धघोष ने लंका के पालि-साहित्य को स्थायी रूप से प्रभावित किया। महावंस की शैली भी निर्दोष है। इसमें न तो संबंध-विच्छेद करने वाले रिक्त स्थान हैं और न पुनरुक्तियाँ। दीपवंस अत्यंत संक्षिप्त है, पर महावंस विस्तृत एवं पूर्ण है। कुछ स्थानों पर यह संक्षिप्त भी है। गायगर के कथनानुसार महावंस एक कलापूर्ण कृति है, और ऐसे व्यक्ति की रचना है जो वास्तव में कवि कहा जा सकता है, भले ही उसमें उच्च कोटि की प्रतिभा न हो, उसने अस्त-व्यस्त सामग्री को सुरुचि एवं पटुता के साथ सुविन्यस्त किया है।

सामग्री एवं रचना की दृष्टि से दीपवंस और महावंस में समानता है। दोनों में बहुत सी गाथाएँ भी एक-सरीखी हैं। दोनों रचनाएँ बुद्ध के जीवन से प्रारंभ होती हैं। बुद्ध ने तीन बार लंका की यात्रा की। उस समय वहाँ राक्षस, यक्ष, पिशाच और नाग रहते थे। बुद्ध ने अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा सारे विश्व का निरीक्षण किया और धर्म-प्रचार के लिए इस सुन्दर द्वीप को चुना। एक बार नागकुमारों में परस्पर भयंकर युद्ध हो गया। उससे द्वीप के विनाश का खतरा पैदा हो गया। भगवान् बुद्ध ने अपनी महाकरुणा से प्रेरित होकर उनके प्रति दया दिखाई। देवों को साथ लेकर उन्होंने द्वीप के ऊपर व्योम-विहार किया और उसे धर्म के प्रकाश से आलोकित किया। परिणाम-स्वरूप, राक्षस तथा नागों ने धर्म स्वीकार कर लिया।

उसके पश्चात् गौतमबुद्ध के पिता शुद्धोधन के वंश-वृक्ष का वर्णन है और उसका संबंध अत्यंत पुरातन काल के किसी पौराणिक राजा के साथ जोड़ा गया है। इसके साथ भारतीय बौद्ध धर्म का इतिहास भी है। विशेषरूप से तीन संगीतियों का वर्णन है। दोनों महाकाव्यों में बौद्धधर्म के संरक्षक सम्राट् अशोक का विस्तृत

वर्णन है। उसी में तृतीय संगीति एवं राजकुमार महेन्द्र को लंका भेजने की बात है। इसके पश्चात् कथानक का स्थान बदल गया है और वह भारत को छोड़कर लंका में पहुँच जाता है। एक भारतीय राजकुमारी का संबंध सिंह के साथ हो गया। उससे दो संतानें उत्पन्न हुई। पुत्र का नाम था सिंहबाहु और पुत्री का शिवाली। इन दोनों के परस्पर-विवाह से विजय नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी के नाम के साथ लंका के राजवंश का इतिहास प्रारंभ होता है। यह राजकुमार घर से निर्वासित कर दिया गया और अपने सात सौ साथियों के साथ समुद्र-तट पर पहुँचा। समुद्र में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करके वह लंका द्वीप को लौटा और वहाँ का राजा बन गया। विजय और उसके आसन्नोत्तराधिकारियों की कथा महावंस की अपेक्षा दीपवंस में अति संक्षिप्त है। दोनों महाकाव्यों में देवानांपिय तिस्स का विस्तार से वर्णन है। वह अशोक के समय लंका का राजा था, और उसी के शासन-काल में राजकुमार महेन्द्र बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए वहाँ आए। उन्होंने वहाँ बौद्धधर्म की स्थापना की और सर्वप्रथम बौद्ध स्तूप का निर्माण किया। महेन्द्र की बहिन संघमित्रा बोधिवृक्ष की शाखा लाई और उसे वहाँ रोप दिया गया। इस घटना का वर्णन अतिविस्तृत रूप से किया गया है। इसके पश्चात् राजाओं के इतिहास में वट्टगामणि का विस्तृत वर्णन है। उसके समय में त्रिपिटक और उनकी टीकाएँ लिपिबद्ध की गई। राजाओं के वर्णन का क्रम महासेन तक चलता है। तत्पश्चात् दीपवंस एवं महावंस दोनों में वह अकस्मात् टूट जाता है। महानाम की मूल रचना ३७ वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर समाप्त हो जाती है। उसका पश्चाद्वर्तीय सारा भाग लंका मे चुलवंस अर्थात् लघु इतिहास के रूप में प्रख्यात है। इसमें कई परिशिष्ट हैं जो विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गये हैं। उनमें राजवंश को आगे बढ़ाया गया है। प्रथम परिशिष्ट स्थविर धर्मकीर्ति द्वारा विरचित है। वे पराक्रमबाहु के राज्य में विद्यमान थे।

यद्यपि महावंस के मूल भाग में प्रायः वे ही बातें हैं जो दीपवंस में भी आ चुकी हैं, फिर भी उन सीमाओं का अतिक्रमण किए बिना महानाम ने बहुत-सी नई सामग्री प्रस्तुत की है। दीपवंस में दुट्ठगामणि की कथा तेरह गाथाओं में दी गई है। महानाम ने उसे पल्लवित करके पूरा महाकाव्य बना दिया है जिसमें ग्यारह (22-32) सर्ग हैं। गायगर ने इसे दुट्ठगामणि महाकाव्य कहा है। प्रथम खंड में इस राजा के पराक्रमों का वर्णन किया गया है। द्वितीय खंड में वह एक धर्मनेता का रूप ले लेता है और पूर्ववर्ती जीवन में की गई क्रूरताओं के लिए पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त करता है। परिणाम-स्वरूप वह अनेक महास्तूपों का निर्माण करता है, जिनके निर्माण के साथ बहुत से चमत्कार जुड़े हुए हैं। महानाम ने अपनी रचना में बहुत सी अद्भुत एवं साहस-कथाएँ सम्मिलित की हैं, जिनका संबंध विश्वसाहित्य के साथ है।

दीपवंस मे इतना ही बताया गया है कि विजय और उसके साथी लंका से निर्वासित कर दिए गए और वे समुद्र-तट पर चले गए। वहाँ उन्होंने नगरों का निर्माण किया और राज्य की स्थापना की। महावंस में विजय के साहस का विस्तृत वर्णन है।

साथ ही कुवर्णा नाम की जादूगरनी के चमत्कार भी वर्णित हैं। उन्हें पढ़कर यूलाइ-सिस और सिर्स के साहस का स्मरण हो आता है। राजा एळार की कथा अत्यत रोचक है :

इस न्यायी राजा ने अपनी शय्या के पास एक घंटी बांध रखी थी और उसकी रस्सी बाहर खुली जगह में लटकती रहती थी। अन्याय से पीड़ित कोई भी व्यक्ति उसे बजा सकता था। सबसे पहले एक गाय ने रस्सी खींचकर घंटी बजाई। उसके बछड़े को राजकुमार ने कुचल दिया था। राजा ने अपने इकलौते पुत्र को उसी रथ के नीचे कुचल देने का दंड दिया। तत्पश्चात् एक पक्षी ने घंटी बजाई। उसके बच्चों को सांप खा गया था। राजा ने सांप को मार डाला। तीसरी बार घंटी एक बुढ़िया ने बजाई। उसने धूप में सूखने के लिए धान रखे थे अकस्मात् बिना ऋतु के वर्षा आई और धान खराब हो गए। राजा ने इसे अपने ही पाप का परिणाम समझा और उसका संबंध कुछ दिन पहले किए गए किसी दुष्कृत्य के साथ जोड़ा। उसने अनशन करके प्रायश्चित्त किया। इस पर इन्द्र ने पर्जन्य को आज्ञा दी कि वह सप्ताह में एक बार रात्रि में निश्चित समय पर ही बरसा करे।

संभवतया दीपवंस में जो बातें नहीं हैं महानाम ने उन्हें सिहलट्ठकथा-महावंस से लिया। महावंस की रचना का मूलस्रोत यही है। यद्यपि दीपवंस से बहुत-सी बातें ली गई हैं। दोनों महाकाव्य प्राचीन अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक भाग पर आधारित हैं। अत: उन्हें ऐतिहासिक महत्त्व मिलना स्वाभाविक है। फिर भी दोनों में से किसी को वास्तविक इतिहास नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में, दोनों महाकाव्य सिकंदर महान् का नाम लेकर अशोक के कार्यों का चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हैं। उनके लिए यह महान् विजेता कोई भौतिक व्यक्ति नहीं है किंतु दिव्य पुरुष है। दुट्ठगामणि यद्यपि एक क्रूर एवं नृशंस राजा था फिर भी महावंस में उसे एक धार्मिक महापुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दोनों रचनाओं का उद्देश्य मुख्य रूप से बौद्धधर्म एवं संघ के महत्त्व को बढ़ाना है। इसके साथ-साथ महावंस की रचना का उद्देश्य एक काव्य को प्रस्तुत करना भी है। कुछ विद्वानों ने इनके रचयिताओं को मनगढ़ंत बातें करने वाला बताया है। किंतु यह कथन उनके प्रति अन्याय है। वास्तव में उन्होंने उन्हीं बातों का वर्णन किया है जिन्हें अपनी दृष्टि में इतिहास माना है। हम उन बातों को पौराणिक, कल्पित या अत्युक्ति कह सकते हैं। उन्होंने ऐसी कोई बात प्रस्तुत नहीं की जिसे अपनी दृष्टि में इतिहास नहीं समझा। अत: जो बातें उनके जीवन से संबंध रखती हैं या उनके समय के निकटवर्ती हैं उनके विषय में उपर्युक्त काव्यों को प्रामाणिक आधार माना जा सकता है। उदाहरण-स्वरूप अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त के विषय में सर्वप्रथम जानकारी उन्हीं से प्राप्त होती है। यद्यपि यह जानकारी यूनानी-सामग्री से पूरी तरह मेल नहीं खाती, फिर भी, बहुत सी बातें परस्पर मिलती हैं और उनसे बुद्ध के निर्वाण-काल का निर्णय करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इसका अर्थ है भारतीय साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल का निर्णय। सिलवां लैवी ने चीनी और

सिंहली सामग्री की ऐतिहासिक सामग्री से तुलना करके यह बताया है कि चतुर्थ शताब्दी ईसवी के बाद की बातें पूर्णतया विश्वसनीय हैं।

आलोच्य महावंस में 915 गाथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त महावंस का एक परिवर्धित संस्करण भी मिलता है जिसमें 5791 गाथाएँ हैं। यद्यपि काव्य की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं है फिर भी साहित्य के इतिहास के संबंध में उससे बहुत जानकारी मिलती है। इससे पता चलता है कि किस प्रकार नई-नई सामग्री प्रक्षिप्त करके महाकाव्यों को विशालकाय बना दिया जाता था। महावंस-टीका सन् 1000-1250 में लिखी गई। यह महावंस की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह केवल शाब्दिक या सैद्धांतिक व्याख्या नहीं है। अपितु इसमें बहुत से नए कथानक, दृष्टांत एवं अन्य सामग्री जोड़ दी गई है। भिक्षुओं से संबंधित तथा लौकिक दोनों परंपराओं से इनका चयन हुआ है। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथा लौकिक परंपरा से संबंध रखती है। लेखक ने स्वयं इस बात का निर्देश किया है। साधारणतया उसने बुद्धघोष की समंतपासादिका और सुमंगल-विलासिनी नाम की टीकाओं से बहुत कुछ लिया है। अन्य ग्रंथों में सहस्सवत्थट्ठकथा का नाम कई बार आता है, इससे भी बहुत-सी सामग्री ली गई है। लंका के धार्मिक इतिहास से संबंध रखने वाले सभी उत्तरकालीन ग्रंथ अट्ठकथाओं पर आधारित हैं। बुद्धघोष ने अपनी समन्तपासादिका की ऐतिहासिक भूमिका में उनका उल्लेख किया है। उनमें से कुछ के नाम हैं—बोधिवंस, दाठावंस, और थूपवंस। यद्यपि इन्हें पूर्णतया ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं कहा जा सकता फिर भी ये इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। इनका उत्तरकाल में पुनःसंस्करण हुआ। महाबोधिवंस या बोधिवंस गद्य में है। इसमें बोधिवृक्ष का इतिहास है। प्रत्येक अध्याय के अंत में और पुस्तक के अंत में गाथाएँ मिलती हैं। इसकी रचना ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भिक्षु उपतिष्य ने की थी।

दाठावंस में बुद्ध के दाँत का इतिहास है। इसमें संस्कृत-गद्य मिला हुआ है। इसे 13वीं शती के प्रारम्भ में धर्मकीर्ति ने लिखा था। थूपवंस में स्तूपों का इतिहास है। यह भी 13वीं शती में लिखा गया था। यह सिंहली और पालि दोनों भाषाओं में उपलब्ध है। वाचिस्सर अपने को इसका रचयिता बताते है। ये सभी ग्रंथ एक ही ढाँचे पर रचे गए हैं। वे प्राक्तन बुद्ध दीपंकर के इतिहास के साथ प्रारंभ होते हैं। फिर गौतम बुद्ध का वर्णन करते हैं, तत्पश्चात् संगीतियों का। अंत में स्तूपों का इतिहास बताते हैं जो कि उनका मुख्य विषय है। बर्मा में भी इसी प्रकार के ग्रंथ रचे गए थे। उदाहरणार्थ छकेस धातुवंस। इसमें छह स्तूपों का वर्णन है जिनमें बुद्ध के केश रखे गए थे। ईस्वी सन् 1861 में पञ्ञसामि ने सासनवंस नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें भी उसी शैली को अपनाया गया है। इस ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि पालि-साहित्य का निर्माण आधुनिक काल तक चलता रहा। सासनवंस बौद्ध धर्म एवं शासन का इतिहास है। उसी समय में नन्दपञ्ज ने गंधवंस की रचना की। इसमें बौद्ध साहित्य का इतिहास है। दोनों ग्रंथ पालि-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। गंधवंस के

पांच अध्यायों में पालि-आगम-साहित्य का वर्णन है, और इसका विभाजन तीन पिटकों एवं नौ अंगों में किया गया है। इसमें उत्तरकालीन पालि-ग्रंथों तथा यथासंभव उनके रचयिताओं के नामों, लेखकों के जन्म-स्थानों का परिचय, ग्रंथ लिखने में प्रेरक कारणों तथा अंत में आगमों के लिपिवद्ध होने का वर्णन है।

लंका तथा वरमा में रचित उत्तरकालीन साहित्य के अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यह साहित्य मुख्यतया विद्वत्तापूर्ण धार्मिक साहित्य है और आगमों के साथ निकट संबंध रखता है, यद्यपि इसमें फुटकर काव्यात्मक रचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में है। बुद्धघोष के पश्चात् वारहवीं शताब्दी में पालि-साहित्य में बहुत कम ग्रंथों की रचना हुई। इस लंबे समय में लेखकों की संख्या अत्यल्प है। वरमा में ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व साहित्य की रचना बिल्कुल नहीं हुई।

बुद्धदत्त तथा उनके ग्रंथ

बुद्धदत्त को बुद्धघोष का समकालीन माना जाता है। कहा जाता है कि वे भी भारत में उत्पन्न हुए और उन्होंने लंका एवं दक्षिण भारत के कांचीपुर आदि अनेक स्थानों में निवास किया। किंतु यह बात निर्विवाद नहीं है। बुद्धदत्त का समय बुद्धघोष की अपेक्षा अर्वाचीन है। ऐसा लगता है कि इस उत्तरकालीन लेखक को महत्त्व प्रदान करने के लिए बुद्धघोष का समकालीन मान लिया गया। बुद्धदत्त ने बुद्धवंस पर टीका लिखी, साथ ही अभिधम्म और विनय पर सर्वांगीण ग्रंथों की रचना भी की। उनके नाम हैं—अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग तथा विनय-विनिच्छय-प्रकरण।

अनागतवंस

जहाँ तक विषय का संबंध है यह काव्य, बुद्धवंस का परिशिष्ट माना जा सकता है—जबकि बुद्धवंस में अतीत बुद्धों का वर्णन है, अनागतवंस आने वाले बुद्ध का परिचय देता है। संभवतया इस ग्रंथ का समय अपेक्षाकृत प्राचीन है। इसमें आगामी बुद्ध मैत्रेय के स्वर्ग का जो वर्णन है वह दीघनिकाय में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि मनुष्य 80,000 वर्ष तक जीवित रहेंगे स्त्रियाँ 500 वर्ष को आयु में विवाह-योग्य होंगी। भारत में मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ जाएगी। भारत एक कबूतरों से भरे कबूतरखाने के समान प्रतीत होगा। अनागतवंस में गौतम बुद्ध की भविष्यवाणी के रूप में आने वाले बुद्ध मैत्रेय तथा तत्कालीन चक्रवर्ती राजा शंख का विस्तृत वर्णन है।

सिक्खाएँ

ये विनयपिटक में प्रस्तुत आचार-नियमों का संक्षिप्त रूप हैं। धम्मसिरि ने खुद्दसिक्खा की रचना की और महासामि ने मूलसिक्खा की। वरमा के ऐतिहासिक ग्रंथों के अनुसार इनकी रचना 440 ई० में हुई। किंतु उनके अर्वाचीन होने की अधिक संभावना है। इन दोनों संग्रहों द्वेमातिका—अर्थात् भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणीपाति-

सिंहली सामग्री की ऐतिहासिक सामग्री से तुलना करके यह बताया है कि चतुर्थ शताब्दी ईसवी के बाद की बातें पूर्णतया विश्वसनीय हैं।

आलोच्य महावंस में 915 गाथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त महावंस का एक परिवर्धित संस्करण भी मिलता है जिसमें 5791 गाथाएँ हैं। यद्यपि काव्य की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं है फिर भी साहित्य के इतिहास के संबंध में उससे बहुत जानकारी मिलती है। इससे पता चलता है कि किस प्रकार नई-नई सामग्री प्रक्षिप्त करके महाकाव्यों को विशालकाय बना दिया जाता था। महावंस-टीका सन् 1000-1250 में लिखी गई। यह महावंस की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह केवल शाब्दिक या सैद्धांतिक व्याख्या नहीं है। अपितु इसमें बहुत से नए कथानक, दृष्टांत एवं अन्य सामग्री जोड़ दी गई है। भिक्षुओं से संबंधित तथा लौकिक दोनों परंपराओं से इनका चयन हुआ है। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथा लौकिक परंपरा से संबंध रखती है। लेखक ने स्वयं इस बात का निर्देश किया है। साधारणतया उसने बुद्धघोष की समंतपासादिका और सुमंगल-विलासिनी नाम की टीकाओं से बहुत कुछ लिया है। अन्य ग्रंथों में सहस्सवत्थट्ठकथा का नाम कई बार आता है, इससे भी बहुत-सी सामग्री ली गई है। लंका के धार्मिक इतिहास से संबंध रखने वाले सभी उत्तरकालीन ग्रंथ अट्ठकथाओं पर आधारित हैं। बुद्धघोष ने अपनी समन्तपासादिका की ऐतिहासिक भूमिका में उनका उल्लेख किया है। उनमें से कुछ के नाम हैं—बोधिवंस, दाठावंस, और थूपवंस। यद्यपि इन्हें पूर्णतया ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं कहा जा सकता फिर भी ये इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। इनका उत्तरकाल में पुनःसंस्करण हुआ। महाबोधिवंस या बोधिवंस गद्य में है। इसमें बोधिवृक्ष का इतिहास है। प्रत्येक अध्याय के अंत में और पुस्तक के अंत में गाथाएँ मिलती हैं। इसकी रचना ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भिक्षु उपतिष्य ने की थी।

दाठावंस में बुद्ध के दाँत का इतिहास है। इसमें संस्कृत-गद्य मिला हुआ है। इसे 13वीं शती के प्रारम्भ में धर्मकीर्ति ने लिखा था। थूपवंस में स्तूपों का इतिहास है। यह भी 13वीं शती में लिखा गया था। यह सिंहली और पालि दोनों भाषाओं में उपलब्ध है। वाचिस्सर अपने को इसका रचयिता बताते है। ये सभी ग्रंथ एक ही ढाँचे पर रचे गए हैं। वे प्रावतन बुद्ध दीपंकर के इतिहास के साथ प्रारंभ होते हैं। फिर गौतम बुद्ध का वर्णन करते हैं, तत्पश्चात् संगीतियों का। अंत में स्तूपों का इतिहास बताते हैं जो कि उनका मुख्य विषय है। बर्मा में भी इसी प्रकार के ग्रंथ रचे गए थे। उदाहरणार्थ छकेस धातुवंस। इसमें छह स्तूपों का वर्णन है जिनमें बुद्ध के केश रखे गए थे। ईस्वी सन् 1861 में पञ्ञसामि ने सासनवंस नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें भी उसी शैली को अपनाया गया है। इस ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि पालि-साहित्य का निर्माण आधुनिक काल तक चलता रहा। सासनवंस बौद्ध धर्म एवं शासन का इतिहास है। उसी समय में नन्दपञ्ज ने गंधवंस की रचना की। इसमें बौद्ध साहित्य का इतिहास है। दोनों ग्रंथ पालि-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। गंधवंस के

पाँच अध्यायों में पालि-आगम-साहित्य का वर्णन है, और इसका विभाजन तीन पिटकों एवं नौ अंगों में किया गया है। इसमें उत्तरकालीन पालि-ग्रंथों तथा यथासंभव उनके रचयिताओं के नामों, लेखकों के जन्म-स्थानों का परिचय, ग्रंथ लिखने में प्रेरक कारणों तथा अंत में आगमों के लिपिबद्ध होने का वर्णन है।

लंका तथा बरमा में रचित उत्तरकालीन साहित्य के अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यह साहित्य मुख्यतया विद्वत्तापूर्ण धार्मिक साहित्य है और आगमों के साथ निकट संबंध रखता है, यद्यपि इसमें फुटकर काव्यात्मक रचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में है। बुद्धघोष के पश्चात् बारहवीं शताब्दी में पालि-साहित्य में बहुत कम ग्रंथों की रचना हुई। इस लंबे समय में लेखकों की संख्या अत्यल्प है। बरमा में ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व साहित्य की रचना बिल्कुल नहीं हुई।

बुद्धदत्त तथा उनके ग्रंथ

बुद्धदत्त को बुद्धघोष का समकालीन माना जाता है। कहा जाता है कि वे भी भारत में उत्पन्न हुए और उन्होंने लंका एवं दक्षिण भारत के कांचीपुर आदि अनेक स्थानों में निवास किया। किंतु यह बात निर्विवाद नहीं है। बुद्धदत्त का समय बुद्धघोष की अपेक्षा अर्वाचीन है। ऐसा लगता है कि इस उत्तरकालीन लेखक को महत्त्व प्रदान करने के लिए बुद्धघोष का समकालीन मान लिया गया। बुद्धदत्त ने बुद्धवंस पर टीका लिखी, साथ ही अभिधम्म और विनय पर सर्वांगीण ग्रंथों की रचना भी की। उनके नाम हैं—अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग तथा विनय-विनिच्छय-प्रकरण।

अनागतवंस

जहाँ तक विषय का संबंध है यह काव्य, बुद्धवंस का परिशिष्ट माना जा सकता है—जबकि बुद्धवंस में अतीत बुद्धों का वर्णन है, अनागतवंस आने वाले बुद्ध का परिचय देता है। संभवतया इस ग्रंथ का समय अपेक्षाकृत प्राचीन है। इसमें आगामी बुद्ध मैत्रेय के स्वर्ग का जो वर्णन है वह दीघनिकाय में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि मनुष्य 80,000 वर्ष तक जीवित रहेंगे स्त्रियाँ 500 वर्ष की आयु में विवाह-योग्य होंगी। भारत में मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ जाएगी। भारत एक कबूतरों से भरे कबूतरखाने के समान प्रतीत होगा। अनागतवंस में गौतम बुद्ध की भविष्यवाणी के रूप में आने वाले बुद्ध मैत्रेय तथा तत्कालीन चक्रवर्ती राजा शंख का विस्तृत वर्णन है।

सिक्खाएँ

ये विनयपिटक में प्रस्तुत आचार-नियमों का संक्षिप्त रूप हैं। धम्मसिरि ने खुद्दसिक्खा की रचना की और महासामि ने मूलसिक्खा की। बरमा के ऐतिहासिक ग्रंथों के अनुसार इनकी रचना 440 ई० में हुई। किंतु उनके अर्वाचीन होने की अधिक संभावना है। इन दोनों संग्रहों द्वेमातिका—अर्थात् भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणीपाति-

मोख और कंखावितरणी—का अध्ययन बरमा में उन भिक्षुओं के लिए पर्याप्त माना जाता है जो विनयपिटक नहीं सीख सकते। 13वीं शताब्दी ई० के अंत एवं 14वीं के प्रारंभ में बुद्धप्पिय के शिष्य सिद्धत्थ ने सारसंगह, और धर्मकीर्ति ने धम्मसंगह की रचना की। इन संग्रहों में भी धर्म का प्रतिपादन है। अभिधम्म के अध्ययन का मुख्य केंद्र बरमा रहा है। यहाँ भिक्षु अनुरुद्ध ने संभवतः बारहवीं शताब्दी में अभिधम्मत्थ-संग्रह की रचना की। यह बौद्ध-मनोविज्ञान एवं आचार का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। आज भी लंका एवं बरमा में इस ग्रंथ का बहुत अधिक सम्मान है। बरमा में इस पर अनेक टीकाएँ रची गई और इसके अनेक अनुवाद हुए। अनुरुद्ध ने नामरूपपरिच्छेद नामक पद्यात्मक दार्शनिक ग्रंथ की भी रचना की। इसमें 1855 गाथाएँ हैं।

जिन विद्वत्तापूर्ण पद्यग्रन्थों ने बौद्धधर्म के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है उनमें से कुछ नाम के उल्लेखनीय हैं :

1. **पंचगतिदीपन** : इसमें 114 गाथाएँ हैं और बौद्ध धर्म की पाँच गतियों पर पर प्रकाश डाला गया है। इसमें महानरक, लघुनरक तथा अन्य लोकों का वर्णन है। साथ ही, उन कार्यों को बताया गया है जिनसे प्राणी नीचे लिखी पाँच गतियों में उत्पन्न होता है—नरक, तिर्यञ्च, भूतप्रेत, मनुष्य और देव।

2. **लोकदीप-सार** : इसमें भी उसी विषय का प्रतिपादन है। इसकी रचना बरमा में मेधंकर द्वारा चौदहवीं शताब्दी में की गई।

3. **पारमीमहाशतक** : इसमें दस पारमिताओं का वर्णन है। इसक रचना भी चौदहवीं शताब्दी में किसी धर्मकीर्ति द्वारा की गई।

4. **सद्धम्मोपायन** : इसमें बौद्धधर्म के सर्वसाधारण सिद्धान्तों, विशेष रूप से आचार-संबंधी सिद्धान्तों, का प्रतिपादन है। इसमें 129 गाथाएँ हैं।

5. **पज्ज-मधु** : यह बुद्ध की स्तुति में लघु काव्य है। इसकी रचना 13वीं शताब्दी में बुद्धप्पिय ने की। इसमें 104 पद्य हैं जिनमें पालि के साथ संस्कृत का भी मिश्रण है।

6. **तेलकटाह-गाथा** : अर्थात् तेल के कढ़ाहे की गाथाएँ। यह भी बौद्धधर्म पर काव्यमयी रचना है। कहा जाता है कि उसका कवि एक निर्दोष भिक्षु था। कल्याणी के राजा को उसके चरित्र पर संदेह हो गया कि उसका रानी के साथ प्रेम-संबंध है। उसे गर्म तेल के कढ़ाहे में फेंक देने का दंड मिला। ऐसा किया गया किंतु भिक्षु उसमें से सुरक्षित निकल आया। उसी समय उसने सौ गाथाओं का उच्चारण किया। मरने से पहले उसे अपना पूर्वजन्म स्मरण हो आया। उसने देखा कि वह एक ग्वाला था और उसने एक मक्खी गर्म दूध में डाल दी थी। कल्याणी के राजा तिष्य का समय तृतीय शताब्दी है। किंतु भाषा के आधार पर देखा जाए तो काव्य का रचना-काल बारहवीं शताब्दी से पहले नहीं जा सकता।

7. **जिनालंकार**

पूर्ण शैली में बुद्ध का वर्णन है। इसकी रचना 1150ई० में हुई। यह कृत्रिम काव्य का पूर्णाग उदाहरण है। इसमें चित्रकाव्य भी दिए गए हैं। एक श्लोक सर्वतोभद्र है अर्थात् आदि और अंत दोनों ओर से पढ़ा जा सकता है। एक अन्य गाथा में 'न' के अतिरिक्त कोई व्यंजन नहीं है। इस प्रकार के अन्य चित्र-काव्य भी हैं। काव्य में यत्र-तत्र अधिकतर महायान के सिद्धान्त मिलते हैं, जो पुराणों के समान अत्युक्तियों से भरे हुए हैं।

8. जिनचरित

इसकी रचना वनरतन मेधंकर ने की, जो कि भुवनेकबाहु (1277-1288) के समकालीन थे। यह बुद्ध-जीवन पर लिखित मध्यम श्रेणी का काव्य है। भाषा सरल एवं स्वाभाविक होने पर भी अधिक आकर्षक नहीं है। यह निदान-कथा का नीरस पद्यात्मक रूपांतर प्रतीत होता है।

9. मालालंकारवत्थु

यह भी बुद्ध का जीवन-चरित है जिसकी रचना 1773 ई० में हुई। इस काव्य का मूलरूप उपलब्ध नहीं है। इसके बरमी-अनुवाद का अंग्रेजी-अनुवाद हुआ और उसी से पालि में इसके अस्तित्व का पता चलता है।

10. रसवाहिनी

पालि में कथा-साहित्य की रचना भी आधुनिक काल तक होती रही है। इनमें रसवाहिनी का महत्त्व सर्वाधिक है। इसमें 103 कथाएँ हैं। इनमें से प्रथम चालीस का घटनास्थल भारत है और शेष 63 का लंका। मूल ग्रंथ की रचना सिंहली में हुई। कालांतर में भिक्षु रट्ठपाल ने इसका पालि में अनुवाद किया। तेरहवीं शताब्दी में स्थविर विदेह ने उसका पुनः संशोधन किया। इस संशोधन के बावजूद इसकी भाषा अशुद्ध है, तथा शैली शिथिल एवं त्रुटिपूर्ण है। रसवाहिनी वस्तुतः उपदेशों का संग्रह है, जिन्हें गद्यात्मक कथानकों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक कथा या उपदेश के अंत में नीचे लिखे उद्बोधन-वाक्य हैं—"मित्रो! सत्कार्य करने में कभी आलस्य मत करो।" "दूसरों के मांस पर जीने वाले क्रूर व्याघ्र को भी सद्बुद्धि मिली और उसने करुणा का आलंबन करके स्वर्ग में स्थान प्राप्त किया। अतः प्राणियों पर करुणाभाव रखो। इससे तुम्हें सुख एवं शांति प्राप्त होगी।"

विभिन्न कथाओं में प्रस्तुत बुद्ध की पूजा महायान से मिलती है। भागवत् पुराण में भी विष्णु-पूजा का वही रूप है। उदाहरणार्थ, एक सर्प की कथा है, जो बुद्ध शब्द का उच्चारण करते ही विनम्र हो गया। संग्रह में एक ओर शुष्क कथाएँ हैं तो दूसरी ओर मुग्धतापूर्ण एवं सरस कथाओं की संख्या भी पर्याप्त है। उनमें से कुछ ऐसी हैं जिनके प्रतिरूप विश्व-साहित्य में मिलते हैं। अतः उनका महत्त्व और बढ़ गया है। उदाहरणार्थ, यहाँ भी जातक-कथाओं के समान कृतज्ञ पशु और कृतघ्न मनुष्यों की कथाएँ मिलती हैं। कुछ कथाएँ प्राचीन ग्रंथों से उद्धृत की गई हैं, जिनमें बुद्धघोष की टीकाएँ और महावंस मुख्य हैं।

मोख और कंखावितरणी—का अध्ययन बरमा में उन भिक्षुओं के लिए पर्याप्त माना जाता है जो विनयपिटक नहीं सीख सकते। 13वीं शताब्दी ई० के अंत एवं 14वीं के प्रारंभ में बुद्धप्पिय के शिष्य सिद्धत्थ ने सारसंगह, और धर्मकीर्ति ने धम्मसंगह की रचना की। इन संग्रहों में भी धर्म का प्रतिपादन है। अभिधम्म के अध्ययन का मुख्य केंद्र बरमा रहा है। यहाँ भिक्षु अनुरुद्ध ने संभवतः बारहवीं शताब्दी में अभिधम्मत्थ-संग्रह की रचना की। यह बौद्ध-मनोविज्ञान एवं आचार का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। आज भी लंका एवं बरमा में इस ग्रंथ का बहुत अधिक सम्मान है। बरमा में इस पर अनेक टीकाएँ रची गईं और इसके अनेक अनुवाद हुए। अनुरुद्ध ने नामरूपपरिच्छेद नामक पद्यात्मक दार्शनिक ग्रंथ की भी रचना की। इसमें 1855 गाथाएँ हैं।

जिन विद्वत्तापूर्ण पद्यग्रन्थों ने बौद्धधर्म के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है उनमें से कुछ नाम के उल्लेखनीय हैं :

1. **पंचगतिदीपन :** इसमें 114 गाथाएँ हैं और बौद्ध धर्म की पाँच गतियों पर पर प्रकाश डाला गया है। इसमें महानरक, लघुनरक तथा अन्य लोकों का वर्णन है। साथ ही, उन कार्यों को बताया गया है जिनसे प्राणी नीचे लिखी पाँच गतियों में उत्पन्न होता है—नरक, तिर्यञ्च, भूतप्रेत, मनुष्य और देव।

2. **लोकदीप-सार :** इसमें भी उसी विषय का प्रतिपादन है। इसकी रचना बरमा में मेधंकर द्वारा चौदहवीं शताब्दी में की गई।

3. **पारमीमहाशतक :** इसमें दस पारमिताओं का वर्णन है। इसक रचना भी चौदहवीं शताब्दी में किसी धर्मकीर्ति द्वारा की गई।

4. **सद्धम्मोपायन :** इसमें बौद्धधर्म के सर्वसाधारण सिद्धान्तों, विशेष रूप से आचार-संबंधी सिद्धान्तों, का प्रतिपादन है। इसमें 129 गाथाएँ हैं।

5. **पज्ज-मधु :** यह बुद्ध की स्तुति में लघु काव्य है। इसकी रचना 13वीं शताब्दी में बुद्धप्पिय ने की। इसमें 104 पद्य हैं जिनमें पालि के साथ संस्कृत का भी मिश्रण है।

6. **तेलकटाह-गाथा :** अर्थात् तेल के कड़ाहे की गाथाएँ। यह भी बौद्धधर्म पर काव्यमयी रचना है। कहा जाता है कि उसका कवि एक निर्दोष भिक्षु था। कल्याणी के राजा को उसके चरित्र पर संदेह हो गया कि उसका रानी के साथ प्रेम-संबंध है। उसे गर्म तेल के कड़ाहे में फेंक देने का दंड मिला। ऐसा किया गया किंतु भिक्षु उसमें से सुरक्षित निकल आया। उसी समय उसने सौ गाथाओं का उच्चारण किया। मरने से पहले उसे अपना पूर्वजन्म स्मरण हो आया। उसने देखा कि वह एक ग्वाला था और उसने एक मक्खी गर्म दूध में डाल दी थी। कल्याणी के राजा तिष्य का समय तृतीय शताब्दी है। किंतु भाषा के आधार पर देखा जाए तो काव्य का रचना-काल बारहवीं शताब्दी से पहले नहीं जा सकता।

7. जिनालंकार

यह बुद्धरक्षित की कृति है। इसमें 250 गाथाएँ हैं जिनमें अत्युक्ति एवं आडंबर-

11. बुद्धालंकार

जातक-साहित्य एक ऐसा स्रोत है जिससे बौद्ध कवि, लेखक तथा संग्रह-कर्ताओं ने पर्याप्त सामग्री प्राप्त की है। आवा के कवि सीलवंस ने 15वीं शताब्दी में बुद्धालंकार नामक काव्य की रचना की। इसका आधार निदान-कथा की सुमेध-कथा है। उसी समय आवा के कवि रट्ठसार ने जातकों के पद्यबद्ध रूपांतर किए।

इतर दो ग्रंथ

1578 ई० में बरमा में तिपिटकालंकार (बरमी भिक्षु) का जन्म हुआ। उसने पंद्रह वर्ष की आयु में वेस्संतर जातक का पद्य-रूपांतर किया।

1782 ई० में बरमी राजा बोदोपया के अनुरोध पर राजाधिराज विलासिनी नामक गद्य-ग्रंथ की रचना की गई। यह भी जातकों पर आधारित है, और कवि की प्रतिभा का परिचायक है। ग्रंथकार अपनी विद्वत्ता को प्रकट करने के लिए अंतिम टीकाओं तक संपूर्ण सूत्र-साहित्य का उपयोग करता है। इसके अतिरिक्त व्याकरण, ज्योतिष तथा अन्य विषयों के पालि एवं संस्कृत ग्रंथों का भी आश्रय लेता है।

□□□

BIBLIOGRAPHY

(As given by W. Geiger)

Anguttara-Nikaya, ed. by Morris and Hardy, 5 vols.

Abhandlungen fur die Kunde des Morgenlandes.

Abhidhamma-Pitaka.

Ancient Inscriptions in Ceylon, E. Muller. London 1883.

Atthasalini, Comm. or Dhammasangani ed. by E. Muller.

Atthakatha.

Beitrage zur Kunde der Indogermanischen Sprachen, ed. by Bezzenberger.

Beitrage zur Pali-Grammatik, E. Kuhn.

Buddhavamsa, ed. by Morris.

Cariyapitaka, ed. by Morris.

Cullavagga.

Dictionary of the Pali Language, Childers.

Digha-Nikaya, ed. by Rhys Davids and Carpenter, 3 vols. Parts translated by R. O. Franke.

Dhammapada, ed. by Fausboll.

Dhamma-padatthakatha, ed. by Norman, 4 vols.

Dhammasangani, ed. by E. Muller.—Trans. by Mrs. Rhys Davids.

Dhatukatha, ed. by Gooneratne.

Dialogues of the Buddha. Trans. by Mr. and Mrs. Roys Davids, 2 vols. (SBB. II, III).

Dipavamsa, ed. and trans. by Oldenberg.

Dipavamsa and Mahavamsa, Geiger.

Gandhavamsa. ed. by Minayeff.

Gottingische Gelehrte Anzeigen.

Indian Antiquary.

Indogermanische Forschungen, ed. by Streitberg.

Itivuttaka, ed. by Windisch.—Trans. by Moore.

Jataka (quotations from the Canonical Gathas).

Jataka Commentary (quotations from the prose parts of the Jatakatthavannana, ed. by Fausboll, 7 vols.)

Journal Asiatique.

Journal of tha Pali Text Society.

Kaccayana, ed. and trans. by Senart.

Khuddakapatha, ed. by Childers.—Trans. by Seidenstucker.

Kathavatthuppakarna, ed. by Taylor.

Kuhns Zeitschrift fur vergleichende Sprachforschung.

Literatur und Sprache der Singhalesen, Geiger, Strassburg 1900.

Mahabodhivamsa, ed. by Strong.

Majjhima-Nikaya, ed. by Trenckner and Chalmers. 3 vols.

Mahavamsa, ed. by Geiger.—Trans. by Geiger.

Milindapanha, ed. by Trenckner.—Trans. by Rhys Davids, 2 vols. (=SBE. XXXV, XXXVI).

Mahavagga.

Nachrichten der Kgl. Gesellschaft der Wissen-schaften zu Gottingen.

Namamala, Subhuti.

Nettippakarana, ed. by Hardy.

Notes to the Milindapanha, Trenckner, (JPTS. 1908, 102 ff.).

Orientalische Bibliographie.

Pali Grammar; 1. Manayeff, Pali Grammer; 2. E. Muller, Simplified Grammar of the Pali Language, 3.R.O. Franke, Gesch. und Krit. der einheim. Pali-Grammatik.

Pischel, Gramm. der Prakrit-Sprachen, Strassburg 1900.

Pali Literature of Burma, Bode.

Pali Reader, Pali Glossary, Andersen.

Puggalapannatti, ed. by Morris.

Petavatthu, ed. by Minayeff.

Paramatthadipani III., Co. on Pv., ed. by Hardy.
Paramatthadipani IV, Co. on Vimanavattha ed. by Hardy.
Paramatthadipani,. Co. on Therigatha ed. by J. E. Muller.
Rasavahini, ed. by Saranatissa.
Sanskrit-Worterbuch von O. Bohtlingk and R. Roth, 7 vols., St. Petersburg 1855 ff.
Samyutta-Nikaya, ed. by Feer, 5 vols.
Sarasamgaha, ed. by Somananda.
Sasanavamsa, ed. by Bode.
Sacred Books of the Buddhists, ed. by Rhys Davids.
Sacred Books of the East, ed. by Max Muller.
Saddhammasamgaha, ed. by Saddhananda.
Sumangala-Vilasini, Comm. on Digha-Nikaya ed. by Rhys Davids and Carpenter.
Sutta-Nipata, ed. by Andersen and Smith.
Sutta-Pitaka.
Sutta-Vibhanga.
The Historical Introduction to Buddhaghosa's Samanta Pasadika, ed. by Oldenberg in Vin. III. 283 ff.
Theragatha, ed. by Oldenberg.
Therigatha, ed. by Pischel.
Udana, ed. by Steinthal.—Trans. by Strong.
Vibhange, ed. by Mrs. Rhys Davids.
Vinaya-Pitakam, ed. by Oldenberg, 5 vols.
Vinaya-vamsa.
Vinaya Texts, trans. by Rhys Davids and Oldenberg, 3 vols. (=SBE, XIII. XVII. XX.).
Vimanavatthu, ed. by Gooneratne.
Wiener Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes.
Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesell-schaft.

नामानुक्रमणिका

(पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 277-396)

न

प

फ

ब

भ

ह

श

स

ह